सूर्य्यकुमारी-पुस्तकमाला—१२

हिंदी-साहित्य का इतिहास

लेखक

रामचंद्र शुक्ल
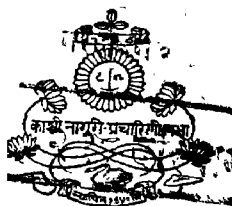
काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की ओर से

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण

१९४७

मूल्य ५)

प्रकाशक
के० मित्रा,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
इलाहाबाद

मुद्रक
श्रीअपूर्वकृष्ण बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावतजी के गर्भ से तीन संतति हुई—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहर-सिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महा-रावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्य-कुमारीजी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की

विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंहजी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निदेशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार उमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथ-माला के प्रकाशन की व्यवस्था की है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्य्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

प्रथम संस्करण का

वक्तव्य

हिंदी-कवियों का एक वृत्त-संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् १८८३ ई० में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् १८८९ में डाक्टर (अब सर) ग्रियर्सन ने Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan के नाम से एक वैसा ही बड़ा कवि-वृत्त-संग्रह निकाला। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित हिंदी-पुस्तकें देश के अनेक भागों में राज-पुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अतः सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् १९०० से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् १९११ तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् १९१३ में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबंधुओं (श्रीयुत पं० श्याम-बिहारी मिश्र आदि) ने अपना बड़ा भारी कवि-वृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद', जिसमें वर्त्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया, तीन भागों में प्रकाशित किया।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखला-बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनों कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियों के अनु-

सार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो जो परिवर्त्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सबके सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थी; पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न भिन्न शाखाओं के हजारों कवियों की केवल कालक्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थीं? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं—किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

पाँच या छः वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिये मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे जिनमें परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'हिंदी-शब्द-सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया अतः एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मैं जरूरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रखकर यह कार्य्य पूरा किया गया।

इस पुस्तक में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है उसका थोड़े में उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

पहले काल-विभाग को लीजिए। जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष ढँग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढँग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढँग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढँग की रचना को लें वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी; यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे, यदि किसी काल में पाँच ढँग की रचनाएँ १०, ५, ६, ७, और २ के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढँग की रचना की १० पुस्तकें हैं उसकी प्रचुरता कही जायगी यद्यपि शेष और ढँग की सब पुस्तकें मिलकर २० हैं। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढँग के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढँग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे दूसरे ढँग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। सारांश यह कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभागों का नामकरण किया गया है।

आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं—अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्त्व-निरूपण-संबंधी हैं जो साहित्य-कोटि

में नहीं आतीं और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिये ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था। साहित्य-कोटि में आनेवाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे हैं जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं—

१ विजयपाल रासो
२ हम्मीर रासो
३ कीर्त्तिलता
४ कीर्त्तिपताका

देशभाषा-काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—

५ खुमान रासो
६ बीसलदेव रासो
७ पृथ्वीराज रासो
८ जयचंद-प्रकाश
९ जयमयंक-जस-चंद्रिका
१० परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप)
११ खुसरो की पहेलियाँ आदि
१२ विद्यापति-पदावली

इन्हीं बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमें से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़ शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः 'आदिकाल' का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है। जिस सामाजिक या राजनीतिक परिस्थिति की प्रेरणा से वीरगाथाओं की प्रवृत्ति रही है उसका सम्यक् निरूपण पुस्तक में कर दिया गया है।

मिश्रबंधुओं ने इस 'आदिकाल' के भीतर इतनी पुस्तकों की और नामावली दी है—

१ भगवद्गीता
२ वृद्ध नवकार
३ वर्त्तमाल
४ संमतसार
५ पत्तलि
६ अनन्य योग
७ जंबूस्वामी रासा
८ रैवतगिरि रासा
९ नेमिनाथ चउपई
१० उवएस-माला (उपदेशमाला)

इनमें से नं० १ तो पीछे की रचना है, जैसा कि उसकी इस भाषा से स्पष्ट है—

तेहि दिन कथा कीन मन लाई। हरि के नाम गीत चित आई ॥
सुमिरौं गुरु गोविंद के पाऊँ। अगम अपार है जाकर नाऊँ ॥

जो वीररस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्व देखकर ही प्राकृत भाषा, और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को Thought और विचार को Feeling कहते हैं, वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् १००० के क्या संवत् ५०० के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की संवत्-सूचक पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिये काफ़ी है—"सहस्र सो संपूरन जाना"।

अब रहीं शेष नौ पुस्तकें। उनमें नं० २, ७, ९ और १० जैनधर्म के तत्त्व-निरूपण पर हैं और साहित्य-कोटि में नहीं आ सकतीं। नं० ६ योग की पुस्तक है। नं० ३ और ४ केवल नोटिस मात्र हैं; विषयों का कुछ भी विवरण नहीं है। इस प्रकार केवल

दो साहित्यिक पुस्तकें बचीं जो वर्णनात्मक (Descriptive) हैं—एक में नंद के ज्योनार का वर्णन है, दूसरी में गुजरात के रैवतक पर्वत का। अतः इन पुस्तकों की नामावली से मेरे निश्चय में किसी प्रकार का अंतर नहीं पड़ सकता। यदि ये भिन्न भिन्न प्रकार की ९ पुस्तकें साहित्यिक भी होतीं तो भी मेरे नाम-करण में कोई बाधा नहीं डाल सकती थीं; क्योंकि मैंने ९ प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।

एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पाई गई हैं वहाँ अलग अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है। जैसे, भक्तिकाल के भीतर पहले तो दो काव्य-धाराएँ—निर्गुण धारा और सगुण धारा—निर्दिष्ट की गई हैं। फिर प्रत्येक धारा की दो दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित हुई हैं—निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी (सूफ़ी) शाखा तथा सगुण धारा की रामभक्ति और कृष्ण-भक्तिशाखा। इन धाराओं और शाखाओं की प्रतिष्ठा यों ही मनमाने ढँग पर नहीं की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करनेवाली विशेषताएँ अच्छी तरह दिखाई भी गई हैं और देखते ही ध्यान में आ भी जायँगी।

रीति-काल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है उसका उपविभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता। जब तक पूर्व और उत्तर के अलग अलग लक्षण न बताए जायँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोड़े थोड़े अंतर पर होनेवाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल

बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्त्तक कवि का यह प्रभाव उसके काल में होनेवाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए। रीतिबद्ध ग्रंथों की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्य्यालोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।

रीति-काल के संबंध में दो बातें और कहनी हैं। इस काल के कवियों के परिचयात्मक वृत्तों की छानबीन में मैं अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हूँ, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्त्तन करना। अतः कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्रबंधु-विनोद से ही लिए हैं। कहीं कहीं कुछ कवियों के विवरणों में परिवर्द्धन और परिष्कार भी किया है; जैसे, ठाकुर, दीनदयाल गिरि, रामसहाय और रसिक-गोविंद के विवरणों में। यदि कुछ कवियों के नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नहीं हुआ तो इससे मेरी कोई बड़ी उद्देश्य-हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैंने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रंथों के नाम दिए हैं उतने ही जरूरत से ज्यादः मालूम हो रहे हैं।

रीतिकाल या और किसी काल के कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के संबंध में मैंने जो कुछ संक्षिप्त विचार प्रकट किए हैं वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती। किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप में लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियों के संबंध में ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पड़ा है। पर वहाँ भी

विशेष विशेष प्रवृत्तियों का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमें से कुछ प्रवृत्तियों को मैंने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।

आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है इसलिये उसके प्रसार का वर्णन विशेष विस्तार के साथ करना पड़ा है। इस थोड़े से काल के बीच में हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था। पहले मेरा विचार आधुनिक काल को 'द्वितीय उत्थान' के आरंभ तक लाकर, उसके आगे की प्रवृत्तियों का सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही, छोड़ देने का था; क्योंकि वर्त्तमान लेखकों और कवियों के संबंध में कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। वर्त्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते डरते किया गया।

वर्त्तमान काल के अनेक प्रतिभा-संपन्न और प्रभावशाली लेखकों और कवियों के नाम जल्दी में या भूल से छूट गए होंगे। इसके लिये उनसे तथा उनसे भी अधिक उनकी कृतियों से विशेष रूप में परिचित महानुभावों से क्षमा की प्रार्थना है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है इससे इसका जो रूप मैं रखना चाहता था वह भी इसे पूरा पूरा नहीं प्राप्त हो सका है। कवियों और लेखकों के नामोल्लेख के संबंध में एक बात का निवेदन और है। इस पुस्तक का उद्देश्य संग्रह नहीं था। इससे आधुनिक काल के अंतर्गत सामान्य लक्षणों और प्रवृत्तियों के वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है। अगले संस्करण में इस काल का प्रसार कुछ और अधिक हो सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य का यह इतिहास 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी-साहित्य का विकास' के नाम से सन् १९२९ के जनवरी महीने में निकल चुका है। इस अलग पुस्तकाकार संस्करण में बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं—विशेषतः आदि और अंत में। 'आदि काल' के भीतर अपभ्रंश की रचनाएँ भी ले ली गई हैं क्योंकि वे सदा से 'भाषा-काव्य' के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि-परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा-काव्यों के नाम गिनाती चली आई है जो अपभ्रंश में हैं—जैसे, कुमारपालचरित और शार्ङ्गधर-कृत हम्मीररासो। 'हम्मीररासो' का पता नहीं है। पर 'प्राकृत-पिंगल-सूत्र' उलटते पलटते मुझे हम्मीर के युद्धों के वर्णनवाले कई बहुत ही ओजस्वी पद्य, छंदों के उदाहरण में, मिले। मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है कि ये पद्य शार्ङ्गधर के प्रसिद्ध 'हम्मीर-रासो' के ही हैं।

आधुनिक काल के अंत में वर्त्तमान काल की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के वर्णन को थोड़ा और पल्लवित इसलिये करना पड़ा जिसमें उन प्रवृत्तियों के मूल का ठीक ठीक पता केवल हिंदी पढ़नेवालों को भी हो जाय और वे धोखे में न रहकर स्वतंत्र विचार में समर्थ हों।

मिश्रबंधुओं के प्रकांड कविवृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' का उल्लेख हो चुका है। 'रीतिकाल' के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्रायः उक्त ग्रंथ से ही विवरण लिए हैं अतः आधुनिक शिष्टता के अनुसार उसके उत्साही और परिश्रमी संकलन-कर्त्ताओं को धन्यवाद देना मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। हिंदी-पुस्तकों की खोज की रिपोर्टें भी मुझे समय समय पर—विशेषतः संदेह के स्थल आने पर—उलटनी पड़ी हैं।

राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० की 'हिंदी-कोविद-रत्नमाला', श्रीयुत पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' तथा श्रीवियोगी हरिजी के 'व्रजमाधुरी-सार' से भी बहुत कुछ सामग्री मिली है अतः उक्त तीनों महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'आधुनिक काल' के प्रारंभिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना पड़ा उसमें मेरे बड़े पुराने मित्र पं० केदारनाथ पाठक ही काम आए। पर न आज तक मैंने उन्हें किसी बात के लिये धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। 'धन्यवाद' को वे "आजकल की एक बदमाशी" समझते हैं।

इस कार्य्य में मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पड़े हैं उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोष-लाभ कर सकता हूँ।

काशी
आषाढ़ कृष्ण ५; १९८६ } रामचंद्र शुक्ल

संशोधित और प्रवर्द्धित संस्करण के संबंध में
दो बातें

कई संस्करणों के उपरांत इस पुस्तक के परिमार्जन का पहला अवसर मिला, इससे इसमें कुछ आवश्यक संशोधन के अतिरिक्त बहुत सी बातें बढ़ानी पड़ीं।

'आदिकाल' के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परंपराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखाने के लिये करना पड़ा कि कबीर द्वारा प्रवर्त्तित निर्गुण संत-मत के प्रचार के लिये किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योग-धारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।

'भक्ति-काल' के अंतर्गत स्वामी रामानंद और नामदेव पर विशेष रूप से विचार किया गया है; क्योंकि उनके संबंध में अनेक प्रकार की बातें प्रचलित हैं।

'रीति-काल' के 'सामान्य परिचय' में हिंदी के अलंकार-ग्रंथों की परंपरा का उद्गम और विकास कुछ अधिक विस्तार के साथ दिखाया गया है। घनानंद आदि कुछ मुख्य मुख्य कवियों का आलोचनात्मक परिचय भी विशेष रूप में मिलेगा।

'आधुनिक काल' के भीतर खड़ी बोली के गद्य का इतिहास इधर जो कुछ सामग्री मिली है उसकी दृष्टि से एक नए रूप में

सामने लाया गया है। हिंदी के मार्ग में जो जो विलक्षण बाधाएँ पड़ी हैं उनका भी सविस्तर उल्लेख है। पिछले संस्करणों में वर्त्तमान अर्थात् आजकल चलते हुए साहित्य की मुख्य मुख्य प्रवृत्तियों का संकेत मात्र करके छोड़ दिया गया था। इस संस्करण में सम-सामयिक साहित्य का अब तक का आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है जिससे आज तक के साहित्य की गति-विधि का पूरा परिचय प्राप्त होगा।

आशा है कि इस संशोधित और प्रवर्द्धित रूप में यह इतिहास विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

अक्षय तृतीया
संवत् १९९७

रामचंद्र शुक्ल

———

प्रकाशक का वक्तव्य

इस पुस्तक का यह नवीन संस्करण इसके विद्वान् लेखक द्वारा संशोधित और प्रवर्धित रूप में पाठकों की सेवा में उपस्थित है। लेखक तथा प्रकाशक ने इसकी अनुदिन बढ़ती हुई माँग को देखकर इसे शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित करने का घोर प्रयत्न किया, किंतु जिस रूप में इसको निकालने का विचार था वह अत्यंत श्रमसाध्य होने के कारण समय पर न निकल सका जिससे पाठकों, विशेषकर परीक्षार्थियों, को बड़ा कष्ट उठाना पड़ा। पर पाठकों की सुविधा को सर्वोपरि रखते हुए हमें प्रस्तुत रूप में पुस्तक को प्रकाशित करना पड़ रहा है। लेखक को कुछ नवीन कवियों और लेखकों के विषय में लिखना अभी शेष था। इसके लिये हम क्षम्य हैं। अगले संस्करण में उसकी पूर्ति अवश्य कर दी जायगी।

प्रधान मंत्री
काशी-नागरीप्रचारिणी सभा

विषय-सूची

(दिए हुए अंक पृष्ठों के हैं)

काल-विभाग

आदि काल

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

अपभ्रंश काल

प्रकरण ३

देशभाषा काव्य

वीरगाथा

प्रकरण ४

फुटकल रचनाएँ

पूर्व-मध्यकाल

(भक्ति-काल १३७५-१७००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

निर्गुण धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

प्रकरण ३

प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

प्रकरण ४

सगुण धारा

रामभक्ति-शाखा

प्रकरण ५

कृष्णभक्ति-शाखा

प्रकरण ६

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

उत्तर-मध्यकाल

(रीतिकाल १७००-१६००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्रकरण २

प्रकरण ३

रीतिकाल के अन्य कवि

आधुनिक काल

(संवत् १९००-१९८०)

गद्य-खंड

प्रकरण १

गद्य का विकास

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

(व्रजभाषा-गद्य)

(खड़ी बोली-गद्य)

प्रकरण २

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रवर्त्तन

प्रथम उत्थान

(सं० १६२५-५०)

प्रकरण ३

गद्य-साहित्य का प्रसार

द्वितीय उत्थान

(१९५०-७५)

सामान्य परिचय

गद्य-साहित्य की वर्त्तमान गति

तृतीय उत्थान

(सं० १९७५ से)

आधुनिक काल

(सं० १६०० से ...)

काव्य-खंड

प्रकरण १

पुरानी धारा

प्रकरण २

नई धारा

प्रथम उत्थान

(सं० १६२५-५०)

हिंदी-साहित्य का इतिहास

काल-विभाग

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही "साहित्य का इतिहास" कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

आदि काल (वीरगाथा-काल, संवत् १०५०–१३७५)

पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, १३७५–१७००)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, १७००–१९००)

आधुनिक काल (गद्यकाल, १९००–१९८४)

यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। जैसे भक्तिकाल या रीतिकाल को लें तो उसमें वीररस के भी अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढँग की होगी जिस ढँग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अतः प्रत्येक काल का वर्णन इस प्रणाली पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी; पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख होगा।

आदि काल

प्रकरण १

सामान्य परिचय

प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिंदी-साहित्य का आदि काल संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है। यद्यपि जनश्रुति इस काल का आरंभ और पीछे ले जाती है और संवत् ७७० में भोज के पूर्वपुरुष राजा मान के सभासद पुष्य नामक किसी बंदीजन का दोहों में एक अलंकार-ग्रंथ लिखना बताती है (दे० शिवसिंहसरोज) पर इसका कहीं कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

आदि काल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध-परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।

दूसरी बात इस आदि काल के संबंध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ बद्ध) हिंदी है। इस अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी का अभिप्राय यह है कि यह उस समय की ठीक बोलचाल की भाषा नहीं है जिस समय की इसकी रचनाएँ मिलती हैं। यह उस समय के कवियों की भाषा है। कवियों ने काव्य-परंपरा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिये ही हैं (जैसे पीछे की हिंदी में तत्सम संस्कृत शब्द लिये जाने लगे), विभक्तियाँ, कारकचिह्न और क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिस-घिसाकर बिल्कुल जिस रूप में आ गई थी सारा वही रूप न लेकर कवि, चारण आदि भाषा का बहुत कुछ वह रूप व्यवहार में लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले से कवि-परंपरा रखती चली आती थी।

अपभ्रंश के जो नमूने हमें पद्यों में मिलते हैं वे उस काव्य-भाषा के हैं जो अपने पुरानेपन के कारण बोलने की भाषा से कुछ अलग बहुत दिनों तक—आदि काल के अंत क्या उसके कुछ पीछे तक—पोथियों में चलती रही। विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में एक ओर तो पुरानी परंपरा के कोई कवि—संभवतः शार्ङ्गधर—हम्मीर की वीरता का वर्णन ऐसी भाषा में कर रहे थे—

चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥

दूसरी ओर खुसरो मियाँ दिल्ली में बैठे ऐसी बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ कह रहे थे—

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिँजरे में दिया॥

इसी प्रकार १५वीं शताब्दी में एक ओर तो विद्यापति बोलचाल की मैथिली के अतिरिक्त इस प्रकार की प्राकृताभास पुरानी काव्य-भाषा भी भनते रहे—

बालचंद विज्जावइ भासा। दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन-हासा।

और दूसरी ओर कबीरदास अपनी अटपटी बानी इस बोली में सुना रहे थे—

अगिन जो लागी नीर में कंदो जलिया झारि।
उतर दषिण के पंडिता रहे बिचारि बिचारि॥

सारांश यह कि अपभ्रंश की यह परंपरा विक्रम की १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। एक ही कवि विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा का व्यवहार किया है—पुरानी अपभ्रंश भाषा का और बोलचाल की देशी भाषा का। इन दोनों भाषाओं का भेद विद्यापति ने स्पष्ट रूप से सूचित किया है—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तें तैसन जंपओं अवहट्ठा॥

अर्थात् देशी भाषा (बोलचाल की भाषा) सबको मीठी लगती है, इससे वैसा ही अपभ्रंश (देशी भाषा मिला हुआ) मैं कहता हूँ। विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न, प्रचलित बोलचाल की भाषा को "देशी भाषा" कहा है अतः हम भी इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं कहीं आवश्यकतानुसार करेंगे। इस आदि काल के प्रकरण में पहले हम अपभ्रंश की रचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख करके तब देशभाषा की रचनाओं का वर्णन करेंगे।

प्रकरण २

अपभ्रंश काल

जब से प्राकृत बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अप-भ्रंश-साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे 'गाथा' या 'गाहा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही पीछे 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या लोक-प्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा। इस पुरानी प्रचलित काव्यभाषा में नीति, शृंगार, वीर आदि की कविताएँ तो चली ही आती थीं, जैन और बौद्ध धर्माचार्य्य अपने मतों की रक्षा और प्रचार के लिये भी इसमें उपदेश आदि की रचना करते थे। प्राकृत से बिगड़-कर जो रूप बोलचाल की भाषा ने ग्रहण किया वह भी आगे चलकर कुछ पुराना पड़ गया और काव्य-रचना के लिये रूढ़ हो गया। अपभ्रंश नाम उसी समय से चला। जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक वह भाषा या देशभाषा ही कह-लाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिये अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।

भरत मुनि (विक्रम तीसरी शती) ने 'अपभ्रंश' नाम न देकर लोकभाषा को 'देशभाषा' ही कहा है। वररुचि के 'प्राकृत-प्रकाश' में भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। 'अपभ्रंश' नाम पहले पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि० सं० ६५० के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा

है। भामह (विक्रम ७वीं शती) ने भी तीनों भाषाओं का उल्लेख किया है। बाण ने 'हर्षचरित' में संस्कृत-कवियों के साथ भाषा-कवियों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है। उस काल की रचना के नमूने बौद्धों की वज्रयान शाखा के सिद्धों की कृतियों के बीच मिले हैं।

संवत् ९९० में देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने भी 'श्रावकाचार' नाम की एक पुस्तक दोहों में बनाई थी, जिसकी भाषा अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप लिए हुए है, जैसे—

जो जिण सासण भाषियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इन्हीं देवसेन ने 'दव्व-सहाव-पयास' (द्रव्य-स्वभाव-प्रकाश) नामक एक और ग्रंथ दोहों में बनाया था जिसका पीछे से माइल्ल धवल ने 'गाथा' या साहित्य की प्राकृत में रूपांतर किया। इसके पीछे तो जैन कवियों की बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जैसे श्रुतिपंचमी कथा, योगसार, जसहर-चरिउ, णायकुमार-चरिउ इत्यादि। ध्यान देने की बात यह है कि चरित्र-काव्य या आख्यानकाव्य के लिये अधिकतर चौपाई दोहे की पद्धति ग्रहण की गई है। पुष्पदंत (संवत् १०२९) के 'आदिपुराण' और 'उत्तर पुराण' चौपाइयों में हैं। उसी काल के आसपास का 'जसहरचरिउ' (यशधरचरित्र) भी चौपाइयों में रचा गया है, जैसे—

विणु धवलेण सयडु किं हल्लइ।
विणु जीवेण देहु किं चल्लइ।
विणु जीवेण मोक्ख को पावइ।
तुम्हारिसु किं अप्पइ आवइ॥

चौपाई-दोहे की यह परंपरा हम आगे चलकर सूफियों की प्रेम-कहानियों में, तुलसी के रामचरितमानस में तथा छत्रप्रकाश, ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं।

बौद्ध धर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये बिहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं जिनका परंपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियों और विभूतियों के लिये प्रसिद्ध थे। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में भैरवानंद के नाम से एक ऐसे ही सिद्ध योगी का समावेश किया है। इस प्रकार जनता पर इन सिद्ध योगियों का प्रभाव विक्रम की १०वीं शती से ही पाया जाता है, जो मुसलमानों के आने पर पठानों के समय तक कुछ न कुछ बना रहा। बिहार के नालन्दा और विक्रमशिला नामक प्रसिद्ध विद्यापीठ इनके अड्डे थे। बख्तियार खिलजी ने इन दोनों स्थानों को जब उजाड़ा तब ये तितर बितर हो गए। बहुत से भोट आदि अन्य देशों को चले गए।

चौरासी सिद्धों के नाम ये हैं—लूहीपा, लीलापा, विरूपा, डोंभिपा, शवरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चौरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खड्गपा, नागार्जुन, कण्हपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शीलपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोम्भीपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुक्कुरिपा, कुचिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भल्लहपा, नलिनपा, भूसुकुपा, इंद्रभूति, मेकोपा, कुठालिपा, कमरिपा

जालंधरपा, राहुलपा, घर्वरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घंटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपकपा, भिखनपा, भलिपा, कुमरिपा, चँवरिपा, मणिभद्रा (योगिनी), कनखलापा (योगिनी), कलकलपा, कंतालीपा, धहुरिपा, उधरिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतुलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा (योगिनी), समुदपा, भलिपा।

('पा' आदरार्थक 'पाद' शब्द है। इस सूची के नाम पूर्वापर कालानुक्रम से नहीं हैं। इनमें से कई एक समसामयिक थे।)

वज्रयान शाखा में जो योगी 'सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हुए वे अपने मत का संस्कार जनता पर भी डालना चाहते थे। इससे वे संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंश-मिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा में भी बराबर सुनाते रहे। उनकी रचनाओं का एक संग्रह पहले म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने बँगला अक्षरों में "बौद्धगान ओ दोहा" के नाम से निकाला था। पीछे त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायनजी भोट देश में जाकर सिद्धों की और बहुत सी रचनाएँ लाए। सिद्धों में सबसे पुराने <u>'सरह'</u> (सरोजवज्र भी नाम है) हैं जिनका काल डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य * ने विक्रम संवत् ६९० निश्चित किया है। उनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

अंतस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार—

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि बुद्ध वसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन विखंडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पंडिअ।

---

* Buddhist Esoteriom.

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस ।
तहि बट चित्त बिसाम करु सरहे कहिअ उवेस ।
घोर अँधारे चंदमणि जिमि उज्जोअ करेइ ।
परम महासुह एखु कणे दुरिअ अशेष हरेइ ॥
जीवन्तह जो नउ जरइ सो अजरामर होइ ।
गुरु उपएसें बिमलमइ सो पर धण्णा कोइ ॥

दक्षिण मार्ग छोड़कर वाममार्ग-ग्रहण का उपदेश—

नाद न बिंदु न रवि न शशि मंडल । चिअराअ सहावे मूकल ।
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक । निअहि बोहि मा जाहु रे लंक ॥

लूहिपा या लूइपा (संवत् ८३० के आसपास) के गीतों से कुछ उद्धरण—

काआ तरुवर पंच विड़ाल । चंचल चीए पइठो काल ।
दिट करिअ महासुह परिमाण । लूइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण ।

भाव न होइ, अभाव ण जाइ । अइस संबोहे को पतिआइ ?
लूइ भणइ बट दुलक्ख विणाण । तिअ धाए विलसइ, उह लागे णा ।

विरूपा (संवत ९०० के लगभग) की वारुणी-प्रेरित अंतर्मुख साधना की पद्धति देखिए—

सहजे थिर करि वारुणी साध । जे अजरामर होइ दिट काँध ।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ । आइल गराहक अपणे बहिआ ।
चउशठि घड़िए देट पसारा । पइठल गराहक नाहि निसारा ।

कण्हपा (सं० ९०० के उपरांत) की बानी के कुछ खंड नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

एक्क ण किज्जइ मंत्र ण तंत । णिअ घरणी लइ केलि करंत ।
णिअ घर घरिणी जाव ण मज्जइ । ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ ।

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिमि घरिणी लइ चित्त ।
समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त ॥

वज्रयानियों की योग-तंत्र-साधनाओं में मद्य तथा स्त्रियों का—विशेषत: डोमिनी, रजकी आदि का—अबाध सेवन एक आवश्यक अंग था। सिद्ध कण्हपा डोमिनी का आह्वान-गीत इस प्रकार गाते हैं—

नगर बाहिरे डोंबी तोहरि कुड़िया छइ
छोइ जाइ सो बाम्र नाड़िया ।
आलो डोंबि ! तोए सम करिब म साँग ।
निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग ॥
एक सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी ।
तहि चढ़ि नाचअ डोंबो बापुड़ी ॥
हालो डोंबी ! तो पुछमि सदभावे ।
अइससि जासि डोंबी काहरि नावे ॥

गंगा जउँना माझे रे बहइ नाई ।
तहि बुड़िलि मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।
बाहतु डोंबी, बाहलो डोंबी बाट त भइल उछारा ।
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥

काआ नावड़ि, खँटि मन करिआल । सद्गुरु बअणे धर पतवाल ।
चीअ थिर करि गहु रे नाई । अन्न उपाये पार ण जाई ॥

कापालिक जोगियों से बचे रहने का उपदेश घर में सास ननँद आदि देती ही रहती थीं पर वे आकर्षित होती ही थीं—जैसे कृष्ण की ओर गोपियाँ होती थीं—

राग देस मोह लाइअ छार। परम मोख लवए मुत्तिहार।
मारिअ सासु नणंद घरे शाली। माअ मारिया, कण्ह, भइअ कवाली।

थोड़ा घट के भीतर का विहार देखिए—

नाड़ि शक्ति दिअ धरिअ खदे ।
अनह डमरु बाजइ बीर नादे ।
काएह कपाली जोगी पइठ अचारे ।
देह-नअरी बिहरइ एकारे ॥

इसी ढंग का **कुक्कुरिपा** (सं० ९०० के उपरांत) का एक गीत लीजिए—

ससुरी निंद गेल, बहुड़ी जागअ ।
कानेट चोर निलका गइ मागअ ।
दिवसइ बहुड़ी काढ़इ डरे भाअ ।
राति भइले कामरू जाअ ॥

रहस्य-मार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप में भी रखते थे जिसे कोई बिरला ही बूझ सकता है । सिद्ध **तांतिपा** की अटपटी बानी सुनिए ।

बेंग संसार बाड़हिल जाअ । दुहिल दूध कि बेंटे समाअ ।
बलद बिआएल गविआ बाँझे । पिटा दुहिए एतिना साँझे ।
जो सो बुज्झी सो धनि बुधी ।
जो सो चोर सोइ साधी ।
निते निते षिआला षिहे षम जूझअ ।
ढेंढपाएर गीत बिरले बूझअ ॥

बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक रूप धारण किया तब उसमें पाँच ध्यानी बुद्धों और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्त्वों की भावना की गई जो सृष्टि का परिचालन करते हैं । वज्रयान में आकर 'महासुखवाद' का प्रवर्त्तन हुआ । प्रज्ञा और उपाय के योग से इस महासुख-दशा की प्राप्ति मानी गई । इसे आनन्द-स्वरूप ईश्वरत्व ही समझिए । निर्वाण के तीन अवयव ठह-

राए गए—शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् में तो ब्रह्मानंद के सुख के परिमाण का अंदाजा कराने के लिये उसे सहवास-सुख से सौगुना कहा था पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास-सुख के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चलीं और उनकी नग्न मूर्त्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य की प्रवृत्ति बढ़ती गई और 'गुह्य समाज' या 'श्री समाज' स्थान स्थान पर होने लगे। ऊँचे नीचे कई वर्णों की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक बीभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिये किसी स्त्री का (जिसे शक्ति, योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय देश के पूरबी भागों में (बिहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर बहुत दुराचार फैला था।

रहस्यवादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे—

काआ तरुवर पंच बिड़ाल।

(पंच बिड़ाल=बौद्ध शास्त्रों में निरूपित पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा और मोह। ध्यान देने की बात यह है कि विकारों की यही पाँच संख्या निर्गुण धारा के संतों और हिंदी के सूफी कवियों ने ली। हिंदू शास्त्रों में विकारों की बँधी संख्या ६ है।)

गंगा जउँना माझे बहइ रे नाई।

(=इला पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा)

इसी से वे अपनी बानियों की भाषा को 'संध्याभाषा" कहते थे। ❀

ऊपर उद्धृत थोड़े से वचनों से ही इसका पता लग सकता है कि इन सिद्धों द्वारा किस प्रकार के संस्कार जनता में इधर उधर बिखेरे गए थे। जनता की श्रद्धा शास्त्रज्ञ विद्वानों पर से हटाकर अंतर्मुख साधनावाले योगियों पर जमाने का प्रयत्न 'सरह' के इस वचन से कि "घट में ही बुद्ध हैं यह नहीं जानता, आवागमन को भी खंडित नहीं किया तो भी निर्लज्ज कहता है कि मैं पंडित हूँ" स्पष्ट झलकता है। यहाँ पर यह समझ रखना चाहिए कि योगमार्गी बौद्धों ने ईश्वरत्व की भावना कर ली थी—

प्रत्यात्मवेद्यो भगवान् उपमावर्जितः प्रभुः।
सर्वगः सर्वव्यापी च कर्त्ता हर्त्ता जगत्पतिः।
श्रीमान् वज्रसत्त्वोऽसौ व्यक्तभाव-प्रकाशकः।
—व्यक्तभावानुगत तत्त्वसिद्धि
(दारिकपा की शिष्या सहजयोगिनी चिंता कृत)

इसी प्रकार जहाँ रवि, शशि, पवन आदि की गति नहीं वहाँ चित्त को विश्राम कराने का दावा, 'ऋजु' (सीधे, दक्षिण) मार्ग छोड़कर 'बंक' (टेढ़ा, वाम) मार्ग ग्रहण करने का उपदेश भी है। सिद्ध कण्हपा कहते हैं कि 'जब तक अपनी गृहिणी का उपभोग न करेगा तबतक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ विहार क्या करेगा?'। वज्रयान में 'महासुह' (महासुख) वह दशा बतलाई गई है जिसमें साधक शून्य में इस प्रकार विलीन हो

---

* Buddhist Esoteriom.—
Dr. Benoytosh Bhattacharya

जाता है जिस प्रकार नमक पानी में। इस दशा का प्रतीक खड़ा करने के लिये 'युगनद्ध' (स्त्री-पुरुष का आलिंगन-बद्ध जोड़ा) की भावना की गई। कण्हपा का यह वचन कि "जिमि लोण बिलिज्जइ पाणिएहि तिमि घरणी लइ चित्त", इसी सिद्धांत का द्योतक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कौल, कापालिक आदि इन्हीं वज्रयानियों से निकले। कैसा ही शुद्ध और सात्त्विक धर्म हो, 'गुह्य' और 'रहस्य' के प्रवेश से वह किस प्रकार विकृत और पाषंडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है।

गोरखनाथ के नाथपंथ का मूल भी बौद्धों की यही वज्रयान शाखा है। चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिंदूशाखा ने वज्रयानियों के अश्लील और बीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा, यद्यपि शिव-शक्ति की भावना के कारण कुछ शृंगारमयी वाणी भी नाथपंथ के किसी किसी ग्रंथ में (जैसे, शक्तिसंगम तंत्र) मिलती है। गोरख ने पतंजलि के उच्च लक्ष्य, ईश्वर-प्राप्ति, को लेकर हठयोग का प्रवर्त्तन किया। वज्रयानी सिद्धों का लीला-क्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पच्छिमी भागों में—राजपूताने और पंजाब में—किया। पंजाब में नमक के पहाड़ों के बीच बालनाथ जोगी का स्थान बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। जायसी की पद्मावत में "बालनाथ का टीला" आया है।

गोरखनाथ के समय का ठीक पता नहीं। राहुल सांकृत्यायन जी ने वज्रयानी सिद्धों की परंपरा के बीच उनका जो स्थान रखा है उसके अनुसार उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी आता है। इनका आधार वज्रयानी सिद्धों की एक पुस्तक

'रत्नाकर जोपम कथा' है, जिसके अनुसार मीननाथ के पुत्र मत्स्येंद्रनाथ कामरूप के मछवाहे थे और चर्पटीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे। पर सिद्धों की अपनी सूची में सांकृत्यायन जी ने ही मत्स्येंद्र को जलंधर का शिष्य लिखा है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ (मछंदरनाथ) थे, यह तो प्रसिद्ध ही है। सांकृत्यायन जी ने मीननाथ या मीनपा को पालवंशी राजा देवपाल के समय में अर्थात संवत् ९०० के आसपास माना है। यह समय उन्होंने किस आधार पर स्थिर किया, पता नहीं। यदि सिद्धों की उक्त पुस्तक में मीनपा के राजा देवपाल के समय में होने का उल्लेख होता तो वे उसकी ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते। चौरासी सिद्धों के नामों में हेर-फेर होना बहुत संभव है। हो सकता है कि गोरक्षपा और चौरंगी-पा के नाम पीछे से जुड़ गए हों और मीनपा से मत्स्येंद्र का, नाम-साम्य के अतिरिक्त, कोई संबंध न हो। ब्रह्मानंद ने दोनों को बिल्कुल अलग माना भी है (Saraswati Bhavan Studies)। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धों की नामावली में और सब सिद्धों की जाति और देश का उल्लेख है, पर गोरक्ष और चौरंगी का कोई विवरण नहीं। अतः गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की १०वीं शताब्दी मानते नहीं बनता।

महाराष्ट्र संत ज्ञानदेव ने, जो अलाउद्दीन के समय (संवत् १३५८) में थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परंपरा में कहा है। उन्होंने यह परंपरा इस क्रम से बताई है—

आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ, और ज्ञानेश्वर।

इस महाराष्ट्र-परंपरा के अनुसार गोरखनाथ का समय महाराज पृथ्वीराज के पीछे आता है। नाथ-परंपरा में मत्स्येंद्रनाथ के

गुरु जलंधरनाथ माने जाते हैं। भोट के ग्रंथों में भी सिद्ध जलंधर आदिनाथ कहे गए हैं। सब बातों का विचार करने से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जलंधर ने ही सिद्धों से अपनी परंपरा अलग की और पंजाब की ओर चले गए। वहाँ काँगड़े की पहाड़ियों तथा और स्थानों में रमते रहे। पंजाब का जलंधर शहर उन्हीं का स्मारक जान पड़ता है। नाथ संप्रदाय के किसी ग्रंथ में जलंधर को बालनाथ भी कहा है। नमक के पहाड़ों के बीच 'बालनाथ का टीला' बहुत दिनों तक प्रसिद्ध रहा। मत्स्येंद्र जलंधर के शिष्य थे, नाथपंथियों की यह धारणा ठीक जान पड़ती है। मीनपा के गुरु चर्पटीनाथ हो सकते हैं, पर मत्स्येंद्र के गुरु जलंधर ही थे। सांकृत्यायन जी ने गोरख का जो समय स्थिर किया है, वह मीनपा को राजा देवपाल का सम-सामयिक और मत्स्येंद्र का पिता मानकर। मत्स्येंद्र का मीनपा से कोई संबंध न रहने पर उक्त समय मानने का कोई आधार नहीं रह जाता और पृथ्वीराज के समय के आसपास ही—विशेषतः कुछ पीछे—गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।

जिस प्रकार सिद्धों की संख्या चौरासी प्रसिद्ध है उसी प्रकार नाथों की संख्या नौ। अब भी लोग नवनाथ और चौरासी सिद्ध कहते सुने जाते हैं। 'गोरक्षसिद्धांत-संग्रह' में मार्ग-प्रवर्त्तकों के ये नाम गिनाए गए हैं—

नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष-नाथ, चर्पट, जलंधर और मलयार्जुन।

इन नामों में नागार्जुन, चर्पट और जलंधर सिद्धों की परंपरा में भी हैं। नागार्जुन (सं० ७०२) प्रसिद्ध रसायनी भी थे। नाथपंथ में रसायन की सिद्धि है। नाथपंथ सिद्धों की परंपरा से ही छँटकर निकला है, इसमें कोई संदेह नहीं।

इतिहास से इस बात का पता लगता है कि महमूद गजनवी के भी कुछ पहले सिंध और मुलतान में कुछ मुसलमान बस गए थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ सीखीं, इसका उल्लेख मिलता है। अतः गोरखनाथ चाहे विक्रम की १०वीं शताब्दी में हुए हों चाहे १३वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है। क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, उन्होंने अपने पंथ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।

इतिहास और जनश्रुति से इस बात का पता लगता है कि सूफी फकीरों और पीरों के द्वारा इसलाम को जनप्रिय बनाने का उद्योग भारत में बहुत दिनों तक चलता रहा। पृथ्वीराज के पिता के समय में ख्वाजा मुईनुद्दीन के अजमेर आने और अपनी सिद्धि का प्रभाव दिखाने के गीत मुसलमानों में अब तक गाए जाते हैं। चमत्कारों पर विश्वास करनेवाली भोली-भाली जनता के बीच अपना प्रभाव फैलाने में इन पीरों और फकीरों को सिद्धों और योगियों से मुकाबला करना पड़ा जिनका प्रभाव पहले से जमा चला आ रहा था। भारतीय मुसलमानों के बीच, विशेषतः सूफियों की परंपरा में, ऐसी अनेक कहानियाँ चलीं जिनमें किसी पीर ने किसी सिद्ध या योगी को करामात में पछाड़ दिया। कई योगियों के साथ ख्वाजा मुईनुद्दीन का भी ऐसा ही करामाती दंगल कहा जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोरखनाथ की हठयोग-साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अतः उसमें मुसलमानों के लिये भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिये एक सामान्य साधना के रूप में आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी।

उसमें मुसलमानों को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। अतः उन्होंने दोनों के विद्वेष-भाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकलने की सम्भावना समझी थी और वे उसका संस्कार अपनी शिष्य-परंपरा में छोड़ गए थे। नाथ-संप्रदाय के सिद्धांत-ग्रंथों में ईश्वरोपासना के बाह्य विधानों के प्रति उपेक्षा प्रकट की गई है, घट के भीतर ही ईश्वर को प्राप्त करने पर जोर दिया गया है, वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गई है, तीर्थाटन आदि निष्फल कहे गए हैं—

१. योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।

२. न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते॥
न सन्ध्या सन्धिरित्याहुः सन्ध्या सन्धिर्निगद्यते।
सुषुम्णा-सन्धिगः प्राणः सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते॥

अंतस्साधना के वर्णन में हृदय दर्पण कहा गया है जिसमें आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिंब पड़ता है—

३. हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत्।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम्॥

परमात्मा की अनिर्वचनीयता इस ढंग से बताई गई है—

शिवं न जानामि कथं वदामि। शिवं च जानामि कथं वदामि॥

इसके संबंध में सिद्ध लूहिपा भी कह गए हैं—

भाव न होइ, अभाव न होइ। अइस सबोहे को पतिआइ?

'नाद' और 'बिंदु' संज्ञाएँ वज्रयानी सिद्धों में बराबर चलती रहीं। गोरख-सिद्धांत में उनकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

नाथांशो नादो, नादांशः प्राणः; शक्त्यंशो विन्दुर्विन्दोरंशः शरीरम्।

—गोरक्षसिद्धांतसंग्रह
(गोपीनाथ कविराज संपादित)

'नाद' और 'बिंदु' के योग से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध और हठ-योगी दोनों मानते थे।

तीर्थाटन के संबंध में जो भाव सिद्धों का था वही हठ-योगियों का भी रहा। 'चित्तशोधनप्रकरण' में वज्रयानी सिद्ध आर्यदेव (कणेरीपा) का वचन है—

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धिमर्हति।
तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानां कृतार्थता।
नक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा॥

जनता के बीच इस प्रकार के भाव क्रमशः ऐसे गीतों के रूप में निर्गुणपंथी संतों द्वारा आगे भी बराबर फैलते रहे, जैसे—

गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे,
मछरी न तरी जाको पानी ही में घर है।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि ८४ सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दरजी तथा और बहुत से शूद्र कहे जानेवाले लोग थे। अतः जाति-पाँति के खंडन तो वे आप ही थे। नाथ-संप्रदाय भी जब फैला तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के बहुत से लोग आए जो शास्त्रज्ञान-संपन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था *। पर अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिये शास्त्रज्ञ पंडितों और

---

* The system of mystic culture introduced by Gorakhnath does not seem to have spread widely through the educated classes.

—Saraswati Bhavan Studies.
(by Gopinath Kaviraj & Jha)

विद्वानों को फटकारना वे जरूरी समझते थे। सद्गुरु का माहात्म्य सिद्धों में भी और उनमें भी बहुत अधिक था।

नाथ-पंथ के जोगी कान की लौ में बड़े बड़े छेद करके स्फटिक के भारी भारी कुंडल पहनते हैं, इससे कनफटे कहलाते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस पंथ का प्रचार राजपूताने तथा पंजाब की ओर ही अधिक रहा। अतः जब मत के प्रचार के लिये इस पंथ में भाषा के भी ग्रंथ लिखे गए तब उधर की ही प्रचलित भाषा का व्यवहार किया गया। उन्हें मुसलमानों को भी अपनी बानी सुनानी रहती थी जिनकी बोली अधिकतर दिल्ली के आसपास की खड़ी बोली थी। इससे उसका मेल भी उनकी बानियों में अधिकतर रहता था। इस प्रकार नाथ-पंथ के इन जोगियों ने परंपरागत साहित्य की भाषा या काव्य-भाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'सधुक्कड़ी' भाषा का सहारा लिया जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था। देशभाषा की इन पुस्तकों में पूजा, तीर्थाटन आदि के साथ साथ हज, नमाज आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार की एक पुस्तक का नाम है 'काफ़िर बोध'*।

नाथ-पंथ के उपदेशों का प्रभाव हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभकाल में ही पड़ा। बहुत से मुसलमान, निम्नश्रेणी के ही सही, नाथ-पंथ में आए। अब भी इस प्रदेश में बहुत से मुसलमान जोगी गेरुवा वस्त्र पहने, गुदड़ी की लंबी झोली लटकाए, सारंगी बजा बजाकर 'कलि में अमर राजा भर-थरी' के गीत गाते फिरते हैं और पूछने पर गोरखनाथ को अपना

* यह, तथा इसी प्रकार की और कुछ पुस्तकें, मेरे प्रिय शिष्य डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल के पास हैं।

आदिगुरु बताते हैं। ये राजा गोपीचंद के भी गीत गाते हैं जो बंगाल में चाटिगाँव के राजा थे और जिनकी माता मैनावती कहीं गोरख की शिष्या और कहीं जलंधर की शिष्या कही गई हैं।

देशभाषा में लिखी गोरखपंथ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों में हैं और विक्रम संवत् १४०० के आसपास की रचनाएँ हैं। इनमें सांप्रदायिक शिक्षा है। जो पुस्तकें पाई गई हैं उनके नाम ये हैं—गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरख-संवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्तगोरख-संवाद, योगेश्वरी साखी, नरवइ बोध, विराट् पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की बानी। ये सब ग्रंथ गोरख के नहीं, उनके अनुयायी शिष्यों के रचे हैं। गोरख के समय में जो भाषा लिखने-पढ़ने में व्यवहृत होती थी उसमें प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का थोड़ा या बहुत मेल अवश्य रहता था। उपर्युक्त पुस्तकों में 'नरवइ बोध' के नाम (नरवइ=नरपति) में ही अपभ्रंश का आभास है। इन पुस्तकों में अधिकतर संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद हैं। यह बात उनकी भाषा के ढंग से ही प्रकट होती है। 'बिराट् पुराण' संस्कृत के 'वैराट पुराण' का अनुवाद है। गोरखपंथ के ये संस्कृत ग्रंथ पाए जाते हैं—

सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, विवेक-मार्त्तण्ड, शक्ति-संगम तंत्र, निरंजन पुराण, वैराट पुराण।

हिंदी भाषा में लिखी पुस्तकें अधिकतर इन्हीं के अनुवाद या सार हैं। हाँ, 'साखी' और 'बानी' में शायद कुछ रचना गोरख की हो। पद का एक नमूना देखिए—

स्वामी तुम्हइ गुर गोसाईं।
अम्हे जो सिष सबद एक बूझिबा।

निगरंबे चेला कूण बिधि रहै।
सतगुरु होइ स पुछ्या कहै।
अवधू रहिया हाटे बाटे रूष बिरष की छाया।
तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया॥

सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योग-साधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं; जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ। उनका वर्णन यहाँ केवल दो बातों के विचार से किया गया है—

(१) पहली बात है भाषा। सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा-मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिंदी की काव्य-भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी। पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे, भइले, बूड़िन्ति) मिले हुए हैं। पुरानी हिंदी की व्यापक काव्यभाषा का ढाँचा शौरसेनी-प्रसूत अपभ्रंश अर्थात् ब्रज और खड़ी बोली (पच्छिमी हिंदी) का था। वही ढाँचा हम उद्धृत रचनाओं के—

जो, सो, मारिआ, पइठो, जाअ, किज्जइ, करंत, जाब (जब तक), ताब (तब तक), भइअ, काइ,

इत्यादि प्रयोगों में पाते हैं। ये प्रयोग मागधी-प्रसूत पुरानी बँगला के नहीं; शौरसेनी-प्रसूत पुरानी पच्छिमी हिंदी के हैं। सिद्धपा कराहपा की रचनाओं को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो एक बात साफ झलकती है। वह यह कि उनकी उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसाली हिंदी (काव्यभाषा) है, पर गीत की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर की 'साखी' और 'रमैनी' (गीत) की भाषा में पाते हैं। 'साखी' की भाषा तो खड़ी बोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य 'सधुक्कड़ी' भाषा है, पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली भी है।

सिद्धों में 'सरह' सब से पुराने अर्थात् वि० सं० ६९० के हैं। अतः हिंदी काव्यभाषा के पुराने रूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है।

(२) दूसरी बात है सांप्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परंपरा। वज्रयानी सिद्धों ने निम्न श्रेणी की प्रायः अशिक्षित जनता के बीच किस प्रकार के भावों के लिये जगह निकाली, यह दिखाया जा चुका। उन्होंने बाह्यपूजा, जातिपाँति, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा-बुद्धि का प्रचार किया; रहस्यदर्शी बनकर शास्त्रज्ञ विद्वानों का तिरस्कार करने और मन-माने रूपकों के द्वारा अटपटी बानी में पहेलियाँ बुझाने का रास्ता दिखाया, घट के भीतर चक्र, नाड़ियाँ, शून्य देश आदि मानकर साधना करने की बात फैलाई और 'नाद, बिंदु, सुरति, निरति' ऐसे शब्दों की उद्धरणी करना सिखाया। यही परंपरा अपने ढंग पर नाथ-पंथियों ने भी जारी रखी। आगे चलकर भक्तिकाल में निर्गुण संत संप्रदाय किस प्रकार वेदांत के ज्ञानवाद, सूफियों के प्रेम-वाद तथा वैष्णवों के अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद को मिलाकर सिद्धों और योगियों द्वारा बनाए हुए इस रास्ते पर चल पड़ा,

यह आगे दिखाया जायगा। कबीर आदि संतों को नाथ-पंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिये बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी।

ये ही दो बातें दिखाने के लिये इस इतिहास में सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। उन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते। अतः धर्म-संबंधी रचनाओं की चर्चा छोड़, अब हम सामान्य साहित्य की जो कुछ सामग्री मिलती है, उसका उल्लेख उनके संग्रहकर्त्ताओं और रचयिताओं के क्रम से करते हैं।

हेमचंद्र—गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (संवत् ११५०—११९९) और उनके भतीजे कुमारपाल (११९९—१२३०) के यहाँ इनका बड़ा मान था। ये अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने एक बड़ा भारी व्याकरण-ग्रंथ "सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन" सिद्ध-राज के समय में बनाया, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश किया। अपभ्रंश के उदाहरणों में इन्होंने पूरे दोहे या पद्य उद्धृत किए हैं, जिनमें से अधिकांश इनके समय से पहले के हैं। कुछ दोहे देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु॥

(भला हुआ जो मारा गया, हे बहिन! हमारा कांत। यदि वह भागा हुआ घर आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती।)

जइ सो न आवइ, दूइ ! घरु, काइँ अहोमुहु तुज्झु ।
वयणु ज खंडइ तउ, सहि ए ! सो पिउ होइ न मुज्झु ॥

(हे दूती ! यदि वह घर नहीं आता तो तेरा क्यों अधोमुख है ? हे सखी ! जो तेरा वचन खंडित करता है—श्लेष से दूसरा अर्थ; जो तेरे मुख पर चुंबन द्वारा क्षत करता है—वह मेरा प्रिय नहीं ।)

जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण ।
ताण गणंतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण ॥

(जो दिन या अवधि दयित अर्थात् प्रिय ने प्रवास जाते हुए मुझे दिए थे उन्हें नख से गिनते गिनते मेरी उँगलियाँ जर्जरित हो गईं) ।

पिय संगमि कउ निद्दड़ी ? पियहो परोक्खहो केंव ।
मइँ बिन्निवि विन्नासिया, निद्द न एँव न तेंव ॥

(प्रिय के संगम में नींद कहाँ और प्रिय के परोक्ष में भी क्यों-कर आवे ? मैं दोनों प्रकार से विनाशिता हुई अर्थात् गई—न यों नींद न त्यों ।)

अपने व्याकरण के उदाहरणों के लिये हेमचंद्र ने भट्टी के समान एक 'द्व्याश्रय काव्य' की भी रचना की है जिसके अंतर्गत "कुमारपाल-चरित" नामक एक प्राकृत काव्य भी है। इस काव्य में भी अपभ्रंश के पद्य रखे गए हैं ।

सोमप्रभ सूरि—ये भी एक जैन पंडित थे। इन्होंने संवत् १२४१ में "कुमारपालप्रतिबोध" नामक एक गद्यपद्यमय संस्कृत-प्राकृत-काव्य लिखा जिसमें समय समय पर हेमचंद्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिए जाने की कथाएँ लिखी हैं। यह ग्रंथ अधिकांश प्राकृत में ही है—बीच बीच में संस्कृत श्लोक और अपभ्रंश के दोहे आए हैं। अपभ्रंश के पद्यों में कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ सोमप्रभ और सिद्धिपाल कवि के बनाए हैं। प्राचीन में से कुछ दोहे दिए जाते हैं—

रावण जायउ जहि दिअहि दह मुह एक सरीरु।
चिंताविय तइयहि जणणि कवणु पियावउँ खीरु॥

(जिस दिन दस मुँह एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ तभी माता चिंतित हुई कि किसमें दूध पिलाऊँ।)

बेस-बिसिट्ठह वारियइ जइवि मणोहर गत्त।
गंगाजल पक्खालिय वि सुणिहि कि होइ पवित्त?

(वेश-विशिष्टों को वारिए अर्थात् बचाइए यदि मनोहर गात्र हो तो भी। गंगाजल से धोई कुतिया क्या पवित्र हो सकती है?)

पिय हउँ थक्किय सयलु दिणु तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जल जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि करंत॥

(हे प्रिय! मैं सारे दिन तेरी विरहाग्नि में वैसे ही कड़कड़ाती रही जैसे थोड़े जल में मछली तलबेली करती है।)

जैनाचार्य्य मेरुतुंग ने संवत् १३६१ में "प्रबंधचिंतामणि" नामक एक संस्कृत ग्रंथ भोज-प्रबंध के ढँग का बनाया, जिसमें बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान संगृहीत किए। इन्हीं आख्यानों के अंतर्गत बीच बीच में अपभ्रंश के पद्य भी उद्धृत हैं जो बहुत पहले से चले आते थे। कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुंज के कहे हुए हैं। मुंज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिंदी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं। मुंज ने जब तैलंग देश पर चढ़ाई की थी तब वहाँ के राजा तैलप ने उसे बंदी कर लिया था और रस्सियों से बाँधकर अपने यहाँ ले गया था। वहाँ उसके साथ तैलप की बहिन मृणालवती से प्रेम हो गया। इस प्रसंग के दोहे देखिए—

झाली तुट्टी किं न मुउ, किं न हुएउ छरपुंज।
हिंदइ दोरी बँधीयउ जिम मंकड़ तिम मुंज॥

(टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा? क्षारपुंज क्यों न हो गया? जैसे डोरी में बँधा बंदर वैसे घूमता है मुंज।)

मुंज भणइ, मुणालवइ ! जुब्बण गयुं न झूरि ।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि ॥

(मुंज कहता है, हे मृणालवति ! गए हुए यौवन को न पछता । यदि शर्करा सौ खंड हो जाय तो भी वह चूरी हुई ऐसी ही मीठी रहेगी ।)

जा मति पच्छइ संपजइ सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ, मुणालवइ ! विघन न वेढ़इ कोइ ॥

(जो मति या बुद्धि पीछे प्राप्त होती है यदि पहले हो तो मुंज कहता है, हे मृणालवति ! विघ्न किसी को न घेरे ।)

बाह बिछोड़वि जाहि तुहुँ, हउँ तेवइँ का दोसु ।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि, जाणउँ मुंज सरोसु ॥

(बाहँ छुड़ाकर तू जाता है, मैं भी वैसे ही जाती हूँ—क्या हर्ज है ? हृदयस्थित अर्थात् हृदय से यदि निकले तो मैं जानूँ कि मुंज रूठा है ।)

एउ जम्मु नग्गुहं गिउ भड़सिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खाँ तुरियँ न माणियाँ, गोरी गली न लग्गु ॥

(यह जन्म व्यर्थ गया । न सुभटों के सिर पर खड्ग टूटा, न तेज घोड़े सजाए, न गोरी या सुंदरी के गले लगा ।)

फुटकल रचनाओं के अतिरिक्त वीरगाथाओं की परंपरा के प्रमाण भी अपभ्रंश-मिली भाषा में मिलते हैं ।

विद्याधर—इस नाम के एक कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट् (शायद जयचंद) के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किसी ग्रंथ में किया था । ग्रंथ का पता नहीं, पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में मिलते हैं, जैसे—

भअ भज्जिअ बंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रण मुत्ति चले ।
मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा भअ पाअ पले ।

चंपारण कंपा पव्वअ झंपा उत्थी उत्थी जीव हरे।
कासीसर राणा किअउ पआणा, विज्जाहर भण मंतिवरे॥

यदि विद्याधर को सम-सामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की १३वीं शताब्दी समझा जा सकता है।

शार्ङ्गधर—इनका आयुर्वेद का ग्रंथ तो प्रसिद्ध ही है। ये अच्छे कवि और सूत्रकार भी थे। इन्होंने "शार्ङ्गधर-पद्धति" के नाम से एक सुभाषित-संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है। रणथंभौर के सुप्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव के प्रधान सभासदों में राघवदेव थे। उनके गोपाल, दामोदर और देवदास ये तीन पुत्र हुए। दामोदर के तीन पुत्र हुए—शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। हम्मीरदेव संवत् १३५७ में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए थे। अतः शार्ङ्गधर के ग्रंथों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात् विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना चाहिए।

'शार्ङ्गधर-पद्धति' में बहुत से शाबर मंत्र और भाषा चित्र-काव्य दिए हैं जिनमें बीच बीच में देशभाषा के वाक्य आए हैं। उदाहरण के लिये श्रीमल्लदेव राजा की प्रशंसा में कहा हुआ यह श्लोक देखिए—

नूनं **बादल छाइ खेह पसरी** निःश्राण शब्दः खरः।
शत्रुं **पाड़ि लुटालि तोड़ि हनिसौं** एवं भणन्त्युद्भटाः॥
झूठे गर्वभरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम्॥

परंपरा से प्रसिद्ध है कि शार्ङ्गधर ने "हम्मीररासो" नामक एक वीरगाथा-काव्य की भी भाषा में रचना की थी। यह काव्य आजकल नहीं मिलता—उसके अनुकरण पर बहुत पीछे का लिखा हुआ एक ग्रंथ 'हम्मीररासो' नाम का मिलता है। "प्राकृत

पिंगल-सूत्र" उलटते पलटते मुझे हम्मीर की चढ़ाई, वीरता आदि के कई पद्य छंदों के उदाहरणों में मिले। मुझे पूरा निश्चय है कि ये पद्य असली 'हम्मीररासो' के ही हैं। अतः ऐसे कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

ढोला मारिय ढिल्लि महँ मुच्छिउ मेच्छ-सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ बीर हम्मीर॥
चलिअ बीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमग णह अंधार धूलि सुररह आच्छाइहि॥
दिगमग णह अंधार आण खुरसाणुक उल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु ढिल्ली मह ढोल्ला॥

(दिल्ली में ढोल बजाया गया, म्लेच्छों के शरीर मूर्च्छित हुए। आगे मंत्रिवर जज्जल को करके वीर हम्मीर चले। चरणों के भार से पृथ्वी काँपती है। दिशाओं के मार्गों और आकाश में अँधेरा हो गया है; धूल सूर्य के रथ को आच्छादित करती है। ओल में खुरासानी ले आए। विपक्षियों को दलमल कर दबाया, दिल्ली में ढोल बजाया।)

पिंधउ दिढ़ सन्नाह, बाह उप्परि पक्खर दइ।
बंधु समदि रण धँसेउ साहि हम्मीर बअण लइ॥
उड्डुउ णहपह भमउँ, खग्ग रिपु-सीसहि झल्लउँ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउँ॥

हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउँ।
सुलितान-सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउँ।

(दृढ़ सन्नाह पहने, वाहनों के ऊपर पक्खरें डालीं। बंधु बांधवों से बिदा लेकर रण में धँसा हम्मीर साहि का वचन लेकर। तारों को नभपथ में फिराऊँ, तलवार शत्रु के सिर पर जड़ूँ, पाखर से पाखर ठेल पेल कर पर्वतों को हिला डालूँ। जज्जल

कहना है कि हम्मीर के कार्य्य के लिये मैं क्रोध से जल रहा हूँ। सुलतान के सिर पर खड्ग देकर शरीर छोड़ मैं स्वर्ग को जाऊँ।)

पअभर दरमरु धरणि तरणि-रह धुल्लिअ झम्पिअ।
कमठ-पिट्ठ टरपरिअ, मेरु मंदर सिर कंपिअ॥
कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ, हा कंद! मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते॥

(चरणों के भार से पृथ्वी दलमल उठी। सूर्य्य का रथ धूल से ढक गया। कमठ की पीठ तड़फड़ा उठी; मेरु मंदर की चोटियाँ कंपित हुईं। गजयूथ के साथ वीर हम्मीर क्रुद्ध होकर चले। म्लेच्छों के पुत्र हा कष्ट! करके रो उठे और मूर्च्छित हो गए।)

अपभ्रंश की रचनाओं की परंपरा यहीं समाप्त होती है। यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे विद्यापति (संवत् १४६० में वर्तमान) ने बीच बीच में देशभाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश में दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं, पर उस समय तक अपभ्रंश का स्थान देशभाषा ले चुकी थी। प्रसिद्ध भाषातत्त्व-विद् सर जार्ज ग्रियसन जब विद्यापति के पदों का संग्रह कर रहे थे उस समय उन्हें पता लगा था कि 'कीर्त्तिलता' और 'कीर्त्तिपताका' नाम की प्रशस्ति-संबंधी दो पुस्तकें भी उनकी लिखी हैं। पर उस समय इनमें से किसी का पता न चला। थोड़े दिन हुए, महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री नैपाल गए थे। वहाँ राजकीय पुस्तकालय में 'कीर्त्तिलता' की एक प्रति मिली जिसकी नक़ल उन्होंने ली।

इस पुस्तक में तिरहुत के राजा कीर्त्तिसिंह की वीरता, उदारता, गुणग्राहकता आदि का वर्णन, बीच बीच में कुछ देशभाषा के भी पद्य रखते हुए, अपभ्रंश भाषा के दोहा, चौपाई, छप्पय, छंद, गाथा आदि छंदों में किया गया है। इस अपभ्रंश की

विशेषता यह है कि यह पूरबी अपभ्रंश है। इसमें क्रियाओं आदि के बहुत से रूप पूरबी हैं। नमूने के लिये एक उदाहरण लीजिए—

रज्ज-लुद्ध असलान बुद्धि विक्कम बले हारल।
पास बइसि बिसवासि राय गयनेसर मारल॥
मारंत राय रणरोल पड़ु, मेइनि हा हा सद्द हुअ।
सुरराय नयर नरअर-रमणि बाम नयन पप्फुरिअ धुअ॥

दूसरी विशेषता विद्यापति के अपभ्रंश की यह है कि वह प्रायः देशभाषा कुछ अधिक लिए हुए है और उसमें तत्सम संस्कृत शब्दों का वैसा बहिष्कार नहीं है। तात्पर्य्य यह कि वह प्राकृत की रूढ़ियों से उतनी अधिक बँधी नहीं है। उसमें जैसे इस प्रकार का टकसाली अपभ्रंश है—

पुरिसत्तण पुरिसउ, नहिं पुरिसउ जम्म मत्तेन।
जलदानेन हु जलओ, न हु जलओ पुंजिओ धूमो॥

वैसे ही इस प्रकार की देशभाषा या बोली भी है—

कतहुँ तुरुक बरकर। बार जाए ते बेगार धर।
धरि आनय बामन बरुआ। मथा चढ़ावइ गाय क चुरुआ।
हिंदू बोले दूरहि निकार। छोटउ तुरुका भभकी मार॥

अपभ्रंश की कविताओं के जो नए पुराने नमूने अब तक दिए जा चुके हैं उनसे इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि काव्यभाषा प्राकृत की रूढ़ियों से कितनी बँधी हुई चलती रही। बोलचाल तक के तत्सम-संस्कृत शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है। 'उपकार', 'नगर', 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'उअआर', 'नअर', 'बिज्जा', 'बअण' बनाकर ही रखे जाते थे। 'जासु', 'तासु' ऐसे रूप बोलचाल से उठ जाने पर भी पोथियों में बराबर चलते रहे। विशेषण विशेष्य के बीच विभक्तियों का समानाधिकरण अपभ्रंश काल में कृदंत

विशेषणों से बहुत कुछ उठ चुका था, पर प्राकृत की परंपरा के अनुसार अपभ्रंश की कविताओं में कृदंत विशेषणों में मिलता है—जैसे, "जुब्वण गयुं न झूरि" = गए को यौवन को न झूर = गए यौवन को न पछता। जब ऐसे उदाहरणों के साथ हम ऐसे उदाहरण भी पाते हैं जिनमें विभक्तियों का ऐसा समानाधिकरण नहीं है तब यह निश्चय हो जाता है कि उसका सन्निवेश पुरानी परंपरा का पालन मात्र है। इस परंपरा-पालन का निश्चय शब्दों की परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है। जब हम अपभ्रंश के पद्यों में 'मिट्ठ' और 'मीठी' दोनों रूपों का प्रयोग पाते हैं तब उस काल में 'मीठी' शब्द के प्रचलित होने में क्या संदेह हो सकता है ?

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यों ज्यों काव्य-भाषा देशभाषा की ओर अधिक प्रवृत्त होती गई त्यों त्यों तत्सम संस्कृत शब्द रखने में संकोच भी घटता गया। शार्ङ्गधर के पद्यों और कीर्तिलता में इसका प्रमाण मिलता है।

प्रकरण २

देशभाषा काव्य

वीरगाथा

पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त भाषा के जो पुराने काव्य—जैसे, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो—आजकल मिलते हैं वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।

इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि प्राकृत पढ़े हुए पंडित ही उस समय कविता नहीं करते थे। जनसाधारण की बोली में गीत दोहे आदि प्रचलित चले आते रहे होंगे जिन्हें पंडित लोग गँवारू समझते रहे होंगे। ऐसी कविताएँ राजसभाओं तक भी पहुँच जाती रही होंगी। 'राजा भोज जस मूसरचंद' कहनेवालों के सिवा देशभाषा में सुंदर भाव भरी कविता कहनेवाले भी अवश्य ही रहे होंगे। राजसभाओं में सुनाए जानेवाले नीति, शृंगार आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीररस के पद्य छप्पय में। राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे। ऐसे राजाश्रित कवियों की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राज-

कीय पुस्तकालयों में भी रक्षित रहती थीं और भट्ट चारण जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। उत्तरोत्तर भट्ट चारणों की परंपरा में चलते रहने से उनमें फेरफार भी बहुत कुछ होता रहा। इसी रक्षित परंपरा की सामग्री हमारे हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलती है। इसी से यह काल 'वीरगाथा-काल' कहा गया।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिंदुओं के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्द्धन (मृत्यु संवत् ७०४) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केंद्र हो रहा था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग में हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्त-वृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्द्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो गई थी और खंड खंड होकर जो गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत-राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे, वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नहीं होती थी; कभी कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये यों ही मोल ली जाती थी। बीच बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे। सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिंदी-साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय

था, वीरता के गौरव का समय था। और सब बातें पीछे पड़ गई थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु संवत् १०८७) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहाँ से लूटमार के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों पर, विशेषतः राजपूताने पर, चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता, पर कहीं कहीं संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध करने में मारा गया था। अजमेर बसानेवाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आना-सागर है। अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था, इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवा दिया जो 'आना सागर' कहलाया।

आना के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में वर्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ़ आई जिसे परास्त कर बीसलदेव आर्य्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और हाँसी के प्रदेश अपने राज्य में मिलाए और आर्य्यावर्त्त के एक बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक-लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढ़ाई (सं० १२४७) के पहले भी गोरियों की सेना ने नाड़ौल पर धावा किया था, पर उसे हारकर

लौटना पड़ा था। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनों तक राजपूताने आदि में कई स्वतंत्र हिंदू राजा थे जो बराबर मुसलमानों से लड़ते रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध रणथंभौर के महाराज हम्मीरदेव हुए हैं जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परंपरा में थे। वे मुसलमानों से निरंतर लड़ते रहे और उन्होंने उन्हें कई बार हराया था। सारांश यह कि पठानों के शासन-काल तक हिंदू बराबर स्वतंत्रता के लिये लड़ते रहे।

राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौड़ा वर्णन करके लाखों रुपए पानेवाले कवियों का समय बीत चुका था। राजदरबारों में शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गई थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रण-क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था।

इस दशा में काव्य या साहित्य के और भिन्न भिन्न अंगों की पूर्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनों रूपों में पाते हैं—मुक्तक के रूप में भी और प्रबंध के रूप में भी। फुटकल रचनाओं का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंध-काव्यों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसे, योरप में वीरगाथाओं का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा, वैसे ही यहाँ भी था। किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हरकर लाना वीरों के गौरव और

अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार इन काव्यों में शृंगार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप में, प्रधान रस वीर ही रहता था। शृंगार केवल सहायक के रूप में रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी। जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही लड़ाई की जड़ लिखी गई है। हम्मीर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का भी ऐसा ही कारण कल्पित किया गया है। इस प्रकार इन काव्यों में प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की बहुत अधिक योजना रहती थी।

ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबंधकाव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों (Ballads) के रूप में। साहित्यिक प्रबंध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है 'पृथ्वीराजरासो'। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक 'बीसलदेवरासो' मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है, जिसके गानेवाले प्रायः समस्त उत्तरीय भारत में पाए जाते हैं।

यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कहीं उल्लेख मात्र पाया जाता है। ये ग्रंथ 'रासो' कहलाते हैं। कुछ लोग इस शब्द का संबंध "रहस्य" से बतलाते हैं। पर "बीसलदेव-रासो" में काव्य के अर्थ में 'रसायण' शब्द बार बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी 'रसायण' शब्द से होते होते 'रासो' हो गया है।

(१) **खुमानरासो**—संवत् ८१० और १००० के बीच में चित्तौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिये बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० सं० ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन 'दलपत विजय' नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। पर इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परंपरा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा), खुम्माण, मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खुम्माण (दूसरा), महायक, खुम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि० सं० ७९१ से ८१० तक है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि० सं० ९९९ और १००० के मिले हैं। अतएव इन १९० वर्षों का औसत लगाने पर तीनों खुम्माणों का समय अनुमानतः इस प्रकार ठहराया जा सकता है—

खुम्माण (पहला)—वि० सं० ८१०—८३५
खुम्माण (दूसरा)—वि० सं० ८७०—९००
खुम्माण (तीसरा)—वि० सं० ९६५—९९०

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० ८७० से ८९० तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफों के सेनापतियों ने सिंध देश की विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर

मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर 'खुमानरासो' की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि० संवत् की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंहसरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमान-रासो नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिसमें श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपत-विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।

(२) **बीसलदेवरासो**—नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने 'बीसलदेवरासो' नामक एक छोटा सा (१०० पृष्ठों का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगीत के रूप में है। ग्रंथ में निर्माण-काल यों दिया है—

> बारह सै बहोत्तराँ मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि।
> 'नाल्ह' रसायण आरंभइ। सारदा तूठी ब्रह्मकुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द बरहोत्तर, 'द्वादशोत्तर' का रूपांतर है। अतः 'बारह सै बहोत्तराँ' का अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो में सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी १२२० के आस-

पास है। उसके शिलालेख भी संवत् १२१० और १२२० के प्राप्त हैं। बीसलदेवरासो में चार खंड हैं। यह काव्य लगभग २००० चरणों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा का सार यों है—

खंड १—मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से साँभर के बीसलदेव का विवाह होना।

खंड २—बीसलदेव का राजमती से रूठकर उड़ीसा की ओर प्रस्थान करना तथा वहाँ एक वर्ष रहना।

खंड ३—राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खंड ४—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

दिए हुए संवत के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं, जब कि उनके संबंध में कल्पना की गुंजाइश हुई होगी। यह घटनात्मक काव्य नहीं है, वर्णनात्मक है। इसमें दो ही घटनाएँ हैं—बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमें से पहली बात तो कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार-वंश की रानी थी, यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी, क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों

की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका केवल यह उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो, असली नाम न दिया हो। कदाचित् इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार-कन्या के संबंध में कई स्थानों पर जो वाक्य आए हैं, उन पर ध्यान देने से यह सिद्धांत पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे—"जनमी गोरी तू जेसलमेर"; "गोरड़ी जेसलमेर की"। आबू के परमार भी राजपूताने में फैले हुए थे। अतः राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोड़े हुए मिलते हैं; जैसे—'माघ अचारज, कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आए हैं, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशों को मुसलमानों से ख़ाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्हीं ने अपने राज्य में मिलाए थे। इनके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव-रचित "ललितविग्रहराज नाटक" (संस्कृत) में है जिसका कुछ अंश बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूज़ियम में सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेवरासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगाररस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिये) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्यग्रंथ नहीं है, केवल गाने के लिये रचा गया था, तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे, सूकइ छै (=सूखता है), पाटण थीं (=पाटन से), भोज तणा (=भोज का), खंड खंडरा (=खंड खंड का) इत्यादि। इस ग्रंथ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। वह यह कि शिष्ट काव्यभाषा में व्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिंदी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेवरासो में बीच बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये—मेलवि = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त में। रणि = रण में। प्रापिजइ = प्राप्त हो, या किया जाय। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। बाल हो = बाला का। इसी प्रकार 'नयर' (नगर), 'पसाउ' (प्रसाद), 'पयोहर' (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश-काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

इसमें आए हुए कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दों की ओर भी ध्यान जाता है। जैसे—महल, इनाम, नेजा, ताजनो (ताजियाना) आदि। जैसा कहा जा चुका है, पुस्तक की भाषा में फेरफार अवश्य हुआ है; अतः ये शब्द पीछे से मिले हुए भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और वे इधर उधर जीविका के लिये फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण

शब्दों का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। बीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं—

महल पलाण्यो ताजदीन। खुरसाणां चढ़ि चाल्यो गौंड़ ॥

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। (राजपूताने का इतिहास, भूमिका पृष्ठ १९)। यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य-संबंधी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं। ध्यान देने की पहली बात है, राजपूताने के एक भाट का अपनी राजस्थानी में हिंदी का मेल करना। जैसे, "मोती का आखा किया"। "चंदनकाठ को माँड़वो"। "सोना की चौरी, मोती की माल" इत्यादि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में 'पिंगल' भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह 'डिंगल' कहलाता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम केवल पिंगल-भाषा में लिखे हुए ग्रंथों का ही विचार कर सकते हैं। दूसरी बात, जो कि साहित्य से संबंध रखती है, वीर और शृंगार का मेल है। इस ग्रंथ में शृंगार की ही प्रधानता है, वीररस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाए हैं।

'बीसलदेवरासो' के कुछ पद्य देखिए—

परणबा[1] चाल्यो बीसलराय। चउरास्या[2] सहु[3] लिया बोलाइ।

---

१ ब्याहने। २ सामंतों को। ३ सब।

जान-तणी[1] साजति करउ। जीरह रँगावली पहरज्यो टोप ॥

× × × ×

हुअउ पइसारउ बीसलराव। आवी सयल[2] अँतेवरी[3] राव ॥
रूप अपूरब पेषियइ। इसी अस्त्री नहिं सयल संसार ॥
अति रंग स्वामी सूँ मिली राति। बेटी राजा भोज की ॥

× × × ×

गरब करि ऊभो[4] छइ साँभरयो राव। मो सरीखा नहिँ ऊर भुवाल ॥
म्हाँ घरि[5] साँभर उग्गहइ। चिहुँ दिसि थाण जेसलमेर ॥
"गरबि न बोलो हो साँभरया-राव। तो सरीखा घणा और भुवाल ॥
एक उड़ीसा को धणी[6]। बचन हमारइ तू मानि जु मानि ॥
ज्यूँ थारइ[7] साँभर उग्गहइ। राजा उणि घरि उगहइ हीरा-खान" ॥

× × × ×

कुँवरि कहइ "सुणि, साँभरया राव। काईं[8] स्वामी तू उलगइँ[9] जाइ ?
कहेउ हमारउ जइ सुणउ। थारइ छइ[10] साठि अँतेवरी नारि" ॥
"कड़वा बोल न बोलिस नारि। तू मो मेल्हसी[11] चित्त विसारि" ॥
जीभ न जीभ बिगोयनो[12]। दव का दाधा कुपली मेल्हइ[13] ॥
जीभ का दाधा नु पाँगुरइ[14]। नाल्ह कहइ सुणीजइ सब कोइ ॥

× × × ×

आव्यो राजा मास बसंत। गढ़ माहीं गूड़ी ऊछली[15] ॥

---

१ यान की, बारात की। २ सब। ३ अंतःपुर। ४ खड़ा है। ५ घर में। ६ स्वामी; राजा। ७ तुम्हारे (यहाँ)। ८ क्यों। ९ परदेश में। १० तेरे हैं। ११ भुला डाल। १२ बात से बात नहीं छिपाई जा सकती। १३ आग का जला कोपल छोड़ दे तो छोड़ दे। १४ जीभ का जला नहीं पनपता। १५ आकाश-दीप जलाए गए।

जइ धन मिलती अंग सँभार । मान-भंग हो तो बालहो[1] ॥
ईणी परिरहता राज दुवारि[2] ।

(३) **चंद बरदाई** (संवत् १२२५—१२४९)—ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराजरासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं। इससे इनके नाम में भावुक हिंदुओं के लिये एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उनके सखा और सामंत भी थे; तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदःशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे। इन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था जिनकी कृपा से ये अदृष्ट-काव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में सदा महाराज के साथ रहते थे; और जहाँ जो बातें होती थीं, सब में सम्मिलित रहते थे।

पृथ्वीराज रासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का व्यवहार हुआ है। मुख्य छंद हैं, कवित्त

---

१ यदि वह धन्या या स्त्री अंग सँभालकर (तुरंत) मिलती तो उस बाला का मान-भंग होता। २ (और) इसे परिरंभता (आलिंगन करता) राजा द्वार पर ही।

(छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादंबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हन द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनों पीछे चंद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हण के हाथ में रासो के सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज।

* * * *

रघुनाथचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथिराज-सुजस कवि चंद कृत चंद-नंद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराज रासो में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रियकुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राजस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुँवर (तोमर) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सुंदरी और कमला। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे अजमेर और दिल्ली का राज एक हो गया। जयचंद को यह बात अच्छी न लगी। उसने एक राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ

के भिन्न भिन्न कार्य करने के लिये निमंत्रित किया और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा। राजसूय यज्ञ में सब राजा आए, पर पृथ्वीराज नहीं आए। इस पर जयचंद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था, अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई, तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इस पर जयचंद ने उसे घर से निकालकर गंगा-किनारे के एक महल में भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ-विध्वंस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व विवाह किया और अंत में वे उसे हर ले गए। रास्ते में जयचंद की सेना से बहुत युद्ध हुआ, पर संयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशल-पूर्वक दिल्ली पहुँच गए। वहाँ भोग-विलास में ही उनका सारा समय बीतने लगा, राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया।

बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओं के साथ लड़ते लड़ते हो चुका था और बड़े बड़े सामंत मारे जा चुके थे। अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ़ आया, पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार बार चढ़ाई करता रहा और अंत में पृथ्वीराज पकड़कर गजनी भेज दिए गए। कुछ काल के पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दबेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के वैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुंदरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसेनशाह को चाहती थी। जब ये दोनों शहाबुद्दीन से तंग हुए, तब हारकर पृथ्वी-

राज के पास भाग आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, अतः इन दोनों की हम बराबर रक्षा करेंगे। इसी बैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ कीं। यह तो पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच बीच में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो में भरी पड़ी हैं।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो में दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ बिल्कुल मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में पूरा संदेह किया है और उसे १६वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासो में चंगेज़, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह संदेह और भी पुष्ट होता है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो में वर्णित घटनाओं तथा संवतों को बिल्कुल भाटों की कल्पना मानते हैं। पृथ्वीराज की राजसभा के काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत में 'पृथ्वीराज-विजय' नामक एक काव्य लिखा है जो पूरा नहीं मिला है। उसमें दिए हुए संवत् तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक और समसामयिक रचना है। उसके तथा 'हम्मीर-महाकाव्य' आदि कई प्रामाणिक ग्रंथों के अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का

समकालीन होना और उनके पक्ष में लड़ना, संयोगिता-हरण इत्यादि बातें असंगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखों की जाँच करने पर कल्पित ठहरती है, क्योंकि इनमें से सोलंकी चौहान आदि कई कुलों के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले हैं जिनमें वे सूर्य्यवंशी चन्द्रवंशी आदि कहे गए हैं; अग्निकुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् १११५ में, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों और दान-पत्रों में जो संवत् मिलते हैं, उनके अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नहीं हैं। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आए हैं, इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के ४, जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में हैं। जयचंद के १२, जिनके संवत् १२२४ और १२४३ के बीच में हैं। परमर्दिदेव के ६, जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच में हैं। इनमें से एक संवत् १२३९ का है जिसमें पृथ्वी-राज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से भी हो जाती है। फ़ारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी (वि० सं० १२४८—ई० सन् ११९१) में हुआ। अतः इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्षसमर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में

यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अन्तर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है, बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकड़ा—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और "विक्रम साक अनंद" का अर्थ किया—अ = शून्य और नंद = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत। अब क्यों ये ९० वर्ष घटाए गए, इसका वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बता सके। नंदवंशी शूद्र थे, इसलिये उनका राजत्वकाल राजपूत भाटों ने निकाल दिया, इस प्रकार की विलक्षण कल्पना करके वे रह गए। पर इन कल्पनाओं से किसी प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक और कहीं प्रचलित संवत में से कुछ काल निकालकर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह भी विचारणीय है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम संवत् में से ९०-९१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो में संवत् दिए हैं, उसने क्या ऐसा जान बूझकर किया है अथवा धोखे या भ्रम में पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है, उसमें 'अनन्द' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिंद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लिष्यौ विप्र गुन गुत्त॥

इससे भी नौ के गुप्त करने का अर्थ निकाला गया है, पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है यह नहीं कहा है। दूसरी बात यह कि 'गुन गुत्त' ब्राह्मण का नाम (गुण गुप्त) प्रतीत होता है।

बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी हैं उनके लिये क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्यग्रंथ है। पर काव्य-ग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराजविजय भी तो काव्यग्रंथ ही है; फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं? इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह पूरा ग्रंथ वास्तव में जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर कुछ पद्य चंद के भी बिखरे हों, पर उनका पता लगना असंभव है। यदि यह ग्रंथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े से अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते।

रहा यह प्रश्न कि पृथ्वीराज की सभा में चंद नाम का कोई कवि था या नहीं। पृथ्वीराज-विजय के कर्त्ता जयानक ने पृथ्वीराज के मुख्य भाट या बंदिराज का नाम "पृथ्वी भट्ट" लिखा है, चंद का उसने कहीं नाम नहीं लिया है। पृथ्वीराज-विजय के पाँचवें सर्ग में यह श्लोक आया है—

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥

इसमें यमक के द्वारा जिस चंद्रराज कवि का संकेत है वह राय-बहादुर श्रीयुत पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार 'चंद्रक' कवि है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र ने भी किया है। इस अवस्था में यही कहा जा सकता है कि 'चंद बरदाई' नाम का यदि कोई कवि था तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न रहा होगा या जयानक के काश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद-राज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के

वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट-कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित "भट्ट-भणंत" तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर "रासो" नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बे-ठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है; पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढँग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है।

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १९०९ से १९१३ तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज में तीन यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने छापा है। उस विवरण में 'पृथ्वीराजरासो' के विषय में बहुत कुछ लिखा है और कहा गया है कि कोई कोई तो चंद के पूर्व-पुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं, पर पृथ्वीराज-

रासो में लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर में हुआ था। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय में राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे से पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत सी भूमि चंद को दी थी। शास्त्री जी का कहना है कि नागौर में अब तक चंद के वंशज रहते हैं। इसी वंश के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम भाट से शास्त्रीजी की भेंट हुई। उनसे उन्हें चंद का वंशवृत्त प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है—

मदनचंद
शिवचंद
बलदेवचंद
चौथचंद
बेनीचंद
गोकुलचंद
वसुचंद
लेखचंद
कर्णचंद
गुणगंगचंद
मोहनचंद
जगन्नाथ
रामेश्वर
गंगाधर
भगवानसिंह
कर्मसिंह
माथुरसिंह
वाग्गोविंदसिंह
मानसिंह
विजयसिंह
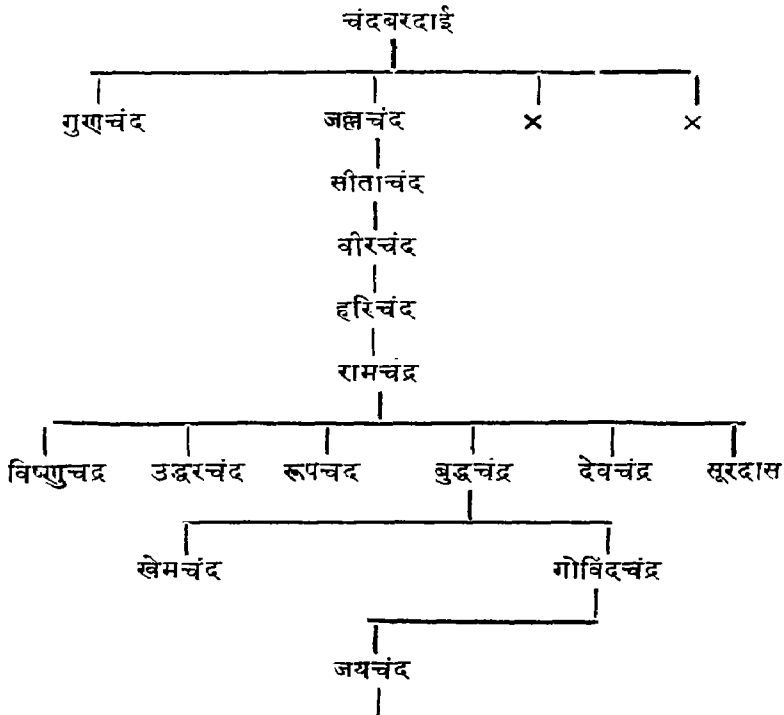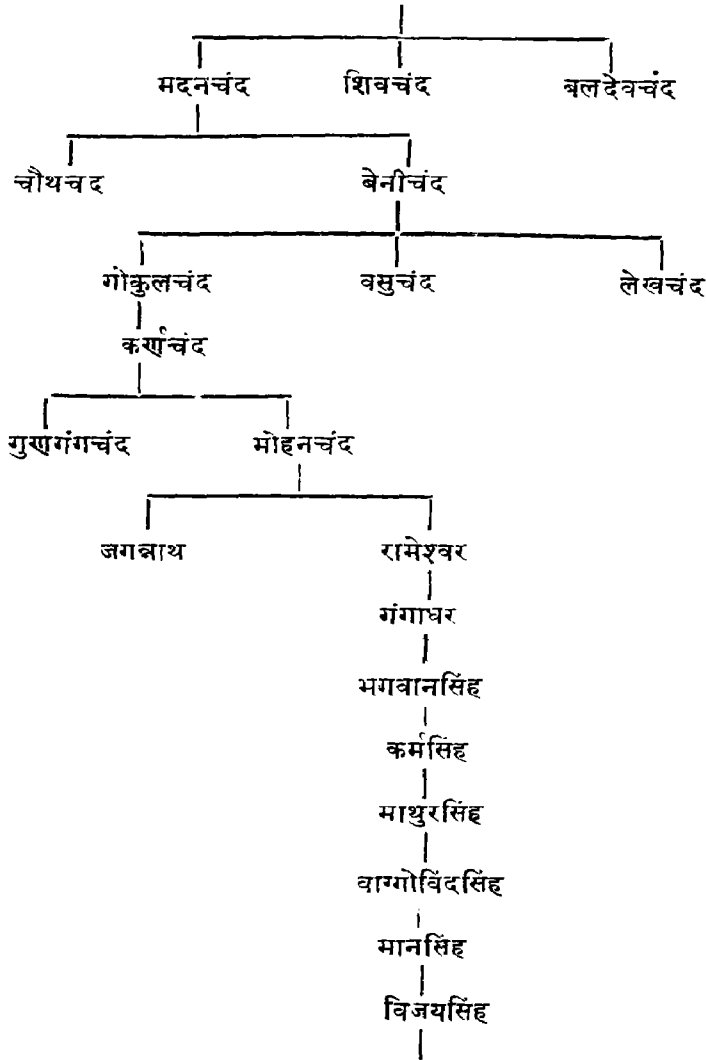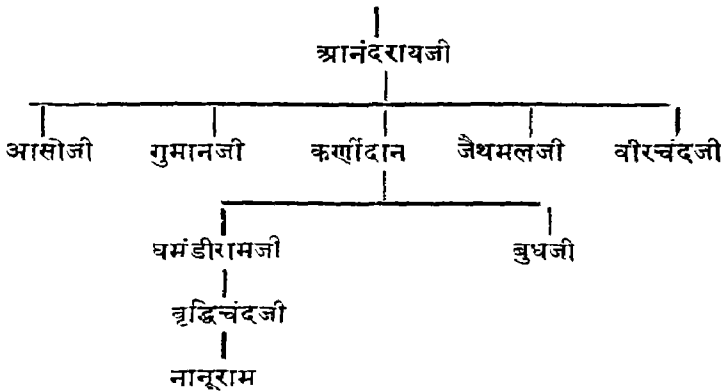
नानूराम का कहना है कि चंद के चार लड़के थे जिनमें से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंभोर में जा बसे और चौथे जल्ल का वंश नागौर में चला। पृथ्वीराजरासो में चंद के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कविचंद के सुंदर रूप सुजान।
इक्क जल्ह गुन बावरो गुन-समुंद ससभान॥

पृथ्वीराजरासो में कवि चंद के दसों पुत्रों के नाम दिए हैं। 'सूरदास' की साहित्यलहरी की टीका में एक पद ऐसा आया है जिसमें सूर की वंशावली दी है। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्‌भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु बंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन॥

भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंथभौर हमीर भूपति सँगत खेलत जाय।
तासु बंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यो ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात ताके महा भट गंभीर॥
कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचंद सुभाइ।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्लचंद की वंश-परंपरा में बताया है, उक्त पद में उन्हें गुणचंद की परंपरा में कहा है। बाकी नाम प्रायः मिलते हैं।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोक-संख्या में अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अन्तिम दस समयों को लिखकर उस ग्रन्थ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमें अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़-तोड़ करते रहे। अन्त में अकबर के समय में इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह-प्रदर्शन पर, कहते हैं कि, उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथों की रचना की गई। नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराजरासो की प्रति मेरे पास है। पर उन्होंने महोबा समय की जो नकल महामहो-

पाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी थी वह और भी ऊटपटाँग और रद्दी है।

पृथ्वीराजरासो के 'पदमावती समय' के कुछ पद्य नमूने के लिये दिए जाते हैं—

हिंदुवान-थान उत्तम सुदेस। तहँ उदित द्रुग्ग दिल्ली सुदेस॥
संभरि-नरेस चहुआन थान। प्रथिराज तहाँ राजंत भान॥
संभरि-नरेस सोमेस पूत। देवत्त रूप अवतार धूत[1]॥
जिहि पकरि साह साहाब लीन। तिहुँ बेर करिय पानीप-हीन॥
सिंगिनि-सुसद्द गुनि चढ़ि जँजीर। चुक्कइ न सबद बेधंत तीर[2]॥

मनहु कला ससभान[3] कला सोलह सो बन्निय।
बाल वैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय[4]॥
बिगसि कमल-स्रिग, भमर, बेनु, खंजन, मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नषसिष अहिघुट्टिय[5]॥

*　　　*　　　*　　　*

कुट्टिल केस सुदेस पोह परिचियत पिक्क सद[6]।
कमल-गंध, वयसंध, हंसगति चलति मंद मद॥
सेत वस्त्र सोहै सरीर नष स्वाति-बूँद जस।
भमर भवहिँ भुल्लहिँ सुभाव मकरंद बास रस॥

---

१ धूत; धारण किया। २ (शब्दबेधी बाण चलाने का उल्लेख) सिंगी बाजे का शब्द गुनकर या अंदाज कर डोरी पर चढ़ा उसका तीर उस शब्द को बेधते हुए (बेधने में) नहीं चूकता था। ३ द्रमा। ४ उसी के पास से मानो अमृत रस पिया। ५ अभिघटित किया। बनाया। ६ पोहे हुए अच्छे मोती दिखाई पड़ते हैं।

प्रिय प्रिथिराज नरेस जोग लिषि कग्गर[1] दिन्नौ ।
लगन बरग रचि सरब दिन्न द्वादस ससि लिन्नौ ॥
सै ग्यारह अरु तीस साष संवत परमानह ।
जो पित्री-कुल सुद्ध बरन, बरि रक्खहु प्रानह ॥
दिक्खंत दिट्ठि उच्चरिय[2] वर, इक पलक्क बिलँब न करिय ।
अलगार[3] रयनि दिन पंच महि[4] ज्यों रुकमिनि कन्हर बरिय ॥

*　　　*　　　*　　　*

संगह सषिय लिय सहस बाल । रुकमिनिय जेम[5] लज्जत मराल ।
पूजियइ गउरि संकर मनाय । दच्छिनइ अंग[6] करि लगिय पाय ॥
फिरि देषि देषि प्रिथिराज राज । हँसि मुद्ध मुद्ध चर पट्ट लाज[7] ॥

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहौं दिस ।
सकल सूर सामंत समरि बल जंत्र मंत्र तिस ॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग बीर नट ।
कढ़त तेग मनबेग लगत मनो बीजु झट्ट घट ॥
थकि रहे सूर कौतिग गगन, रँगन मगन भइ शोन धर ।
हदि[8] हरषि बीर जग्गे हुलसि हुरेउ[9] रंग नव रत्त[10] वर ॥

*　　　*　　　*　　　*

षुरासान मुलतान खंधार मीरं । बलष स्यो[11] बलं तेग अच्चूक तीरं ॥
रुहंगी फिरंगी हलब्बी सुमानी । ठटी ठट्ट भल्लोच ढालं निसानी ॥

---

१ कागज । २ चल दीजिए । ३ अलग ही अलग । दूसरी ओर से । ४ मध्ये, मधि, में । ५ जिमि, ज्यों । ६ प्रदक्षिणा । ७ हँसकर उस मोहित मुग्धा ने लज्जा से (मुँह पर का) पट चला दिया अर्थात् सरका लिया । ८ हृदय में । ९ फुरयो, स्फुरित हुआ । १० रक्त । ११ साथ ।

मजारी-चषी[1], मुक्ख जंबुक लारी[2]। हजारी हजारी हुँकैं[3] जोध भारी ॥

———

(४-५) भट्ट केदार, मधुकर कवि (संवत् १२२४-१२४३)—जिस प्रकार चंदबरदाई ने महाराज पृथ्वीराज को कीर्त्तिमान् किया है उसी प्रकार भट्ट केदार ने कन्नौज के सम्राट् जयचंद का गुण गाया है। रासो में चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्ट केदार ने 'जयचंद-प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था।* इसी प्रकार का 'जयमयंक-जसचंद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ मधुकर कवि ने भी लिखा था। पर दुर्भाग्य से ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँ री ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भांडार में सुरक्षित है। इस ख्यात में लिखा है कि दयालदास ने आदि

---

१ बिल्ली की सी आँख वाले। २ मुँह गीदड़ और लोमड़ी के से। ३ हुंकार करते।

* भट्ट-भणंत पर यदि विश्वास किया जाय तो केदार महाराज जयचंद के कवि नहीं, सुलतान शहाबुद्दीन गोरी के कविराज थे। 'शिवसिंहसरोज' में भाटों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह विलक्षण कवित्त उद्धृत है—

प्रथम विधाता तें प्रगट भए बंदीजन, पुनि पृथुजज्ञ तें प्रकास सरसात है। माने सूत सौनक न, बाँचत पुरान रहे, जस को बखाने महासुख सरसात है। चंद चौहान के, केदार गोरी साह जू के, गंग अकबर के बखाने गुनगात हैं। कव्य कैसे माँस अजनास धन भाँटन को, लूटि धरै ताको खुरा-खोज मिटि जात है।

से लेकर कन्नौज तक का वृत्तांत इन्हीं दोनों ग्रंथों के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो था गहरवारों (राठौरों) का विशाल साम्राज्य, जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्रायः सारा मध्य देश, काशी से कन्नौज तक, था। दूसरा चौहानों का, जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में गहरवारों का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य-संपन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारों की दो राजधानियाँ थीं—कन्नौज और काशी। इसी से कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का प्रभाव राजपूताने के राजाओं पर था उसी प्रकार जयचंद का प्रभाव बुंदेलखंड के राजाओं पर था। कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमर्दिदेव (परमाल) जयचंद के मित्र या सामंत थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन पर चढ़ाई की थी। चंदेल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

(६) **जगनिक** (सं० १२३०)—ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है पर उसके

आधार पर प्रचलित गीत हिंदीभाषा-भाषी प्रांतों के गाँव गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाए जाते हैं। गाँवों में जाकर देखिए तो मेघ-गर्जन के बीच में किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीरहुंकार सुनाई देगी—

> बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिएँ सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार॥

इस प्रकार साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्पपूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ-काल-यात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्तन नहीं हुआ है, वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्तन होता आया है। बहुत से नए अस्त्रों (जैसे, बंदूक, किरिच), देशों और जातियों (जैसे, फिरंगी) के नाम सम्मिलित हो गए हैं और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं। आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका केन्द्र माना जाता है। वहाँ इसके गानेवाले बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड में—विशेषतः महोबे के आसपास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हा-खंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा-संबंधी ये वीर-गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे जो चंदेलों

की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्ह-खंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके ६०-७० वर्ष पूर्व छपवाया था।

श्रीधर—इन्होंने संवत् १४५४ में 'रणमल्ल छंद' नामक एक काव्य रचा जिसमें ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन है जो उसने पाटन के सूबेदार ज़फ़र ख़ाँ पर प्राप्त की थी। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

ढमढमइ ढमढमकार ढंकर ढोल ढोली जंगिया।
सुर करहि रण-सहणाइ समुहरि सरस रसि समरंगिया॥
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरहरइ।
संचरइ शक सुरताण साहण साहसी सवि संगरइ॥

——

प्रकरण ४

फुटकल रचनाएँ

वीरगाथाकाल के समाप्त होते होते हमें जनता की बहुत कुछ असली बोलचाल और उसके बीच कहे-सुने-जानेवाले पद्यों की भाषा के बहुत कुछ असली रूप का पता चलता है। पता देने-वाले हैं दिल्ली के खुसरो मियाँ और तिरहुत के विद्यापति। इनके पहले की जो कुछ संदिग्ध असंदिग्ध सामग्री मिलती है उस पर प्राकृत की रूढ़ियों का थोड़ा या बहुत प्रभाव अवश्य पाया जाता है। लिखित साहित्य के रूप में ठीक बोलचाल की भाषा या जनसाधारण के बीच कहे-सुने-जानेवाले गीत पद्य आदि रक्षित रखने की ओर मानो किसी का ध्यान ही नहीं था। जैसे पुराना चावल ही बड़े आदमियों के खाने योग्य समझा जाता है वैसे ही अपने समय से कुछ पुरानी पड़ी हुई, परंपरा के गौरव से युक्त, भाषा ही पुस्तक रचनेवालों के व्यवहार योग्य समझी जाती थी। पश्चिम की बोलचाल, गीत, मुख-प्रचलित पद्य आदि का नमूना जिस प्रकार हम खुसरो की कृति में पाते हैं उसी प्रकार बहुत पूरब का नमूना विद्यापति की पदावली में। उसके पीछे फिर भक्तिकाल के कवियों ने प्रचलित देशभाषा और साहित्य के बीच पूरा-पूरा सामंजस्य घटित कर दिया।

(१) **खुसरो**—पृथ्वीराज की मृत्यु (संवत् १२४९) के ९० वर्ष पीछे खुसरो ने संवत् १३४० के आसपास रचना आरंभ की। इन्होंने गयासुद्दीन बलबन से लेकर अलाउद्दीन और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह तक, कई पठान बादशाहों का जमाना देखा

था। ये फ़ारसी के बहुत अच्छे ग्रंथकार और अपने समय के नामी कवि थे। इनकी मृत्यु संवत् १३८१ में हुई। ये बड़े ही विनोदी, मिलनसार और सहृदय थे इसी से जनता की सब बातों में पूरा योग देना चाहते थे। जिस ढँग के दोहे, तुकबंदियाँ और पहेलियाँ आदि साधारण जनता की बोलचाल में इन्हें प्रचलित मिलीं उसी ढँग के पद्य पहेलियाँ आदि कहने की उत्कंठा इन्हें भी हुई। इनकी पहेलियाँ और मुकरियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें उक्तिवैचित्र्य की प्रधानता थी; यद्यपि कुछ रसीले गीत और दोहे भी इन्होंने कहे हैं।

यहाँ इस बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'काव्यभाषा' का ढाँचा अधिकतर शौरसेनी या पुरानी ब्रजभाषा का ही बहुत काल से चला आता था। अतः जिन पच्छिमी प्रदेशों की बोलचाल खड़ीबोली थी, उनमें भी जनता के बीच प्रचलित पद्यों, तुकबंदियों आदि की भाषा ब्रज-भाषा की ओर झुकी हुई रहती थी। अब भी यह बात पाई जाती है। इसी से खुसरो की हिंदी-रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। ठेठ खड़ी बोलचाल पहेलियों, मुकरियों और दो-सखुनों में ही मिलती है—यद्यपि उनमें भी कहीं कहीं ब्रजभाषा की झलक है। पर गीतों और दोहों की भाषा ब्रज या मुख-प्रचलित काव्यभाषा ही है। यही ब्रजभाषापन देख उर्दू-साहित्य के इतिहास-लेखक प्रो० आजाद को यह भ्रम हुआ था कि ब्रजभाषा से खड़ी बोली (अर्थात् उसका अरबी फारसी-ग्रस्त रूप उर्दू) निकल पड़ी*।

---

* देखिए मेरे 'बुद्धचरित' काव्य की भूमिका में "काव्यभाषा" पर मेरा प्रबंध जिसमें उसके स्वरूप का निर्णय किया गया है तथा ब्रज, अवधी और खड़ी बोली के भेद और प्रवृत्तियाँ निरूपित की गई हैं।

खुसरो के नाम पर संगृहीत पहेलियों में कुछ प्रक्षिप्त और पीछे की जोड़ी पहेलियाँ भी मिल गई हैं, इसमें संदेह नहीं। उदाहरण के लिये हुक्केवाली पहेली लीजिए। इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि तंबाकू का प्रचार हिंदुस्तान में जहाँगीर के समय से हुआ। उसकी पहली गोदाम अँगरेजों की सूरतवाली कोठी थी जिससे तंबाकू का एक नाम ही 'सूरती' या 'सुरती' पड़ गया। इसी प्रकार भाषा के संबंध में भी संदेह किया जा सकता है कि वह दीर्घ मुख-परंपरा के बीच कुछ बदल गई होगी, उसका पुरानापन कुछ निकल गया होगा। किसी अंश तक यह बात हो सकती है, पर साथ ही यह भी निश्चित है कि उसका ढाँचा कवियों और चारणों द्वारा व्यवहृत प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ी काव्यभाषा से भिन्न था। प्रश्न यह उठता है कि क्या उस समय तक भाषा घिसकर इतनी चिकनी हो गई थी जितनी पहेलियों में मिलती है।

खुसरो के प्रायः दो सौ वर्ष पीछे की लिखी जो कबीर की बानी की हस्तलिखित प्रति मिली है उसकी भाषा कुछ पंजाबी लिए राजस्थानी है, पर उसमें पुराने नमूने अधिक हैं—जैसे, सप्तमी विभक्ति के रूप में इ (घरि = घर में)। 'चला' 'समाया' के स्थान पर 'चलिया' 'चल्या', 'समाइया'। 'उनई आई' के स्थान पर 'उनमिवि आई' (झुक आई) इत्यादि। यह बात कुछ उलझन की अवश्य है, पर विचार करने पर यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि खुसरो के समय में 'इट्ठ' 'बसिट्ठ' आदि रूप 'ईठ' (इष्ट, इट्ठ, ईठ), बसीठ (विसृष्ट, बिसिट्ठ, बसिट्ठ, बसीठ) हो गए थे। अतः पुराने प्रत्यय आदि भी बोलचाल से बहुत कुछ उठ गए थे। यदि 'चलिया', 'मारिया' आदि पुराने रूप रखें तो पहेलियों के छंद टूट जायँगे, अतः यही धारणा होती है कि खुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत

कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में खुसरो में मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक था; उसी प्रकार जैसे अँगरेजों का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक रहता है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था। पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अतः उनकी बानी पोथियों की भाषा का सहारा कुछ न कुछ खुसरो की अपेक्षा अधिक लिए हुए है।

नीचे खुसरो की कुछ पहेलियाँ, दोहे और गीत दिए जाते हैं—

एक थाल मोती से **भरा**। सबके सिर पर औंधा **धरा**॥
चारों ओर वह थाली फिरे। मोती **उससे** एक न गिरे॥
(आकाश)

एक नार ने अचरज **किया**। साँप मार पिँजरे में **दिया**॥
जोँ जोँ साँप ताल को खाए। सूखे ताल, साँप मर जाए॥
(दीया बत्ती)

एक नार दो को ले बैठी। टेढ़ी **हो के** बिल में पैठी॥
जिसके बैठे उसे सुहाय। खुसरो **उसके** बल बल जाय॥
(पायजामा)

अरथ तो **इसका बूझेगा**। मुँह देखो तो **सूझेगा**॥
(दर्पण)

ऊपर के मोटे टाइप के शब्दों में खड़ी बोली का कितना निखरा हुआ रूप है! अब इनके स्थान पर ब्रजभाषा के रूप देखिए—

चूक भई कुछ **वासों** ऐसी। देश छोड़ **भयो** परदेसी॥

एक नार पिया को भानी। तन वाको सगरा ज्यों पानी॥

चाम मास वाके नहिँ नेक। हाड़ हाड़ में वाके छेद॥
मोहिं अचंभो आवत ऐसे। वामें जीव बसत है कैसे॥

अब नीचे के दोहे और गीत बिल्कुल ब्रजभाषा अर्थात् मुख-प्रचलित काव्यभाषा में देखिए—

उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप की खान॥
खुसरो रैन सोहाग की जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एकरंग॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥

मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल।
कैसे गर दीनी बकस मोरी माल॥
सूनी सेज डरावन लागै, बिरहा-अगिन मोहि डस डस जाय।

हजरत निजामदीन चिस्ती जरजरी बख्श पीर।
जोइ जोइ ध्यावैं तेइ तेइ फल पावैं,
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर॥

ज़े हाल मिसकीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना, बनाय बतियाँ।
कि ताबे हिज्राँ न दारम, ऐ जाँ! न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥
शबाने हिज्राँ दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ व रोज़े वसलत चूँ उम्र कोतह।
सखी! पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ?॥

---

(८) **विद्यापति**—अपभ्रंश के अंतर्गत इनका उल्लेख हो चुका है। पर जिसकी रचना के कारण ये 'मैथिलकोकिल' कहलाए वह इनकी पदावली है। इन्होंने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का व्यवहार किया है। विद्यापति को वंगभाषावाले अपनी ओर खींचते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी बिहारी और मैथिली को 'मागधी' से निकली होने के कारण हिंदी से अलग माना है। पर केवल भाषाशास्त्र की दृष्टि से कुछ प्रत्ययों के आधार पर ही साहित्य-सामग्री का विभाग नहीं किया जा सकता। कोई भाषा कितनी दूर तक समझी जाती है, इसका विचार भी तो आवश्यक होता है। किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (Vocabulary) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिंदी का एक ही साहित्य माना जाता।

खड़ी बोली, बाँगड़ू, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अंतर्गत मानी जाती हैं। इनके बोलने-वाले एक दूसरे की बोली समझते हैं। बनारस, गाजीपुर, गोरखपुर, बलिया आदि जिलों में 'आयल-आइल', 'गयल-गइल', 'हमरा' 'तोहरा' आदि बोले जाने पर भी वहाँ की भाषा हिंदी के सिवाय दूसरी नहीं कही जाती। कारण है शब्दावली की एकता। अतः जिस प्रकार हिंदी-साहित्य "बीसलदेव रासो" पर अपना अधिकार रखता है उसी प्रकार विद्यापति की पदावली पर भी।

विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। इन पदों की रचना जयदेव के गीतकाव्य के अनुकरण पर ही शायद की गई हो। इनका माधुर्य्य अद्भुत है। विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन पदों की

रचना श्रृंगार-काव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्णभक्तों की परंपरा में न समझना चाहिए।

आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गए हैं। उन्हें चढ़ा कर जैसे कुछ लोगों ने 'गीत-गोविंद' के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी। सूर आदि कृष्ण-भक्तों के श्रृंगारी पदों की भी ऐसे लोग आध्यात्मिक व्याख्या चाहते हैं। पता नहीं बाल-लीला के पदों का वे क्या करेंगे। इस सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि लीलाओं का कीर्त्तन कृष्णभक्ति का एक प्रधान अंग है। जिस रूप में लीलाएँ वर्णित हैं उसी रूप में उनका ग्रहण हुआ है और उसी रूप में वे गोलोक में नित्य मानी गई हैं, जहाँ वृंदावन, यमुना, निकुंज, कदंब, सखा, गोपिकाएँ इत्यादि सब नित्य रूप में हैं। इन लीलाओं का दूसरा अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं।

विद्यापति संवत १४६० में तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ वर्त्तमान थे। उनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे।
सपनहु रूप बचन इक भाषिय, मुख से दूरि करु चीरे॥
तोहर बदन सम चाँद होअथि नाहिं, कैयो जतन बिह केला।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं भेला॥
लोचन तूअ कमल नहिं भै सक, से जग के नहिं जाने?
से फिरि जाइ लुकैलन्ह जल भएँ, पंकज निज अपमाने॥
भन विद्यापति सुन बर जोवित ई सभ लछुमि समाने।
राजा 'सिवसिंह' रूप नरायन 'लखिमा देइ' प्रति भाने॥

कालि कहल पिय साँझहि रे जाइबि मइ मारू देस।
मोए अभागिलि नहिं जानल रे, सँग जइतवँ जोगिनि बेस॥

हिरदय बड़ दारुन रे, पिया बिनु बिहरि न जाइ।
एक सयन सखि सूतल रे, अछल बलभ निसि भोर॥
न जानल कत खन तजि गेल रे, बिछुरल चकवा जोर॥
सूनि सेज पिय सालइ रे, पिय बिनु घर मोए आजि।
बिनति करहुँ सुसहेलिनि रे, मोहि देहि अगिहर साजि॥
विद्यापति कवि गावल रे, आवि मिलत पिय तोर।
'लखिमा देइ' बर नागर रे, राय सिवसिंह नहिं भोर॥

मोटे हिसाब से वीरगाथा-काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरांत मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिंदू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर-प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हो गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीरकाव्य की रचना ही नहीं हुई। समय समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्य-सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ९०० वर्षों के हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

पूर्व-मध्यकाल

(भक्तिकाल १३७५—१७००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू-जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुसलिम-साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़नेवाले स्वतंत्र राज्य भी नहीं रह गए। इतने भारी राजनीतिक उलटफेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी सी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?

यह तो हुई राजनीतिक परिस्थिति। अब धार्मिक स्थिति देखिए। आदिकाल के अंतर्गत यह दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्ध, कापालिक आदि देश के पूरबी भागों में और नाथपंथी जोगी पच्छिमी भागों में रमते चले आ

रहे थे। इसी बात से इसका अनुमान हो सकता है कि सामान्य जनता की धर्मभावना कितनी दबती जा रही थी, उसका हृदय धर्म से कितनी दूर हटता चला जा रहा था।

धर्म का प्रवाह कर्म, ज्ञान और भक्ति, इन तीन धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी पूर्ण सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलांग रहता है। कर्म के बिना वह लूला-लँगड़ा, ज्ञान के बिना अंधा और भक्ति के बिना हृदय-विहीन क्या निष्प्राण रहता है। ज्ञान के अधिकारी तो सामान्य से बहुत अधिक समुन्नत और विकसित बुद्धि के कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति ही होते हैं। कर्म और भक्ति ही सारे जन-समुदाय की सम्पत्ति होती है। हिंदी-साहित्य के आदिकाल में कर्म तो अर्थशून्य विधि-विधान, तीर्थाटन और पर्वस्नान इत्यादि के संकुचित घेरे में पहले से बहुत कुछ बद्ध चला आता था। धर्म की भावात्मक अनुभूति या भक्ति, जिसका सूत्रपात महाभारत काल में और विस्तृत प्रवर्त्तन पुराण-काल में हुआ था, कभी कहीं दबती, कभी कहीं उभरती, किसी प्रकार चली भर आ रही थी।

अर्थशून्य बाहरी विधि-विधान, तीर्थाटन, पर्वस्नान आदि की निस्सारता का संस्कार फैलाने का जो कार्य्य वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी जोगियों के द्वारा हुआ, उसका उल्लेख हो चुका है। पर उनका उद्देश्य 'कर्म' को उस तंग गड्ढे से निकाल कर प्रकृत धर्म के खुले क्षेत्र में लाना न था बल्कि एकबारगी किनारे ढकेल देना था। जनता की दृष्टि को आत्मकल्याण और लोककल्याण-विधायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे। उनकी बानी तो 'गुह्य, रहस्य और सिद्धि' लेकर उठी थी। अपनी रहस्यदर्शिता की धाक जमाने के लिये वे बाह्य जगत् की बातें छोड़, घट के भीतर के

कोठों की बात बताया करते थे। भक्ति, प्रेम आदि हृदय के प्रकृत भावों का उनकी अंतस्साधना में कोई स्थान न था, क्योंकि इनके द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना तो सबके लिए सुलभ कहा जा सकता है। सामान्य अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित जनता पर इनकी बानियों का प्रभाव इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता था कि वह सच्चे शुभ कर्मों के मार्ग से तथा भगवद्भक्ति की स्वाभाविक हृदय-पद्धति से हटकर अनेक प्रकार के मंत्र, तंत्र और उपचारों में जा उलझे और उसका विश्वास अलौकिक सिद्धियों पर जा जमे ? इसी दशा की ओर लक्ष्य करके गोस्वामी तुलसीदास ने कहा था—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग।

सारांश यह कि जिस समय मुसलमान भारत में आए उस समय सच्चे धर्मभाव का बहुत कुछ ह्रास हो गया था। प्रतिवर्त्तन के लिये बहुत कड़े धक्कों की आवश्यकता थी।

ऊपर जिस अवस्था का दिग्दर्शन हुआ है, वह सामान्य जन-समुदाय की थी। शास्त्रज्ञ विद्वानों पर सिद्धों और जोगियों की बानियों का कोई असर न था। वे इधर उधर पड़े अपना कार्य्य करते जा रहे थे। पंडितों के शास्त्रार्थ भी होते थे, दार्शनिक खंडन-मंडन के ग्रंथ भी लिखे जाते थे। विशेष चर्चा वेदान्त की थी। ब्रह्मसूत्रों पर, उपनिषदों पर, गीता पर भाष्यों की परंपरा विद्वन्मंडली के भीतर चली चल रही थी जिससे परंपरागत भक्तिमार्ग के सिद्धान्त पक्ष का कई रूपों में नूतन विकास हुआ।

कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये दबी हुई भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू-जनता ही नहीं, देश में बसनेवाले सहृदय मुसल-

मानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम-स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य्य (संवत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।

गुजरात में स्वामी मध्वाचार्य्य जी ने (संवत् १२५४-१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्व भाग में जयदेवजी के कृष्ण-प्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर में मिथिला के कोकिल (विद्यापति) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्यभारत में एक ओर तो ईसा की १५वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा में स्वामी रामानंद जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर ज़ोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया; दूसरी ओर बल्लभाचार्यजी ने प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परंपराएँ चलीं जिनमें आगे चलकर हिंदी-काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचानेवाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ। इन भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप का साक्षात्कार राम और कृष्ण के रूप में इस बाह्य जगत् के व्यक्त क्षेत्र में किया।

एक ओर तो प्राचीन सगुणोपासना का यह काव्यक्षेत्र तैयार हुआ, दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से देश में जो

नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक 'सामान्य भक्तिमार्ग' का विकास भी होने लगा। उसके विकास के लिये किस प्रकार वीरगाथा-काल में ही सिद्धों और नाथ-पंथी योगियों के द्वारा मार्ग निकाला जा चुका था, यह दिखाया जा चुका है। वज्रयान के अनुयायी अधिकतर नीची जाति के थे अतः जाति-पाँति की व्यवस्था से उनका असन्तोष स्वाभाविक था। नाथ-संप्रदाय में भी शास्त्रज्ञ विद्वान् नहीं आते थे। इस संप्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इला-पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करनेवाली रहस्यमयी बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे। वे लोगों को ऐसी ऐसी बातें सुनाते आ रहे थे कि वेद-शास्त्र पढ़ने से क्या होता है, बाहरी पूजा-अर्चा की विधियाँ व्यर्थ हैं, ईश्वर तो प्रत्येक के घट के भीतर है, अंतर्मुख साधनाओं से ही वह प्राप्त हो सकता है, हिंदू-मुसलमान दोनों एक हैं, दोनों के लिये शुद्ध साधना का मार्ग भी एक ही है, जाति-पाँति के भेद व्यर्थ खड़े किए गए हैं, इत्यादि। इन जोगियों के पंथ में कुछ मुसलमान भी आए। इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिये एक सामान्य भक्तिमार्ग की भी भावना कुछ लोगों में जगाई। हृदयपक्ष-शून्य सामान्य अंतस्साधना का मार्ग निकालने का प्रयत्न नाथ-पंथ कर चुके थे, यह हम कह चुके हैं। पर रागात्मक तत्त्व से रहित साधना से ही मनुष्य की आत्मा तृप्त नहीं हो सकती। महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त (सं० १३२८—१४०८) नामदेव ने हिंदू-मुसलिम दोनों के लिये एक सामान्य भक्ति-मार्ग

का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग 'निर्गुणपंथ' के नाम से चलाया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कबीर के लिये नाथपंथी जोगी बहुत कुछ रास्ता निकाल चुके थे। भेद-भाव को निर्दिष्ट करनेवाले उपासना के बाहरी विधानों को अलग रखकर उन्होंने अंतस्साधना पर ज़ोर दिया था। पर नाथ-पंथियों की अंतःसाधना हृदयपक्ष-शून्य थी, उसमें प्रेमतत्त्व का अभाव था। कबीर ने यद्यपि नाथपंथ की बहुत सी बातों को अपनी बानी में जगह दी, पर यह बात उन्हें खटकी। इसका संकेत उनके ये वचन देते हैं—

> झिलमिल झगरा झूलते बाकी रही न काहु।
> गोरख अटके कालपुर कौन कहावै साहु?
> बहुत दिवस ते हिंडिया सुन्नि समाधि लगाइ।
> करहा पड़िया गाड़ में दूरि परा पछिताइ॥

(करहा = (१) करभ, हाथी का बच्चा (२) हठयोग की क्रिया करनेवाला)

अतः कबीर ने जिस प्रकार एक निराकार ईश्वर के लिये भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा उसी प्रकार उस निराकार ईश्वर की भक्ति के लिये सूफ़ियों का प्रेमतत्त्व लिया और अपना 'निर्गुण पंथ' बड़ी धूम-धाम से निकाला। बात यह थी कि भारतीय भक्तिमार्ग साकार और सगुण रूप को लेकर चला था, निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति या प्रेम का विषय नहीं माना जाता। इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौक़े पर जनता के उस बड़े भाग को सँभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य और शुष्क पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य्य हुआ। इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की

जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और उसे भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपान की ओर बढ़ने के लिये बढ़ावा दिया। उनका 'निर्गुन पंथ' चल निकला जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।

कबीर तथा अन्य निर्गुन-पंथी संतों के द्वारा अंतस्साधना में रागात्मिका 'भक्ति' और 'ज्ञान' का योग तो हुआ, पर 'कर्म' की दशा वही रही जो नाथपंथियों के यहाँ थी। इन संतों के ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप ही रहे, धर्मस्वरूप न हो पाए। ईश्वर के धर्मस्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन में होती है, प्राचीन वैष्णव भक्ति-मार्ग की रामभक्ति-शाखा उठी। कृष्णभक्ति-शाखा केवल प्रेम-स्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली।

यहाँ पर एक बात की ओर ध्यान दिला देना आवश्यक प्रतीत होता है। साधना के जो तीन अवयव—कर्म, ज्ञान और भक्ति—कहे गए हैं, वे सब काल पाकर दोषग्रस्त हो सकते हैं। 'कर्म' अर्थशून्य विधि-विधानों से निकम्मा हो सकता है; 'ज्ञान' रहस्य और गुह्य की भावना से पाषंड-पूर्ण हो सकता है और 'भक्ति' इन्द्रियोपभोग की वासना से कलुषित हो सकती है। भक्ति की निष्पत्ति श्रद्धा और प्रेम के योग से होती है। जहाँ श्रद्धा या पूज्यबुद्धि का अवयव—जिसका लगाव धर्म से होता है—छोड़कर केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली जायगी वहाँ वह अवश्य विलासिता से ग्रस्त हो जायगी।

इस दृष्टि से यदि हम देखें तो कबीर का 'ज्ञानपक्ष' तो रहस्य और गुह्य की भावना से विकृत मिलेगा पर सूफ़ियों से जो प्रेम-तत्त्व उन्होंने लिया वह सूफ़ियों के यहाँ चाहे कामवासना-ग्रस्त हुआ हो, पर 'निर्गुन-पंथ' में अविकृत रहा। यह निस्सन्देह प्रशंसा की बात है। वैष्णवों की कृष्णभक्ति-शाखा ने केवल

प्रेमलक्षणा भक्ति ली; फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्ति-शाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही; इससे वह विकृत न होने पाई। तुलसी की भक्ति-पद्धति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा। इधर आजकल अलबत कुछ लोगों ने कृष्णभक्ति-शाखा के अनुकरण पर उसमें भी 'माधुर्य्य भाव' का गुह्य रहस्य घुसाने का उद्योग किया है जिससे 'सखी संप्रदाय' निकल पड़े हैं और राम की भी 'तिरछी चितवन और बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं।

यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वरवाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह "निर्गुणपंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच-नीच और जाति-पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिये मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। इस भाव का सूत्रपात भक्तिमार्ग के भीतर महाराष्ट्र और मध्यदेश में नामदेव और रामानंदजी द्वारा हुआ। महाराष्ट्र देश में नामदेव का जन्मकाल शक संवत् ११९२ और मृत्युकाल शक संवत् १२७२ प्रसिद्ध है। ये दक्षिण के नरुसी बमनी (सतारा जिला) के दरजी थे। पीछे पंढरपुर के बिठोबा (विष्णु भगवान्) के मंदिर में भगवद्भजन करते हुए अपना दिन बिताते थे।

महाराष्ट्र के भक्तों में नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी भाषा के अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ भी प्रचुर परिमाण में मिलती हैं। इन हिन्दी-रचनाओं में एक विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ निर्गुणोपासना से। इसके समाधान के लिए इनके समय की परिस्थिति की ओर ध्यान देना आवश्यक

है। आदिकाल के अंतर्गत यह कहा जा चुका है कि मुसलमानों के आने पर पठानों के समय में गोरखपंथी योगियों का देश में बहुत प्रभाव था। नामदेव के ही समय में प्रसिद्ध ज्ञानयोगी ज्ञानदेव हुए हैं जिन्होंने अपने को गोरख की शिष्य-परंपरा में बताया है। ज्ञानदेव का परलोकवास बहुत थोड़ी अवस्था में ही हुआ, पर नामदेव उनके उपरांत बहुत दिनों तक जीवित रहे। नामदेव सीधे-सादे सगुण भक्तिमार्ग पर चले जा रहे थे, पर पीछे उस नाथ-पंथ के प्रभाव के भीतर भी ये लाए गए, जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार को ही मोक्ष का मार्ग मानता था। लानेवाले थे ज्ञानदेव।

एक बार ज्ञानदेव इन्हें साथ लेकर तीर्थयात्रा को निकले थे। मार्ग में ये अपने प्रिय विग्रह बिठोबा (भगवान्) के वियोग में व्याकुल रहा करते थे। ज्ञानदेव उन्हें बराबर समझाते जाते थे कि 'भगवान् क्या एक ही जगह हैं, वे तो सर्वत्र हैं, सर्वव्यापक हैं। यह मोह छोड़ो। तुम्हारी भक्ति अभी एकांगी है, जब तक निर्गुण पक्ष की भी अनुभूति तुम्हें न होगी, तब तक तुम पक्के न होगे'। ज्ञानदेव की बहिन मुक्ताबाई के कहने पर एक दिन 'संत-परीक्षा' हुई। जिस गाँव में यह संत-मंडली उतरी थी उसमें एक कुम्हार रहता था। मंडली के सब संत चुपचाप बैठ गए। कुम्हार घड़ा पीटने का पिटना लेकर सबके सिर पर जमाने लगा। चोट पर चोट खाकर भी कोई विचलित न हुआ। पर जब नामदेव की ओर वह बढ़ा तब वे बिगड़ खड़े हुए। इस पर वह कुम्हार बोला "नामदेव को छोड़ और सब घड़े पक्के हैं।" बेचारे नामदेव कच्चे घड़े ठहराए गए। इस कथा से यह स्पष्ट लक्षित हो जाता है कि नामदेव को नाथपंथ के योगमार्ग की ओर प्रवृत्त करने के लिये ज्ञानदेव की ओर से तरह तरह के प्रयत्न होते रहे।

सिद्ध और योगी निरंतर अभ्यास द्वारा अपने शरीर को विलक्षण बना लेते थे। खोपड़ी पर चोट खा खाकर उसे पक्की करना उनके लिये कोई कठिन बात न थी। अब भी एक प्रकार के मुसलमान फ़क़ीर अपने शरीर पर जोर जोर से डंडे जमाकर भिक्षा माँगते हैं।

नामदेव किसी गुरु से दीक्षा लेकर अपनी सगुण भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुए थे, अपने ही हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा से हुए थे। ज्ञानदेव बराबर उन्हें "बिनु गुरु होइ न ज्ञान" समझाते आते थे। संतों के बीच निर्गुण ब्रह्म के संबंध में जो कुछ कहा सुना जाता है और ईश्वर-प्राप्ति की जो साधना बताई जाती है, वह किसी गुरु की सिखाई हुई होती है। परमात्मा के शुद्ध निर्गुण स्वरूप के ज्ञान के लिये ज्ञानदेव का आग्रह बराबर बढ़ता गया। गुरु के अभाव के कारण किस प्रकार नामदेव में परमात्मा की सर्वव्यापकता का उदार भाव नहीं जम पाया था और भेद-भाव बना था, इस पर भी एक कथा चली आती है। कहते हैं कि एक दिन स्वयं बिठोबा (भगवान्) एक मुसलमान फ़क़ीर का रूप धरकर नामदेव के सामने आए। नामदेव ने उन्हें नहीं पहचाना। तब उनसे कहा गया कि वे तो परब्रह्म भगवान् ही थे। अंत में बेचारे नामदेव ने नागनाथ नामक शिव के स्थान पर जाकर बिसोबा खेचर या खेचरनाथ नामक एक नाथपंथी कनफटे से दीक्षा ली। इसके संबंध में उनके ये वचन हैं—

मन मेरी सुई, तन मेरा धागा।
खेचर जी के चरण पर नामा सिंपी लागा॥

—— ——

सुफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसार सुख अंतर दीना।
ज्ञान दान मोको गुरु दीना। राम नाम बिन जीवन हीना॥

—— ——

किसू हूँ पूजूँ दूजा नजर न आई।
एके पाथर किज्जे भाव। दूजे पाथर धरिए पाव।
जो वो देव तो हम बी देव। कहै नामदेव हम हरि की सेव॥

यह बात समझ रखनी चाहिए कि नामदेव के समय में ही देवगिरि पर पठानों की चढ़ाइयाँ हो चुकी थीं और मुसलमान महाराष्ट्र में भी फैल गए थे। इसके पहले ही गोरखनाथ के अनुयायी हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिये अंतस्साधना के एक सामान्य मार्ग का उपदेश देते आ रहे थे।

इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल में लिखे हैं; जैसे—बिठोबा (ठाकुरजी) की मूर्ति का इनके हाथ से दूध पीना, अविंद नागनाथ के शिवमंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया कि 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई'। इनकी इष्ट सगुणोपासना के कुछ पद नीचे दिए जाते हैं जिनमें शबरी, केवट आदि की सुगति तथा भगवान् की अवतार-लीला का कीर्त्तन बड़े प्रेमभाव से किया गया है—

अंबरीष को दियो अभयपद, राज विभीषन अधिक करयो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहि, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टरयो॥
भगत हेत मारयो हरनाकुस, नृसिंह रूप ह्वै देह धरयो।
नामा कहै भगति-बस केसव, अजहूँ बलि के द्वार खरो॥

———

दसरथ-राय-नंद राजा मेरा रामचंद।
प्रणवै नामा तत्त्व रस अमृत पीजै॥

× × × ×

धनि धनि मेघा-रोमावली, धनि धनि कृष्ण ओढ़े कावँली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती॥

धनि धनि बनखँड बृंदाबना, जहँ खेलैं श्रीनारायना।
बेनु बजावैं, गोधन चारैं, नामे का स्वामि आनँद करै॥

यह तो हुई नामदेव की व्यक्तोपासना-सम्बन्धी हृदय-प्रेरित रचना। आगे गुरु से सीखे हुए ज्ञान की उद्धरणी अर्थात् 'निर्गुन बानी' भी कुछ देखिए—

माइ न होती, बाप न होते, कर्म्म न होता काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहाँ ते आया॥
चंद न होता, सूर न होता, पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता, वेद न होता, करम कहाँ ते आया॥

× × × ×

पांडे तुम्हरी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लै करि ठेंगा टँगरी तोरी लंगत लंगत आती थी॥
पाँडे तुम्हरा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हरा रामचंद सो भी आवत देखा था॥
रावन सेंती सरबर होई, घर की जोय गँवाई थी।
हिंदू अंधा तुरुकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना॥
हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीत॥

सगुणोपासक भक्त भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिये सगुण रूप ही स्वीकार करता है; निर्गुण रूप ज्ञानमार्गियों के लिये छोड़ देता है। सब सगुणमार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूप के साथ साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आए हैं जो बोधगम्य नहीं। वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उसके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते। नामदेव क्यों प्रवृत्त हुए, यह ऊपर दिखाया जा चुका है। जब कि उन्होंने एक गुरु से ज्ञानोपदेश लिया तब शिष्यधर्मानुसार उसकी उद्धरणी आवश्यक हुई।

नामदेव की रचनाओं में यह बात साफ़ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदों की भाषा तो ब्रज या परंपरागत काव्य-भाषा है, पर 'निर्गुन बानी' की भाषा नाथपंथियों द्वारा गृहीत खड़ी बोली या सधुक्कड़ी भाषा।

नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' के लिये मार्ग निकालनेवाले नाथपंथ के योगी और भक्त नामदेव थे। जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर योगियों और सूफ़ी फ़क़ीरों के संस्कार प्राप्त किए। वैष्णवों से उन्होंने अहिंसावाद और प्रपत्तिवाद लिए। इसी से उनके तथा 'निर्गुणवाद' वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी-चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम-तत्त्व की, कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की और कहीं अहिंसावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला-जुला भाव इनकी बानी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहदनाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी बनकर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वर-प्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण के नाम से भक्ति-काव्य की दो धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अंत तक समानांतर चलती रहीं। भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदीभाषा की कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर ही की मिलती है अतः पहले निर्गुण मत के संतों का उल्लेख उचित ठहरता है। यह निर्गुण धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी शाखा (सूफियों की)।

पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान और योग-साधना को लेकर तथा उसमें सूफियों के प्रेमतत्त्व को मिलाकर उपासना-क्षेत्र में अग्रसर हुई और सगुण के खंडन में उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पैगंबरी मत बहुदेवोपासना और मूर्ति-पूजा आदि के खंडन में रहते हैं। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो-एक प्रतिभा-संपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञान-मार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करने-वाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिये न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडंबरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके,

इन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो "धर्म-सुधारक" की उपाधि दी है वह इसी बात को ध्यान में रखकर।

दूसरी शाखा शुद्ध प्रेममार्गी सूफी कवियों की है जिनकी प्रेम-गाथाएँ वास्तव में साहित्य-कोटि के भीतर आती हैं। इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेम-मार्ग का महत्त्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्त्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलाने-वाला है। इन प्रेमकहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घर-बार छोड़कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अंत में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है, वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है।

हमारा अनुमान है कि सूफ़ी कवियों ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिंदुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकतानुसार उन्होंने कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिंदू है। मनुष्य के साथ पशु-पक्षी और पेड़-पौधों को भी सहानुभूति-सूत्र में बद्ध दिखाकर एक अखंड जीवन-समष्टि का आभास देना हिंदू-प्रेम-कहानियों की विशेषता है। मनुष्य के घोर दुःख पर वन के वृक्ष भी रोते हैं, पक्षी भी सँदेसे पहुँचाते हैं। यह बात इन कहानियों में भी मिलती है।

शिक्षितों और विद्वानों की काव्यपरंपरा में यद्यपि अधिकतर आश्रयदाता राजाओं के चरितों और पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों की ही प्रवृत्ति थी, पर साथ ही कल्पित कहानियों का

भी चलन था, इसका पता लगता है। दिल्ली के बादशाह सिकंदर शाह (संवत् १५४६—१५७४) के समय में कवि ईश्वरदास ने 'सत्यवतीकथा' नाम की एक कहानी दोहे-चौपाइयों में लिखी थी जिसका आरंभ तो व्यास-जनमेजय के संवाद से पौराणिक ढंग पर होता है, पर जो अधिकतर कल्पित, स्वच्छंद और मार्मिक मार्ग पर चलनेवाली है। वनवास के समय पांडवों को मार्कंडेय ऋषि मिले जिन्होंने यह कथा सुनाई—

मथुरा के राजा चन्द्र-उदय को कोई सन्तति न थी। शिव की तपस्या करने पर उनके वर से राजा को सत्यवती नाम की एक कन्या हुई। वह जब कुमारी हुई तब नित्य एक सुंदर सरोवर में स्नान करके शिव का पूजन किया करती। इन्द्रपति नाम एक राजा के ऋतुवर्ण आदि चार पुत्र थे। एक दिन ऋतुवर्ण शिकार खेलते खेलते घोर जंगल में भटक गया। एक स्थान पर उसे कल्पवृक्ष दिखाई पड़ा जिसकी शाखाएँ तीस कोस तक फैली थीं। उसपर चढ़कर चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर उसे एक सुंदर सरोवर दिखाई पड़ा जिसमें कई कुमारियाँ स्नान कर रही थीं। वह जब उतरकर वहाँ गया तब सत्यवती को देख मोहित हो गया। कन्या का मन भी उसे देख कुछ डोल गया। ऋतुवर्ण जब उसकी ओर एकटक ताकता रह गया तब सत्यवती को क्रोध आ गया और उसने यह कहकर कि—

एक चित्त हमैं चितवै जस जोगी चित जोग।
धरम न जानसि पापी, कहसि कौन तैं लोग॥

शाप दिया कि 'तू कोढ़ी और व्याधिग्रस्त हो जा।'

ऋतुवर्ण वैसा ही हो गया और पीड़ा से फूट फूट कर रोने लगा—

रोवै ब्याधी बहुत पुकारी। छोइन्ह बिछ रोवैं सब झारी॥
बाघ सिंह रोवत बन माहीं। रोवत पंछी बहुत ओनाहीं॥

यह व्यापक विलाप सुनकर सत्यवती उस कोढ़ी के पास जाती है; पर वह उसे यह कहकर हटा देता है कि 'तुम जाओ, अपना हँसो खेलो।' सत्यवती का पिता राजा एक दिन जब उधर से निकला तब कोढ़ी के शरीर से उठी दुर्गंध से व्याकुल हो गया। घर आकर उस दुर्गंध की शांति के लिये राजा ने बहुत दान-पुण्य किया। जब राजा भोजन करने बैठा तब उसकी कन्या वहाँ न थी। राजा कन्या के बिना भोजन ही न करता था। कन्या को बुलाने जब राजा के दूत गए तब वह शिव की पूजा छोड़कर न आई। इसपर राजा ने क्रुद्ध होकर दूतों से कहा कि सत्यवती को जाकर उसी कोढ़ी को सौंप दो। दूतों का वचन सुनकर कन्या नीम की टहनी लेकर उस कोढ़ी की सेवा के लिये चल पड़ी और उससे कहा—

तोहि छाँड़ि अब मैं कित जाऊँ। माइ बाप सौंपा तुव ठाऊँ॥

कन्या प्रेम से उसकी सेवा करने लगी और एक दिन उसे कंधे पर बिठाकर प्रभावती तीर्थस्नान कराने ले गई, जहाँ बहुत से देवता, मुनि, किन्नर आदि निवास करते थे। वहाँ जाकर सत्यवती ने कहा "यदि मैं सच्ची सती हूँ तो रात हो जाय।" इस पर चारों ओर घोर अंधकार छा गया। सब देवता तुरंत सत्यवती के पास दौड़े आए। सत्यवती ने उनसे ऋतुवर्ण को सुंदर शरीर प्रदान करने का वर माँगा। व्याधि-ग्रस्त ऋतुवर्ण ने तीर्थ में स्नान किया और उसका शरीर निर्मल हो गया। देवताओं ने वहीं दोनों का विवाह करा दिया।

ईश्वरदास ने ग्रंथ के रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

भादौं मास पाख उजियारा। तिथि नौमी औ मंगलवारा।
नषत अस्विनी, मेष क चंदा। पंच जना सो सदा अनंदा।
जोगिनिपुर दिल्ली बड़ थाना। साह सिकंदर बड़ सुलताना।

कंठे बैठ सरसुती विद्या गनपति दीन्ह ।
ता दिन कथा अरंभ यह इसरदास कबि कीन्ह ।

पुस्तक में पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर एक एक दोहा है। इस प्रकार ५८ दोहे पर यह समाप्त हो गई है। भाषा अयोध्या के आस-पास की ठेठ अवधी है। 'बाटै' (=है) का प्रयोग जगह जगह है। यही अवधी भाषा, चौपाई-दोहे का क्रम और कहानी का रूप-रंग सूफ़ी कवियों ने ग्रहण किया। आख्यान-काव्यों के लिये चौपाई-दोहे की परंपरा बहुत पुराने (विक्रम की ११ वीं शती के) जैन चरित-काव्यों में मिलती है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

सूफ़ियों के प्रेम-प्रबंधों में खंडन-मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। बीच बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर जो मधुर संकेत मिलते हैं वे बड़े हृदयग्राही होते हैं। कबीर में जो रहस्यवाद मिलता है वह बहुत कुछ उन पारिभाषिक संज्ञाओं के आधार पर है जो वेदांत और हठयोग में निर्दिष्ट हैं। पर इन प्रेम-प्रबंधकारों ने जिस रहस्यवाद का आभास बीच बीच में दिया है उसके संकेत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी हैं। शुद्धप्रेम-मार्गी सूफी कवियों की शाखा में सबसे प्रसिद्ध जायसी हुए, जिनकी 'पद्मावत' हिंदी-काव्यक्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है। इस संप्रदाय के सब कवियों ने पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी का व्यवहार किया है जिसमें गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपना रामचरितमानस लिखा है।

अपना भावात्मक रहस्यवाद लेकर सूफ़ी जब भारत में आए तब यहाँ उन्हें केवल साधनात्मक रहस्यवाद योगियों, रसायनियों और तांत्रिकों में मिला। रसेश्वर दर्शन का उल्लेख 'सर्वदर्शन-

संग्रह' में है। जायसी आदि सूफ़ी कवियों ने हठयोग और रसायन की कुछ बातों को भी कहीं कहीं अपनी कहानियों में स्थान दिया है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा में कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर की ही मिलती है, अतः पहले निर्गुण संप्रदाय की 'ज्ञानाश्रयी शाखा' का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है जिसमें सर्वप्रथम कबीरदासजी सामने आते हैं।

प्रकरण २

निर्गुण धारा

ज्ञानाश्रयी शाखा

कबीर—इनकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। कहते हैं, काशी में स्वामी रामानंद का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामीजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का एक जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ। कबीर का जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४५६ माना जाता है। कहते हैं कि आरंभ से ही कबीर में हिंदू-भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी जिसे उसके पालनेवाले माता-पिता न दबा सके। वे 'राम राम' जपा करते थे और कभी कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस समय में स्वामी रामानंद का प्रभाव खूब बढ़ रहा था और छोटे बड़े, ऊँच नीच सब तृप्त हो रहे थे। अतः कबीर पर भी भक्ति का यह संस्कार बाल्यावस्था से ही यदि पड़ने लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। रामानंदजी के माहात्म्य को सुनकर कबीर के हृदय में शिष्य होने की लालसा जगी होगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन वे एक पहर रात रहते ही उस (पंचगंगा) घाट की सीढ़ियों पर

जा पड़े जहाँ से रामानंदजी स्नान करने के लिये उतरा करते थे। स्नान को जाते समय अँधेरे में रामानंदजी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानंदजी चट बोल उठे "राम राम कह"। कबीर ने इसी को गुरुमंत्र मान लिया और वे अपने को रामानंदजी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं का सत्संग भी रखते थे और जुलाहे का काम भी करते थे।

कबीरपंथ में मुसलमान भी हैं। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफ़ी मुसलमान फ़क़ीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। वे उस सूफी फ़क़ीर को ही कबीर का गुरु मानते हैं*। आरंभ से ही कबीर हिंदूभाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे। अतः उन दिनों, जब कि रामानंदजी की बड़ी धूम थी,

---

* ऊजी के पीर और शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत सी बातें सीखीं इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है; जैसे, "घटघट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूँसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे—

मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार नहीं थे, सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे।

सेख अकरदीं सकरदीं तुम मानहु वचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दीठि पसार॥

अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे। जैसा आगे कहा जायगा, रामानुज की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी रामानंदजी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जाति-पाँति का भेद और खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानंदजी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया, हठयोगियों तथा सूफ़ी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया। अतः उनकी प्रवृत्ति निर्गुण उपासना की ओर दृढ़ हुई। अद्वैतवाद के स्थूल रूप का कुछ परिज्ञान उन्हें रामानंदजी के सत्संग से पहले ही से था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए; वे ब्रह्म के पर्य्याय हुए—

> "दसरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना।
> राम नाम का मरम है आना॥"

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञान-मार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफ़ियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिये हठयोगियों की सी साधना का समर्थन किया। इस प्रकार उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफ़ियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव स्पष्ट लक्षित होते हैं।

यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुन बानी' कहलाती है पर उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक

भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसी लिये कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है, जैसे—

पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि, न सिरजनहारा ॥
जोति-सरूप काल नहिं उहँवाँ, बचन न आहि सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक, रवि ससि धरनि न नीरा ॥

और कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती।

और कहीं सोपाधि ईश्वर की, जैसे—

साईं के सब जीव हैं कीरी कुञ्जर दोय।

सारांश यह कि कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे सब हिंदू-शास्त्रों की हैं जिनका संचय उन्होंने रामानंदजी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि, आठ मैथुन (अष्टमैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं, सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे, जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के संबंध में वे कहते हैं—

तत्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनीषद कहैं सँदेसा।
जागबलिक औ जनक सँबादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा ॥

यहीं तक नहीं, वेदांतियों के कनक-कुंडल-न्याय आदि का व्यवहार भी इनके वचनों में मिलता है—

गहना एक कनक तें गहना, इन महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापिन, इक निमाज, एक पूजा ॥

इसी प्रकार उन्होंने हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद के कुछ सांकेतिक शब्दों (जैसे, चंद, सूर, नाद, बिंदु, अमृत, औंधा कुआँ) को लेकर अद्भुत रूपक बाँधे हैं जो सामान्य जनता की बुद्धि पर पूरा आतंक जमाते हैं, जैसे—

सूर समाना चंद में दहूँ किया घर एक।
मन का चिंता तब भया कछू पुरबिला लेख॥
आकासे मुखि औंधा कुआँ पाताले पनिहारि।
ताका पाणी को हंसा पीवै बिरला, आदि बिचारि॥

वैष्णव संप्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफी फक़ीरों को भी मान्य हुआ। हिंसा के लिये वे मुसलमानों को बराबर फटकारते रहे—

दिन भर रोजा रहत हैं, राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय॥
अपनी देखि करत नहीं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेस दिया॥
बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिंदू साधु-संन्यासियों से ग्रहण कीं जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी खरी सुनाई और 'राम-रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था; जैसे—

है कोइ गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि बेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

अथवा—

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर-प्रेम की व्यंजना सूफियों में बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित हुई थी उसी प्रकार सूफियों में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी। इसको कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है। कहीं इन्होंने ब्रह्म को खसम या पति मानकर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक; जैसे—

मुझको क्या तू ढूँढ़ै बंदे मैं तो तेरे पास में।

अथवा—

साईं के सँग सासुर आई।
संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं॥
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माड़ो छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लंबी चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी कभी

कहते थे। कबीर ने मगहर में जाकर शरीर-त्याग किया जहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है। इनका मृत्युकाल संवत् १५७५ माना जाता है, जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की ठहरती है। कहते हैं कि कबीरजी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था जब कि उनके गुरु की अवस्था ६४ वर्ष की थी। कबीरजी की वचनावली की सबसे प्राचीन प्रति, जिसका अब तक पता लगा है, संवत् १५६१ की लिखी है।

कबीर की वाणी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है, जिसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदांत-तत्त्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, प्रेमसाधना की कठिनता, माया की प्रबलता, मूर्त्तिपूजा तीर्थाटन आदि की असारता, हज नमाज़ व्रत आराधन की गौणता इत्यादि अनेक प्रसंग हैं। सांप्रदायिक शिक्षा और सिद्धांत के उपदेश मुख्यत: 'साखी' के भीतर हैं जो दोहों में है। इसकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी-मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की व्रजभाषा और कहीं कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है। .खुसरो के गीतों की भाषा भी व्रज हम दिखा आए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतों के लिये काव्य की व्रजभाषा ही स्वीकृत थी। कबीर का यह पद देखिए—

हौं बलि कब देखौंगी तोहि।
अहनिस आतुर दरसन-कारनि, ऐसी ब्यापी मोहि।
नैन हमारे तुम्हकों चाहैं, रती न मानै हारि।
बिरह अगिनि तन अधिक जरावै, ऐसी लेहु बिचारि।
सुनहु हमारी दादि गोसाईं, अब जनि करहु अधीर॥
तुम धीरज, मैं आतुर, स्वामी, काँचै भाँडै नीर।

बहुत दिनन के बिछुरे माधौ, मन नहिं बाँधै धीर।
देह छताँ तुम मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर॥

सूर के पदों की भी यही भाषा है।

भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी कबीर की उक्तियों में कहीं कहीं विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है। प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी, इसमें संदेह नहीं।

रैदास या रविदास—रामानंदजी के बारह शिष्यों में रैदास भी माने जाते हैं जो जाति के चमार थे। इन्होंने कई पदों में अपने को चमार कहा भी है, जैसे—

(१) कह रैदास खलास चमारा।
(२) ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं।

ऐसा जान पड़ता है कि ये कबीर के बहुत पीछे स्वामी रामानंद के शिष्य हुए क्योंकि अपने एक पद में इन्होंने कबीर और सेन नाई दोनों के तरने का उल्लेख किया है—

नामदेव कबीर तिलोचन सधना सेन तरै।
कह रविदास, सुनहु रे संतहु! हरि जिउ तें सबहि सरै।

कबीरदास के समान रैदास भी काशी के रहनेवाले कहे जाते हैं। इनके एक पद से भी यही पाया जाता है—

जाके कुटुंब सब ढोर ढोवंत
फिरहिं अजहुँ बानारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

रैदास का नाम धन्ना और मीराबाई ने बड़े आदर के साथ लिया है।

रैदास की भक्ति भी निर्गुन ढाँचे की जान पड़ती है। कहीं तो वे अपने भगवान् को सब में व्यापक देखते हैं—

थावर जंगम कीट पतंगा पूरि रह्यो हरिराई।

और कहीं कबीर की तरह परात्पर की ओर संकेत करके कहते हैं—

गुन निर्गुन कहियत नहिं जाके।

रैदास का अपना अलग प्रभाव पछाँह की ओर जान पड़ता है। 'साधो' का एक संप्रदाय, जो फर्रुखाबाद और थोड़ा बहुत मिरज़ापुर में भी पाया जाता है, रैदास की ही परंपरा में कहा जा सकता है; क्योंकि उसकी स्थापना (संवत् १६००) करनेवाले बीरभान उदयदास के शिष्य थे और उदयदास रैदास के शिष्यों में माने जाते हैं।

रैदास का कोई ग्रंथ नहीं मिलता; फुटकल पद ही 'बानी' के नाम से 'संतबानी सीरीज' में संगृहीत हैं। चालीस पद तो 'आदि गुरुग्रंथ साहब' में दिए गए हैं। कुछ पद नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दूध त बछरै थनह बिडारेउ। फूलु भंवर, जलु मीन बिगारेउ।
माई, गोबिंद पूजा कहा लै चरावउँ। अवरु त फूल अनूपु न पावउँ।
मलयागिरवै रहै हैं भुअंगा। बिषु अमृत बसहीं इक संगा।
तन मन अरपउँ, पूज चढ़ावउँ। गुरु परसादि निरंजन पावउँ।
पूजा अरचा आहि न तोरी। कह रविदास कवनि गति मोरी॥

अखिल खिलै नहिं, का कह पंडित, कोइ न कहै समुझाई।
अबरन बरन रूप नहिं जाके, कहँ लौ लाइ समाई॥
चंद सूर नहिं, राति दिवस नहिं, धरनि अकास न भाई।
करम अकरम नहिं, सुभ असुभ नहिं, का कहि देहुँ बड़ाई॥

———

जब हम होते तब तू नाहीं, अब तू ही, मैं नाहीं।
अतल अगम जैसे लहरि मइ उदधि, जल केवल जल माहीं॥

———

माधव, क्या कहिए प्रभु ऐसा । जैसा मानिए होइ न तैसा ।
नरपति एक सिंघासनि सोइया सपने भया भिखारी ।
अछत राज बिछुरत दुखु पाइया, सो गति भई हमारी ॥

धर्मदास—ये बाँधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिए थे। बाल्यावस्था से ही इनके हृदय में भक्ति का अंकुर था और ये साधुओं का सत्संग, दर्शन, पूजा, तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनों संत-समाज में कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खंडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण संत मत' की ओर हुआ। अंत में ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यों में हो गए और संवत् १५७५ में कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं कि कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी संपत्ति, जो बहुत अधिक थी, लुटा दी। ये कबीरदास की गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यंत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतों में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सरल भाव लिए हुए है; उसमें कठोरता और कर्कशता नहीं है। इन्होंने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंजक चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को ही लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है। उदाहरण के लिये कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय ।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय ।
सुन्न महल से अमृत बरसैं, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय ॥

खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास विनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपना बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन बन ढूँढ़ौं, हमरा के विरह-वैराग दै गैलो॥
संग की सखी सब पार उतरि गइलीं, हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलों।
धरमदास यह अरज करतु है, सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

गुरु नानक—गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ। इनके पिता कालूचंद खत्री जिला लाहौर तहसील शरकपुर के तिलवंडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानकजी बाल्यावस्था से ही अत्यंत साधु स्वभाव के थे। सं० १५४५ में इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ। सुलक्षणी से इनके दो पुत्र श्रीचंद और लक्ष्मीचंद हुए। श्रीचंद आगे चलकर उदासी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

पिता ने इन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत उद्योग किया पर ये सांसारिक व्यवहारों में दत्तचित्त न हुए। एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिये कुछ धन दिया जिसको इन्होंने साधुओं और गरीबों को बाँट दिया। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिससे वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का संस्कार धीरे धीरे प्रबल हो रहा था। लोग बहुत से देवी-देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्त्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानों के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्त्व समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ

बहुत से लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौक से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा में कबीर द्वारा प्रवर्तित 'निर्गुण संतमत' एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

गुरु नानक आरंभ ही से भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होंने घरबार छोड़ बहुत दूर दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। अंत में कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार उन्होंने पंजाब में आरंभ किया और वे सिख-संप्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े-लिखे न थे। भक्तिभाव से पूर्ण होकर वे जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् १६६१) ग्रंथ साहब में किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्यभाषा हिंदी में हैं। यह हिंदी कहीं तो देश की काव्यभाषा या व्रजभाषा है, कहीं खड़ी बोली जिसमें इधर उधर पंजाबी के रूप भी आ गए हैं; जैसे—चल्या, रह्या। भक्ति या विनय के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा में कहे गए हैं, कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिये टेढ़े-मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। इनका देहांत संवत् १५९६ में हुआ। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और संत स्वभाव के संबंध में उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जाते हैं—

इस दम दा मैंनू कीबे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिँ दिखाया ॥
सोच विचार करे मत मन में जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निसदिन राम चरन चित लाया ॥

जो नर दुख में दुख नहिं मानै ।
सुख सनेह अरु भय नहिँ जाके, कंचन माटी जानै ॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना ।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिँ मान अपमाना ॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा ।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिँ न तेहि घट ब्रह्म-निवासा ॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन्ह यह जुगुति पिछानी ।
नानक लीन भयो गोबिँद सों ज्यों पानी सँग पानी ॥

दादूदयाल—यद्यपि सिद्धांत-दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी हैं पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं। इनकी जाति के संबंध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति-कथा से मिलती-जुलती दादूदयाल की उत्पत्ति-कथा भी दादूपंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार दादू बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं। दादूदयाल का गुरु कौन था, यह ज्ञात नहीं। पर कबीर का इनकी बानी में बहुत जगह नाम आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये उन्हीं के मतानुयायी थे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर में रहे। वहाँ से मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए संवत् १६५९ में नराना में (जयपुर से २० कोस दूर) आकर रह गए। वहाँ से तीन चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। वहाँ भी ये अंतिम समय में कुछ दिनों तक रहे और वहीं संवत् १६६० में शरीर छोड़ा।

वह स्थान दादूपंथियों का प्रधान अड्डा है और वहाँ दादूजी के कपड़े और पोथियाँ अब तक रखी हैं। और निर्गुणपंथियों के समान दादूपंथी लोग भी अपने को निरंजन निराकार का उपासक बताते हैं। ये लोग न तिलक लगाते हैं न कंठी पहनते हैं, हाथ में एक सुमिरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं।

दादू की बानी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते जुलते दोहों में है, कहीं कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा मिली जुली पच्छिमी हिंदी है जिसमें राजस्थानी का मेल भी है। इन्होंने कुछ पद गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी कहे हैं। कबीर के समान पूरबी हिंदी का व्यवहार इन्होंने नहीं किया है। इनकी रचना में अरबी फारसी के शब्द अधिक आए हैं और प्रेमतत्त्व की व्यंजना अधिक है। घट के भीतर के रहस्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति इनमें बहुत कम है। दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है। कबीर के समान खंडन और वाद-विवाद से इन्हें रुचि नहीं थी। इनकी बानी में भी वे ही प्रसंग हैं जो निर्गुणमार्गियों की बानियों में साधारणतः आया करते हैं, जैसे ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जाति पाँति का निराकरण, हिंदू मुसलमानों का अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध इत्यादि। इनकी रचना का कुछ अनुमान नीचे उद्धृत पद्यों से हो सकता है—

घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी बाहिर काहे जाइ॥
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर।

रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर ॥
केते पारखि पचि मुए कीमति कही न जाइ ।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाइ ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसैं रहै समाइ ।

——

भाई रे ! ऐसा पंथ हमारा ।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अबरन एक अधारा ।
बाद बिवाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा ॥
समदृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप बिचारा ।
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरवैरी निरविकारा ॥
काम कल्पना कदे न कीजे पूरन ब्रह्म पियारा ।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ॥

सुंदरदास—ये खंडेलवाल बनिए थे और चैत्र शुक्ल ९ संवत् १६५३ में द्यौसा नामक स्थान (जयपुर राज्य) में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम परमानन्द और माता का सती था। जब ये ६ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्यौसा में गए थे। तभी से ये दादूदयाल के शिष्य हो गए और उनके साथ रहने लगे। संवत् १६६० में दादूदयाल का देहांत हुआ। तब तक ये नराना में रहे। फिर जगजीवन साधु के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा में आ गए। वहाँ संवत् १६६३ तक रहकर फिर जगजीवन के साथ काशी चले आए। वहाँ तीस वर्ष की अवस्था तक ये संस्कृत व्याकरण, वेदांत और पुराण आदि पढ़ते रहे। संस्कृत के अतिरिक्त ये फारसी भी जानते थे। काशी से लौटने पर ये राजपूताने के फ़तहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान में आ रहे। वहाँ के नवाब अलिफ़ख़ाँ इन्हें बहुत मानते थे। इनका देहांत कार्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६ में साँगानेर में हुआ।

इनका डील-डौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुंदर था। स्वभाव अत्यंत कोमल और मृदुल था। ये बाल-ब्रह्मचारी थे, और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे। निर्गुण-पंथियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की मँजी हुई ब्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुंदर पद्य कहे हैं। और संतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं, पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे हैं। यों तो छोटे मोटे इनके अनेक ग्रंथ हैं, पर 'सुंदरविलास' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जिसमें कवित्त, सवैये ही अधिक हैं। इन कवित्त-सवैयों में यमक, अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है। इनकी रचना काव्य-पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है। संत तो ये थे ही, पर कवि भी थे इससे समाज की रीति-नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं, जैसे गुजरात पर—"आभड़ छीत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँड़ी"; मारवाड़ पर—"वृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है मारू"। दक्षिण पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज, करैं सब भच्छन" पूरब देश पर—"बाम्हन छत्रिय बैसरु सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत"।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पँचागिनि बारी॥

भूख सही रहि रूख तरे, पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्‌यो, पै आस न मारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटाँग बानी इनको रुचिकर न थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मनै जाय गहिए।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिँ कहिए॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होंने और निर्गुण-वादियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत का पालन करनेवाली स्त्रियों, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिये पूरी जगह थी। दो उदाहरण अलम् हैं—

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान, पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत है॥

——

सुनत नगारे चोट बिगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मात है न तन में।
फरै जब साँग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में॥
कूदि कै पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परै बहु सावत के गन में।
मारि घमसान करि सुंदर जुहारै श्याम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाय रन में॥

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टितत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटाँग नहीं हैं, शास्त्र के अनुकूल हैं। उदाहरण के लिये नीचे का पद्य लीजिए जिसमें ब्रह्म के आगे और सब क्रम सांख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व, पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषय-पसार है॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भईं,
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रमजार है॥

मलूकदास—मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर में वैशाख कृष्ण ५ संवत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३९ में हुई। ये औरंगजेब के समय में दिल के अंदर खोजनेवाले निर्गुण मत के नामी संतों में हुए हैं और इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक में

कायम हुई। इनके संबंध में बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज़ को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयों का तोड़ा गंगाजी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था।

आलसियों का यह मूल मंत्र—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए, सब के दाता राम॥

इन्हीं का है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—रत्नखान और ज्ञान-बोध। हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देने में प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा में भी फ़ारसी और अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोलचाल की खड़ी बोली का पुट इन सब संतों की बानी में एक सा पाया जाता है। इन सब लक्षणों के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुंदर है। कहीं कहीं अच्छे कवियों का सा पद-विन्यास और कवित्त आदि छंद भी पाए जाते हैं। कुछ पद्य बिलकुल खड़ी बोली में हैं। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है। दिग्दर्शन मात्र के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुआ जाके मुनि गंध्रव हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे॥
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तैं नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे॥

नाम हमारा खाक है, हम खाकी बंदे।
खाकहि से पैदा किए अति गाफिल गंदे॥
कबहूँ न करते बंदगी, दुनिया में भूले।
आसमान को ताकते घोड़े चढ़ फूले॥

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहिं लगैं पियारे ॥
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोइ नहिं पाया॥
छत्तिस पवन हमारी जाति। हमहीं दिन औ हमहीं राति॥
हमहीं तरवर कीट पतंगा। हमहीं दुर्गा, हमहीं गंगा॥
हमहीं मुल्ला, हमहीं काजी। तीरथ बरत हमारी बाजी॥
हमहीं दसरथ, हमहीं राम। हमरै क्रोध औ हमरै काम॥
हमहीं रावन, हमहीं कंस। हमहीं मारा अपना बंस॥

अक्षर अनन्य—संवत् १७१० में इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार ये छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गए। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा-प्रार्थना के लिये इनके पास गए तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा "पाँव पसारा कब से?" चट उत्तर मिला—"हाथ समेटा जब से"। ये विद्वान् थे और वेदांत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने योग और वेदांत पर कई ग्रंथ राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धांतबोध, विवेकदीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश आदि लिखे और दुर्गा-सप्तशती का भी हिंदी पद्यों में अनुवाद किया। राजयोग के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

यह भेद सुनो पृथिचंदराय। फल चारहु को साधन उपाय॥
यह लोक सधै सुख पुत्र बाम। परलोक नसै बस नरकधाम॥
परलोक लोक दोउ सधै जाय। सोइ राजजोग सिद्धांत आय॥
निज राजजोग ज्ञानी करंत। हठि मूढ़ धर्म साधत अनंत॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं जिनकी रचना साहित्य के

अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी बानी अधिकतर सांप्रदायिकों के ही काम की है। उसमें मानवजीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जनसमाज को आकर्षित कर सके। इस प्रकार के संतों की परंपरा यद्यपि बराबर चलती रही और नए नए पंथ भी निकलते रहे पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में जगजीवनदास या जगजीवन साहब हुए जो संवत् १८१८ के लगभग वर्त्तमान थे। ये चंदेल ठाकुर थे और कोटवा (बाराबंकी) के निवासी थे। इन्होंने अपना एक अलग 'सत्यनामी' संप्रदाय चलाया। इनकी बानी में साधारण ज्ञान-चर्चा है। इनके शिष्य दूलमदास हुए जिन्होंने एक शब्दावली लिखी। उनके शिष्य तोंवरदास और पहलवानदास हुए। तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक संत हुए हैं। प्रयाग के बेलवेडियर प्रेस ने इस प्रकार के बहुत से संतों की बानियाँ प्रकाशित की हैं।

निर्गुण-पंथ के संतों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता ही प्रकट करेगा। उनमें जो थोड़ा बहुत भेद दिखाई पड़ेगा वह उन अवयवों की न्यूनता या अधिकता के कारण जिनका मेल करके निर्गुण पंथ चला है। जैसे, किसी में वेदांत के ज्ञानतत्त्व का अवयव अधिक मिलेगा, किसी में योगियों के साधना-तत्त्व का, किसी में सूफियों के मधुर प्रेमतत्त्व का और किसी में व्यावहारिक ईश्वरभक्ति (कर्त्ता, पिता, प्रभु की भावना से युक्त) का। यह दिखाया जा चुका है कि निर्गुणपंथ में जो थोड़ा बहुत ज्ञान-

पक्ष है वह वेदांत से लिया हुआ है; जो प्रेमतत्त्व है वह सूफियों का है, न कि वैष्णवों का। 'अहिंसा' और 'प्रपत्ति' के अतिरिक्त वैष्णवत्व का और कोई अंश उसमें नहीं है। उसके 'सुरति' और 'निरति' शब्द बौद्ध सिद्धों के हैं। बौद्धधर्म के अष्टांगमार्ग के अंतिम मार्ग हैं—सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। 'सम्यक् स्मृति' वह दशा है जिसमें क्षण क्षण पर मिटनेवाला ज्ञान स्थिर हो जाता है और उसकी शृंखला बँध जाती है। 'समाधि' में साधक सब संवेदनों से परे हो जाता है। अतः 'सुरति' 'निरति' शब्द योगियों की बानियों से आए हैं; वैष्णवों से उनका कोई संबंध नहीं।

——

प्रकरण ३

प्रेममार्गी (सूफी) शाखा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है जिन्होंने प्रेमगाथाओं के रूप में उस प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलानेवाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कवियों का अब वर्णन किया जाता है—

कुतबन—ये चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग (संवत् १५५०) था। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी (संवत् १५५८) में लिखी जिसमें चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचन-पुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेमकथा का वर्णन है। इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्या-त्मिक आभास हैं।

कहानी का सारांश यह है,—चंद्रगिरि के राजा गणपतिदेव का पुत्र कंचननगर के राजा रूपमुरारि की मृगावती नाम की राजकुमारी पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलने के उपरांत राजकुमार उसके

पास तक पहुँचा। पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर कहीं उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज में योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँचकर उसने रुकमिनी नाम की एक सुन्दरी को एक राक्षस से बचाया। उस सुन्दरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अन्त में राजकुमार उस नगर में पहुँचा जहाँ अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर मृगावती राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२ वर्ष रहा। पता लगने पर राजकुमार के पिता ने घर बुलाने के लिए दूत भेजा। राजकुमार पिता का सँदेसा पाकर मृगावती के साथ चल पड़ा और उसने मार्ग में रुकमिनी को भी ले लिया। राजकुमार बहुत दिनों तक आनन्द-पूर्वक रहा पर अंत में आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों रानियाँ प्रिय के मिलने की उत्कंठा में बड़े आनंद के साथ सती हो गईं—

> रुकमिनि पुनि वैसहि मरि गई। कुलवंती सत सों सति भई॥
> बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
> बिधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

मंझन—इनके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इनकी रची मधुमालती की एक खंडित प्रति मिली है जिससे इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पता लगता है। मृगावती के समान मधुमालती में भी पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के उपरांत एक दोहे का क्रम रखा गया है। पर मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही हैं। आध्यात्मिक प्रेमभाव की व्यंजना के लिये प्रकृति के भी अधिक दृश्यों का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लंबी है जो अत्यंत संक्षेप में नीचे दी जाती है।

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर नामक एक सोए हुए राजकुमार को अप्सराएँ रातों-रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्रसारी में रख आईं। वहाँ जागने पर दोनों का साक्षात्कार हुआ और दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय दिया और कहा—"मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर कई जन्मों का है इससे जिस दिन मैं इस संसार में आया उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ।" बातचीत करते करते दोनों एक साथ सो गए और अप्सराएँ राजकुमार को उठाकर फिर उसके घर पर रख आईं। दोनों जब अपने अपने स्थान पर जगे तब प्रेम में बहुत व्याकुल हुए। राजकुमार वियोग से विकल होकर घर से निकल पड़ा और उसने समुद्र के मार्ग से यात्रा की। मार्ग में तूफान आया जिसमें इष्ट-मित्र इधर उधर बह गए। राजकुमार एक पटरे पर बहता हुआ एक जंगल में जा लगा, जहाँ एक स्थान पर एक सुंदरी स्त्री पलँग पर लेटी दिखाई पड़ी। पूछने पर जान पड़ा कि वह चितबिसरामपुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा थी जिसे एक राक्षस उठा लाया था। मनोहर कुमार ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा ने मधुमालती का पता बताकर कहा कि मेरी वह सखी है, मैं उसे तुझसे मिला दूँगी। मनोहर को लिए हुए प्रेमा अपने पिता के नगर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा का पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहता है। पर प्रेमा यह कहकर अस्वीकार करती है कि मनोहर मेरा भाई है और मैंने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई और प्रेमा ने उसके साथ मनोहर कुमार का

मिलाप करा दिया। सवेरे रूपमंजरी ने चित्रसारी में जाकर मधुमालती को मनोहर के साथ पाया। जगने पर मनोहर ने तो अपने को दूसरे स्थान में पाया और रूपमंजरी अपनी कन्या को भला बुरा कहकर मनोहर का प्रेम छोड़ने को कहने लगी। जब उसने न माना तब माता ने शाप दिया कि तू पक्षी हो जा। जब वह पक्षी होकर उड़ गई तब माता बहुत पछताने और विलाप करने लगी, पर मधुमालती का कहीं पता न लगा। मधुमालती उड़ती उड़ती बहुत दूर निकल गई। कुँवर ताराचंद नाम के एक राजकुमार ने उस पक्षी की सुंदरता देख उसे पकड़ना चाहा। मधुमालती को ताराचंद का रूप मनोहर से कुछ मिलता जुलता दिखाई दिया इससे वह कुछ रुक गई और पकड़ ली गई। ताराचंद ने उसे एक सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन पक्षी मधुमालती ने प्रेम की सारी कहानी ताराचंद से कह सुनाई जिसे सुनकर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं तुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। अंत में वह उस पिंजरे को लेकर महारस नगर में पहुँचा। मधुमालती की माता अपनी पुत्री को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसने मंत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। वह फिर पक्षी से मनुष्य हो गई। मधुमालती के माता-पिता ने ताराचंद के साथ मधुमालती का ब्याह करने का विचार प्रकट किया। पर ताराचंद ने कहा कि "मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उससे प्रतिज्ञा की है कि मैं जैसे होगा वैसे मनोहर से मिलाऊँगा।" मधुमालती की माता सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसे अपने चित्त की दशा लिखती है। वह दोनों पत्रों को लिए हुए दुःख कर रही थी कि इतने में उसकी एक सखी आकर संवाद देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के वेश में आ पहुँचा है। मधुमालती का पिता अपनी रानी

सहित दल बल के साथ राजा चित्रसेन (प्रेमा के पिता) के नगर में जाता है और वहाँ मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचंद तीनों बहुत दिनों तक प्रेमा के यहाँ अतिथि रहते हैं। एक दिन आखेट से लौटने पर ताराचंद प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देख प्रेमा पर मोहित होकर मूर्च्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार में लग जाती हैं।

इसके आगे प्रति खंडित है। पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि प्रेमा और ताराचंद का भी विवाह हो गया होगा।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है, साथ ही प्रेमा और ताराचंद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, अपूर्व संयम और निःस्वार्थ भाव का चित्र दिखाया है। जन्म-जन्मांतर और योन्यंतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्त्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सूफियों के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेममूर्त्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं, जैसा कि मंझन कहते हैं—

देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छँदर्‌यो मोही॥
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँखें नहीं खुल सकतीं—

विरह-अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा ॥
विरह कि जगत अँबिरथा जाही? विरह रूप यह सृष्टि सबाही ॥
नैन बिरह-अंजन जिन सारा। विरह रूप दरपन संसारा ॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर विरह-दुख होई ॥
रतन कि सागर सागरहि? गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ?

जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेम-मार्गी सूफी संप्रदाय के सब कवियों में पाए जाते हैं। मंझन की रचना का यद्यपि ठीक ठीक संवत् नहीं ज्ञात हो सका है पर यह निस्संदेह है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५ (पद्मावत का रचना-काल) के बीच में और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। इस शैली के सब से प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथ "पद्मावत" में जायसी ने अपने पूर्व के बने हुए इस प्रकार के काव्यों का संक्षेप में उल्लेख किया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ॥
मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ ॥
साधे कुँअर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
प्रेमावति कहँ सुरबर साधा। उषा लागि अनिरुध बर-बाँधा ॥

इन पद्यों में जायसी के पहले के चार काव्यों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो अभी नहीं मिले हैं। जिस क्रम से ये नाम आए हैं वह यदि रचना-

काल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती की रचना कुतबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।

जायसी का जो उद्धरण दिया गया है उसमें मधुमालती के साथ 'मनोहर' का नाम नहीं है, 'खंडावत' नाम है। 'पदमावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्रायः फ़ारसी अक्षरों में ही मिलती हैं। मैंने चार ऐसी प्रतियाँ देखी हैं जिन सब में नायक का ऐसा नाम लिखा है जिसे 'खंडावत, कुंदावत, कंडावत, गंधावत' इत्यादि ही पढ़ सकते हैं। केवल एक हस्तलिखित प्रति हिंदू-विश्व-विद्यालय के पुस्तकालय में ऐसी है जिसमें साफ़ 'मनोहर' पाठ है। उसमान की 'चित्रावली' में मधुमालती का जो उल्लेख है उसमें भी कुँवर का नाम 'मनोहर' ही है—

मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥

यही नाम 'मधुमालती' की उपलब्ध प्रतियों में भी पाया जाता है।

'पदमावत' के पहले 'मधुमालती' की बहुत अधिक प्रसिद्धि थी। जैन कवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में संवत् १६६० के आसपास की अपनी इश्क़बाज़ी वाली जीवनचर्या का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "उस समय मैं हाट-बाज़ार में जाना छोड़, घर में पड़े पड़े 'मृगावती' और 'मधुमालती' नाम की पोथियाँ पढ़ा करता था—

तब घर में बैठे रहैं, नाहिंन हाट-बजार।
मधुमालती, मृगावती, पोथी दोय उचार॥"

इसके उपरांत दक्षिण के शायर नसरती ने भी (संवत् १७००) 'मधुमालती' के आधार पर दक्खिनी उर्दू में 'गुलशने-इश्क़' के नाम से एक प्रेम-कहानी लिखी।

कवित्त-सवैया बनानेवाले एक 'मंझन' पीछे हुए हैं जिन्हें इनसे सर्वथा पृथक् समझना चाहिए।

मलिक मुहम्मद जायसी—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे और जायस में रहते थे। इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'आखिरी कलाम' के नाम से फ़ारसी अक्षरों में छपी मिली है। यह सन् ९३६ हिजरी में (सन् १५२८ ईसवी के लगभग) बाबर के समय में लिखी गई थी। इसमें बाबर बादशाह की प्रशंसा है। इस पुस्तक में मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने जन्म के सम्बन्ध में लिखा है—

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य्य नहीं खुलता। जन्मकाल ९०० हिजरी मानें तो दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी कविता करने लगे और इस पुस्तक के कुछ पद्य उन्होंने बनाए।

जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है 'पद्मावत', जिसका निर्माण-काल कवि ने इस प्रकार दिया है—

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा-अरंभ-बैन कवि कहा॥

इसका अर्थ होता है कि पद्मावत की कथा के प्रारम्भिक वचन (अरंभ बैन) कवि ने ९२७ हिजरी (सन् १५२० ई० के लगभग) में कहे थे। पर ग्रंथारंभ में कवि ने मनसवी की रूढ़ि के अनुसार 'शाहेवक्त' शेरशाह की प्रशंसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खंड तपै जस भानू।
ओही छाज राज औ पाटू। सब राजै भुइँ धरा ललाटू॥

शेरशाह के शासन का आरम्भ ९४७ हिजरी अर्थात सन् १५४० ई० से हुआ था। इस दशा में यही सम्भव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। 'पद्मावत' का एक बँगला अनुवाद अराकान राज्य के

वजीर मगन ठाकुर ने सन् १६५० ई० के आसपास आलो-उजालो नामक एक कवि से कराया था। उसमें भी 'नव सै सत्ताइस' ही पाठ माना गया है—

शेख महम्मद जति जखन रचिल ग्रंथ संख्या सप्तविंश नवशत

पद्मावत की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फ़ारसी अक्षरों में मिली हैं जिनमें 'सत्ताइस' और 'सैंतालिस' प्रायः एक ही तरह लिखे जायँगे। इससे कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि 'सैंतालिस' को लोगों ने भूल से सत्ताइस पढ़ लिया।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था। जीवन के अंतिम दिनों में जायसी अमेठी से दो मील दूर एक जंगल में रहा करते थे। वहीं इनकी मृत्यु हुई। क़ाज़ी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्युकाल ४ रजब ९४९ हिजरी लिखा है। यह काल कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।

ये काने और देखने में कुरूप थे। कहते हैं, शेरशाह इनके रूप को देखकर हँसा था। इस पर ये बोले "मोहिका हँसेसि कि कोहरहि ?" इनके समय में ही इनके शिष्य फकीर इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं—एक तो प्रसिद्ध 'पदमावत', दूसरी 'अखरावट', तीसरी 'आख़िरी कलाम'। 'अखरावट' में वर्ण-माला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत-संबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयाँ कही गई हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर-प्रेम आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। 'आख़िरी कलाम' में क़यामत का वर्णन है। जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है, 'पदमावत', जिसके पढ़ने से यह

प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और "प्रेम की पीर" से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में, क्या अध्यात्मपक्ष में, दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।

कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है, उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन, जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।

'पद्मावत' में प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परंपरा में सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानी में भी विशेषता है। इसमें इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिंदू-हृदय के मर्म को स्पर्श करनेवाला है। जायसी ने

यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध नायक और नायिका ली है पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पद्मावती की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप और गुण में जगत् में अद्वितीय थी। उसके योग्य वर कहीं न मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था जिसका वर्ण सोने के समान था और जो पूरा वाचाल और पंडित था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय में कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। सूआ राजा के डर से एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुनकर बहुत विलाप किया।

सूआ वन में उड़ता उड़ता एक बहेलिए के हाथ पड़ गया जिसने बाजार में लाकर उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण को एक लाख देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे लिया। धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगा। एक दिन जब राजा शिकार को गया था तब उसकी रानी नागमती ने, जिसे अपने रूप का बड़ा गर्व था, आकर सूए से पूछा कि "संसार में मेरे समान सुंदरी भी कहीं है?" इस पर सूआ हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी का वर्णन करके कहा कि उसमें-तुममें दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह सूआ राजा से भी न पद्मिनी के रूप की प्रशंसा करे, उसे मारने की आज्ञा दे दी। पर चेरी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं; अपने घर छिपा रखा। लौटने पर जब सूए के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध हुआ तब सूआ लाया गया और उसने सारी व्यवस्था कह सुनाई।

पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया और अंत में वियोग से व्याकुल होकर उसकी खोज में घर से जोगी होकर निकल पड़ा। उसके आगे आगे राह दिखानेवाला वही हीरामन सूआ था और साथ में सोलह हजार कुँवर जोगियों के वेश में थे।

कलिंग से जोगियों का यह दल बहुत से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चला और अनेक कष्ट झेलने के उपरांत सिंहल पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो शिव के एक मंदिर में जोगियों के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा और हीरामन सूए ने जाकर पद्मावती से यह सब हाल कहा। राजा के प्रेम की सत्यता के प्रभाव से पद्मावती प्रेम में विकल हुई। श्रीपंचमी के दिन पद्मावती शिवपूजन के लिये उस मंदिर में गई; पर राजा उसके रूप को देखते ही मूर्च्छित हो गया, उसका दर्शन अच्छी तरह न कर सका। जागने पर राजा बहुत अधीर हुआ। इस पर पद्मावती ने कहला भेजा कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ पर चढ़ो तभी मुझे देख सकते हो। शिव से सिद्धि प्राप्त कर राजा रात को जोगियों सहित गढ़ में घुसने लगा, पर सबेरा हो गया और पकड़ा गया। राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से रतनसेन को सूली देने ले जा रहे थे कि इतने में सोलह हजार जोगियों ने गढ़ को घेर लिया। महादेव, हनुमान् आदि सारे देवता जोगियों की सहायता के लिये आ गए। गंधर्वसेन की सारी सेना हार गई। अंत में जोगियों के बीच शिव को पहचानकर गंधर्वसेन उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि "पद्मावती आपकी है, जिसको चाहे दीजिए।" इस प्रकार रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया और कुछ दिनों के उपरांत दोनों चित्तौरगढ़ आ गए।

रतनसेन की सभा में राघव चेतन नामक एक पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। और पंडितों को नीचा दिखाने के लिये उसने एक दिन प्रतिपदा को द्वितीया कहकर यक्षिणी के बल से चंद्रमा दिखा दिया। जब राजा को यह कार्रवाई मालूम हुई तब उसने राघव चेतन को देश से निकाल दिया। राघव राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार की आशा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के दरबार में पहुँचा और उसने दान में पाए हुए पद्मावती के एक कंगन को दिखाकर उसके रूप को संसार के ऊपर बताया। अलाउद्दीन ने पद्मिनी को भेज देने के लिये राजा रतनसेन को पत्र भेजा, जिसे पढ़कर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। कई वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अंत में उसने छलपूर्वक संधि का प्रस्ताव भेजा। राजा ने स्वीकार करके बादशाह की दावत की। राजा के साथ शतरंज खेलते समय अलाउद्दीन ने पद्मिनी के रूप की एक झलक सामने रखे हुए एक दर्पण में देख पाई, जिसे देखते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। प्रस्थान के दिन जब राजा बादशाह को बाहरी फाटक तक पहुँचाने गया तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया और दिल्ली पहुँचाया गया।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला तब वह बहुत व्याकुल हुई; पर तुरंत एक वीर क्षत्राणी के समान अपने पति के उद्धार का उपाय सोचने लगी। गोरा बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार ७०० पालकियों में सशस्त्र सैनिक छिपाकर दिल्ली में पहुँचे और बादशाह के यहाँ संवाद भेजा कि पद्मिनी अपने पति से थोड़ी देर मिलकर तब आपके हरम में जायगी। आज्ञा मिलते ही एक ढकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गई और उसमें से एक लोहार ने निकलकर राजा की बेड़ियाँ काट

दीं। रतनसेन पहले से ही तैयार एक घोड़े पर सवार होकर निकल आए। शाही सेना पीछे आते देख वृद्ध गोरा तो कुछ सिपाहियों के साथ उस सेना को रोकता रहा और बादल रतनसेन को लेकर चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर आने पर पद्मिनी ने रतनसेन से कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनते ही राजा रतनसेन ने कुंभलनेर जा घेरा। लड़ाई में देवपाल और रतनसेन दोनों मारे गए।

रतनसेन का शव चित्तौर लाया गया। उसकी दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते हँसते पति के शव के साथ चिता में बैठ गईं। पीछे जब सेना सहित अलाउद्दीन चित्तौर में पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

जैसा कि कहा जा चुका है, प्रेमगाथा की परंपरा में पद्मावत सबसे प्रौढ़ और सरस है। प्रेममार्गी सूफी कवियों की और कथाओं से इस कथा में यह विशेषता है कि इसके ब्योरों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की जगह-जगह व्यंजना होती है, जैसा कि कवि ने स्वयं ग्रंथ की समाप्ति पर कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

यद्यपि पद्मावत की रचना संस्कृत प्रबंध-काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी-शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य-परंपरा के अनुसार ही हैं। इसका पूर्वार्द्ध तो एकांत प्रेममार्ग का ही आभास देता है, पर उत्तरार्द्ध में लोकपक्ष का भी विधान है। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौंदर्य्य की

लोकोत्तर भावना में मग्न करनेवाला है। अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना उसमें पाइ जाती है। कुछ पद्य देखिए—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँपासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं कहीं उस अनंत सौंदर्य्य की ओर, जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल सी है, बड़े ही सुंदर संकेत किए हैं—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बनढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

इसी प्रकार योगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के मार्ग के विघ्नों (काम, क्रोध आदि विकारों) की व्यंजना की है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा। विषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठावँहि ठावँ बैठ बटपारा॥

उसमान—ये जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे और गाजीपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। और चार भाइयों के नाम थे—शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन। इन्होंने

अपना उपनाम "मान" लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा में हाजी बाबा के शिष्य थे। उसमान ने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी में "चित्रावली" नाम की पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरंभ में कवि ने स्तुति के उपरांत पैगंबर और चार खलीफों की, बादशाह (जहाँगीर) की तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। उसके आगे गाजीपुर नगर का वर्णन करके कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

आदि हुता बिधि माथे लिखा। अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा॥
देखत जगत चला सब जाई। एक बचन पै अमर रहाई॥
बचन समान सुधा जग नाहीं। जेहि पाए कवि अमर रहाहीं॥
मोहूँ चाउ उठा पुनि हीए। होउँ अमर यह अमरित पीए॥

कवि ने "जोगी ढूँढ़न खंड" में काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, रूम, साम, मिस्र, इस्तंबोल, गुजरात, सिंहलद्वीप आदि अनेक देशों का उल्लेख किया है। सबसे विलक्षण बात है जोगियों का अँगरेजों के द्वीप में पहुँचना—

बलंदीप देखा अँगरेजा। तहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा॥
ऊँच नीच धन-संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा॥

कवि ने इस रचना में जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक में रखे हैं उन विषयों पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कहीं कहीं तो शब्द और वाक्यविन्यास भी वही है। पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है।

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सोहाई॥

कथा का सारांश यह है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत-पालन करके शिव-पार्वती के प्रसाद से 'सुजान' नामक एक

पुत्र प्राप्त किया। सुजान कुमार एक दिन शिकार में मार्ग भूल देव (प्रेत) की एक मढ़ी में जा सोया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव अपने एक साथी के साथ रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्षगाँठ का उत्सव देखने के लिये गया और अपने साथ सुजान कुमार को भी लेता गया। और कोई उपयुक्त स्थान न देख देवों ने कुमार को राजकुमारी की चित्रसारी में ले जाकर रखा और आप उत्सव देखने लगे। कुमार राजकुमारी का चित्र टँगा देख उस पर आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर उसी की बगल में टाँगकर सो रहा। देव लोग उसे उठाकर फिर उसी मढ़ी में रख आए। जागने पर कुमार को चित्र-वाली घटना स्वप्न सी मालूम हुई; पर हाथ में रंग लगा देख उसके मन में घटना के सत्य होने का निश्चय हुआ और वह चित्रावली के प्रेम में विकल हो गया। इसी बीच में उसके पिता के आदमी आकर उसको राजधानी में ले गए। पर वहाँ वह अत्यंत खिन्न और व्याकुल रहता। अंत में अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक एक ब्राह्मण के साथ वह फिर उसी मढ़ी में गया और वहाँ बड़ा भारी अन्नसत्र खोल दिया।

राजकुमारी चित्रावली भी उसका चित्र देख प्रेम में विह्वल हुई और उसने अपने नपुंसक भृत्यों को, जोगियों के वेश में, राजकुमार का पता लगाने के लिये भेजा। इधर एक कुटीचर ने कुमारी की माँ हीरा से चुगली की और कुमार का वह चित्र धो डाला गया। कुमारी ने जब यह सुना तब उसने उस कुटीचर का सिर मुँड़ाकर उसे निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियों में से एक सुजान कुमार के उस अन्नसत्र तक पहुँचा और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। वहाँ एक शिवमंदिर में उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ।

पर ठीक इसी अवसर पर कुटीचर ने राजकुमार को अंधा कर दिया और एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे एक अजगर निगल गया। पर उसके विरह की ज्वाला से घबराकर उसने उसे चट उगल दिया। वहीं पर एक बनमानुस ने उसे एक अंजन दिया जिससे उसकी दृष्टि फिर ज्यों की त्यों हो गई। वह जंगल में घूम रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड़ा। पर उस हाथी को भी एक पक्षिराज ले उड़ा और उसने घबराकर कुमार को समुद्रतट पर गिरा दिया। वहाँ से घूमता फिरता कुमार सागरगढ़ नामक नगर में पहुँचा और राजकुमारी कँवलावती की फुलवारी में विश्राम करने लगा। राजकुमारी जब सखियों के साथ वहाँ आई तब उसे देख मोहित हो गई और उसने उसे अपने यहाँ भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर कुमारी ने चोरी के अपराध में उसे कैद कर लिया। इसी बीच में सोहिल नाम का कोई राजा कँवलावती के रूप की प्रशंसा सुन उसे प्राप्त करने के लिये चढ़ आया। सुजान कुमार ने उसे मार भगाया। अंत में सुजान कुमार ने कँवलावती से, चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने की प्रतिज्ञा करके, विवाह कर लिया। कँवलावती को लेकर कुमार गिरनार की यात्रा के लिये गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक जोगी-दूत ने गिरनार में उसे पहचाना और चट चित्रावली को जाकर संवाद दिया। चित्रावली का पत्र लेकर वह दूत फिर लौटा और सागरगढ़ में धुईं लगाकर बैठा। कुमार सुजान उस जोगी की सिद्धि सुन उसके पास आया और उसे जानकर उसके साथ रूपनगर गया। इसी बीच वहाँ पर सागरगढ़ के एक कथक ने चित्रावली के पिता की सभा में जाकर सोहिल राजा के युद्ध के गीत सुनाए, जिन्हें सुन राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता हुई। राजा ने

चार चित्रकारों को भिन्न भिन्न देशों के राजकुमारों के चित्र लाने को भेजा। इधर चित्रावली का भेजा हुआ वह जोगी-दूत सुजान कुमार को एक जगह बैठाकर उसके आने का समाचार कुमारी को देने आ रहा था। एक दासी ने यह समाचार द्वेषवश रानी से कह दिया और वह दूत मार्ग ही में कैद कर लिया गया। दूत के न लौटने पर सुजान कुमार बहुत व्याकुल हुआ और चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये मतवाला हाथी छोड़ा, पर उसने उसे मार डाला। इस पर राजा उस पर चढ़ाई करने जा रहा था कि इतने में भेजे हुए चार चित्रकारों में से एक चित्रकार सागरगढ़ से सोहिल के मारनेवाले पराक्रमी सुजान कुमार का चित्र लेकर आ पहुँचा। राजा ने जब देखा कि चित्रावली का प्रेमी वही सुजान कुमार है तब उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिनों में सागरगढ़ की कँवलावती ने विरह से व्याकुल होकर सुजान कुमार के पास हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा जिसने भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा कुमार को कँवलावती के प्रेम का स्मरण कराया। इस पर सुजान कुमार ने चित्रावली को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में कँवलावती को भी साथ ले लिया। मार्ग में कवि ने समुद्र के तूफान का वर्णन किया है। अंत में राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और उसने वहाँ दोनों रानियों सहित बहुत दिनों तक राज्य किया।

जैसा कि कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियों ने पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात सात चौपाइयों का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी

रखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी की रचना भी बहुत कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजान कुमार को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बल्कि पौराणिक शैली का अवलंबन करके उसने उसे परम योगी शिव के अंश से उत्पन्न तक कहा है। महादेवजी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—

देखु देत हौं आपन अंसा। अब तोरे होइहौं निज बंसा॥

कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या के रूप में कल्पित जान पड़ती हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवान् है। साधन-काल में अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्यज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी से सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावती के साथ समागम न करने की प्रतिज्ञा की थी। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दान-महिमा आदि का वर्णन चित्रावली में भी है। सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढँग से कवि ने "ईश्वर की प्राप्ति" की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ़ ले उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढ़ती हैं और नहीं पाती हैं—

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिनि खोज न पावा कहीं॥
निकसीं तीर भईं बैरागी। धरे ध्यान सब बिनवै लागीं।
गुपुत तोहि पावहि का जानी। परगट महँ जो रहै छपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू। रहा खोजि पै पाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आप न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाउँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न, देखहिं काहीं॥
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि दिखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए, औ बहु पढ़े गरंथ॥

विरह-वर्णन के अंतर्गत षट्ऋतु का वर्णन सरस और मनोहर है—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला। जहँ तहँ भौंर कुसुम-रँग भूला॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा। जेहि बिनु बसत बसंत उजारा॥
रात बरन पुनि देखि न जाई। मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई॥
रतिपति-दुरद ऋतुपती बली। कानन-देह आइ दलमली॥

शेख नबी—ये जौनपुर जिले में दोसपुर के पास मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और संवत् १६७६ में जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे। इन्होंने "ज्ञानदीप" नामक एक आख्यान-काव्य लिखा जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

यहीं प्रेममार्गी सूफी कवियों की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चाहिए। पर जैसा कहा जा चुका है, काव्यक्षेत्र में जब कोई परंपरा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य्य-काल के पीछे भी कुछ दिनों तक समय समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ी बहुत होती रहती हैं; पर उनके बीच कालांतर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। अतः शेख नबी से प्रेम-गाथा-परंपरा समाप्त समझनी चाहिए। 'ज्ञान-दीप' के उपरांत सूफियों की पद्धति पर जो कहानियाँ लिखी गई उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है।

कासिमशाह—ये दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और संवत् १७८८ के लगभग वर्त्तमान थे। इन्होंने "हंस जवाहिर" नाम की कहानी लिखी जिसमें राजा हंस और रानी जवाहिर की कथा है।

फ़ारसी अक्षरों में छपी (नामी प्रेस, लखनऊ) इस पुस्तक की एक प्रति हमारे पास है। उसमें कवि ने शाहे वक़्त का इस प्रकार उल्लेख करके—

मुहमदसाह दिल्ली सुलतानू। का मन गुन ओहि केर बखानू॥
छाजै पाट छत्र सिर ताजू। नावहिं सीस जगत के राजू॥
रूपवंत दरसन मुँह राता। भागवंत ओहि कीन्ह बिधाता॥
दरबवंत धरम महँ पूरा। ज्ञानवंत खड्ग महँ सूरा॥

अपना परिचय इन शब्दों में दिया है—

दरियाबाद माँझ मम ठाऊँ। अमानुल्ला पिता कर नाऊँ॥
तहवाँ मोहिं जनम बिधि दीन्हा। कासिम नावँ जाति कर हीना॥
तेहूँ बीच बिधि कीन्ह कमीना। ऊँच सभा बैठै चित दीना॥
ऊँचे संग ऊँच मन भावा। तब भा ऊँच ज्ञान-बुधि पावा॥
ऊँचा पंथ प्रेम का होई। तेहि महँ ऊँच भए सब कोई॥

कथा का सार कवि ने यह दिया है—

कथा जो एक गुपुत महँ रहा। सो परगट उघारि मैं कहा॥
हंस जवाहिर बिधि औतारा। निरमल रूप सो दई सँवारा॥
बलख नगर बुरहान सुलतानू। तेहि घर हंस भए जस भानू॥
आलमसाह चीनपति भारी। तेहि घर जनमी जवाहिर बारी॥
तेहि कारन वह भएउ बियोगी। गएउ सो छाँड़ि देस होइ जोगी॥
अंत जवाहिर हंस घर आनी। सो जग महँ यह गयउ बखानी॥
सो सुनि ज्ञान-कथा मैं कीन्हा। लिखेउँ सो प्रेम, रहै जग चीन्हा॥

इनकी रचना बहुत निम्न कोटि की है। इन्होंने जगह जगह जायसी की पदावली तक ली है, पर प्रौढ़ता नहीं है।

नूर मुहम्मद—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे और 'सबरहद' नामक स्थान के रहनेवाले थे जो जौनपुर जिले में जौनपुर-आज़मगढ़ की सरहद पर है। पीछे सबरहद से ये अपनी सुसराल भादों (ज़िला आज़मगढ़) चले गए। इनके श्वशुर शमसुद्दीन को और कोई वारिस न था इससे ये सुसराल ही में रहने लगे। नूरमुहम्मद के भाई मुहम्मद शाह सबरहद ही में रहे। नूरमुहम्मद के दो पुत्र हुए—ग़ुलाम

हसनैन और नसीरुद्दीन। नसीरुद्दीन की वंश-परंपरा में शेख़ फ़िदाहुसैन अभी वर्त्तमान हैं जो सबरहद और कभी कभी भादों में भी रहा करते हैं। अवस्था इनकी ८० वर्ष की है।

नूरमुहम्मद फ़ारसी के अच्छे आलिम थे और इनका हिन्दी काव्यभाषा का भी ज्ञान और सब सूफ़ी कवियों से अधिक था। फ़ारसी में इन्होंने एक दीवान के अतिरिक्त 'रौज़तुल हक़ायक़' इत्यादि बहुत सी किताबें लिखी थीं जो असावधानी के कारण नष्ट हो गईं। इन्होंने ११५७ हिजरी (संवत् १८०१) में 'इंद्रावती' नामक एक सुंदर आख्यान-काव्य लिखा जिसमें कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम-कहानी है। कवि ने प्रथानुसार उस समय के शासक मुहम्मदशाह की प्रशंसा इस प्रकार की है—

करौं मुहम्मदसाह बखानू। है सूरज देहली सुलतानू॥
धरमपंथ जग बीच चलावा। निबर न सबरे सों दुख पावा॥
बहुतै सलातीन जग केरे। आइ सहास बने हैं चेरे॥
सब काहू पर दाया धरई। धरम सहित सुलतानी करई॥

कवि ने अपनी कहानी की भूमिका इस प्रकार बाँधी है—

मन-दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहिं सब संसारा॥
देखेउँ एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी॥
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चंद सुरुज उतरे भुइँ आई॥
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासौं तिन्हकर नाऊँ॥
कहा अहैं राजा औ रानी। इंद्रावति औ कुँवर गियानी॥

आगमपुर इंद्रावती कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय॥

कवि ने जायसी के पहले के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरांत दोहे का क्रम रखा है। इसी ग्रंथ को सूफ़ी-पद्धति का अंतिम ग्रंथ मानना चाहिए।

इनका एक और ग्रंथ फ़ारसी अक्षरों में लिखा मिला है जिसका नाम है 'अनुराग-बाँसुरी'। यह पुस्तक कई दृष्टियों से विलक्षण है। पहली बात तो इसकी भाषा है जो और सब सूफ़ी-रचनाओं से बहुत अधिक संस्कृत-गर्भित है। दूसरी बात है हिन्दी भाषा के प्रति मुसलमानों का भाव। 'इन्द्रावती' की रचना करने पर शायद नूरमुहम्मद को समय समय पर यह उपालंभ सुनने को मिलता था कि "तुम मुसलमान होकर हिन्दी-भाषा में रचना करने क्यों गए"। इसी से 'अनुराग-बाँसुरी' के आरंभ में उन्हें यह सफ़ाई देने की ज़रूरत पड़ी—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू-मग पर पाँव न राखेउँ। का जौ बहुतै हिन्दी भाखेउँ ?
मन इसलाम मिरिकलैं माँजेउँ। दीन जँवरी करकस भाँजेउँ।
जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावनहारा॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। जच्छ असुर सुर काज न आवै॥

इसका तात्पर्य्य यह है कि संवत् १८०० तक आते आते मुसलमान हिन्दी से किनारा खींचने लगे थे। हिन्दी हिन्दुओं के लिये छोड़ कर अपने लिखने पढ़ने की भाषा वे विदेशी अर्थात् फ़ारसी ही रखना चाहते थे। जिसे 'उर्दू' कहते हैं उसका उस समय तक साहित्य में कोई स्थान न था इसका स्पष्ट आभास नूरमुहम्मद के इस कथन से मिलता है—

कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिन्दी भाखै पर आवा।
छाँड़ि पारसी कंद नबातैं। अरुझाना हिन्दी रस-बातैं॥

'अनुराग-बाँसुरी' का रचना-काल ११७८ हिजरी अर्थात् संवत् १८२१ है। कवि ने इसकी रचना अधिक पांडित्यपूर्ण रखने का प्रयत्न किया है और विषय भी इसका तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी है। शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक (Allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी है।

और सब सूफ़ी कवियों की कहानियों के बीच बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है, पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं। एक विशेषता और है। चौपाइयों के बीच बीच में इन्होंने दोहे न रख कर बरवै रखे हैं। प्रयोग भी ऐसे ऐसे संस्कृत शब्दों के हैं जो और सूफ़ी कवियों में नहीं आए हैं। काव्यभाषा के अधिक निकट होने के कारण भाषा में कहीं कहीं ब्रजभाषा के शब्द और प्रयोग भी पाए जाते हैं। रचना का थोड़ा सा नमूना नीचे दिया जाता है—

नगर एक मूरतिपुर नाऊँ। राजा जीव रहै तेहि ठाऊँ॥
का बरनौं वह नगर सुहावन। नगर सुहावन सब मन भावन॥
इहै सरीर सुहावन मूरतिपूर।
इहै जीव राजा, जिव जाहु न दूर॥
तनुज एक राजा के रहा। अंतःकरन नाम सब कहा॥
सौम्यसील सुकुमार सयाना। सो सावित्री स्वान्त समाना॥
सरल सरनि जौ सो पग धरै। नगर लोग सूधै पग परै॥
बक्र पंथ जौ राखै पाऊँ। वहै अध्व सब होइ बटाऊ॥
रहे सँघाती ताके पत्तन ठावँ।
एक संकल्प, विकल्प सो दूसर नावँ॥
बुद्धि चित्त दुइ सखा सरेखै। जगत बीच गुन अवगुन देखै।
अन्तःकरन पास नित आवैं। दरसन देखि महासुख पावैं॥
अहंकार तेहि तीसर सखा निरंत्र।
रहेउ चारि के अंतर नैसुक अंत्र॥
अन्तःकरन सदन एक रानी। महामोहनी नाम सयानी॥
बरनि न पारौं सुंदरताई। सकल सुंदरी देखि लजाई॥
सर्वमंगला देखि असीसै। चाहै लोचन मध्य बईसै॥
कुंतल झारत फाँदा डारै। चख चितवन सों चपला मारै॥
अपने मंजु रूप वह दारा। रूप गर्विता जगत मँझारा॥

प्रीतम-प्रेम पाइ वह नारी। प्रेमगर्विता भई पियारी॥
सदा न रूप रहत है, अंत नसाइ।
प्रेम, रूप के नासहि तें घटि जाइ॥

जैसा कि कहा जा चुका है नूर मुहम्मद को हिंदी भाषा में कविता करने के कारण जगह जगह इसका सबूत देना पड़ा है कि वे इसलाम के पक्के अनुयायी थे। अतः वे अपने इस ग्रंथ की प्रशंसा इस ढंग से करते हैं—

यह बाँसुरी सुनै सो कोई। हिरदय-स्रोत खुला जेहि होई॥
निसरत नाद बारुनी साथा। सुनि सुधि-चेत रहै केहि हाथा॥
सुनतै जौ यह सबद मनोहर। होत अचेत कृष्ण मुरलीधर॥
यह मुहम्मदी जन की बोली। जामैं कंद नबातैं घोली॥
बहुत देवता को चित हरै। बहु मूरति औंधी होइ परैं॥
बहुत देवहरा ढाहि गिरावै। संखनाद की रीति मिटावै॥
जहँ इसलामी मुख सों निसरी बात।
तहाँ सकल सुख मंगल, कष्ट नसात॥

सूफी आख्यान-काव्यों की अखंडित परंपरा की यहीं समाप्ति मानी जा सकती है। इस परंपरा में मुसलमान कवि ही हुए हैं। केवल एक हिंदू मिला है। सूफ़ी मत के अनुयायी सूरदास नामक एक पंजाबी हिंदू ने शाहजहाँ के समय में 'नल-दमयंती कथा' नाम की एक कहानी लिखी थी। पर इसकी रचना अत्यंत निकृष्ट है।

साहित्य की कोई अखंड परंपरा समाप्त होने पर भी कुछ दिन तक उस परंपरा की कुछ रचनाएँ इधर-उधर होती रहती हैं। इस ढंग की पिछली-रचनाओं में 'चतुर्मुकुट की कथा' और 'यूसुफ़-जुलेखा' उल्लेख-योग्य हैं।

———

प्रकरण ४

सगुण धारा

रामभक्ति-शाखा

जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य्यजी ने जिस अद्वैतवाद का निरूपण किया था वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी स्वीकार था, पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिये जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्य्यजी (सं० १०७३) ने खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिये उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य-लाभ करने का यत्न करें। रामानुजजी की शिष्य-परंपरा देश में बराबर फैलती गई और जनता भक्ति-मार्ग की ओर अधिक आकर्षित होती रही। रामानुजजी के श्री संप्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना है। इस संप्रदाय में अनेक अच्छे साधु महात्मा बराबर होते गए।

विक्रम की १४वीं शताब्दी के अंत में वैष्णव श्री संप्रदाय के प्रधान आचार्य्य श्री राघवानंदजी काशी में रहते थे। अपनी अधिक अवस्था होते देख वे बराबर इस चिंता में रहा करते कि मेरे उपरांत संप्रदाय के सिद्धांतों की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी। अंत में राघवानंद जी रामानंदजी को दीक्षा प्रदान कर निश्चिंत

हुए और थोड़े दिनों में परलोकवासी हुए। कहते हैं कि रामानंदजी ने सारे भारतवर्ष का पर्य्यटन करके अपने संप्रदाय का प्रचार किया।

स्वामी रामानंदजी के समय के संबंध में कहीं कोई लेख न मिलने से हमें उसके निश्चय के लिये कुछ आनुषंगिक बातों का सहारा लेना पड़ता है। बैरागियों की परंपरा में रामानंदजी का मानिकपुर के शेख़ तकी पीर के साथ वाद-विवाद होना माना जाता है। ये शेख़ तकी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय में थे। कुछ लोगों का मत है कि वे सिकंदर लोदी के पीर (गुरु) थे और उन्हीं के कहने से उसने कबीर साहब को ज़ंजीर से बाँधकर गंगा में डुबाया था। कबीर के शिष्य धर्मदास ने भी इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—

साह सिकदर जल में बोरे, बहुरि अग्नि परजारे।
मैमत हाथी आनि झुकाए, सिंहरूप दिखराए।
निरगुन कथैं, अभयपद गावैं, जीवन को समझाए।
काजी पंडित सबै हराए, पार कोउ नहिं पाए॥

शेख़ तकी और कबीर का संवाद प्रसिद्ध ही है। इससे सिद्ध होता है कि रामानंद जी दिल्ली के बादशाह सिकंदर लोदी के समय में वर्त्तमान थे। सिकंदर लोदी संवत् १५४६ से संवत् १५७४ तक गद्दी पर रहा। अतः इन २८ वर्षों के काल-विस्तार के भीतर—चाहे आरंभ की ओर चाहे अंत की ओर—रामानंद जी का वर्त्तमान रहना ठहरता है।

कबीर के समान सेन भगत भी रामानंद जी के शिष्यों में प्रसिद्ध हैं। ये सेन भगत बाँधवगढ़-नरेश के नाई थे और उनकी सेवा किया करते थे। ये कौन बांधवगढ़-नरेश थे, इसका पता 'भक्तमाल-रामरसिकावली' में रीवाँ-नरेश महाराज रघुराजसिंह ने दिया है—

बांधवगढ़ पूरब जो गायो। सेन नाम नापित तहँ आयो।
ताकी रहै सदा यह रीती। करत रहै साधुन सों प्रीती।
तहँ को राजा राम बघेला। बरन्यो जेहि कबीर को चेला।
करै सदा तिनकी सेवकाई। मुकर दिखावै तेल लगाई॥

रीवाँ-राज्य के इतिहास में राजा राम या रामचंद्र का समय संवत् १६११ से १६४८ तक माना जाता है। रामानंद जी से दीक्षा लेने के उपरांत ही सेन पक्के भगत हुए होंगे। पक्के भक्त हो जाने पर ही उनके लिये भगवान् के नाई का रूप धरनेवाली बात प्रसिद्ध हुई होगी। उक्त चमत्कार के समय वे राजसेवा में थे। अतः राजा रामचंद्र से अधिक से अधिक ३० वर्ष पहले यदि उन्होंने दीक्षा ली हो तो संवत् १५७५ या १५८० तक रामानंद जी का वर्त्तमान रहना ठहरता है। इस दशा में स्थूल रूप से उनका समय विक्रम की १५वीं शती के चतुर्थ और १६ वीं शती के तृतीय चरण के भीतर माना जा सकता है।

'श्रीरामार्चन-पद्धति' में रामानंद जी ने अपनी पूरी गुरु-परंपरा दी है। उसके अनुसार रामानुजाचार्य्य जी रामानंद जी से १४ पीढ़ी ऊपर थे। रामानुजाचार्य्य जी का परलोकवास संवत् ११९४ में हुआ। अब १४ पीढ़ियों के लिये यदि हम ३०० वर्ष रखें तो रामानंद जी का समय प्रायः वही आता है जो ऊपर दिया गया है। रामानंद जी का और कोई वृत्त ज्ञात नहीं।

तत्त्वतः रामानुजाचार्य्य जी के मतावलंबी होने पर भी अपनी उपासना-पद्धति का इन्होंने विशेष रूप रखा। इन्होंने उपासना के लिये वैकुंठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमंत्र हुआ राम-नाम। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इसके पूर्व देश में रामोपासक भक्त होते

ही न थे। रामानुजाचार्य्य जी ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसके प्रवर्त्तक शठकोपाचार्य्य उनसे पाँच पीढ़ी पहले हुए हैं। उन्होंने अपनी 'सहस्रगीति' में कहा है—"दशरथस्य सुतं तं विना अन्यशरणवान्नास्मि"। श्री रामानुज के पीछे उनके शिष्य कुरेशस्वामी हुए जिनकी "पंचस्तवी" में राम की विशेष भक्ति स्पष्ट झलकती है। रामानंद जी ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में 'रामरूप' को ही लोक के लिये अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और एक सबल संप्रदाय का संघटन किया। इसके साथ ही साथ उन्होंने उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विचार भक्तिमार्ग से दूर रखा। यह बात उन्होंने सिद्धों या नाथ-पंथियों की देखा-देखी नहीं की, बल्कि भगवद्भक्ति के संबंध में महाभारत, पुराण आदि में कथित सिद्धांत के अनुसार की। रामानुज संप्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानंद ने राम-भक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संघटन किया जो आज भी 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या, चित्रकूट आदि आज भी वैरागियों के मुख्य स्थान हैं।

भक्ति-मार्ग में इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है—जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते हैं—कि रामानंदजी वर्णाश्रम के विरोधी थे। समाज के लिये वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सब का समान अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति में वे किसी भेदभाव को आश्रय नहीं देते थे। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्य्यादा इन्हें मान्य थी; पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का

लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर राम-भक्ति का उपदेश ये देने लगे और रामनाम की महिमा सुनाने लगे।

रामानंद जी के ये शिष्य प्रसिद्ध हैं—कबीरदास, रैदास, सेन नाई और गाँगरौनगढ़ के राजा पीपा, जो विरक्त होकर पक्के भक्त हुए।

रामानंद जी के रचे हुए केवल दो संस्कृत के ग्रंथ मिलते हैं—वैष्णवमताब्ज-भास्कर और श्रीरामार्चन-पद्धति। और कोई ग्रंथ इनका आज तक नहीं मिला है।

इधर सांप्रदायिक झगड़े के कारण कुछ नये ग्रंथ रचे जाकर रामानंद जी के नाम से प्रसिद्ध किए गए हैं—जैसे, ब्रह्मसूत्रों पर आनंद भाष्य और भगवद्गीता-भाष्य—जिनके संबंध में सावधान रहने की आवश्यकता है। बात यह है कि कुछ लोग रामानुज-परंपरा से रामानंद जी की परंपरा को बिल्कुल स्वतंत्र और अलग सिद्ध करना चाहते हैं। इसी से रामानंद जी को एक स्वतंत्र आचार्य्य प्रमाणित करने के लिये उन्होंने उनके नाम पर एक वेदांत-भाष्य प्रसिद्ध किया है। रामानंदजी समय समय पर विनय और स्तुति के हिंदी पद भी बनाकर गाया करते थे। केवल दो-तीन पदों का पता अब तक लगा है। एक पद तो यह है जो हनुमान्‌जी की स्तुति में है—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथ-कला की॥
जाके बल-भर ते महि काँपै। रोग सोग जाकी सिमा न चाँपै॥
अंजनी-सुत महाबल-दायक। साधु संत पर सदा सहायक॥
बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दहिन भुजा सब संत उबारी॥
लछिमन धरति में मूछि पर्‍यो। पैठि पताल जमकातर तोर्‍यो॥
आनि सजीवन प्रान उबार्‍यो। मही सबन कै भुजा उपार्‍यो॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोही। होहु दयाल देहु जस मोहीं॥

लंकाकोट समुंदर खाई । जात पवनसुत बार न लाई ॥
लंक प्रजारि असुर सब मार्‍यो । राजा राम के काज सँवार्‍यो ॥
घंटा ताल झालरी बाजै । जगमग जोति अवधपुर छाजै ॥
जो हनुमान जी की आरति गावै । बसि बैकुंठ परमपद पावै ॥
लंक बिधंस कियो रघुराई । रामानंद आरती गाई ॥
सुर नर मुनि सब करहिं आरती । जै जै जै हनुमान लाल की ॥

स्वामी रामानंद का कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने से उनके संबंध में कई प्रकार के प्रवादों के प्रचार का अवसर लोगों को मिला है। कुछ लोगों का कहना है कि रामानंद जी अद्वैतियों के ज्योतिर्मठ के ब्रह्मचारी थे। इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि यह संभव है कि उन्होंने ब्रह्मचारी रहकर कुछ दिन उक्त मठ में वेदांत का अध्ययन किया हो, पीछे रामानुजाचार्य्य के सिद्धान्त की ओर आकर्षित हुए हों।

दूसरी बात जो उनके संबंध में कुछ लोग इधर उधर कहते सुने जाते हैं वह यह है कि उन्होंने बारह वर्ष तक गिरनार या आबू पर्वत पर योग-साधना करके सिद्धि प्राप्त की थी। रामानंदजी के जो दो ग्रंथ प्राप्त हैं तथा उनके संप्रदाय में जिस ढंग की उपासना चली आ रही है उससे स्पष्ट है कि वे खुले हुए विश्व के बीच भगवान की कला की भावना करनेवाले विशुद्ध वैष्णव भक्तिमार्ग के अनुयायी थे, घट के भीतर ढूँढ़नेवाले योगमार्गी नहीं। इसलिये योग-साधनावाली प्रसिद्धि का रहस्य खोलना आवश्यक है।

भक्तमाल में रामानंदजी के बारह शिष्य कहे गए हैं— अनंतानंद, सुखानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, भावानंद, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरसुरी।

अनंतानंद जी के शिष्य कृष्णदास पयहारी हुए जिन्होंने गलता (आमेर राज्य; राजपूताना) में रामानंद संप्रदाय की गद्दी

स्थापित की। यही पहली और सबसे प्रधान गद्दी हुई। रामानुज संप्रदाय के लिये दक्षिण में जो महत्त्व तोताद्रि का था वही महत्त्व रामानंदी संप्रदाय के लिये उत्तर-भारत में गलता को प्राप्त हुआ। वह 'उत्तर तोताद्रि' कहलाया। कृष्णदास पयहारी राजपूताने की ओर के दाहिमा (दाधीच्य) ब्राह्मण थे। जैसा कि आदि काल के अंतर्गत दिखाया जा चुका है, भक्ति-आंदोलन के पूर्व, देश में—विशेषत: राजपूताने में—नाथपंथी कनफटे योगियों का बहुत प्रभाव था जो अपनी सिद्धि की धाक जनता पर जमाए रहते थे। जब सीधे-सादे वैष्णव भक्तिमार्ग का आंदोलन देश में चला तब उसके प्रति दुर्भाव रखना उनके लिये स्वाभाविक था। कृष्णदास पयहारी जब पहले-पहल गलता पहुँचे तब वहाँ की गद्दी नाथपंथी योगियों के अधिकार में थी। वे रात भर टिकने के विचार से वहीं धूनी लगाकर बैठ गए। पर कनफटों ने उन्हें उठा दिया। ऐसा प्रसिद्ध है कि इस पर पयहारीजी ने भी अपनी सिद्धि दिखाई और वे धूनी की आग एक कपड़े में उठाकर दूसरी जगह जा बैठे। यह देख योगियों का महंत बाघ बनकर उनकी ओर झपटा। इस पर पयहारीजी के मुँह से निकला कि "तू कैसा गदहा है ?"। वह महंत तुरंत गदहा हो गया और कनफटों की मुद्राएँ उनके कानों से निकल निकलकर पयहारीजी के सामने इकट्ठी हो गईं। आमेर के राजा पृथ्वीराज के बहुत प्रार्थना करने पर महंत फिर आदमी बनाया गया। उसी समय राजा पयहारीजी के शिष्य हो गए और गलता की गद्दी पर रामानंदी वैष्णवों का अधिकार हुआ।

नाथपंथी योगियों के कारण जनता के हृदय में योग-साधना और सिद्धि के प्रति आस्था जमी हुई थी। इससे पयहारीजी की शिष्य-परंपरा में योग-साधना का भी कुछ समावेश हुआ।

पयहारीजी के दो प्रसिद्ध शिष्य हुए—अग्रदास और कील्हदास। इन्हीं कील्हदास जी की प्रवृत्ति रामभक्ति के साथ साथ योगाभ्यास की ओर भी हुई जिससे रामानंद जी की बैरागी-परंपरा की एक शाखा में योग-साधना का भी समावेश हुआ। यह शाखा बैरागियों में 'तपसी शाखा' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कील्हदास के शिष्य द्वारकादास ने इस शाखा को और पल्लवित किया। उनके संबंध में भक्तमाल में ये वाक्य हैं—

'अष्टांग जोग तन त्यागियो द्वारकादास, जानै दुनी'।

जब कोई शाखा चल पड़ती है तब आगे चलकर अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिये वह बहुत सी कथाओं का प्रचार करती है। स्वामी रामानंद जी के बारह वर्ष तक योग-साधना करने की कथा इसी प्रकार की है जो बैरागियों की 'तपसी शाखा' में चली। किसी शाखा की प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयत्न कथाओं की उद्भावना तक ही नहीं रह जाता। कुछ नए ग्रंथ भी संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक के नाम से प्रसिद्ध किए जाते हैं। स्वामी रामानंद जी के नाम से चलाए हुए ऐसे दो रद्दी ग्रंथ हमारे पास हैं—एक का नाम है योग-चिंतामणि; दूसरे का रामरक्षा-स्तोत्र। दोनों के कुछ नमूने देखिए—

(१)

विकट कटक रे भाई। काया चढ़ा न जाई।
जहँ नाद बिंदु का हाथी। सतगुर ले चले साथी।
जहाँ है अष्टदल कमल फूला। हंसा सरोवर में भूला।

शब्द तो हिरदय बसे, शब्द नयनों बसे,
शब्द की महिमा चार वेद गाई।
कहै गुरु रामानंद जी, सतगुर दया करि मिलिया,
सत्य का शब्द सुनु रे भाई॥

सुरत-नगर कर सयल। जिसमें है आतमा का महल ॥
(—योगचिंतामणि से)

(२)

सन्ध्या तारिणी सर्वदुःख-विदारिणी।

सन्ध्या उच्चरै विघ्न टरै। पिंड प्राण कै रक्षा श्री नाथ निरंजन करै। नाद नाद सुषुम्ना के साज साज्या। चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी, उनमनी पाँच मुद्रा सधंत साधुराजा।

डरे डुंगरे जले और थले बाटे घाटे औघट निरंजन निराकार रक्षा करे। बाघ बाघिनी का करो मुख काला। चौसठ जोगिनी मारि कुटका किया, अखिल ब्रह्मांड तिहुँ लोक में दुहाई फिरिबा करैं। दास रामानन्द ब्रह्म चीन्हा, सोइ निज तत्त्व ब्रह्मज्ञानी।
(—रामरक्षा-स्तोत्र से)

झाड़-फूँक के काम के ऐसे ऐसे स्तोत्र भी रामानंद जी के गले मढ़े गए हैं! स्तोत्र के आरंभ में जो 'संध्या' शब्द है, नाथपंथ में उसका पारिभाषिक अर्थ है—'सुषुम्ना नाड़ी की संधि में प्राण का जाना।' इसी प्रकार 'निरंजन' भी गोरखपंथ में उस ब्रह्म के लिये एक रूढ़ शब्द है जिसकी स्थिति वहाँ मानी गई है जहाँ नाद और बिंदु दोनों का लय हो जाता है—

नादकोटि सहस्राणि बिन्दुकोटि शतानि च।
सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरंजनः॥

'नाद' और 'बिंदु' क्या हैं, यह नाथपंथ के प्रसंग में दिखाया जा चुका है।

सिखों के ग्रंथ-साहब में भी निर्गुण उपासना के दो पद रामानंद के नाम के मिलते हैं। एक यह है—

कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग। मेरो चित चंचल मन भयो अपंग।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान। पूरि रहे हरि सब समान।

वेद स्मृति सब मेल्हे जोइ। उहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ।
एक बार मन भयो उमंग। घसि चोवा चंदन चारि अंग।
पूजत चाली ठाइँ ठाइँ। सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माइँ।
सतगुर मैं बलिहारी तोर। सकल विकल भ्रम जारे मोर।
रामानंद रमै एक ब्रह्म। गुरु कै एक सबद काटै कोटि क्रम्म॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ग्रंथ-साहब में उद्धृत दोनों पद भी वैष्णव भक्त रामानंद जी के नहीं हैं; और किसी रामानंद के हों तो हो सकते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वास्तव में रामानंदजी के केवल दो संस्कृत ग्रंथ ही आज तक मिले हैं। 'वैष्णव-मताब्ज-भास्कर' में रामानंदजी के शिष्य सुरसुरानंद ने नौ प्रश्न किए हैं जिनके उत्तर में रामतारक मंत्र की विस्तृत व्याख्या, तत्त्वोपदेश, अहिंसा का महत्त्व, प्रपत्ति, वैष्णवों की दिनचर्य्या, षोडशोपचार-पूजन इत्यादि विषय हैं।

अर्चावतारों के चार भेद—स्वयंव्यक्त, दैव, सैद्ध और मानुष—करके कहा गया है कि वे प्रशस्त देशों (अयोध्या, मथुरा आदि) में श्री सहित सदा निवास करते हैं। जातिभेद, क्रिया-कलाप आदि की अपेक्षा न करनेवाले भगवान् की शरण में सबको जाना चाहिए—

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिंचनो जनो
द्विजादिरिच्छंच्छरणं हरिं व्रजेत्।
परं दयालुं स्वगुणानपेक्षित-
क्रियाकलापादिकजातिभेदम्॥

गोस्वामी तुलसीदासजी—यद्यपि स्वामी रामानंदजी की शिष्य-परंपरा के द्वारा देश के बड़े भाग में रामभक्ति की पुष्टि निरंतर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकल पदों में राम

की महिमा गाते आ रहे थे पर हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्ज्वल प्रकाश विक्रम की १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषा-काव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया। सारांश यह कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक संदर्भ इन्हीं भक्त-शिरोमणि द्वारा संघटित हुआ जिससे हिंदी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरंभ हुआ।

'शिवसिंह-सरोज' में गोस्वामी जी के एक शिष्य बेनीमाधव-दास कृत 'गोसाईं चरित्र' का उल्लेख है। इस ग्रंथ का कहीं पता न था। पर कुछ दिन हुए सहसा यह अयोध्या से निकल पड़ा। अयोध्या में एक अत्यंत निपुण दल है जो लुप्त पुस्तकों और रचनाओं को समय समय पर प्रकट करता रहता है। कभी नंददास कृत तुलसी की वंदना का पद प्रकट होता है जिसमें नंददास कहते हैं—

श्रीमत्तुलसीदास स्वगुरु-भ्राता-पद वंदे।

* * * *

नंददास के हृदय-नयन को खोलेउ सोई॥

कभी सूरदास जी द्वारा तुलसीदास जी की स्तुति का यह पद प्रकाशित होता है—

धन्य भाग्य मम संत-सिरोमनि चरन-कमल तकि आयउँ।

* * * *

दया-दृष्टि तें मम दिसि हेरेउ, तत्त्व-स्वरूप लखायो।

कर्म-उपासन-ज्ञान-जनित भ्रम-संसय-मूल नसायो॥*

---

* ये दोनों पंक्तियाँ सूरदास जी के इस पद से खींच ली गई हैं—
कर्म जोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्री वल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला-भेद बतायो॥
(सूरसागर-सारावली)

इस पद के अनुसार सूरदास का 'कर्म-उपासन-ज्ञान-जनित भ्रम' वल्लभाचार्य्य जी ने नहीं, तुलसीदास जी ने दूर किया था! सूरदासजी तुलसीदासजी से अवस्था में बहुत बड़े थे और उनसे पहले प्रसिद्ध भक्त हो गए थे, यह सब लोग जानते हैं।

ये दोनों पद 'गोसाईं चरित्र' के मेल में हैं, अतः मैं इन सब का उद्गम एक ही समझता हूँ। 'गोसाईं चरित्र' में वर्णित बहुत-सी बातें इतिहास के सर्वथा विरुद्ध पड़ती हैं, यह बा० माता-प्रसाद गुप्त अपने कई लेखों में दिखा चुके हैं। रामानंद जी की शिष्य-परंपरा के अनुसार देखें तो भी तुलसीदास के गुरु का नाम नरहर्यानंद और नरहर्यानंद के गुरु का नाम अनंतानंद (प्रिय शिष्य अनंतानंद हते। नरहर्यानंद सुनाम छते) असंगत ठहरता है। अनंतानंद और नरहर्यानंद दोनों रामानंद जी के बारह शिष्यों में थे। नरहरिदास को अलबत कुछ लोग अनंतानंद का शिष्य कहते हैं, पर भक्तमाल के अनुसार वे अनंतानंद के शिष्य श्रीरंग के शिष्य थे। गिरनार में योगाभ्यासी सिद्ध रहा करते हैं, 'तपसी शाखा' की यह बात भी गोसाईं चरित्र में आ गई है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि तिथि, वार आदि ज्योतिष की गणना से कुछ ठीक मिलाकर तथा तुलसी के संबंध में चली आती हुई सारी जन-श्रुतियों का समन्वय करके सावधानी के साथ इसकी रचना हुई है, पर एक ऐसी पदावली इसके भीतर चमक रही है जो इसे बिल्कुल आजकल की रचना घोषित कर रही है। वह है 'सत्यं, शिवं, सुंदरम्'। देखिए—

> देखिन तिरपित दृष्टि तें सब जने, कीन्ही सही संकरम्।
> दिव्याषर सों लिख्यो, पढ़ै धुनि सुने, सत्यं शिवं, सुंदरम्॥

यह पदावली अँगरेजी-समीक्षा-क्षेत्र में प्रचलित The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है, जिसका प्रचार

पहले पहल ब्रह्मोसमाज में, फिर बँगला और हिंदी की आधुनिक समीक्षाओं में हुआ, यह हम अपने 'काव्य में रहस्यवाद' के भीतर दिखा चुके हैं।

यह बात अवश्य है कि 'गोसाईं चरित्र' में जो वृत्त दिए गए हैं, वे अधिकतर वे ही हैं जो परंपरा से प्रसिद्ध चले आ रहे हैं।

गोस्वामीजी का एक और जीवन-चरित, जिसकी सूचना मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेवनारायणजी ने दी थी, उनके एक दूसरे शिष्य महात्मा रघुवर दासजी का लिखा 'तुलसी-चरित' कहा जाता है। यह कहाँ तक प्रामाणिक है, नहीं कहा जा सकता। दोनों चरितों के वृत्तांतों में परस्पर बहुत कुछ विरोध है। बाबा बेनीमाधवदास के अनुसार गोस्वामीजी के पिता जमुना के किनारे दुबे पुरवा नामक गाँव के दूबे और मुखिया थे और इनके पूर्वज पत्यौजा ग्राम से वहाँ आए थे। पर बाबा रघुवरदास के 'तुलसी-चरित' में लिखा है कि सरवार में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र—जो गाना के मिश्र थे—रहते थे। वे तीर्थाटन करते करते चित्रकूट पहुँचे और उसी ओर राजापुर में बस गए। उनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। शंकर मिश्र के रुद्रनाथ मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र के मुरारि मिश्र हुए जिनके पुत्र तुलाराम ही आगे चलकर भक्तचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए।

दोनों चरितों में गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ दिया हुआ है। बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में तो श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दी हुई है। पर इस संवत् को ग्रहण करने से तुलसीदासजी की आयु १२६-१२७ वर्ष आती है जो पुनीत आचरण के महात्माओं के लिये असंभव तो नहीं कही जा सकती। शिवसिंहसरोज में लिखा है कि गोस्वामीजी संवत् १५८३ के

लगभग उत्पन्न हुए थे। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी भक्तों की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म-संवत् १५८९ मानते थे। इसी सब से पिछले संवत् को ही डा० ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है। इनका सरयूपारी ब्राह्मण होना तो दोनों चरितों में पाया जाता है, और सर्वमान्य है। "तुलसी परासर गोत दूबे पतिऔजा के" यह वाक्य भी प्रसिद्ध चला आता है और पंडित रामगुलाम ने भी इसका समर्थन किया है। उक्त प्रसिद्धि के अनुसार गोस्वामीजी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम था हुलसी। माता के नाम के प्रमाण में रहीम का यह दोहा कहा जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

तुलसीदासजी ने कवितावली में कहा है कि "मातु पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।" इसी प्रकार विनयपत्रिका में भी ये वाक्य हैं "जनक जननि तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे" तथा "तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू"। इन वचनों के अनुसार यह जन-श्रुति चल पड़ी कि गोस्वामीजी अभुक्तमूल में उत्पन्न हुए थे, इससे उनके माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था। उक्त जनश्रुति के अनुसार गोसाईं चरित्र में लिखा है कि गोस्वामीजी जब उत्पन्न हुए तब पाँच वर्ष के बालक के समान थे और उन्हें पूरे दाँत भी थे। वे रोए नहीं, केवल 'राम' शब्द उनके मुँह से सुनाई पड़ा। बालक को राक्षस समझ पिता ने उसकी उपेक्षा की। पर माता ने उसकी रक्षा के लिये उद्विग्न होकर उसे अपनी एक दासी मुनिया को पालने पोसने को दिया और वह उसे लेकर अपनी सुसराल चली गई। पाँच वर्ष पीछे जब मुनिया भी मर गई तब राजापुर में बालक के पिता के पास संवाद भेजा

गया पर उन्होंने बालक लेना स्वीकार न किया। किसी प्रकार बालक का निर्वाह कुछ दिन हुआ। अंत में बाबा नरहरिदास ने उसे अपने पास रख लिया और शिक्षा-दीक्षा दी। इन्हीं गुरु से गोस्वामीजी रामकथा सुना करते थे। इन्हीं अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ गोस्वामीजी काशी में आकर पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानंदजी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ पर एक परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी रहते थे जिन्होंने तुलसी-दासजी को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि में प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामीजी फिर अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे; पर वहाँ इनके परिवार में कोई नहीं रह गया था और घर भी गिर गया था।

यमुना पार के एक ग्राम के रहनेवाले भारद्वाज गोत्री एक ब्राह्मण यमद्वितीया को राजापुर में स्नान करने आए। उन्होंने तुलसीदासजी की विद्या, विनय और शील पर मुग्ध होकर अपनी कन्या इन्हें ब्याह दी। इसी पत्नी के उपदेश से गोस्वामीजी का विरक्त होना और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करना प्रसिद्ध है। तुलसीदासजी अपनी इस पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे बढ़ी नदी पार करके उससे जाकर मिले। स्त्री ने उस समय ये दोहे कहे—

> लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ।
> धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
> अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
> तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीति॥

यह बात तुलसीदासजी को ऐसी लगी कि वे तुरंत काशी आकर विरक्त हो गए। इस वृत्तांत को प्रियादासजी ने भक्त-माल की अपनी टीका में दिया है और 'तुलसी चरित्र' और गोसाईं चरित्र' में भी इसका उल्लेख है।

गोस्वामी जी घर छोड़ने पर कुछ दिन काशी में, फिर काशी से अयोध्या जाकर रहे। उसके पीछे तीर्थयात्रा करने निकले और जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए। वहाँ से ये कैलास और मानसरोवर तक निकल गए। अंत में चित्रकूट आकर ये बहुत दिनों तक रहे जहाँ अनेक संतों से इनकी भेंट हुई। इसके अनंतर संवत् १६३१ में अयोध्या जाकर इन्होंने रामचरितमानस का आरंभ किया और उसे २ वर्ष ७ महीने में समाप्त किया। रामायण का कुछ अंश, विशेषतः किष्किंधा-कांड, काशी में रचा गया। रामायण समाप्त होने पर ये अधिकतर काशी में ही रहा करते थे। वहाँ अनेक शास्त्रज्ञ विद्वान् इनसे आकर मिला करते थे क्योंकि इनकी प्रसिद्धि सारे देश में हो चुकी थी। ये अपने समय के सबसे बड़े भक्त और महात्मा माने जाते थे। कहते हैं कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से इनसे वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर इनकी स्तुति में उन्होंने यह श्लोक कहा था—

आनंदकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

गोस्वामीजी के मित्रों और स्नेहियों में नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, नाभाजी और मधुसूदन सरस्वती आदि कहे जाते हैं। 'रहीम' से इनसे समय समय पर दोहों में लिखा-पढ़ी हुआ करती थी। काशी में इनके सबसे बड़े स्नेही और भक्त भदैनी के एक भूमिहार जमींदार टोडर थे जिनकी मृत्यु पर इन्होंने कई दोहे कहे हैं—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे 'उतारु'॥

रामधाम टोडर गए, तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच ॥

गोस्वामीजी की मृत्यु के संबंध में लोग यह दोहा कहा करते हैं—

संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में दूसरी पंक्ति इस प्रकार है या कर दी गई है—

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर।

यही ठीक तिथि है क्योंकि टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामीजी के नाम सीधा दिया करते हैं।

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' को लेकर कुछ लोग गोस्वामीजी का जन्मस्थान ढूँढ़ने एटा जिले के सोरों नामक स्थान तक सीधे पच्छिम दौड़े हैं। पहले पहल उस ओर इशारा स्व० लाला सीताराम ने (राजापुर के) अयोध्याकांड के स्व-सम्पादित संस्करण की भूमिका में दिया था। उसके बहुत दिन पीछे उसी इशारे पर दौड़ लगी और अनेक प्रकार के कल्पित प्रमाण सोरों को जन्मस्थान सिद्ध करने के लिये तैयार किए गए। सारे उपद्रव की जड़ है 'सूकर खेत', जो भ्रम से सोरों समझ लिया गया। 'सूकर छेत्र' गोंडे के ज़िले में सरजू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, जहाँ आसपास के कई ज़िलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।

जिन्हें भाषा की परख है उन्हें यह देखते देर न लगेगी कि तुलसीदासजी की भाषा में ऐसे शब्द, जो स्थान-विशेष के बाहर नहीं बोले जाते हैं, केवल दो स्थानों के हैं—चित्रकूट के आस-पास के और अयोध्या के आसपास के। किसी कवि की रचना में यदि किसी स्थान-विशेष के भीतर ही बोले जानेवाले

अनेक शब्द मिलें तो उस स्थान-विशेष से कवि का निवास-सबंध मानना चाहिए। इस दृष्टि से देखने पर यह बात मन में बैठ जाती है कि तुलसीदास का जन्म राजापुर में हुआ जहाँ उनकी कुमार अवस्था बीती। सरवरिया होने के कारण उनके कुल के तथा संबंधी अयोध्या, गोंडा, बस्ती के आसपास थे, जहाँ उनका आना-जाना बराबर रहा करता था। विरक्त होने पर वे अयोध्या में ही रहने लगे थे। 'रामचरित-मानस' में आए हुए कुछ शब्द और प्रयोग नीचे दिए जाते हैं जो अयोध्या के आसपास ही (बस्ती, गोंडे आदि के कुछ भागों में) बोले जाते हैं—

माहुर = विष। **सरौं** = कसरत; **फहराना या फरहराना** = प्रफुल्लचित्त होना (सरौं करहिं पायक फहराई)। **फुर** = सच। **अनभल ताकना** = बुरा मनाना (जेहि राउर अति अनभल ताका)। **राउर, रउरेहि** = आपको (भलउ कहत दुख रउरेहि लागा)। **रमा लहीं** = रमा ने पाया (प्रथम पुरुष स्त्री० बहुवचन उ०—भरि जनम जे पाए न ते परितोष उमा रमा लहीं)। **कूटि** = दिल्लगी, उपहास।

इसी प्रकार ये शब्द चित्रकूट के आसपास तथा बघेलखंड में ही (जहाँ की भाषा पूरबी हिंदी या अवधी ही है) बोले जाते हैं—

कुराय = वे गड्ढे जो करेल पोली जमीन में बरसात के कारण जगह जगह पड़ जाते हैं (काँट कुराय लपेटन लोटन ठावहिं ठाँव बझाऊ रे। —विनय०)।

सुआर = सूपकार, रसोइया।

ये शब्द और प्रयोग इस बात का पता देते हैं कि किन स्थानों की बोली गोस्वामीजी की अपनी थी। आधुनिक काल के पहले साहित्य या काव्य की सर्वमान्य व्यापक भाषा ब्रज ही रही

है, यह तो निश्चित है। भाषा-काव्य के परिचय के लिये प्रायः सारे उत्तर भारत के लोग बराबर इसका अभ्यास करते थे और अभ्यास द्वारा सुंदर रचना भी करते थे। व्रजभाषा में रीतिग्रंथ लिखनेवाले चिंतामणि, भूषण, मतिराम, दास इत्यादि अधिकतर कवि अवध के थे और व्रजभाषा के सर्वमान्य कवि माने जाते हैं। दासजी ने तो स्पष्ट व्यवस्था ही दी है कि 'व्रजभाषा हेतु व्रजवास ही न अनुमानौ'। पर पूरबी हिंदी या अवधी के संबंध में यह बात नहीं है। अवधी भाषा में रचना करनेवाले जितने कवि हुए हैं सब अवध या पूरब के थे। किसी पछाहीं कवि ने कभी पूरबी हिंदी या अवधी पर ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं किया कि उसमें रचना कर सके। जो बराबर सोरों की पछाहीं बोली (व्रज) बोलता आया होगा वह 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' की सी ठेठ अवधी लिखेगा, 'मानस' ऐसे महाकाव्य की रचना अवधी में करेगा और व्याकरण के ऐसे देशबद्ध प्रयोग करेगा जैसे ऊपर दिखाए गए हैं? भाषा के विचार में व्याकरण के रूपों का मुख्यतः विचार होता है।

भक्त लोग अपने को जन्म-जन्मांतर से अपने आराध्य इष्टदेव का सेवक मानते हैं। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनों ने कथा-प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थल पर ऐसा हुआ है वहीं कवि के निवासस्थान का पूरा संकेत भी है। 'रामचरित-मानस' के अयोध्याकांड में वह स्थल देखिए जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम जमुना पार करते हैं और भरद्वाज के द्वारा साथ लगाए हुए शिष्यों को बिदा करते हैं। राम-सीता तट पर के लोगों से बातचीत कर ही रहे हैं कि—

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलखित-गति वेष बिरागी। मन क्रम बचन राम-अनुरागी॥

सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥

यह तापस एकाएक आता है। कब जाता है, कौन है, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने अपने को ही तापस रूप में राम के पास पहुँचाया है और ठीक उसी प्रदेश में जहाँ के वे निवासी थे अर्थात् राजापुर के पास।

सूरदास ने भी भक्तों की इस पद्धति का अवलंबन किया है। यह तो निर्विवाद है कि वल्लभाचार्य्य जी से दीक्षा लेने के उपरांत सूरदासजी गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के मंदिर में कीर्त्तन किया करते थे। अपने सूरसागर के दशम स्कंध के आरंभ में सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये अपने को ढाढी के रूप में नंद के द्वार पर पहुँचाया है—

नंद जू! मेरे मन आनंद भयो, हौं गोबर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥

* * * *

जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाउँ।
हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाउँ॥

सब का सारांश यह कि तुलसीदास का जन्मस्थान जो राजापुर प्रसिद्ध चला आता है, वही ठीक है।

एक बात की ओर और ध्यान जाता है। तुलसीदासजी रामानंद-संप्रदाय की बैरागी-परंपरा में नहीं जान पड़ते। उक्त संप्रदाय के अंतर्गत जितनी शिष्य-परंपराएँ मानी जाती हैं उनमें तुलसीदास जी का नाम कहीं नहीं है। रामानंद-परंपरा में सम्मिलित करने के लिये उन्हें नरहरिदास का शिष्य बताकर जो परंपरा मिलाई गई है, वह कल्पित प्रतीत होती है। वे रामोपासक वैष्णव अवश्य थे, पर स्मार्त्त वैष्णव थे।

गोस्वामीजी के प्रादुर्भाव को हिंदी-काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिंदी-काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा। वीर-गाथा-काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नहीं हुई। भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। कबीरदास ने चलती बोली में अपनी वाणी कही। पर वह बोली बेठिकाने की थी। उसका कोई नियत रूप न था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था। उन्होंने नाथपंथियों की 'सधुक्कड़ी भाषा' का व्यवहार किया जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था। इसका कारण यह है कि मुसलमानों की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। अतः उनकी भाषा में अरबी और फारसी के शब्दों का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। उनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे पढ़े लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे।

साहित्य की भाषा में, जो वीरगाथा-काल के कवियों के हाथ में बहुत कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदासजी ब्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल में ले आए। उन्होंने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया। सूरसागर को ध्यानपूर्वक

देखने से उसमें क्रियाओं के कुछ पुराने रूप, कुछ सर्वनाम (जैसे, जासु तासु, जेहि तेहि) तथा कुछ प्राकृत के शब्द पाए जायँगे। सारांश यह कि वे परंपरागत काव्य-भाषा को बिलकुल अलग करके एकबारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले। भाषा का एक शिष्ट-सामान्य रूप उन्होंने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया। यह तो हुई व्रजभाषा की बात। इसके साथ ही पूरबी बोली या अवधी भी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर हो चुकी थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अवधी की सब से पुरानी रचना ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' है। आगे चलकर 'प्रेममार्गी शाखा' के मुसलमान कवियों ने भी अपनी कहानियों के लिये अवधी भाषा ही चुनी। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने समय में काव्यभाषा के दो रूप प्रचलित पाए—एक व्रज और दूसरी अवधी। दोनों में उन्होंने समान अधिकार के साथ रचनाएँ कीं।

भाषा-पद्य के स्वरूप को लेते हैं तो गोस्वामीजी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से मुख्य ये हैं—(क) वीर-गाथा-काल की छप्पय-पद्धति, (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, (ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, (घ) कबीरदास की नीति-संबंधी बानी की दोहा-पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी, और (ङ) ईश्वरदास की दोहे-चौपाई वाली प्रबंध-पद्धति। इस प्रकार काव्यभाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्यक्षेत्र में गोस्वामीजी को मिलीं। तुलसीदासजी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौंदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्यक्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिंदी-कविता के प्रेमी मात्र जानते हैं कि उनका व्रज और अवधी

दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पदमावत में मिलती है वही जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवारामायण और रामलला-नहछू में हम पाते हैं। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का ब्रजभाषा पर।

प्रचलित रचना-शैलियों पर भी उनका इसी प्रकार का पूर्ण अधिकार हम पाते हैं।

(क) वीर-गाथा काल की छप्पय-पद्धति पर इनकी रचना यद्यपि थोड़ी है, पर इनकी निपुणता पूर्ण रूप से प्रदर्शित करती है; जैसे—

कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन-चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्दरत वीर बारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥
डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरविमान हिमभानु संघटित होत परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर इन्होंने बहुत विस्तृत और बड़ी सुंदर रचना की है। सूरदासजी की

रचना में संस्कृत की 'कोमल कांत पदावली' और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामीजी की रचना में है। दोनों भक्तशिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इस पर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामीजी की रचना अधिक संस्कृत-गर्भित है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों में शुद्ध देशभाषा का माधुर्य्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। विनयपत्रिका के प्रारंभिक स्तोत्रों में जो संस्कृत पदविन्यास है उसमें गीतगोविंद के पदविन्यास से इस बात की विशेषता है कि वह विषम है और रस के अनुकूल कहीं कोमल और कहीं कर्कश देखने में आता है। हृदय के विविध भावों की व्यंजना गीतावली के मधुर पदों में देखने योग्य है। कौशल्या के सामने भरत अपनी आत्मग्लानि की व्यंजना किन शब्दों में करते हैं देखिए—

> जौ हौं मातुमते महँ ह्वैहौं।
> तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं?
> क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानिहै साँची?
> महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन्ह बाँची?

इसी प्रकार चित्रकूट में राम के सम्मुख जाते हुए भरत की दशा का भी सुंदर चित्रण है—

> बिलोके दूरि तें दोउ बीर।
> मन अगहुँड़, तन पुलक सिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
> गड़त गोड़ मनो सकुच पंक महँ, कढ़त प्रेमबल धीर॥

'गीतावली' की रचना गोस्वामीजी ने सूरदासजी के अनुकरण पर की है। बाललीला के कई एक पद ज्यों के त्यों सूरसागर में भी मिलते हैं, केवल 'राम', 'श्याम' का अंतर है।

लंकाकांड तक तो कथा की अनेकरूपता के अनुसार मार्मिक स्थलों का जो चुनाव हुआ है वह तुलसी के सर्वथा अनुरूप है। पर उत्तरकांड में जाकर सूर-पद्धति के अतिशय अनुकरण के कारण उनका गंभीर व्यक्तित्व तिरोहित सा हो गया है। जिस रूप में राम को उन्होंने सर्वत्र लिया है, उसका भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया है। 'सूरसागर' में जिस प्रकार गोपियों के साथ श्रीकृष्ण हिंडोला झूलते हैं, होली खेलते हैं, वही करते राम भी दिखाए गए हैं। इतना अवश्य है कि सीता की सखियों और पुरनारियों का राम की ओर पूज्यभाव ही प्रकट होता है। राम की नखशिख-शोभा का अलंकृत वर्णन भी सूर की शैली पर बहुत से पदों में लगातार चला गया है। सरयूतट के इस आनंदोत्सव को आगे चलकर रसिक लोग क्या रूप देंगे, इसका ख़याल गोस्वामीजी को न रहा।

(ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर भी इसी प्रकार सारा रामचरित गोस्वामीजी कह गए हैं जिसमें नाना रसों का सन्निवेश अत्यंत विशद रूप में और अत्यंत पुष्ट और स्वच्छ भाषा में मिलता है। नाना रसमयी रामकथा तुलसीदासजी ने अनेक प्रकार की रचनाओं में कही है। कवितावली में रसानुकूल शब्द-योजना बड़ी सुंदर है। जो तुलसीदासजी ऐसी कोमल भाषा का व्यवहार करते हैं—

राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नग की परिछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

———

गोरो गरूर गुमान भरो यह, कौसिक, छोटो सो ढोटो है काको?

———

जल को गए लक्खन, हैं लरिका, परिखौ, पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥

वे ही वीर और भयानक के प्रसंग में ऐसी शब्दावली का व्यवहार करते हैं—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड वीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै।
महाबल-पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटके लंगूर फेरि फेरिकै।
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं तुलसीस "राखि राम की सौं" टेरिकै।
ढहर ढहर परे, कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै॥

———

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल लाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सो उघारी है॥

(घ) नीति के उपदेश की सूक्तिपद्धति पर बहुत से दोहे रामचरितमानस और दोहावली में मिलेंगे जिनमें बड़ी मार्मिकता से और कहीं कहीं बड़े रचनाकौशल से व्यवहार की बातें कही गई हैं और भक्ति प्रेम की मर्य्यादा दिखाई गई है।

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि विचार-विहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह-महोदधि मीन॥
लोगन भलो मनाव जो, भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुआ, सो सठ तुलसीदास॥
की तोहि लागहिं राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ, कीबे तुलसी तोहि॥

(ङ) जिस प्रकार चौपाई-दोहे के क्रम से जायसी ने अपना पद्मावत नाम का प्रबंधकाव्य लिखा उसी क्रम पर गोस्वामी जी

ने अपना परम प्रसिद्ध काव्य रामचरित-मानस, जो लोगों के हृदय का हार रहता चला आता है, रचा। भाषा वही अवधी है, केवल पद-विन्यास का भेद है। गोस्वामीजी शास्त्र-पारंगत विद्वान् थे अतः उनकी शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है। जायसी में केवल ठेठ अवधी का माधुर्य्य है, पर गोस्वामीजी की रचना में संस्कृत की कोमल पदावली का भी बहुत ही मनोहर मिश्रण है। नीचे दी हुई कुछ चौपाइयों में दोनों की भाषा का भेद स्पष्ट देखा जा सकता है।

जब हुँत कहिगा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी।
तब हुँत तुम्ह बिनु रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ॥
भइउँ बिरह जरि कोइलि कारी। डार डार जो कूकि पुकारी॥

—जायसी

अमियमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥
सुकृतसंभु तनु विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥
जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी। किए तिलक गुन-गन-बस-करनी॥

—तुलसी

सारांश यह कि हिंदी काव्य की सब प्रकार की रचनाशैली के ऊपर गोस्वामीजी ने अपना ऊँचा आसन प्रतिष्ठित किया है। यह उच्चता और किसी को प्राप्त नहीं।

अब हम गोस्वामीजी के वर्णित विषय के विस्तार का विचार करेंगे। यह विचार करेंगे कि मानव-जीवन की कितनी अधिक दशाओं का सन्निवेश उनकी कविता के भीतर है। इस संबंध में हम यह पहले ही कह देना चाहते हैं कि अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय-मंदिर में पूर्ण प्रेम-प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का

कोई एक पक्ष लेकर चले हैं—जैसे, वीरकाल के कवि उत्साह को; भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को; अलंकार-काल के कवि दांपत्य प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखाकर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्ज्वल छटा उसमें वर्त्तमान है।

पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण-धारा के संतों की बानी में किस प्रकार लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुण-धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोक-धर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्य्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञानसंपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियों, पति-प्रेम-परायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामीजी को निर्गुण-पंथियों की बानी में लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित वेदांत के कुछ चलते शब्दों को लेकर, बिना उनका तात्पर्य समझे, यों ही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख

जनता को लौकिक कर्त्तव्यों से विचलित करना चाहते हैं और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं। इसी दशा को लक्ष्य करके उन्होंने इस प्रकार के वचन कहे हैं—

श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति बिवेक।
तेहि परिहरहिं बिमोहबस, कल्पहिँ पंथ अनेक॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिँ भगत-कलि निंदहिँ वेद पुरान॥
वादहिँ शूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहिं डाटि॥

इसी प्रकार योगमार्ग से भक्तिमार्ग का पार्थक्य गोस्वामीजी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में बताया है। योगमार्ग ईश्वर को अंतस्थ मानकर अनेक प्रकार की अंतस्साधनाओं में प्रवृत्त करता है। सगुण भक्तिमार्गी ईश्वर को भीतर और बाहर सर्वत्र मानकर उसकी कला का दर्शन खुले हुए व्यक्त जगत् के बीच करता है। वह ईश्वर को केवल मनुष्य के क्षुद्र घट के भीतर ही नहीं मानता। इसी से गोस्वामी जी कहते हैं—

अंतर्जामिहु तें बड़ बाहिरजामी हैं राम, जो नाम लिये तें।
पैज परे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें।

'घट के भीतर' कहने से गुह्य या रहस्य की धारणा फैलती है जो भक्ति के सीधे स्वाभाविक मार्ग में बाधा डालती है। घट के भीतर साक्षात्कार करने की बात कहनेवाले प्रायः अपने को गूढ़ रहस्यदर्शी प्रकट करने के लिये सीधी सादी बात को भी रूपक बाँधकर और टेढ़ी पहेली बनाकर कहा करते हैं। पर इस प्रकार के दुराव-छिपाव की प्रवृत्ति को गोस्वामीजी भक्ति का विरोधी मानते हैं। सरलता या सीधेपन को वे भक्ति का नित्य लक्षण कहते हैं—मन की सरलता, वचन की सरलता और कर्म की सरलता तीनों को—

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥

वे भक्ति के मार्ग को ऐसा नहीं मानते जिसे 'लखै कोइ बिरलै'। वे उसे ऐसा सीधा-सादा स्वाभाविक मार्ग बताते हैं जो सबके सामने खुला दिखाई पड़ता है। वह संसार में सबके लिये ऐसा ही सुलभ है जैसे अन्न और जल—

निगम अगम, साहब सुगम, राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग माहँ॥

अभिप्राय यह कि जिस हृदय से भक्ति की जाती है वह सबके पास है। हृदय की जिस पद्धति से भक्ति की जाती है वह भी वही है जिससे माता-पिता की भक्ति, पुत्र-कलत्र का प्रेम किया जाता है। इसी से गोस्वामी जी चाहते हैं कि—

यहि जग महँ जहँ लगि या तन की प्रीति-प्रतीति सगाई।
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सोँ होहु सिमिटि इक ठाईं॥

नाथपंथी रमते जोगियों के प्रभाव से जनता अंधी भेड़ बनी हुई तरह तरह की करामातों को साधुता का चिह्न मानने लगी थी और ईश्वरोन्मुख साधना को कुछ बिरले रहस्यदर्शी लोगों का ही काम समझने लगी थी। जो हृदय सबके पास होता है वही अपनी स्वाभाविक वृत्तियों द्वारा भगवान् की ओर लगाया जा सकता है, इस बात पर परदा-सा डाल दिया गया था। इससे हृदय रहते भी भक्ति का सच्चा स्वाभाविक मार्ग लोग नहीं देख पाते थे। यह पहले कहा जा चुका है कि नाथपंथ का हठयोग-मार्ग हृदयपक्ष-शून्य है। रागात्मिका-वृत्ति से उसका कोई लगाव नहीं। अतः रमते जोगियों की रहस्यभरी बानियाँ सुनते सुनते जनता के हृदय में भक्ति की सच्ची भावना दब गई थी, उठने ही नहीं पाती थी। लोक की इसी दशा को लक्ष्य करके गोस्वामीजी को कहना पड़ा था कि—

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग ।

गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांग-पूर्णता । जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है । सब पक्षों के साथ उसका सामंजस्य है । न उसका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से । धर्म तो उसका नित्य लक्षण है । तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं । योग का भी उसमें समन्वय है पर उतने ही का जितना ध्यान के लिये, चित्त को एकाग्र करने के लिये आवश्यक है ।

प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया । शैवों वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य-व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरीय भारत में वह वैसा भयंकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण में किया । यहीं तक नहीं, जिस प्रकार उन्होंने लोकधर्म और भक्ति-साधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामंजस्य उपस्थित किया । 'मानस' के बालकांड में संत-समाज का जो लंबा रूपक है, वह इस बात को स्पष्ट रूप में सामने लाता है । भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी लोकपक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा । लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था । कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी । उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक-व्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई । यही कारण है कि इनकी भक्तिरस भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं । आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामीजी का रामचरितमानस

विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं।

अपनी सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढँग से किया है। रामचरितमानस में नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हें उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥

दोहावली में भक्ति की सुगमता बड़े ही मार्मिक ढँग से गोस्वामीजी ने इस दोहे के द्वारा सूचित की है—

की तोहि लागहिं राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ कीबे तुलसी तोहि॥

इसी प्रकार रामचरितमानस के उत्तरकांड में इन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को कहीं अधिक सुसाध्य और आशुफलदायिनी कहा है।

रचना-कौशल, प्रबंध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें रामचरित-मानस में मिलता है। पहली बात जिस पर ध्यान जाता है, वह है कथा-काव्य के सब अवयवों का उचित समीकरण। कथा-काव्य या प्रबंध-काव्य के भीतर इतिवृत्त, वस्तु-व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और संवाद, ये अवयव होते हैं। न तो अयोध्यापुरी की शोभा, बाललीला, नखशिख, जनक की वाटिका, अभिषेकोत्सव इत्यादि के वर्णन बहुत लंबे होने पाए हैं, न पात्रों के संवाद, न प्रेम शोक आदि भावों की व्यंजना। इतिवृत्त की शृंखला भी कहीं से टूटती नहीं है।

दूसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। अधिक विस्तार हमें ऐसे ही प्रसंगों का मिलता है जो मनुष्य मात्र के हृदय को स्पर्श करनेवाले हैं—जैसे, जनक की वाटिका में राम-

सीता का परस्पर दर्शन, रामवन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि, वन के मार्ग में स्त्री-पुरुषों की सहानुभूति, युद्ध, लक्ष्मण को शक्ति लगना इत्यादि ।

तीसरी बात है प्रसंगानुकूल भाषा । रसों के अनुकूल कोमल-कठोर पदों की योजना तो निर्दिष्ट रूढ़ि ही है । उसके अतिरिक्त गोस्वामी जी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत-मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली । घरेलू प्रसंग समझ कर कैकेयी और मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है । अनुप्रास की ओर प्रवृत्ति तो सब रचनाओं में स्पष्ट लक्षित होती है ।

चौथी बात है शृंगार रस का शिष्ट-मर्य्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन ।

जिस धूमधाम से 'मानस' की प्रस्तावना चली है उसे देखते ही ग्रंथ के महत्त्व का आभास मिल जाता है । उससे साफ़ झलकता है कि तुलसीदासजी अपने ही तक दृष्टि रखनेवाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर देखनेवाले भक्त थे । जिस व्यक्त जगत् के बीच उन्हें भगवान् के राम-रूप की कला का दर्शन कराना था, पहले चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर उसके अनेक-रूपात्मक स्वरूप को उन्होंने सामने रखा है । फिर उसके भले-बुरे पक्षों की विषमता देख-दिखाकर अपने मन का यह कहकर समाधान किया है—

सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जग-जलधि अगाधू ।

इसी प्रस्तावना के भीतर तुलसी ने अपनी उपासना के अनुकूल विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त का भी आभास यह कहकर दिया है—

सिया-राम-मय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ।

जगत् को केवल राममय न कहकर उन्होंने 'सिया-राम-मय' कहा है। सीता प्रकृति-स्वरूपा हैं और राम ब्रह्म हैं; प्रकृति अचित् पक्ष है और ब्रह्म चित् पक्ष। अतः पारमार्थिक सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है, यह स्पष्ट झलकता है। चित् और अचित् वस्तुतः एक ही हैं, इसका निर्देश उन्होंने

गिरा अर्थ, जल बीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न।
बंदौं सीता-राम-पद जिनहिं परम प्रिय खिन्न॥

कहकर किया है।

'रामचरित-मानस' के भीतर कहीं कहीं घटनाओं के थोड़े हेर-फेर तथा स्वकल्पित संवादों के समावेश के अतिरिक्त अपनी ओर से छोटी-मोटी घटनाओं या प्रसंगों की नई कल्पना तुलसी-दासजी ने नहीं की है। 'मानस' में उनका ऐसा न करना तो उनके उद्देश्य के अनुसार बहुत ठीक है। राम के प्रामाणिक चरित द्वारा वे जीवन भर बना रहनेवाला प्रभाव उत्पन्न करना चाहते थे, और काव्यों के समान केवल अल्पस्थायी रसानुभूति मात्र नहीं। 'ये प्रसंग तो केवल तुलसी द्वारा कल्पित हैं', यह धारणा उन प्रसंगों का कोई स्थायी प्रभाव श्रोताओं या पाठकों पर न जमने देती। पर गीतावली तो प्रबंध-काव्य न थी। उसमें तो सूर के अनुकरण पर वस्तु-व्यापार-वर्णन का बहुत विस्तार है। उसके भीतर छोटे छोटे नूतन प्रसंगों की उद्भा-वना का पूरा अवकाश था, फिर भी कल्पित घटनात्मक प्रसंग नहीं पाए जाते। इससे यही प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिभा अधिकतर उपलब्ध प्रसंगों को लेकर चलनेवाली थी; नए नए प्रसंगों की उद्भावना करनेवाली नहीं। उनकी कल्पना वस्तु-स्थिति को ज्यों की त्यों लेकर उसके मार्मिक स्वरूपों के उद्घाटन में प्रवृत्त होती थी, नई वस्तु-स्थिति खड़ी करने नहीं जाती थी। गोपियों को छकानेवाली कृष्णलीला के अंतर्गत छोटी मोटी

कथा के रूप में कुछ दूर तक मनोरंजक और कुतूहलप्रद ढंग से चलनेवाले नाना प्रसंगों की जो नवीन उद्भावना सूरसागर में पाई जाती है, वह तुलसी के किसी ग्रंथ में नहीं मिलती।

'रामचरित-मानस' में तुलसी केवल कवि के रूप में ही नहीं, उपदेशक के रूप में भी सामने आते हैं। उपदेश उन्होंने किसी न किसी पात्र के मुख से कराए हैं, इससे काव्यदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वे उपदेश पात्र के स्वभाव-चित्रण के साधन-रूप हैं। पर बात यह नहीं है। वे उपदेश उपदेश के लिये ही हैं।

गोस्वामीजी के रचे बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनमें ५ बड़े और ७ छोटे हैं। दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, राम-चरितमानस, रामाज्ञा-प्रश्नावली, विनयपत्रिका बड़े ग्रंथ हैं तथा रामलला-नहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमगल, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपिनी और कृष्णगीतावली छोटे। पंडित रामगुलाम द्विवेदी ने, जो एक प्रसिद्ध भक्त और रामायणी हो गए हैं, इन्हीं बारह ग्रंथों को गोस्वामीजी कृत माना है। पर शिवसिंह-सरोज में दस और ग्रंथों के नाम गिनाए गए हैं, यथा—राम-सतसई, संकटमोचन, हनुमद्‌बाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोलारामायण, झूलना रामायण और कुंडलिया रामायण। इनमें से कई एक तो मिलते ही नहीं। हनुमद्‌बाहुक को पंडित रामगुलामजी ने कवितावली के ही अंतर्गत लिया है। रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमें से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकांश दोहे उसमें कुतूहलवर्द्धक चातुर्य्य लिए हुए और क्लिष्ट हैं। यद्यपि दोहावली में भी कुछ दोहे इस ढँग के हैं पर गोस्वामीजी ऐसे गंभीर, सहृदय और कलामर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यों का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ में नहीं आता।

जो हो, बाबा बेनीमाधवदास के नाम पर प्रणीत चरित में भी रामसतसई का उल्लेख हुआ है।

कुछ ग्रंथों के निर्माण के संबंध में जो जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं उनका उल्लेख यहाँ भी आवश्यक है। कहते हैं कि बरवा रामायण गोस्वामी जी ने अपने स्नेही मित्र अब्दुर्रहीम खान-खाना के कहने पर उनके बरवों (बरवै नायिका-भेद) को देखकर बनाया था। कृष्णगीतावली वृंदावन की यात्रा के अवसर पर बनी कही जाती है। पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईं-चरित' के अनुसार रामगीतावली और कृष्णगीतावली दोनों ग्रंथ चित्र-कूट में उस समय के कुछ पीछे लिखे गए जब सूरदासजी उनसे मिलने वहाँ गए थे। गोस्वामीजी के एक मित्र पंडित गंगाराम ज्योतिषी काशी में प्रह्लादघाट पर रहते थे। रामाज्ञा-प्रश्न उन्हीं के अनुरोध से बना माना जाता है। हनुमानबाहुक से तो प्रत्यक्ष है कि वह बाहुओं में असह्य पीड़ा उठने के समय रचा गया था। विनयपत्रिका के बनने का कारण यह कहा जाता है कि जब गोस्वामीजी ने काशी में रामभक्ति की गहरी धूम मचाई तब एक दिन कलिकाल तुलसीदासजी को प्रत्यक्ष आकर धमकाने लगा और उन्होंने राम के दरबार में रखने के लिये यह पत्रिका या अर्ज़ी लिखी।

गोस्वामीजी की सर्वांगपूर्ण काव्यकुशलता का परिचय आरंभ में ही दिया जा चुका है। उनकी साहित्यमर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के संबंध में इतना जान लेना और भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना-नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन कहीं नहीं किया है और न शब्द-चमत्कार आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढँग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक-दमक दिखाते हुए नहीं। कहीं कहीं लंबे लंबे सांग

रूपक बाँधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परंपरा का अनुसरण किया है। दोहावली के कुछ दोहों के अतिरिक्त और सर्वत्र भाषा का प्रयोग उन्होंने भावों और विचारों को स्पष्ट रूप में रखने के लिये किया है, कारीगरी दिखाने के लिये नहीं। उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं। सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार-धारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते; केवल पादपूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार तुकांत के लिये शब्द भी तोड़े मरोड़े गए हैं। पर गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है; एक भी शब्द फालतू नहीं। खेद है कि भाषा की यह सफ़ाई पीछे होनेवाले बहुत कम कवियों में रह गई। सब रसों की सम्यक् व्यंजना इन्होंने की है; पर मर्य्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं किया है। प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और संकोच के सबके सामने पढ़ा जा सके, गोस्वामीजी का ही है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिये काफ़ी है।

(२) स्वामी अग्रदास—रामानंदजी के शिष्य अनंतानंद और अनन्तानंद के शिष्य कृष्णदास पयहारी थे। कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदास जी थे। इन्हीं अग्रदासजी के शिष्य भक्तमाल के रचयिता प्रसिद्ध नाभादासजी थे। गलता (राजपुताना) की प्रसिद्ध गद्दी का उल्लेख पहले हो चुका है। वहीं ये भी रहा करते थे और संवत् १६३२ के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है—

१—हितोपदेश उपखाणाँ बावनी।

२—ध्यानमंजरी।

३—रामध्यान-मंजरी।

४—कुंडलिया।

इनकी कविता उसी ढँग की है जिस ढँग की कृष्णोपासक नंददासजी की। उदाहरण के लिये यह पद्य देखिए—

> कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
> तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
> मेचक कुटिल बिसाल सरोरुह नैन सुहाए।
> मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

इनका एक पद भी देखिए—

> पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मति मंद अंध नहिं जोवत॥
> अपमारग मारग महिं जान्यो। इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो॥
> औरनि के बल अनत प्रकार। अगरदास के राम अधार॥

(३) नाभादासजी—ये उपर्युक्त अग्रदासजी के शिष्य, बड़े भक्त और साधुसेवी थे। ये संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदासजी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६९ में प्रियादासजी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कार-पूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे गए हैं। इन चरित्रों में पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है, केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्य-बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है। यह उद्देश्य बहुत अंशों में सिद्ध भी हुआ। आज उत्तरीय भारत के गाँव गाँव में साधुवेशधारी पुरुषों को शास्त्रज्ञ विद्वानों और पंडितों से कहीं बढ़कर जो सम्मान और पूजा प्राप्त है वह बहुत कुछ भक्तों की करामातों और चमत्कारपूर्ण वृत्तांतों के सम्यक् प्रचार से।

नाभाजी को कुछ लोग डोम बताते हैं, कुछ क्षत्रिय। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे एक बार गो० तुलसीदासजी से मिलने काशी गए। पर उस समय गोस्वामीजी ध्यान में थे, इससे न मिल सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन चले गए। ध्यान-भंग होने पर गोस्वामीजी को बड़ा खेद हुआ और वे तुरंत नाभाजी से मिलने वृंदावन चल दिए। नाभाजी के यहाँ वैष्णवों का भंडारा था जिसमें गोस्वामीजी बिना बुलाए जा पहुँचे। गोस्वामीजी यह समझकर कि नाभाजी ने मुझे अभिमानी न समझा हो, सबसे दूर एक किनारे बुरी जगह बैठ गए। नाभाजी ने जान बूझकर उनकी ओर ध्यान न दिया। परसने के समय कोई पात्र न मिलता था जिसमें गोस्वामीजी को खीर दी जाती। यह देखकर गोस्वामीजी एक साधु का जूता उठा लाए और बोले, "इससे सुंदर पात्र मेरे लिये और क्या होगा?" इस पर नाभाजी ने उठकर उन्हें गले से लगा लिया और गद्गद हो गए। ऐसा कहा जाता है कि तुलसी-संबंधी अपने प्रसिद्ध छप्पय के अंत में पहले नाभाजी ने कुछ चिढ़कर यह चरण रखा था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भए वालमीकि अवतार धरि।" यह वृत्तांत कहाँ तक ठीक है नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गोस्वामीजी खान-पान का विचार रखनेवाले स्मार्त वैष्णव थे। तुलसीदासजी के संबंध में नाभाजी का प्रसिद्ध छप्पय यह है—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि-परायन॥
अब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला विस्तारी।
रामचरनरसमत्त रहत अहनिसि ब्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो॥

अपने गुरु अग्रदास के समान इन्होंने भी रामभक्ति-संबंधिनी कविता की है। ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और पद्यरचना में अच्छी निपुणता थी। रामचरित-संबंधी इनके पदों का एक छोटा सा संग्रह अभी थोड़े दिन हुए प्राप्त हुआ है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने दो 'अष्टयाम' भी बनाए—एक ब्रजभाषा-गद्य में दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा-चौपाइयों में। दोनों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(गद्य)—तब श्री महाराज-कुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।

(पद्य)—

अवधपुरी की सोभा जैसी। कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावन। विविध रंग मति अति मन भावन॥
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा। चतुरबीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि। मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
बिगसे जलज, भृंग रसभूले। गुंजत जल समूह दोउ कूले॥
परिखा प्रति चहुँ दिसि लसति, कंचन कोट प्रकास।
विविध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥

(४) **प्राणचंद चौहान**—संस्कृत में रामचरित-संबंधी कई नाटक हैं जिनमें कुछ तो नाटक के साहित्यिक नियमानुसार हैं और कुछ केवल संवाद-रूप में होने के कारण नाटक कहे गए हैं। इसी पिछली पद्धति पर संवत् १६६७ में इन्होंने रामायण महानाटक लिखा। रचना का ढंग नीचे उद्धृत अंश से ज्ञात हो सकता है—

कातिक मास पच्छ उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर बारा॥
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना॥
संवत सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा॥
जो सारद माता करु दाया। बरनैां आदि पुरुष की माया॥
जेहि माया कह मुनि जगमूला। ब्रह्मा रहे कमल के फूला॥
निकसि न सक माया कर बाँधा। देषहु कमलनाल के राँधा॥
आदि पुरुष बरनौं केहि भाँती। चाँद सुरज तहँ दिवस न राती॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चार वेद गुन जोरि बषाना॥
तीनों गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजनहारा॥
श्रवन बिना सो अस बहुगुना। मन में होइ सु पहले सुना॥
देषै सब पै आहि न आँषी। अंधकार चोरी के साषी॥
तेहि कर दहुँ को करै बषाना। जिहि कर मर्म वेद नहिं जाना॥
माया सींव भो कोउ न पारा। शंकर पँवरि बीच होइ हारा॥

(५) हृदयराम—ये पंजाब के रहनेवाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा जिसकी कविता बड़ी सुंदर और परिमार्जित है। इसमें अधिकतर कवित्त और सवैयों में बड़े अच्छे संवाद हैं। पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने समय की सारी प्रचलित काव्य-पद्धतियों पर रामचरित का गान किया। केवल रूपक या नाटक के ढंग पर उन्होंने कोई रचना नहीं की। गोस्वामीजी के समय में ही उनकी ख्याति के साथ साथ रामभक्ति की तरंगें भी देश के भिन्न भिन्न भागों में उठ चली थीं। अतः उस काल के भीतर ही नाटक के रूप में कई रचनाएँ हुईं जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक हुआ।

नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक, हाथ
दूजो न लगाऊँ, वार करौं एक कर को।
मीजि मारौं उर ते उखारि भुजदंड, हाड़
तोरि डारौं बर अविलोकि रघुबर को॥
कासों राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है धरको।
सीता को संताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोर्‌यो जिन हर को॥

जानकी को मुख न बिलोक्यो ताते कुंडल
न जानत हौं, वीर पायँ छुवै रघुराइ के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे, बोल कह्यो सतभाइ के॥
पायँन के परिबे कौ जाते दास लछमन
याते पहिचानत है भूषन जे पायँ के।
बिछुआ हैं एई, अरु झाँझ हैं एई जुग,
नूपुर हैं तेई राम जानत जराइ के॥

सातों सिंधु, सातों लोक, सातों रिषि हैं ससोक,
सातों रवि-घोरे थोरे देखे न डरात मैं।
सातों दीप, सातों ईति काँप्योई करत और
सातों मत रात दिन प्रान है न गात मैं॥
सातों चिरजीव बरराइ उठे बार बार,
सातों सुर हाय हाय होत दिन रात मैं।
सातहूँ पताल काल सबद कराल, राम
भेदे सात ताल, चाल परी सात सात मैं॥

एहो हनू ! कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही ?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही ॥
जीवति है ? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराही ?
प्रान बसै पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥

रामभक्ति का एक अंग आदि रामभक्त हनुमान जी की उपासना भी हुई। स्वामी रामानंदजी कृत हनुमानजी की स्तुति का उल्लेख हो चुका है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने हनुमानजी की बंदना बहुत स्थलों पर की है। 'हनुमानबाहुक' तो केवल हनुमानजी को ही संबोधन करके लिखा गया है। भक्ति के लिये किसी पहुँचे हुए भक्त का प्रसाद भी भक्तिमार्ग में अपेक्षित होता है। संवत् १६९६ में रायमल्ल पाँड़े ने 'हनुमच्चरित्र' लिखा। गोस्वामीजी के पीछे भी कई लोगों ने रामायणें लिखीं पर वे गोस्वामीजी की रचनाओं के सामने प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ वर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं। विक्रम की १९ वीं और २० वीं शताब्दी में अयोध्या के महंत बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह आदि ने रामचरित-संबंधी विस्तृत रचनाएँ कीं जो सर्वप्रिय हुईं। इस काल में रामभक्ति-विषयक कविता बहुत कुछ हुई।

रामभक्ति की काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना-पद्धतियों को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीतकाव्य की ही पूर्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे अच्छे प्रबंधकाव्य रचे गए।

तुलसीदासजी के प्रसंग में यह दिखाया जा चुका है कि रामभक्ति में भक्ति का पूर्ण स्वरूप विकसित हुआ है। प्रेम और

श्रद्धा अर्थात् पूज्यबुद्धि दोनों के मेल से भक्ति की निष्पत्ति होती है। श्रद्धा धर्म की अनुगामिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है वहीं श्रद्धा टिकती है। धर्म ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति है; उस स्वरूप की क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास अखिल विश्व की स्थिति में मिलता है। पूर्ण भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की इस सर्वशक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का, धर्म की इस मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का, साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के प्रकाश में सत् के अनंत रूप-सौंदर्य की भी मनोहर झाँकी उसे मिलती है। लोक में जब कभी वह धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—उसकी खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अंधकार फाड़कर धर्म-ज्योति अमोघ शक्ति के साथ फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान् का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है। भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है तब 'आनन्द' का आविर्भाव होता है और 'सदानन्द' की अनुभूति होती है।

यह है उस सगुण भक्तिमार्ग का प्रकृत पक्ष जो भगवान् के अवतार को लेकर चलता है और जिसका पूर्ण विकास तुलसी की रामभक्ति में पाया जाता है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी ने लोक में फैले अधर्म, अनाचार, अत्याचार आदि का भीषण चित्र खींचकर भगवान् से अपना सत्स्वरूप, धर्मसंस्थापक स्वरूप, व्यक्त करने की प्रार्थना की है। उन्हें दृढ़ विश्वास है कि धर्म-स्वरूप भगवान् की कला का कभी न कभी दर्शन होगा। अतः वे यह भावना करके पुलकित हो जाते हैं कि सत्स्वरूप का लोक-

व्यक्त प्रकाश हो गया, रामराज्य प्रतिष्ठित हो गया और चारों ओर फिर मंगल छा गया—

> रामराज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत-विजई है।
> समरथ बड़ो सुजान सुसाहब, सुकृत-सेन हारत जितई है॥

जो भक्तिमार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा, धर्म से उसका लगाव न रह जायगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा। शृंगारोपासना, माधुर्य्यभाव आदि की ओर उसका झुकाव होता जायगा और धीरे धीरे उसमें 'गुह्य, रहस्य' आदि का भी समावेश होगा। परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इन्द्रियासक्ति की साधना होगी। कृष्णभक्ति-शाखा कृष्ण भगवान् के धर्मस्वरूप को —लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को—छोड़कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा भक्ति की सामग्री लेकर चली। इससे धर्म-सौंदर्य्य के आकर्षण से वह दूर पड़ गई। तुलसीदास जी ने भक्ति को अपने पूर्ण रूप में, श्रद्धा-प्रेम-समन्वित रूप में, सबके सामने रखा और धर्म या सदाचार को उसका नित्य लक्षण निर्धारित किया।

अत्यंत खेद की बात है कि इधर कुछ दिनों से एक दल इस रामभक्ति को भी शृंगारी भावनाओं में लपेटकर विकृत करने में जुट गया है। तुलसीदासजी के प्रसंग में हम दिखा आए हैं कि कृष्णभक्त सूरदासजी की शृंगारी रचना का कुछ अनुकरण गोस्वामीजी की 'गीतावली' के उत्तरकांड में दिखाई पड़ता है, पर वह केवल आनंदोत्सव तक रह गया है। इधर आकर कृष्णभक्ति शाखा का प्रभाव बहुत बढ़ा। विषय-वासना की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कुछ दिनों से रामभक्ति-मार्ग के भीतर भी शृंगारी भावना का अनर्गल प्रवेश

हो रहा है। इस शृंगारी भावना के प्रवर्त्तक थे रामचरित-मानस के प्रसिद्ध टीकाकार जानकी घाट (अयोध्या) के रामचरण-दासजी, जिन्होंने पति-पत्नी-भाव की उपासना चलाई। इन्होंने अपनी शाखा का नाम 'स्व-सुखी' शाखा रखा। स्त्री-वेष धारण करके पति 'लाल साहब' (यह खिताब राम को दिया गया है) से मिलने के लिये सोलह शृंगार करना, सीता की भावना सपत्नी रूप में करना आदि इस शाखा के लक्षण हुए। राम-चरणदासजी ने अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक नवीन कल्पित ग्रंथ प्राचीन बताकर अपनी शाखा में फैलाए, जैसे—लोमश-संहिता, हनुमत्संहिता, अमर रामायण, भुशुंडी रामायण, महारामायण (५ अध्याय), कोशलखंड, रामनवरत्न, महारासो-त्सव सटीक (सं० १९०४ प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ में छपा)।

'कोशलखंड' में राम की रासलीला, विहार आदि के अनेक अश्लील वृत्त कल्पित किए गए हैं और कहा गया है कि रास-लीला तो वास्तव में राम ने की थी। रामावतार में ९९ रास वे कर चुके थे। एक ही शेष था जिसके लिये उन्हें फिर कृष्ण रूप में अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार विलास-क्रीड़ा में कृष्ण से कहीं अधिक राम को बढ़ाने की होड़ लगाई गई। गोलोक में जो नित्य रासलीला होती रहती है उससे कहीं बढ़कर साकेत में हुआ करती है। वहाँ की नर्तकियों की नामावली में रंभा, उर्वशी आदि के साथ साथ राधा और चंद्रावली भी गिना दी गई हैं।

रामचरणदास की इस शृंगारी उपासना में चिरान-छपरा के जीवारामजी ने थोडा हेरफेर किया। उन्होंने पति-पत्नी-भाव के स्थान पर 'सखीभाव' रखा और अपनी शाखा का नाम 'तत्सुखी शाखा' रखा। इस 'सखीभाव' की उपासना का खूब प्रचार लक्ष्मण किला (अयोध्या) वाले युगलानन्य-शरण ने

किया। रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह इन्हें बहुत मानते थे और इन्हीं की सम्मति से उन्होंने चित्रकूट में 'प्रमोदवन' आदि कई स्थान बनवाए। चित्रकूट की भावना वृंदावन के रूप में की गई और वहाँ के कुंज भी व्रज के से क्रीड़ाकुंज माने गए। इस रसिकपंथ का आजकल अयोध्या में बहुत ज़ोर है और वहाँ के बहुत से मंदिरों में अब राम की 'तिरछी चितवन' और 'बाँकी अदा' के गीत गाए जाने लगे हैं। इस पंथ के लोगों का उत्सव प्रतिवर्ष चैत्र कृष्ण नवमी को वहाँ होता है। ये लोग सीता-राम को 'युगल सरकार' कहा करते हैं और अपना आचार्य्य 'कृपा-निवास' नामक एक कल्पित व्यक्ति को बतलाते हैं जिसके नाम पर एक 'कृपा-निवास-पदावली' सं० १९०१ में छपी (प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ)। इसमें अनेक अत्यन्त अश्लील पद हैं, जैसे—

(१) नीबी करषत बरजति प्यारी।
रसलंपट संपुट कर जोरत, पद परसत पुनि लै बलिहारी॥
(पृष्ठ १३८)

(२) पिय हँसि रस रस कंचुकि खोलैं।
चमकि निवारति पानि लाड़िली, मुरक मुरक मुख बोलैं॥

ऐसी ही एक और पुस्तक 'श्रीरामावतार-भजन-तरंगिणी' इन लोगों की ओर से निकली है जिसका एक भजन देखिए—

हमारे पिय ठाढ़े सरजू तीर।
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन के बीर॥
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ वृक्ष की झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर॥

भगवान् राम के दिव्य पुनीत चरित्र के कितने घोर पतन की कल्पना इन लोगों के द्वारा हुई है यह दिखाने के लिये इतना

बहुत है। लोकपावन आदर्श का ऐसा बीभत्स विपर्य्यय देख-कर चित्त क्षुब्ध हो जाता है। रामभक्ति-शाखा के साहित्य का अनुसंधान करनेवालों को सावधान करने के लिये ही इस 'रसिक शाखा' का यह थोड़ा सा विवरण दे दिया गया है। 'गुह्य', 'रहस्य', 'माधुर्य्य भाव' इत्यादि के समावेश से किसी भक्तिमार्ग की यही दशा होती है। गोस्वामीजी ने शुद्ध, सात्त्विक और खुले रूप में जिस रामभक्ति का प्रकाश फैलाया था वह इस प्रकार विकृत की जा रही है।

———

प्रकरण ५

कृष्णभक्ति-शाखा

श्री वल्लभाचार्य्यजी—पहले कहा जा चुका है कि विक्रम की १५वीं और १६वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आंदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके श्री वल्लभाचार्य्य जी प्रधान प्रवर्त्तकों में से थे। आचार्य्यजी का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को और गोलोकवास संवत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल ३ को हुआ। ये वेदशास्त्र में पारंगत धुरंधर विद्वान् थे।

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य्य हुए हैं सब का लक्ष्य शंकराचार्य्य के मायावाद और विवर्त्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रान्ति ही ठहरती थी। शंकर ने केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। वल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिये ब्रह्म की आत्मकृति कहा। अपने को अंश-रूप जीवों में बिखराना ब्रह्म की लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है। वह अपने सत्, चित् और आनन्द, इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, पर आनंद का तिरोभाव। जड़ में केवल सत का आविर्भाव रहता है; चित् और आनंद दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो सब दिव्य गुणों से संपन्न होकर 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम-रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी वैकुंठ' में (जो विष्णु के वैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। गोलोक इसी 'व्यापी वैकुंठ' का एक खंड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ हैं। भगवान् की इस 'नित्यलीला-सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिये वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर जो महत्त्व की भावना में मग्न करता है, केवल 'प्रेम' लिया। प्रेमलक्षणा भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की। 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' में सूरदास की एक वार्त्ता के अंतर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को आनुषंगिक या सहायक कहा है—

"श्री आचार्य्य जी महाप्रभुन के मार्ग को कहा स्वरूप है? माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह की तो परम काष्ठा है। स्नेह आगे भगवान् को रहत नाहीं ताते भगवान् बेर बेर माहात्म्य जनावत हैं। ❀ ❀ ❀ ❀ इन ब्रजभक्तन को स्नेह परम-काष्ठापन्न है। ताही समय तो माहात्म्य रहे, पीछे विस्मृत होय जाय।"

प्रेम-साधना में वल्लभ ने लोक-मर्य्यादा और वेदमर्य्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया। इस प्रेमलक्षणा भक्ति की ओर

जीव की प्रवृत्ति तभी होती है जब भगवान् का अनुग्रह होता है जिसे 'पोषण' या 'पुष्टि' कहते हैं। इसी से वल्लभाचार्य्यजी ने अपने मार्ग का नाम 'पुष्टि मार्ग' रखा है।

उन्होंने जीव तीन प्रकार के माने हैं—(१) पुष्टि जीव, जो भगवान् के अनुग्रह का ही भरोसा रखते हैं और 'नित्यलीला' में प्रवेश पाते हैं; (२) मर्य्यादा जीव, जो वेद की विधियों का अनुसरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं और (३) प्रवाह जीव, जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं।

'कृष्णाश्रय' नामक अपने एक 'प्रकरण ग्रंथ' में वल्लभाचार्य्य ने अपने समय की अत्यंत विपरीत दशा का वर्णन किया है जिसमें उन्हें वेदमार्ग या मर्य्यादा-मार्ग का अनुसरण अत्यंत कठिन दिखाई पड़ा है। देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह दृढ़ हो चुका था। हिंदुओं का एकमात्र स्वतंत्र और प्रभावशाली राज्य दक्षिण का विजयनगर राज्य रह गया था, पर बहमनी सुलतानों के पड़ोस में रहने के कारण उसके दिन भी गिने हुए दिखाई पड़ते थे। इसलामी संस्कार धीरे धीरे जमते जा रहे थे। सूफ़ी पीरों के द्वारा सूफ़ी-पद्धति की प्रेमलक्षणा भक्ति का प्रचार-कार्य्य धूम से चल रहा था। एक ओर 'निर्गुन पंथ' के संत लोग वेद-शास्त्र की विधियों पर से जनता की आस्था हटाने में जुटे हुए थे। अतः वल्लभाचार्य्य ने अपने 'पुष्टि मार्ग' का प्रवर्त्तन बहुत कुछ देश-काल देखकर किया।

वल्लभाचार्य्यजी के मुख्य ग्रंथ ये हैं—(१) पूर्व-मीमांसा भाष्य (२) उत्तर-मीमांसा या ब्रह्मसूत्र भाष्य जो 'अणुभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादक यही प्रधान दार्शनिक ग्रंथ है (३) श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका तथा सुबोधिनी टीका (४) तत्त्वदीपनिबन्ध तथा (५) सोलह छोटे छोटे प्रकरण

ग्रंथ। इनमें से पूर्वमीमांसा भाष्य का बहुत थोड़ा सा अंश मिलता है। 'अणुभाष्य' आचार्य्यजी पूरा न कर सके थे। अतः अंत के डेढ़ अध्याय उनके पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथ ने लिख कर ग्रंथ पूरा किया। भागवत की सूक्ष्म टीका नहीं मिलती; सुबोधिनी का भी कुछ ही अंश मिलता है। प्रकरण-ग्रंथों में 'पुष्टिप्रवाह-मर्य्यादा' नाम की पुस्तक मूलचंद तुलसीदास तेली-वाला ने संपादित करके प्रकाशित कराई है।

रामानुजाचार्य्य के समान वल्लभाचार्य्य ने भी भारत के बहुत से भागों में पर्य्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत में अपने उपास्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की और अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी का बड़ा भारी मंदिर निर्माण कराया तथा सेवा का बड़ा भारी मंडान बाँधा। वल्लभ संप्रदाय में जो उपासना-पद्धति या सेवा-पद्धति ग्रहण की गई उसमें भोग-राग तथा विलास की प्रभूत सामग्री के प्रदर्शन की प्रधानता रही। मंदिरों की प्रशंसा "केसर की चक्कियाँ चलैं हैं" कहकर होने लगी। भोग-विलास के इस आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओं पर कहाँ तक अच्छा पड़ सकता था? जनता पर चाहे जो प्रभाव पड़ा हो पर उक्त गद्दी के भक्त शिष्यों ने सुंदर सुंदर पदों द्वारा जो मनोहर प्रेम-संगीत-धारा बहाई उसने मुरझाते हुए हिंदू-जीवन को सरस और प्रफुल्ल किया। इस संगीत-धारा में दूसरे संप्रदायों के कृष्णभक्तों ने भी पूरा योग दिया।

सब संप्रदायों के कृष्णभक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रजलीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के लिये कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा। महत्त्व की भावना से उत्पन्न श्रद्धा या पूज्य बुद्धि का अवयव छोड़ देने

के कारण कृष्ण के लोकरक्षक और धर्मसंस्थापक स्वरूप को सामने रखने की आवश्यकता उन्होंने न समझी। भगवान् के धर्मस्वरूप को इस प्रकार किनारे रख देने से उसकी ओर आकर्षित होने और आकर्षित करने की प्रवृत्ति का विकास कृष्ण-भक्तों में न हो पाया। फल यह हुआ कि कृष्णभक्त कवि अधिकतर फुटकल शृंगारी पदों की रचना में ही लगे रहे। उनकी रचनाओं में न तो जीवन के अनेक गंभीर पक्षों के मार्मिक रूप स्फुरित हुए, न अनेकरूपता आई। श्रीकृष्ण का इतना चरित ही उन्होंने न लिया जो खंडकाव्य, महाकाव्य आदि के लिये पर्याप्त होता। राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सब ने गाई।

भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत-काल में ही हो चुका था और अवतारों की भावना देश में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी पर वैष्णव धर्म के सांप्रदायिक स्वरूप का संघटन दक्षिण में ही हुआ। वैदिक परंपरा के अनुकरण पर अनेक संहिताएँ, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ इत्यादि तैयार हुए। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के मधुर रूप का विशेष वर्णन होने से भक्ति-क्षेत्र में गोपियों के ढंग के प्रेम का, माधुर्य्य भाव का, रास्ता खुला। इसके प्रचार में दक्षिण के मंदिरों की देवदासी-प्रथा विशेष रूप में सहायक हुई। माता-पिता लड़कियों को मंदिरों में चढ़ा आते थे जहाँ उनका विवाह भी ठाकुरजी के साथ हो जाता था। उनके लिये मंदिर में प्रतिष्ठित भगवान् की उपासना पति-रूप में विधेय थी। इन्हीं देवदासियों में कुछ प्रसिद्ध भक्तिनें भी हो गई हैं।

दक्षिण में अंदाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई हैं जिनका जन्म संवत् ७७३ में हुआ था। अंदाल के पद द्रविड़ भाषा में 'तिरुप्पावइ' नामक पुस्तक में मिलते हैं। अंदाल एक स्थल पर कहती हैं—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और

स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त और किसी को अपना पति नहीं बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी। रहस्यवादी सूफ़ियों का उल्लेख ऊपर हो चुका है जिनकी उपासना भी 'माधुर्य्य भाव' की थी। मुसलमानी ज़माने में इन सूफ़ियों का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। 'माधुर्य्य भाव' को प्रोत्साहन मिला। माधुर्य्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफ़ियों के प्रभाव से 'आभ्यंतर मिलन', 'मूर्च्छा', 'उन्माद' आदि की भी रहस्यमयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूफ़ियों का प्रभाव पाया जाता है।

सूरदासजी—सूरदासजी का वृत्त "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" से केवल इतना ज्ञात होता है कि वे पहले गऊघाट (आगरे और मथुरा के बीच) पर एक साधु या स्वामी के रूप में रहा करते थे और शिष्य किया करते थे। गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी का मन्दिर बन जाने के पीछे एक बार जब वल्लभाचार्य्यजी गऊघाट पर उतरे तब सूरदास उनके दर्शन को आए और उन्हें अपना बनाया एक पद गाकर सुनाया। आचार्य्यजी ने उन्हें अपना शिष्य किया और भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों में करने का आदेश दिया। उनकी सच्ची भक्ति और पद-रचना की निपुणता देख वल्लभाचार्य्य जी ने उन्हें अपने श्रीनाथ जी के मंदिर की कीर्त्तन-सेवा सौंपी। इस मंदिर को पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर संवत् १५७६ में पूरा बनवा कर खड़ा किया था। मंदिर पूरा होने के ११ वर्ष पीछे अर्थात् संवत् १५८७ में वल्लभाचार्य्य जी की मृत्यु हुई।

श्रीनाथ जी के मंदिर-निर्माण के थोड़ा ही पीछे सूरदासजी वल्लभ-संप्रदाय में आए, यह 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के इन शब्दों से स्पष्ट हो जाता है—

"औरहु पद गाए तब श्रीमहाप्रभुजी अपने मन में बिचारे जो श्रीनाथजी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है, पर कीर्त्तन को मंडान नाहीं कियो है; तातें अब सूरदासजी को दीजिए।"

अतः संवत् १५८० के आस-पास सूरदासजी वल्लभाचार्य्य के शिष्य हुए होंगे और शिष्य होने के कुछ ही पीछे उन्हें कीर्त्तन-सेवा मिली होगी। तब से वे बराबर गोवर्द्धन पर्वत पर ही मंदिर की सेवा में रहा करते थे, इसका स्पष्ट आभास उनकी 'सूरसारावली' के भीतर मौजूद है। तुलसीदास के प्रसंग में हम कह आए हैं कि भक्त लोग कभी कभी किसी ढंग से अपने को अपने इष्टदेव की कथा के भीतर डाल कर उनके चरणों तक अपने पहुँचने की भावना करते हैं। तुलसी ने तो अपने को कुछ प्रच्छन्न रूप में पहुँचाया है, पर सूर ने प्रकट रूप में। कृष्ण-जन्म के उपरान्त नन्द के घर बराबर आनंदोत्सव हो रहे हैं। उसी बीच एक ढाढ़ी आकर कहता है—

नंद जू मेरे मन आनंद भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो, मैं सुनि कै अति आतुर उठि धायो॥

× × × ×

जब तुम मदनमोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाउँ।
हौं तौ तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाउँ॥

वल्लभाचार्य्य जी के पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथ के सामने गोवर्द्धन की तलहटी के पारसोली ग्राम में सूरदास की मृत्यु हुई, इसका पता भी उक्त 'वार्ता' से लगता है। गोसाईं बिट्ठलनाथ की मृत्यु सं० १६४२ में हुई। इसके कितने पहले सूरदास का परलोकवास हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

'सूरसागर' समाप्त करने पर सूर ने जो 'सूरसागर-सारावली' लिखी है उसमें अपनी अवस्था ६७ वर्ष की कही है—

गुरु-परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

तात्पर्य यह कि ६७ वर्ष के होने के कुछ पहले वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। सूरसागर समाप्त होने के थोड़ा ही पीछे उन्होंने 'सारावली' लिखी होगी। एक और ग्रंथ सूरदास का 'साहित्य-लहरी' है, जिसमें अलंकारों और नायिका-भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कूट पद हैं। इसका रचनाकाल सूर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

मुनि सुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संबत पेख॥

इसके अनुसार संवत् १६०७ में 'साहित्य-लहरी' समाप्त हुई। यह तो मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रंथ 'सूरसागर' से छुट्टी पाकर ही सूर ने संकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पहले यदि 'सूरसारावली' की रचना हुई हो तो कह सकते हैं कि संवत् १६०५ में सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। अब यदि उनकी आयु ८० या ८२ वर्ष की मानें तो उनका जन्मकाल सं० १५४० के आसपास तथा मृत्युकाल सं० १६२० के आसपास ही अनुमित होता है।

'साहित्य-लहरी' के अंत में एक पद है जिसमें सूर अपनी वंशपरंपरा देते हैं। उस पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के कवि चंदबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। चंदकवि के कुल में हरीचंद हुए जिनके सात पुत्रों में सब से छोटे सूरजदास या सूरदास थे। शेष ६ भाई जब मुसलमानों से युद्ध करते हुए मारे गए तब अंधे सूरदास बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन वे कूएँ में गिर पड़े और ६ दिन उसी में पड़े रहे। सातवें दिन कृष्ण भगवान् उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि देकर अपना दर्शन दिया। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मणकुल-द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं में

निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर माँगा कि जिन आँखों से मैंने आपका दर्शन किया उनसे अब और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। कूएँ से जब भगवान् ने उन्हें बाहर निकाला तब वे ज्यों के त्यों अंधे हो गए और ब्रज में आकर भजन करने लगे। वहाँ गोसाईंजी ने उन्हें 'अष्टछाप' में लिया।

हमारा अनुमान है कि 'साहित्य-लहरी' में यह पद पीछे किसी भाँट के द्वारा जोड़ा गया है। यह पंक्ति ही—

'प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें सत्रु ह्वै है नास'

इसे सूर के बहुत पीछे की रचना बता रही है। 'प्रबल दच्छिन विप्रकुल' से साफ पेशवाओं की ओर संकेत है। इसे खींचकर अध्यात्म-पक्ष की ओर मोड़ने का प्रयत्न व्यर्थ है।

सारांश यह कि हमें सूरदास का जो थोड़ा-सा वृत्त 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' में मिलता है उसी पर सन्तोष करना पड़ता है। यह 'वार्त्ता' भी यद्यपि वल्लभाचार्य्यजी के पौत्र गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर उनकी लिखी नहीं जान पड़ती। इसमें कई जगह गोकुलनाथजी के श्रीमुख से कही हुई बातों का बड़े आदर और सम्मान के शब्दों में उल्लेख है और वल्लभाचार्य्यजी की शिष्या न होने के कारण मीराबाई को बहुत बुरा-भला कहा गया है और गालियाँ तक दी गई हैं। रंगढंग से यह वार्त्ता गोकुलनाथजी के पीछे उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।

'भक्तमाल' में सूरदास के सम्बन्ध में केवल एक यही छप्पय मिलता है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अदभुत तुकधारी॥

प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

इस छप्पय में सूर के अंधे होने भर का संकेत है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है।

जीवन का कोई विशेष प्रामाणिक वृत्त न पाकर इधर कुछ लोगों ने सूर के समय के आसपास के किसी ऐतिहासिक लेख में जहाँ कहीं सूरदास नाम मिला है वहीं का वृत्त प्रसिद्ध सूरदास पर घटाने का प्रयत्न किया है। ऐसे दो उल्लेख लोगों को मिले हैं—

(१) 'आईन अकबरी' में अकबर के दरबार में नौकर गवैयों, बीनकारों आदि कलावंतों की जो फ़िहरिस्त है उसमें बाबा रामदास और उनके बेटे सूरदास दोनों के नाम दर्ज हैं। उसी ग्रंथ में यह भी लिखा है कि सब कलावंतों की सात मंडलियाँ बना दी गई थीं। प्रत्येक मंडली सप्ताह में एक बार दरबार में हाजिर होकर बादशाह का मनोरंजन करती थी। अकबर संवत् १६१३ में गद्दी पर बैठा। हमारे सूरदास संवत् १५८० के आसपास ही वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य हो गए थे और उसके पहले भी विरक्त साधु के रूप में गऊघाट पर रहा करते थे। इस दशा में संवत् १६१३ के बहुत बाद वे दरबारी नौकरी करने कैसे पहुँचे? अतः 'आईन अकबरी' के सूरदास और सूरसागर के सूरदास एक ही व्यक्ति नहीं ठहरते।

(२) 'मुंशियात अब्बुलफ़ज़ल' नामक अब्बुलफ़ज़ल के पत्रों का एक संग्रह है जिसमें बनारस के किसी संत सूरदास के नाम अब्बुलफ़ज़ल का एक पत्र है। बनारस का करोड़ी इन सूरदास के साथ अच्छा बरताव नहीं करता था इससे उसकी शिकायत

लिख कर इन्होंने शाही दरबार में भेजी थी। उसी के उत्तर में अब्बुलफ़ज़ल का पत्र है। बनारस के ये सूरदास बादशाह से इलाहाबाद में मिलने के लिये इस तरह बुलाए गए हैं।

"हज़रत बादशाह इलाहाबाद में तशरीफ़ लाएँगे। उम्मीद है कि आप भी शर्फ़ मुलाज़मत से मुशर्रफ़ होकर मुरीद हक़ीक़ी होंगे और ख़ुदा का शुक्र है कि हज़रत भी आपको हक़-शिनास जानकर दोस्त रखते हैं।" (फ़ारसी का अनुवाद)

इन शब्दों से ऐसी ध्वनि निकलती है कि ये कोई ऐसे संत थे जिनके अकबर के 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की संभावना अब्बुलफ़ज़ल समझता था। संभव है कि ये कबीर के अनुयायी कोई संत हों। अकबर का दो बार इलाहाबाद जाना पाया जाता है। एक तो संवत् १६४० में, फिर संवत् १६६१ में। पहली यात्रा के समय का लिखा हुआ भी यदि इस पत्र को मानें तो भी उस समय हमारे सूर का गोलोकवास हो चुका था। यदि उन्हें तब तक जीवित मानें तो वे १०० वर्ष के ऊपर रहे होंगे। मृत्यु के इतने समीप आकर वे इन सब झमेलों में क्यों पड़ने जायँगे, या उनके 'दीन-इलाही' में दीक्षित होने की आशा कैसे की जायगी?

श्रीवल्लभाचार्य्यजी के पीछे उनके पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथजी गद्दी पर बैठे। उस समय तक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत से सुंदर सुंदर पदों की रचना कर चुके थे। इससे गोसाईं विट्ठलनाथजी ने उनमें से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। 'अष्टछाप' के आठ कवि ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

कृष्णभक्ति-परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोक-

पक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फूला फिरता है। अतः इन कृष्णभक्त कवियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे; तुलसीदासजी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिये जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया, उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषय-वासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिंदी-काव्य को भर दिया।

कृष्णचरित के गान में गीत-काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलंबन व्रज के भक्त-कवियों ने भी किया। आगे चलकर अलंकार-काल के कवियों ने अपनी शृंगारमयी मुक्तक कविता के लिये राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार कृष्ण-संबंधिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र में ही हुआ, प्रबंध-क्षेत्र में नहीं। बहुत पीछे संवत् १८०९ में व्रजबासीदास ने रामचरित-मानस के ढँग पर दोहा चौपाइयों में प्रबंध-काव्य के रूप में कृष्णचरित वर्णन किया,

पर ग्रंथ बहुत साधारण कोटि का हुआ और उसका वैसा प्रसार न हो सका। कारण स्पष्ट है। कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण भगवान् के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये पर्य्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेकरूपता न थी जो एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये आवश्यक है। कृष्णभक्त कवियों की परंपरा अपने इष्टदेव की केवल बाललीला और यौवनलीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये ही उपयुक्त थी। मुक्तक के क्षेत्र में कृष्णभक्त कवियों तथा आलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्य रसों को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया, इसमें कोई संदेह नहीं।

पहले कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य्यजी की आज्ञा से सूरदासजी ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया। इनके सूरसागर में वास्तव में भागवत के दशम स्कंध की कथा ही ली गई है। उसी को इन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कंधों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों में कह दी गई है। सूरसागर में कृष्णजन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यंत विस्तार से फुटकल पदों में गाई गई है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यंत मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के संबंध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं। यह रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होनेवाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं! अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

गीतों की परंपरा तो सभ्य असभ्य सब जातियों में अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। सभ्य जातियों ने लिखित साहित्य के भीतर भी उनका समावेश किया है। लिखित रूप में आकर उनका रूप पंडितों की काव्य-परंपरा की रूढ़ियों के अनुसार बहुत कुछ बदल जाता है। इससे जीवन के कैसे कैसे योग सामान्य जनता का मर्म स्पर्श करते आए हैं और भाषा की किन किन पद्धतियों पर वे अपने गहरे भावों की व्यंजना करते आए हैं, इसका ठीक पता हमें बहुत काल से चले आते हुए मौखिक गीतों से ही लग सकता है। किसी देश की काव्यधारा के मूल प्राकृतिक स्वरूप का परिचय हमें चिरकाल से चले आते हुए इन्हीं गीतों में मिल सकता है। घर घर प्रचलित स्त्रियों के घरेलू गीतों में श्रृंगार और करुण दोनों का बहुत स्वाभाविक विकास हम पाएँगे। इसी प्रकार आल्हा, कड़खा आदि पुरुषों के गीतों में वीरता की व्यंजना की सरल स्वाभाविक पद्धति मिलेगी। देश की अन्तर्वर्त्तिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक ठीक परिचय के लिये ऐसे गीतों का पूर्ण संग्रह बहुत आवश्यक है। पर इस संग्रह-कार्य्य में उन्हीं का हाथ लगाना ठीक है जिन्हें भारतीय संस्कृति के मार्मिक स्वरूप की परख हो और जिनमें पूरी ऐतिहासिक दृष्टि हो।

स्त्रियों के बीच चले आते हुए बहुत पुराने गीतों को ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि उनमें स्वकीया के ही प्रेम की सरल गंभीर व्यंजना है। परकीया-प्रेम के जो गीत हैं वे कृष्ण और गोपिकाओं की प्रेम-लीला को ही लेकर चले हैं, इससे उन पर भक्ति या धर्म का भी कुछ रंग चढ़ा रहता है। इस प्रकार के मौखिक गीत देश के प्रायः सब भागों में गाए जाते थे। मैथिल कवि विद्यापति (संवत् १४६०) की पदावली में हमें उनका साहित्यिक रूप मिलता है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं,

सूर के शृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के तो भाव भी बिल्कुल मिलते हैं; जैसे—

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥

× × × ×

भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा॥
दुहु दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कीट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान॥

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रति क्षण कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझ कर राधा के वियोग में 'राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं। इस प्रकार अपनी सुध में रहती हैं तब भी, नहीं रहती हैं तब भी, दोनों अवस्थाओं में उन्हें विरह का ताप सहना पड़ता है। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीड़े की सी रहती है जिसके दोनों छोरों पर आग लगी हो। अब इसी भाव का सूर का यह पद देखिए—

सुनौ स्याम ! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब हीं मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधौ ह्वै जाति, सकल तनु राधा-विरह दहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनो कैसेहु सुख न लहै॥

(सूरसागर पृ० ५६४ वेंकटेश्वर)

'सूरसागर' में जगह जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। 'सारंग' शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए—

सारंग नयन, बयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग केलि करथि मधु पाने॥

पच्छिमी हिंदी बोलनेवाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा व्रज ही थी। दिल्ली के आस-पास भी गीत व्रजभाषा में ही गाए जाते थे, यह हम ख़ुसरो (संवत् १३४०) के गीतों में दिखा आए हैं। कबीर (सं० १५६०) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी 'साखी' की भाषा तो 'सधुक्कड़ी' है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित व्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनों की रचनाओं के भीतर ज्यों का त्यों मिलता है—

है हरिभजन को परवाँन।
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो तिरे जल पाषान।
अधम भील, अजाति गनिका चढ़े जात बिवाँन।
नवलख तारा चलै मंडल, चलै ससहर भान।
दास धू कौं अटल पदवी राम को दीवान।
निगम जाकी साखि बोलैं कथैं संत सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ, राखि लेहु भगवान॥

(कबीर ग्रंथावली पृ० १९०)

———

है हरि-भजन को परमान।
नीच पावै ऊँच पदवी, बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो जल तरै पाषान।

अजामिल अरु भील गनिका चढ़े जात विमान।
चलत तारे सकल मंडल, चलत ससि अरु भाम।
भक्त ध्रुव को अटल पदवी राम को दीवान।
निगम जाको सुजस गावत, सुनत संत सुजान।
सूर हरि की सरन आयौ, राखि ले भगवान॥
(सूरसागर पृ० १६ वेंकटेश्वर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध गवैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए—

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।
धुनि सुनि मन मोहे, मगन भईं देखत हरि-आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।
बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन-चंद बस किए सुनत ही कानन॥

जिस प्रकार रामचरित गान करनेवाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण-चरित गानेवाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदासजी का। वास्तव में ये हिंदी काव्य-गगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहाँ? हिंदी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति में, एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर, यह दोहा कहा गया है—

उत्तमपद कवि गंग के, कविता को बल बीर।
केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं। दो चार चित्र देखिए—

(१) काहे को आरि करत मेरे मोहन ! यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी॥
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिए छोटी॥

(२) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेनु-तन-मंडित, मुख दधि-लेप किए॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरै पैयाँ॥

(४) पाहुनि करि दै तनक मह्यो।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो॥
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। 'स्पर्द्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?

किति‍क बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के ये वचन देखिए—

खेलत में को काको गोसैयाँ ?

जाति पाँति हम तें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग-पक्ष है। दानलीला, माखनलीला, चीरहरण-लीला, रासलीला आदि न जाने कितनी लीलाओं पर सहस्रों पद भरे पड़े हैं। राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है, यही देखिए—

(क) करि ल्यौ नारी, हरि, आपनि गैयाँ।
नहिँन बसात लाल कछु तुमसों सबै ग्वाल इक ठैयाँ।

(ख) धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जह प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर तें धार चलति पय, मोहनि-मुख अति ही छवि बाढ़ी।

शृंगार के अंतर्गत भावपक्ष और विभावपक्ष दोनों के अत्यंत विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन में ही सैकड़ों पद कहे गए हैं जिनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं; जैसे—

देखि री ! हरि के चंचल नैन ।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिँ पटतर एक सैन ॥
राजिवदल इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति ॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाय ।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय ॥

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं—

मेरे नैना बिरह की बेल बई ।
सींचत नैन-नीर के, सजनी ! मूल पतार गई ॥
बिगसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई ।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई ॥

आँख तो आँख, कृष्ण की मुरली तक में प्रेम के प्रभाव से गोपियों को ऐसी सजीवता दिखाई पड़ती है कि वे अपनी सारी प्रगल्भता उसे कोसने में खर्च कर देती हैं—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुन री सखी ! जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पायँ ठाढ़े करि, अति अधिकार जनावति ।
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर करपल्लव सों पद पलुटावति ।
भृकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कँपावति ॥

कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होनेवाले रास की शोभा का क्या कहना है, जिसे देखने के लिये सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनंद-छटा अपने बंद नेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरहसागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार-पार नहीं मिलता। वियोग की जितने प्रकार

की दशाएँ हो सकती हैं सबका समावेश उसके भीतर है। कभी तो गोपियों को संध्या होने पर यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ बन तें चलि आवते।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते॥

कभी वे अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुबन! तुम कत रहत हरे?
बिरह-वियोग श्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हैा निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे वन में, काहे न उकठि परे?

परंपरा से चले आते हुए चंद्रोपालंभ आदि सब विषयों का विधान सूर के वियोग-वर्णन के भीतर है, कोई बात छूटी नहीं है।

सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना। प्रसंगोद्भावना करनेवाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में नहीं पाते। बाललीला और प्रेमलीला दोनों के अंतर्गत कुछ दूर तक चलनेवाले न जाने कितने छोटे छोटे मनोरंजक वृत्तों की कल्पना सूर ने की है। जीवन के एक क्षेत्र के भीतर कथा-वस्तु की यह रमणीय कल्पना ध्यान देने योग्य है।

राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्णभक्ति की जो काव्यधारा चली उसमें लीलापक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रही है। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियों आदि बाहरी बातों का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है। वियोग-वर्णन में कुछ संचारियों का समावेश मिलता है, पर वे रूढ़ और परंपरागत हैं,

उनमें नूतन उद्भावना बहुत थोड़ी पाई जाती है। भ्रमरगीत के अंतर्गत अलबत सूर ने आभ्यंतर पक्ष का भी विस्तृत उद्‌घाटन किया है। प्रेमदशा के भीतर की न जाने कितनी मनोवृत्तियों की व्यंजना गोपियों के वचनों द्वारा होती है।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश 'भ्रमरगीत' है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ-काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग-कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियां उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं। उद्धव के बहुत बकने पर वे कहती हैं—

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी॥

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्त-शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से—हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्क-पद्धति पर नहीं—किया है। सगुण निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं जिससे संवाद में बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। सूर के समय में निर्गुण संत संप्रदाय की बातें ज़ोर शोर से चल रही थीं। इसी से उपयुक्त स्थल देखकर सूर ने इस प्रसंग का समावेश कर दिया। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोककर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुन कौन देस को बासी ?

मधुकर हँसि समुझाय; सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर योंही बक बक करता है ?

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई संबंध हो सकता है, यह तो बताओ—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत ?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यों तुमको सोउ मोहत ?

अंत में वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुणों में ही अधिक रस जान पड़ता है—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर श्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

(२) नंददास—ये सूरदासजी के प्रायः समकालीन थे और इनकी गणना अष्टछाप में है। इनका कविता-काल सूरदासजी की मृत्यु के पीछे संवत् १६२५ या उसके और आगे तक माना जा सकता है। इनका जीवन-वृत्त पूरा पूरा और ठीक ठीक नहीं मिलता। नाभाजी के भक्तमाल में इन पर जो छप्पय है उसमें जीवन के संबंध में इतना ही है—

चंद्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ में पगे।

इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। इनके गोलोकवास के बहुत दिनों पीछे गोस्वामी बिट्ठलनाथजी के पुत्र गोकुलनाथजी के नाम से जो "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" लिखी गई उसमें इनका थोड़ा सा वृत्त दिया गया है। उक्त वार्त्ता में नंददासजी तुलसीदासजी के भाई कहे गए हैं। गोकुलनाथजी का अभिप्राय प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदासजी से ही है, यह पूरी वार्त्ता पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि नंददासजी का कृष्णोपासक होना राम के अनन्य भक्त उनके भाई तुलसीदासजी को अच्छा नहीं लगा और उन्होंने उलाहना लिखकर भेजा। यह वाक्य भी उसमें आया है—"सो एक दिन नंददासजी के मन में ऐसी आई। जैसे तुलसीदासजी ने रामायण भाषा करी है सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।" गोस्वामीजी का नंददास के साथ वृंदावन जाना और वहाँ "तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेव हाथ" वाली घटना भी उक्त वार्त्ता में ही लिखी है। पर गोस्वामीजी का नंददासजी से कोई संबंध न था, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। अतः उक्त वार्त्ता की बातों को, जो वास्तव में भक्तों का गौरव प्रचलित करने और वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिये पीछे से लिखी गई हैं, प्रमाण-कोटि में नहीं ले सकते।

उसी वार्त्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददासजी सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर के चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ दिनों के लिये गोकुल चले गए। वहाँ भी ये जा पहुँचे। अंत में वहीं पर गोसाईं बिट्ठलनाथजी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होंने

गोसाईं विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। ध्रुवदासजी ने भी अपनी 'भक्तनामावली' में इनकी भक्ति की प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा है।

अष्टछाप में सूरदासजी के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके संबंध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "और कवि गढ़िया, नंद-दास जड़िया"। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' है जो रोला छंदों में लिखी गई है। इसमें, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि-युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है, पर नंददासजी में ये बातें पूर्ण रूप में पाई जाती हैं। "रास-पंचाध्यायी" के अतिरिक्त इन्होंने ये पुस्तकें लिखी हैं—

भागवत दशमस्कंध, रुक्मिणीमंगल, सिद्धांत-पंचाध्यायी, रूपमंजरी, रसमंजरी, मानमंजरी, विरह-मंजरी, नामचिंतामणि-माला, अनेकार्थनाममाला (कोश), दानलीला, मानलीला, अनेकार्थमंजरी, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई, भ्रमरगीत और सुदामा-चरित। दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—हितोपदेश और नासिकेत-पुराण (गद्य में)। दो सौ से ऊपर इनके फुटकल पद भी मिले हैं जो शीघ्र प्रकाशित होंगे। जहाँ तक ज्ञात है, इनकी चार पुस्तकें ही अब तक प्रकाशित हुई हैं—रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थमंजरी और अनेकार्थनाममाला। इनमें रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत ही प्रसिद्ध हैं, अतः उनसे कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

(रास-पंचाध्यायी से)

ताही छिन उडुराज उदित रस-रास-सहायक ।
कुंकुम-मंडित बदन प्रिया जनु नागरि-नायक ॥
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों ।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों ॥
फटिक-छटा सी किरन कुंज-रंध्रन जब आई ।
मानहुँ वितत बितान सुदेस तनाव तनाई ॥
तब लीनो कर कमल योगमाया सी मुरली ।
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली ॥

(भ्रमरगीत से)

कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयो ।
कहन समय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो ॥
सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाउँ ।
कहि सँदेस नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ ॥
सुनौ ब्रजनागरी ।
जौ उनके गुन होय, वेद क्यों नेति बखानै ।
निरगुन सगुन आतमा-रुचि ऊपर सुख सानै ॥
बेद पुराननि खोजि कै पायो कतहुँ न एक ।
गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासहि टेक ॥
सुनौ ब्रजनागरी ।
जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें ?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें ?
वा गुन की परछाहँ री माया-दरपन बीच ।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच ॥
सखा सुनु स्याम के ।

(३) **कृष्णदास**—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप में थे। यद्यपि ये शूद्र थे पर आचार्य्यजी के बड़े

कृपापात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गए थे। "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" में इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है। एक बार गोसाईं विट्ठलनाथजी से किसी बात पर अप्रसन्न होकर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाईं विट्ठलनाथ-जी के कृपापात्र महाराज बीरबल ने इन्हें कैद कर लिया। पीछे गोसाईं जी इस बात से बड़े दुखी हुए और इनको कारागार से मुक्त कराके प्रधान के पद पर फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने भी और सब कृष्णभक्तों के समान राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार-रस के ही पद गाए हैं। जुगलमान-चरित्र नामक इनका एक छोटा सा ग्रंथ मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके बनाए दो ग्रंथ और कहे जाते हैं—भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण। फुटकल पदों के संग्रह इधर उधर मिलते हैं। सूरदास और नंददास के सामने इनकी कविता साधारण कोटि की है। इनके कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

तरनि-तनया-तट आवत है प्रात समय,
कंदुक खेलत देख्यो आनंद को कँदवा॥
नूपुर पद कुनित, पीतांबर कटि बाँधे,
लाल उपरना, सिर मोरन के चँदवा॥

———

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंदसुवन के संगम सुखकर अधिक विराजति गोपी॥
मनहुँ विधाता गिरिधर पिय हित सुरत-धुजा सुख रोपी।
बदन कांति कै सुनु री भामिनि! सघन चंद-श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हें, प्रेमपुंज की चोपी॥

———

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम-घन-बरन लोन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान निछावर, यह तन जग-सिर पटक्यो॥

कहते हैं कि इसी अंतिम पद को गाकर कृष्णदासजी ने शरीर छोड़ा था। इनका कविता-काल संवत् १६०० के आगे पीछे माना जा सकता है।

(४) **परमानंददास**—ये भी वल्लभाचार्य्यजी के शिष्य और अष्टछाप में थे। ये संवत् १६०६ के आसपास वर्त्तमान थे। इनका निवासस्थान कन्नौज था। इसी से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अनुमान किए जाते हैं। ये अत्यंत तन्मयता के साथ बड़ी ही सरस कविता करते थे। कहते हैं कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्य्यजी कई दिनों तक तन बदन की सुध भूले रहे। इनके फुटकल पद कृष्णभक्तों के मुँह से प्रायः सुनने में आते हैं। इनके ८३५ पद 'परमानंद सागर' में हैं। दो पद देखिए—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिँ नंद, जहाँ न जसोदा, नहिँ जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छायँ।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय॥

राधे जू हारावलि टूटी।
उरज कमलदल-माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी॥
वर उर उरज करज बिच अंकित, बाहु जुगल वलयावलि फूटी।
कंचुकि चीर विविध रँग रंजित गिरधर-अधर-माधुरी घूँटी॥
आलस-वलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानंद प्रभु सुरति समय रस मदन-नृपति की सेना लूटी॥

(५) **कुंभनदास**—ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और परमानंददासजी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन, मान, मर्य्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा, जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरि-नाम ॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अब तक मिला है। फुटकल पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला—

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिए कुँवर रसिक मनमोहन लगौं तिहारे पैयाँ ॥
तुमहि जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यह खरिक हमारो, नागर लेहुँ बलैया ॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यो सुँदरैया।
कुंभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि-गोबरधन-रैया ॥

(६) **चतुर्भुजदास**—ये कुंभनदासजी के पुत्र और गोसाइँ बिट्ठलनाथजी के शिष्य थे। ये भी अष्टछाप के कवियों में हैं। इनकी भाषा चलती और सुव्यवस्थित है। इनके बनाए तीन ग्रंथ मिले हैं—द्वादशयश, भक्ति-प्रताप, हितजू को मंगल।

इनके अतिरिक्त फुटकल पदों के संग्रह भी इधर उधर पाए जाते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहि जात ॥

भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जौ बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहात सकुचात॥

(७) **छीतस्वामी**—ये बिट्ठलनाथजी के शिष्य और अष्टछाप के अंतर्गत थे। पहले ये मथुरा के एक सुसंपन्न पंडा थे और राजा बीरबल ऐसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये पहले बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, पीछे गोस्वामी बिट्ठलनाथजी से दीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गए और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। इनकी रचनाओं का समय संवत् १६१२ के इधर मान सकते हैं। इनके फुटकल पद ही लोगों के मुँह से सुने जाते हैं या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यंजना भी अच्छी पाई जाती है। "हे बिधना तो सों अँचरा पसारि माँगौं जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिबो" पद इन्हीं का है। अष्टछाप के और कवियों की सी मधुरता और सरसता इनके पदों में भी पाई जाती है, देखिए—

भोर भए नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी॥
बिनु-गुन माल बिराजति उर पर, नखछत द्वैजचंद अनुहारी।
छीतस्वामि जब चितए मो तन, तब हौं निरखि गई बलिहारी॥

(८) **गोविंदस्वामी**—ये अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे जो विरक्त की भाँति आकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गोस्वामी बिट्ठलनाथजी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर इन्हें अष्टछाप में लिया। ये गोवर्द्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही इन्होंने कदंबों का एक

अच्छा उपवन लगाया था जो अब तक "गोविंद स्वामी की कदंब-खंडी" कहलाता है। इनका रचना-काल संवत् १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैए भी थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये आया करते थे। इनका बनाया एक पद दिया जाता है—

प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर सुत को उबटि न्हवावति।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति॥
छुटे बंद बागे अति सोभित, बिच बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु कि छबि कछु कहति न आवति॥
विविध कुसुम की माला उर धरि श्री कर मुरली बेंत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को, गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति॥

(९) **हितहरिवंश**—राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५९ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव में हुआ था। राधावल्लभी संप्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है, जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता। ओरछा-नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्रीहरिराम व्यासजी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंशजी गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था।

कहते हैं हितहरिवंशजी पहले माध्वानुयायी गोपालभट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिकाजी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया। अतः हित संप्रदाय को माध्व संप्रदाय के अंतर्गत मान सकते हैं। हित-हरिवंशजी के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रों के नाम वनचंद्र, कृष्णचंद्र, गोपीनाथ और मोहनलाल थे। गोसाईंजी ने संवत्

१५८२ में श्रीराधावल्लभजी की मूर्त्ति वृंदावन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा-काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। १७० श्लोकों का "राधासुधानिधि" आप ही का रचा कहा जाता है। ब्रज-भाषा की रचना आपकी यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी। आपके पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि उसमें ८४ पद हैं। प्रेमदास की लिखी इस ग्रंथ की एक बहुत बड़ी टीका (५०० पृष्ठों की) ब्रजभाषा गद्य में है।

इनके द्वारा ब्रजभाषा की काव्यश्री के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँची है। इनके कई शिष्य अच्छे अच्छे कवि हुए हैं। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बड़े चुभते पद कहे हैं। सेवकजी, ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बड़ी सुंदर रचना कर गए हैं। अपनी रचना की मधुरता के कारण हित-हरिवंशजी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। इनका रचना-काल संवत् १६०० से संवत १६४० तक माना जा सकता है। 'हित चौरासी' के अतिरिक्त इनकी फुटकल बानी भी मिलती है जिसमें सिद्धांत-संबंधी पद्य हैं। इनके 'हित चौरासी' पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी है। वृंदावनदास ने इनकी स्तुति और वंदना में "हितजी की सहस्रनामावली" और चतुर्भुजदास ने 'हितजू को मंगल' लिखा है। इसी प्रकार हितपरमानंदजी और ब्रजजीवनदास ने इनकी जन्म-बधाइयाँ लिखी हैं। हित-हरिवंशजी की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं जिनसे इनकी वर्णन-प्रचुरता का परिचय मिलेगा—

(सिद्धांत-संबधी कुछ फुटकल पदों से)

रहौ कोउ काहू मनहि दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छिए॥

जो अवतार-कदंब भजत हैं धरि दृढ़ ब्रत जु हिए।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा बन बिहार रस पिए॥
खोए रतन फिरत जे घर घर, कौन काज इमि जिए ?
हितहरिवंस अनत सचु नाहीं बिन या रसहिं पिए॥

(हित-चौरासी से)

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अँग अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गूथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रुकुटि काम-कोदंड, नैन शर, कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम-मन-समनी॥
हितहरिबंस प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर विश्व-दुरित-दवनी॥

विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि
स्याम स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल, रसमूल पिय नागरी,
कर निकर मत्त मनु विविध गुन रागिनी॥
सरस गति हास परिहास आवेस बस
दलित दल मदन बल कोक रस कामिनी।
हितहरिबंस सुनि लाल लावन्य भिदे
प्रिया अति सूर सुख-सुरत संग्रामिनी॥

(१०) गदाधर भट्ट—ये दक्षिणी ब्राह्मण थे। इनके जन्म-संवत् आदि का ठीक ठीक पता नहीं। पर यह बात

प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। इसका समर्थन भक्तमाल की इन पंक्तियों से भी होता है—

भागवत-सुधा बरखै बदन, काहू को नाहिंन दुखद।
गुण-निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव संवत् १५४२ में और गोलोकवास १५८४ में माना जाता है। अतः संवत १५८४ के भीतर ही आपने श्री महाप्रभु से दीक्षा ली होगी। महाप्रभु के जिन छः विद्वान् शिष्यों ने गौड़ीय संप्रदाय के मूल संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी उनमें जीव गोस्वामी भी थे। वे वृंदावन में रहते थे। एक दिन दो साधुओं ने जीव गोस्वामी के सामने गदाधर भट्टजी का यह पद सुनाया—

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिँ पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनि में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाय चरावन जात सुन्यो, सखि, सो धौं कन्हैया कौन?
कासों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद?
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे तें गुर-स्वाद?

इस पद को सुन जीव गोस्वामी ने भट्टजी के पास यह श्लोक लिख भेजा।

अनाराध्य राधा-पदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृंदाटवीं तत्पदाङ्कम्।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः॥

यह श्लोक पढ़कर भट्टजी मूर्च्छित हो गए। फिर सुध आने पर सीधे वृंदावन में जाकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। इस वृत्तांत को यदि ठीक मानें तो इनकी रचनाओं का आरंभ १५८० से मानना पड़ता है और अंत संवत् १६०० के

पीछे। इस हिसाब से इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदासजी के रचनाकाल के साथ साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।

संस्कृत के चूडांत पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुंदर है। गोस्वामी तुलसीदासजी के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-कविता भी की है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

जयति श्रीराधिके, सकल-सुख-साधिके,
तरुनि-मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतन-लीन-मन, रूप की चातकी,
कृष्ण मुख हिम-किरन की चकोरी॥
कृष्ण-दृग-भृंग विश्राम हित पद्मिनी,
कृष्ण - दृग - मृगज - बंधन सुडोरी।
कृष्ण-अनुराग-मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण - गुन - गान - रससिंधु बोरी॥
विमुख पर चित्त तें चित्त जाको सदा,
करति निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनै,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी॥

———

झूलति नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छवि प्रगट भई तिहि काल॥
सिलसिलात अति प्रिया सीस तें लटकति बेनी भाल।
जनु पिय-मुकुट-बरहि-भ्रम बस तहँ व्याली विकल विहाल॥

मल्लीमाल प्रिया के उर की, पिय तुलसीदल माल।
जनु सुरसरि रवितनया मिलिकै सोभित श्रेनि-मराल॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छवि सोभा बिसद बिसाल।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि-मन परयो सुरस-जंजाल॥

(११) **मीराबाई**—ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर के बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधाजी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा-कुमार भोजराजजी के साथ हुआ था। ये आरंभ ही से कृष्णभक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के उपरांत थोड़े दिनों में इनके पति का परलोकवास हो गया। इनकी भक्ति दिन पर दिन बढ़ती ही गई। ये प्रायः मंदिर में जाकर उपस्थित भक्तों और संतों के बीच श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्त्ति के सामने आनंद-मग्न होकर नाचती और गाती थीं। कहते हैं कि इनके इस राजकुल-विरुद्ध आचरण से इनके स्वजन लोकनिंदा के भय से रुष्ट रहा करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्हें कई बार विष देने तक का प्रयत्न किया गया, पर भगवत्कृपा से विष का कोई प्रभाव इन पर न हुआ। घर-वालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदावन के मंदिरों में घूम घूमकर भजन सुनाया करती थीं। जहाँ जातीं वहाँ इनका देवियों का सा सम्मान होता। ऐसा प्रसिद्ध है कि घरवालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को यह पद लिखकर भेजा था—

स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषन दूषन-हरन गोसाईं।
बारहिं बार प्रनाम करहुँ, अब हरहु सोक-समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु-संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥

मेरे मात-पिता के सम हौ, हरिभक्तन्ह सुखदाई ।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई ।।

इस पर गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका का यह पद लिखकर भेजा—

जाके प्रिय न राम बैदेही ।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।।
× × × ×
नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जौ फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ।।

पर मीराबाई की मृत्यु द्वारका में संवत् १६०३ में हो चुकी थी। अतः यह जनश्रुति किसी की कल्पना के आधार पर ही चल पड़ी।

मीराबाई की उपासना "माधुर्य" भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं। पहले यह कहा जा चुका है कि इस भाव की उपासना में रहस्य का समावेश अनिवार्य्य है। इसी ढंग की उपासना का प्रचार सूफ़ी भी कर रहे थे अतः उनका संस्कार भी इन पर अवश्य कुछ पड़ा। जब लोग इन्हें खुले मैदान मंदिरों में पुरुषों के सामने जाने से मना करते तब ये कहतीं कि 'कृष्ण के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मैं लज्जा करूँ?' मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यासजी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी-मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सबमें प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। इनके बनाए चार ग्रंथ कहे जाते हैं—नरसीजी का मायरा, गीतगोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद।

इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल॥
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल॥

———

मन रे परसि हरि के चरन।
सुभग सीतल कमल-कोमल त्रिविध-ज्वाला-हरन॥
जो चरन प्रह्लाद परसे इंद्र-पदवी-हरन।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों राखि अपनी सरन॥
जिन चरन ब्रह्मांड भेंट्यो नखसिखौ श्री भरन।
जिन चरन प्रभु परस लीन्हें तरी गौतम-घरनि॥
जिन चरन धार्‍यो गोबरधन गरब-मघवा-हरन।
दास मीरा लाल गिरधर अगम तारन तरन॥

(१२) **स्वामी हरिदास**—ये महात्मा वृंदावन में निंबार्क-मतांतर्गत टट्टी-संप्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविता-काल १६०० से १६१७ ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य्य तानसेन इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह साधु के वेश में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिये गया था। कहते हैं कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होंने जान-बूझकर गाने में कुछ भूल कर दी। इस पर स्वामी हरिदासजी ने उसी गान को शुद्ध करके गाया। इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का

सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी चाही पर इन्होंने स्वीकृत न की। इनका जन्म-संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि सहचरिसरनदासजी ने, जो इनकी शिष्यपरंपरा में थे, लिखा है। वृन्दावन से उठकर स्वामी हरिदासजी कुछ दिन निधुवन में रहे थे। इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है, पर भाव उत्कृष्ट हैं। इनके पदों के तीन-चार संग्रह 'हरिदासजी को ग्रंथ', 'स्वामी हरिदासजी के पद', 'हरिदासजी की बानी' आदि नामों से मिलते हैं। एक पद देखिए—

ज्योंही ज्योंही तुम राखत हौ, त्योंही त्योंही रहियत हौं, हे हरि !
और अपरचै पाय धरौ सुतौ कहौ कौन के पैंड भरि ॥
जदपि हौं अपनो भायो कियो चाहौं, कैसे करि सकौं जौ तुम राखौ पकरि।
कहै हरिदास पिंजरा के जनावर लौं तरफराय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि॥

(१३) **सूरदास मदनमोहन**—ये अकबर के समय में सँडीले के अमीन थे। जाति के ब्राह्मण और गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव थे। ये जो कुछ पास में आता प्रायः सब साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। कहते हैं कि एक बार सँडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपए सरकारी खजाने में आए थे। इन्होंने सब का सब साधुओं को खिला पिला दिया और शाही खजाने में कंकड़ पत्थरों से भरे संदूक भेज दिए जिनके भीतर कागज के चिट यह लिखकर रख दिए—

तेरह लाख सँडीले आए, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन आधी रातहि सटके॥

और आधी रात को उठकर कहीं भाग गए। बादशाह ने इनका अपराध क्षमा करके इन्हें फिर बुलाया, पर ये विरक्त होकर

वृंदावन में रहने लगे। इनकी कविता इतनी सरस होती थी कि इनके बनाए बहुत से पद सूरसागर में मिल गए। इनकी कोई पुस्तक प्रसिद्ध नहीं। कुछ फुटकल पद लोगों के पास मिलते हैं। इनका रचना-काल संवत् १५९० और १६०० के बीच अनुमान किया जाता है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

मधु के मतवारे स्याम! खोलौ प्यारे पलकैं।
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं॥
सुर नर मुनि द्वार ठाढ़े, दरस हेतु कलकैं।
नासिका के मोती सोहै बीच लाल ललकैं॥
कटि पीतांबर मुरली कर श्रवन कुंडल झलकै।
सूरदास मदनमोहन दरस दैहौ भल कै॥

———

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया॥
करत विनोद तरनि-तनया-तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया।
यौं लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया॥
उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूर मदनमोहन बलि जोरी नँदनंदन वृषभानु-दुलरिया॥

(१४) **श्रीभट्ट**—ये निंबार्क संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल संवत् १६२५ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। इनकी कविता सीधी-सादी और चलती भाषा में है। पद भी प्रायः छोटे छोटे हैं। इनकी कृति भी अधिक विस्तृत नहीं है पर 'युगल शतक' नाम का इनका १०० पदों का एक ग्रंथ कृष्ण-भक्तों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। 'युगल शतक'

के अतिरिक्त इनकी एक और छोटी सी पुस्तक 'आदि बानी' भी मिलती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब ये तन्मय होकर अपने पद गाने लगते थे तब कभी कभी उसी पद के ध्यानानुरूप इन्हें भगवान् की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी। एक बार वे यह मलार गा रहे थे—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामाजू की सुरँग चूनरी, मोहन को उपरैना॥

कहते हैं कि राधाकृष्ण इसी रूप में इन्हें दिखाई पड़ गए और इन्होंने पद इस प्रकार पूरा किया—

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें घिरि आई जल-सेना॥

इनके 'युगलशतक' से दो पद उद्धृत किए जाते हैं—

ब्रजभूमि मोहनी मैं जानी।
मोहन कुंज, मोहन बृंदाबन, मोहन जमुना-पानी॥
मोहन नारि सकल गोकुल की बोलति अमरित बानी।
श्रीभट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी॥

———

बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद।
गौर-बदनि बृषभानु-नंदिनी, स्यामबरन नँदनंद॥
गोलक रहे लुभाय रूप में निरखत आनदकद।
जय श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥

(१५) **व्यासजी**—इनका पूरा नाम हरीराम व्यास था और ये ओरछा के रहनेवाले सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। ओरछा-नरेश मधुकरसाह के ये राजगुरु थे। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे, पीछे हितहरिवंशजी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। इनका काल संवत् १६२० के आसपास है। पहले ये

संस्कृत के शास्त्रार्थी पंडित थे और सदा शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार रहते थे। एक बार वृंदावन में जाकर गोस्वामी हित-हरिवंशजी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। गोसाईंजी ने नम्र भाव से यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचु पायो।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यों प्रगट पिंगला गायो॥

यह पद सुन व्यासजी चेत गए और हितहरिवंशजी के अनन्य भक्त हो गए। उनकी मृत्यु पर इन्होंने इस प्रकार अपना शोक प्रकट किया—

हुतो रस रसिकन को आधार।
बिन हरिबंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार?
को राधा दुलरावै गावै, बचन सुनावै चार?
वृंदावन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार?
पद-रचना अब कापै ह्वैहै? निरस भयो संसार।
बड़ो अभाग अनन्य सभा को, उठिगो ठाट सिँगार॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत सहज रूप-आगार।
व्यास एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठी थार॥

जब हितहरिवंशजी से दीक्षा लेकर व्यासजी वृंदावन में ही रह गए तब महाराज मधुकरसाह इन्हें ओरछा ले जाने के लिये स्वयं आए, पर ये वृंदावन छोड़कर न गए और अधीर होकर इन्होंने यह पद कहा—

वृंदावन के रूख हमारे मात पिता सुत बंध।
गुरु गोविंद साधुगति मति सुख, फल फूलन की गंध॥
इनहिं पीठि दै अनत डीठि करै सो अंधन में अंध।
व्यास इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै ताको परियो कंध॥

इनकी रचना परिमाण में भी बहुत विस्तृत है और विषय-भेद के विचार से भी अधिकांश कृष्णभक्तों की अपेक्षा व्यापक

है। ये श्रीकृष्ण की बाललीला और शृंगार-लीला में लीन रहने पर भी बीच-बीच में संसार पर भी दृष्टि डाला करते थे। इन्होंने तुलसीदासजी के समान खलों, पाखंडियों आदि का भी स्मरण किया है और रसगान के अतिरिक्त तत्त्व-निरूपण में भी ये प्रवृत्त हुए हैं। प्रेम को इन्होंने शरीर-व्यवहार से अलग 'अतन', अर्थात् शुद्ध मानसिक या आध्यात्मिक वस्तु कहा है। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों पर बहुत से पद और साखियाँ इनकी मिलती हैं। इन्होंने एक 'रास पंचाध्यायी' भी लिखी है जिसे कुछ लोगों ने भूल से सूरसागर में मिला लिया है। इनकी रचना के थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

आज कछु कुंजन में बरषा सी।
बादल-दल में देखि सखी री! चमकति है चपला सी॥
नान्हीं नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी।
मंद मंद गरजनि सी सुनियतु, नाचति मोर-सभा सी॥
इंद्रधनुष बगपंगति डोलति, बोलति कोककला सी।
इंद्रबधू छबि छाइ रही मनु गिरि पर अरुन घटा सी॥
उमगि महीरुह स्यों महि फूली, भूली मृगमाला सी।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी॥

सुघर राधिका प्रवीन बीना, वर रास रच्यो,
स्याम संग बर सुढंग तरनि-तनया तीरे।
आनँदकंद वृंदावन सरद मंद मंद पवन,
कुसुमपुंज तापदवन, धुनित कल कुटीरे॥
रुनित किंकनी सुचारु, नूपुर तिमि बलय हारु,
अंग बर मृदंग ताल तरल रंग भीरे।

गावत अति रंग रह्यो, मोपै नहिं जात कह्यो,
व्यास रसप्रवाह बह्यो निरखि नैन सीरे ॥

(साखी) व्यास न कथनी काम की, करनी है इक सार ।
भक्ति बिना पंडित वृथा ज्यों खर चंदन-भार ॥
अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोर ।
ज्यों त्यों सबको सेइबो एकै नंदकिसोर ॥
प्रेम अतन या जगत में जानै बिरला कोय ।
व्यास सतन क्यों परसिहै पचि हारयो जग रोय ॥
सती, सूरमा संत जन इन समान नहिं और ।
अगम पंथ पै पग धरैं, डिगे न पावैं ठौर ॥

(१६) रसखान—ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में अपने को शाही खानदान का कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान ।
छिनहिं बादसा-बंस की ठसक छाँड़ि रसखान ॥

संभव है पठान बादशाहों की कुल-परंपरा से इनका संबंध रहा हो। ये बड़े भारी कृष्णभक्त और गोस्वामी बिट्ठलनाथजी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" में इनका वृत्तांत आया है। उक्त वार्त्ता के अनुसार ये पहले एक बनिए के लड़के पर आसक्त थे। एक दिन इन्होंने किसी को कहते हुए सुना कि भगवान् से ऐसा प्रेम करना चाहिए जैसा रसखान का उस बनिए के लड़के पर है। इस बात से मर्माहत होकर ये श्रीनाथजी को ढूँढ़ते ढूँढ़ते गोकुल आए और वहाँ गोसाईं बिट्ठलनाथजी से दीक्षा ली। यही आख्यायिका एक दूसरे रूप में भी प्रसिद्ध है। कहते हैं जिस स्त्री पर ये आसक्त थे वह बहुत मानवती थी और इनका

अनादर किया करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फ़ारसी तर्जुमा पढ़ रहे थे। उसमें गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम को पढ़ इन्हें ध्यान हुआ कि उसी से क्यों न मन लगाया जाय जिस पर इतनी गोपियाँ मरती थीं। इसी बात पर ये वृंदावन चले आए। 'प्रेमवाटिका' के इस दोहे का संकेत लोग इसी घटना की ओर बताते हैं—

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी-मान।
प्रेमदेव की छबिहि लखि, भए मियाँ रसखान॥

इन प्रवादों से कम से कम इतना अवश्य सूचित होता है कि आरंभ से ही ये बड़े प्रेमी जीव थे। वही प्रेम अत्यंत गूढ़ भगवद्भक्ति में परिणत हुआ। प्रेम के ऐसे सुंदर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार-संबंधी कवित्त-सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे—जैसे 'कोई रसखान सुनाओ'। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडंबर-मुक्त होती थी। शुद्ध ब्रज-भाषा का जो चलतापन और सफ़ाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका रचना-काल संवत् १६४० के उपरांत ही माना जा सकता है क्योंकि गोसाईं बिट्ठलनाथजी का गोलोकवास १६४३ में हुआ था। प्रेमवाटिका का रचनाकाल सं० १६७१ है। अतः उनके शिष्य होने के उपरांत ही इनकी मधुर वाणी स्फुरित हुई होगी। इनकी कृति परिमाण में तो बहुत अधिक नहीं है पर जो है वह प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करनेवाली है। इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं—प्रेम-वाटिका (दोहे) और सुजान रसखान (कवित्त-सवैया)। और कृष्णभक्तों के समान इन्होंने 'गीतकाव्य' का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैयों में अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है।

ब्रजभूमि के सच्चे प्रेम से परिपूर्ण ये दो सवैये इनके अत्यंत प्रसिद्ध हैं—

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तौ कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिँदि कूल कदंब की डारन॥

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं॥
नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

अनुप्रास की सुंदर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पाई है। बीच बीच में हावों की बड़ी ही सुंदर व्यंजना है। लीला-पक्ष को लेकर इन्होंने बड़ी रंजनकारिणी रचनाएँ की हैं।

भगवान् प्रेम के वशीभूत हैं; जहाँ प्रेम है वहीं प्रिय है, इस बात को रसखान यों कहते हैं—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन-गानन, वेदरिचा सुनी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन।
टेरत हेरत हारि पर्‌यो, रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज-कुटीर में बैठो पलोटत राधिका-पायँन॥

कुछ और नमूने देखिए—

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पीतांबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

(प्रेम-वाटिका से)

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जान कै रहि न जात कछु सेस॥
प्रेमफाँस सों फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम-मरम जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहिं॥

(१७) **ध्रुवदास**—ये श्री हितहरिवंशजी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। इसके अतिरिक्त इनका कुछ जीवनवृत्त नहीं प्राप्त हुआ है। ये अधिकतर वृंदावन ही में रहा करते थे। इनकी रचना बहुत ही विस्तृत है और इन्होंने पदों के अतिरिक्त दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छंदों में भक्ति और प्रेमतत्त्व का वर्णन किया है। छोटे मोटे सब मिलाकर इनके ४० ग्रंथ के लगभग मिले हैं जिनके नाम ये हैं—

वृंदावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेह-मंजरी, रहस्य-मंजरी, सुख-मंजरी, रति-मंजरी, वन-विहार, रंग-विहार, रस-विहार, आनंद-दसा-विनोद, रंग-विनोद, नृत्य-विलास, रंग-हुलास, मान-रस-लीला, रहसलता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन-कुंडलिया, भक्त-नामावली, मन-सिंगार, भजन-सत, प्रीति-चौवनी, रस-मुक्तावली, बामन बृहत्-पुराण की भाषा, सभा-मंडली, रसानंदलीला, सिद्धांत-विचार, रस-हीरावली, हित-सिंगार-लीला, ब्रजलीला, आनंद-लता, अनुराग-लता, जीव-दशा, वैद्यलीला, दानलीला, ब्याहलो।

नाभाजी के भक्तमाल के अनुकरण पर इन्होंने 'भक्तनामावली' लिखी है जिसमें अपने समय तक के भक्तों का उल्लेख किया है। इनकी कई पुस्तकों में संवत् दिए हैं; जैसे—सभामंडली १६८१, वृंदाबन-सत १६८६ और रसमंजरी १६९८। अतः इनका रचना-काल संवत् १६६० से १७०० तक माना जा सकता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

('सिंगार-सत' से)

रूपजल उठत तरंग हैं कटाछन के,
अंग अंग भौंरन की अति गहराई है।
नैनन को प्रतिबिंब पर्‌यो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ, ऐसी उर आई है॥
अरुन कमल मुसुकान मानो फबि रही,
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल-मन,
जीवन जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है॥

('नेहमंजरी' से)

प्रेम बात कछु कहि नहिं जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई॥
प्रेम-बात सुनि बौरो होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई॥
तन मन प्रान तिही छिन हारै। भली बुरी कछुवै न विचारै॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं। हित ध्रुव बात बनैगी तबहीं॥

('भजन-सत' से)

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव बेगि विचारि कै बसि वृंदाबन आय॥
बसि वृंदाबन आय त्यागि लाजहि अभिमानहि।
प्रेमलीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहि॥
सकल सार कौ सार, भजन तू करि रस-रीती।
रे मन सोच विचार, रही थोरी, बहु बीती॥

कृष्णोपासक भक्त कवियों की परंपरा अब यहीं समाप्त की जाती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ऐसे भक्त कवि आगे और नहीं हुए। कृष्णगढ़नरेश महाराज नागरीदासजी, अलबेली अलिजी, चाचा हितवृंदावनदासजी, भगवत रसिक आदि अनेक पहुँचे हुए भक्त बराबर होते गए हैं जिन्होंने बड़ी सुंदर रचनाएँ की हैं। पर पूर्वोक्त काल के भीतर ऐसे भक्त कवियों की जितनी प्रचुरता रही है उतनी आगे चलकर नहीं। वे कुछ अधिक अंतर देकर हुए हैं। ये कृष्णभक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेम-माधुर्य का जो सुधा-स्रोत बहा गए हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्यक्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःख-वाद' की छाया आ आकर भी टिकने न पाएगी। इन भक्तों का हमारे साहित्य पर बड़ा भारी उपकार है।

——

प्रकरण ६

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच भक्ति का काव्य-प्रवाह उमड़ा उनका संक्षिप्त उल्लेख आरंभ में हो चुका है। वह प्रवाह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन आदि पर अवलंबित न था। वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था जिसका प्रवर्तक काल था। न तो उसको पुरस्कार या यश के लोभ ने उत्पन्न किया था और न भय रोक सकता था। उस प्रवाह-काल के बीच अकबर ऐसे योग्य और गुणग्राही शासक का भारत के अधीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित होना एक आकस्मिक बात थी। अतः सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरों के प्रादुर्भाव के कारणों में अकबर द्वारा संस्थापित शांति-सुख को गिनना भारी भूल है। उस शांति-सुख का परिणाम-स्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ वह दूसरे ढँग का था। उसका कोई एक निश्चित स्वरूप न था; सच पूछिए तो वह उन कई प्रकार की रचना-पद्धतियों का पुनरुत्थान था जो पठानों के शासन-काल की अशांति और विप्लव के बीच दब सी गई थीं और धीरे धीरे लुप्त होने जा रही थीं।

पठान शासक भारतीय संस्कृति से अपने कट्टरपन के कारण दूर ही दूर रहे। अकबर की चाहे नीति-कुशलता कहिए, चाहे उदारता; उसने देश की परंपरागत संस्कृति में पूरा योग दिया जिससे कला के क्षेत्र में फिर से उत्साह का संचार हुआ। जो भारतीय कलावंत छोटे-मोटे राजाओं के

यहाँ किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए संगीत को सहारा दिए हुए थे वे अब शाही दरबार में पहुँचकर 'वाह वाह' की ध्वनि के बीच अपना करतब दिखाने लगे। जहाँ बचे हुए हिंदू राजाओं की सभाओं में ही कविजन थोड़ा बहुत उत्साहित या पुरस्कृत किए जाते थे वहाँ अब बादशाह के दरबार में भी उनका सम्मान होने लगा। कवियों के सम्मान के साथ साथ कविता का सम्मान भी यहाँ तक बढ़ा कि अब्दुर्रहीम खानखाना ऐसे उच्चपदस्थ सरदार क्या बादशाह तक ब्रजभाषा की ऐसी कविता करने लगे—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहि।
आहट तें अबला निरख्यौ, चकि चौंकि चली करि आतुर चालहि॥
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सु भई छबि यों ललना अरु लालहि।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिए अहि-बालहि॥

नरहरि और गंग ऐसे सुकवि और तानसेन ऐसे गायक अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

यह अनुकूल परिस्थिति हिंदी-काव्य को अग्रसर करने में अवश्य सहायक हुई। वीर, शृंगार और नीति की कविताओं के आविर्भाव के लिए विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरंभकाल में दिखाया जा चुका है, फुटकल कविताएँ अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त-सवैयों और दोहों में हुआ करती थीं। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य-परंपरा ने भी जोर पकड़ा और अनेक अच्छे आख्यान-काव्य भी इस काल में लिखे गए। खेद है कि नाटकों की रचना की ओर ध्यान नहीं गया। हृदयराम के भाषा हनुमन्नाटक को नाटक नहीं कह सकते। इसी प्रकार सुप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि व्यास-

जी (संवत् १६२० के आसपास) के देव नामक एक शिष्य का रचा "देवमायाप्रपंचनाटक" भी नाटक नहीं, ज्ञानवार्त्ता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अकबर के राजत्वकाल में एक ओर तो साहित्य की चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला; दूसरी ओर भक्त कवियों की दिव्यवाणी का स्रोत उमड़ चला। इन दोनों की सम्मिलित विभूति से अकबर का राजत्वकाल जगमगा उठा और साहित्य के इतिहास में उसका एक विशेष स्थान हुआ। जिस काल में सूर और तुलसी ऐसे भक्ति के अवतार तथा नरहरि, गंग और रहीम ऐसे निपुण और भावुक कवि दिखाई पड़े उसके साहित्यिक गौरव की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

(१) **छीहल**—ये राजपूताने की ओर के थे। संवत् १५७५ में इन्होंने पंच-सहेली नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी-मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इसमें पाँच सखियों की विरह-वेदना का वर्णन है। दोहे इस ढँग के हैं—

देख्या नगर सुहावना अधिक सुचगा थानु।
नाउँ चँदेरी परगटा जनु सुरलोक समान॥
ठाइँ ठाइँ सरवर पेखिय सूभर भरे निवाण।
ठाइँ ठाइँ कुँवा बावरी सोहइ फटिक सवाँण॥
पंद्रह सै पचहत्तरै पूनिम फागुण मास।
पंचसहेली वर्णाई कवि छीहल परगास॥

इनकी लिखी एक 'बावनी' भी है जिसमें ५२ दोहे हैं।

(२) **लालचदास**—ये रायबरेली के एक हलवाई थे। इन्होंने संवत् १५८५ में "हरि-चरित्र" और संवत् १५८७ में "भागवत दशम स्कंध भाषा" नाम की पुस्तक अवधी-मिली भाषा में बनाई। ये दोनों पुस्तकें काव्य की दृष्टि से सामान्य

श्रेणी की हैं और दोहे चौपाइयों में लिखी गई हैं। दशम स्कंध भाषा का उल्लेख हिन्दुस्तानी के फ़रासीसी विद्वान् गार्साँ द तासी ने किया है और लिखा है कि उसका अनुवाद फ़रासीसी भाषा में हुआ है। "भागवत भाषा" इस प्रकार की चौपाइयों में लिखी गई है—

पंद्रह सौ सत्तासी जहिया। समय बिलंबित बरनौं तहिया॥
मास असाढ़ कथा अनुसारी। हरिबासर रजनी उजियारी॥
सकल संत कहँ नावौं माथा। बलि बलि जैहौं जादवनाथा॥
रायबरेली बरनि अवासा। लालच रामनाम कै आसा॥

(३) **कृपाराम**—इनका कुछ वृत्तांत ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १५९८ में रस-रीति पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ दोहों में बनाया। रीति या लक्षण-ग्रंथों में यह बहुत पुराना है। कवि ने कहा है कि और कवियों ने बड़े छंदों के विस्तार में शृंगार-रस का वर्णन किया है पर मैंने 'सुघरता' के विचार से दोहों में वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि इनके पहले और लोगों ने भी रीतिग्रंथ लिखे थे जो अब नहीं मिलते हैं। 'हिततरंगिणी' के कई दोहे बिहारी के दोहों से मिलते जुलते हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यह ग्रंथ बिहारी के पीछे का है क्योंकि ग्रंथ में निर्माण-काल बहुत स्पष्ट रूप से दिया हुआ है।—

सिधि निधि सिव मुख चंद्र लखि माघ सुद्दि तृतियासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥

दो में से एक बात हो सकती है—या तो बिहारी ने उन दोहों को जान बूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिल गए। हिततरंगिणी के दोहे बहुत ही सरस, भावपूर्ण तथा परिमार्जित भाषा में हैं। कुछ नमूने देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे विषपूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहत बिसूरि॥

आजु सबारे हौं गई नंदलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत को मानि।
झमकि झमकि निज महल में टहलैं करै सुरानि॥

(४) **महापात्र नरहरि बंदीजन**—इनका जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु संवत् १६६७ में कही जाती है। महापात्र की उपाधि इन्हें अकबर के दरबार से मिली थी। ये असनी-फतेहपुर के रहनेवाले थे और अकबर के दरबार में इनका बहुत मान था। इन्होंने छप्पय और कवित्त कहे हैं। इनके बनाए दो ग्रंथ परंपरा से प्रसिद्ध हैं—'रुक्मिणी-मंगल' और 'छप्पय-नीति'। एक तीसरा ग्रंथ 'कवित्त-संग्रह' भी खोज में मिला है। इनका वह प्रसिद्ध छप्पय नीचे दिया जाता है जिस पर, कहते हैं कि, अकबर ने गोवध बंद कराया था—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन॥

(५) **नरोत्तमदास**—ये सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहनेवाले थे। शिवसिंह-सरोज में इनका संवत् १६०२ में वर्त्तमान रहना लिखा है। इनकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इनका 'सुदामा-चरित्र' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें घर की दरिद्रता का बहुत ही सुंदर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और

कवि की भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं हैं। कुछ लोगों के अनुसार इन्होंने इसी प्रकार का एक और खंडकाव्य 'ध्रुवचरित्र' भी लिखा है। पर वह कहीं देखने में नहीं आया। 'सुदामा-चरित्र' का यह सवैया बहुत लोगों के मुँह से सुनाई पड़ता है—

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु ! जानै को आहि, बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह को नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

कृष्ण की दीनवत्सलता और करुणा का एक यह और सवैया देखिए—

कैसे बिहाल बिवाइन सों भए, कंटक-जाल गड़े पग जोए।
हाय महादुख पाए सखा ! तुम आए इतै न, कितै दिन खोए ?
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥

(६) आलम—ये अकबर के समय के एक मुसलमान कवि थे जिन्होंने सन् ९९१ हिजरी अर्थात् संवत् १६३९-४० में "माधवानल कामकंदला" नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाई में लिखी। पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) पर एक एक दोहा या सोरठा है। यह शृंगाररस की दृष्टि से ही लिखी जान पड़ती है, आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। इसमें जो कुछ रुचिरता है वह कहानी की है, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना आदि की नहीं। कहानी भी प्राकृत या अपभ्रंश-काल से चली आती हुई कहानी है।

कवि ने रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

दिल्लीपति अकबर सुरताना। सप्तदीप में जाकी आना॥
धरमराज सब देस चलावा। हिंदू तुरुक पंथ सब लावा॥

*　　*　　*　　*

सन नौ सै इक्कानबे आही। करौं कथा औ बोलौं ताही ॥

(७) **महाराज टोडरमल**—ये कुछ दिन शेरशाह के यहाँ ऊँचे पद पर थे, पीछे अकबर के समय में भूमिकर-विभाग के मंत्री हुए। इनका जन्म संवत् १५८० में और मृत्यु संवत् १६४६ में हुई। ये कुछ दिनों तक बंगाल के सूबेदार भी थे। ये जाति के खत्री थे। इन्होंने शाही दफ्तरों में हिंदी के स्थान पर फ़ारसी का प्रचार किया जिससे हिंदुओं का झुकाव फ़ारसी की शिक्षा की ओर हुआ। ये प्रायः नीति-संबंधी पद्य कहते थे। कोई पुस्तक तो नहीं मिलती, फुटकर कवित्त इधर-उधर मिलते हैं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
　　गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
　　सेवा कहा सूम की अरंडन की डार सी ॥
मदपी की सुचि कहाँ, साँच कहाँ लंपट को,
　　नीच को बचन कहा स्यार की पुकार सी।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
　　भावै कहौ सूधी बात, भावै कहौ फारसी ॥

(८) **महाराज बीरबल**—इनकी जन्मभूमि कुछ लोग नारनौल बतलाते हैं और इनका नाम महेशदास। प्रयाग के किले के भीतर जो अशोक-स्तंभ है उस पर यह खुदा है—"संवत् १६३२, शाके १४९३ मार्गबदी ५ सोमार गंगादास-सुत महराज बीरबल श्रीतीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं।" यह लेख महाराज बीरबल के संबंध में ही जान

पड़ता है क्योंकि गंगादास और महेशदास नाम मिलते जुलते हैं जैसे कि पिता पुत्र के हुआ करते हैं। बीरबल का जो उल्लेख भूषण ने किया है उससे इनके निवासस्थान का पता चलता है।

द्विज कनौज कुल कस्यपी रतनाकर-सुत धीर।
बसत त्रिविक्रम पुर सदा तरनि-तनूजा तीर ॥
बीर बीरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप ॥

इनका जन्मस्थान तिकवाँपुर ही ठहरता है; पर कुल का निश्चय नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये अकबर के मंत्रियों में थे और बड़े ही वाक्‌चतुर और प्रत्युत्पन्न-मति थे। इनके और अकबर के बीच होनेवाले विनोद और चुटकुले उत्तर भारत के गाँव गाँव में प्रसिद्ध हैं। महाराज बीरबल ब्रज-भाषा के अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ी उदारता से सम्मान करते थे। कहते हैं, केशवदासजी को इन्होंने एक बार छः लाख रुपए दिए थे और केशवदास की पैरवी से ओरछा-नरेश पर एक करोड़ का जुरमाना मुआफ़ करा दिया था। इनके मरने पर अकबर ने यह सोरठा कहा था—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिँ राख्यो बीरबल ॥

इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती है, पर कई सौ कवित्तों का एक संग्रह भरतपुर में है। इनकी रचना अलंकार आदि काव्यांगों से पूर्ण और सरस होती थी। कविता में ये अपना नाम ब्रह्म रखते थे। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

उछरि उछरि भेकी झपटै उरग पर,
उरग हू केकिन पै लपटैं लहकि हैं।
केकिन के सुरति हिए की ना कछू है, भए
एकी करि केहरि, न बोलत बहकि है ॥

कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरैं,
बैहर बहत बड़े जोर सों जहकि है।
तरनि के तावन तवा सी भई भूमि रही,
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है॥

पूत कपूत, कुलच्छनि नारि, लराक परोसि, लजायन सारो।
बंधु कुबुद्धि, पुरोहित लंपट, चाकर चोर, अतीथ धुतारो॥
साहब सूम, अड़ाक तुरंग, किसान कठोर, दिवान नकारो।
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहौ बाँधि समुद्र में डारो॥

(९) गंग—ये अकबर के दरबारी कवि थे और रहीम खानखाना इन्हें बहुत मानते थे। इनके जन्म-काल तथा कुल आदि का ठीक वृत्त ज्ञात नहीं। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण कहते हैं पर अधिकतर ये ब्रह्मभट्ट ही प्रसिद्ध हैं। ऐसा कहा जाता है कि किसी नवाब या राजा की आज्ञा से ये हाथी से चिरवा डाले गए थे और उसी समय मरने के पहले इन्होंने यह दोहा कहा था—

कबहुँ न भँडुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंब।
सकल सभाहि प्रनाम करि बिदा होत कवि गंग॥

इसके अतिरिक्त कई और कवियों ने भी इस बात का उल्लेख वा संकेत किया है। देव कवि ने कहा है—

"एक भए प्रेत, एक मींजि मारे हाथी"।

ये पद्य भी इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं—

सब देवन को दरबार जुर्यो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो॥
मृतलोक में है नर एक गुनी, कवि गंग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पठायो॥

———

'गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइए।'

इन प्रमाणों से यह घटना ठीक ठहरती है। गंग कवि बहुत निर्भीक होकर बात कहते थे। ये अपने समय के नर-काव्य करनेवाले कवियों में सबसे श्रेष्ठ माने जाते थे। दास-जी ने कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।

कहते हैं कि रहीम खानखाना ने इन्हें एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। वह छप्पय यह है—

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिँ करत कमलबन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिँ बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहैं, न करैं रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिँ क्रोध करि तँग कस्यो॥

सारांश यह कि गंग अपने समय के प्रधान कवि माने जाते थे। इनकी कोई पुस्तक अभी नहीं मिली है। पुराने संग्रह-ग्रंथों में इनके बहुत से कवित्त मिलते हैं। सरस हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी इनमें प्रचुर मात्रा में था। वीर और शृंगाररस के बहुत ही रमणीय कवित्त इन्होंने कहे हैं। कुछ अन्योक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। हास्यरस का पुट भी बड़ी निपुणता से ये अपनी रचना में देते थे। घोर अतिशयोक्ति-पूर्ण वस्तु-व्यंग्य-पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रंजित करनेवाले सब गुण इनमें वर्त्तमान थे, इसमें कोई संदेह नहीं। इनका कविता-काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का मध्य मानना चाहिए। रचना के कुछ नमूने देखिए—

बैठी ती सखिन संग, पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग-आगि भरकी।
गंग कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई विथा जर की॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥

———

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मानो सुषमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लगे
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यौ गिरिपति, गनपति गह्यौ गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की॥

———

देखत कै वृच्छन में दीरघ सुभायमान,
कीर चल्यो चाखिबे को, प्रेम जिय जग्यो है।
लाल फल देखि कै जटान मँड़रान लागे,
देखत बटोही बहुतेरे डगमग्यो है॥
गंग कवि फल फूटे भुआ उधिराने लखि,
सबही निरास ह्वै कै निज गृह भग्यो है।
ऐसो फलहीन वृच्छ बसुधा में भयो, यारो,
सेमर बिसासी बहुतेरन को ठग्यो है॥

(१०) **मनोहर कवि**—ये एक कछवाहे सरदार थे जो अकबर के दरबार में रहा करते थे। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि ये फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और फारसी कविता में अपना उपनाम 'तौसनी' रखते थे। इन्होंने 'शत प्रश्नोत्तरी' नाम की पुस्तक बनाई है तथा नीति और शृंगाररस के बहुत से फुटकल दोहे कहे हैं। इनका कविता-काल संवत् १६२० के आगे माना जा सकता है। इनके शृंगारिक दोहे मार्मिक और मधुर हैं पर उनमें कुछ फारसीपन के छींटे मौजूद हैं। दो चार नमूने देखिए—

> इंदु वदन नरगिस नयन, संबुलवारे बार।
> उर कुंकुम, कोकिल बयन, जेहि लखि लाजत मार॥
> बिथुरे सुथुरे चीकने घने घने घुघुवार।
> रसिकन को जंजीर से बाला तेरे बार॥
> अचरज मोहिं हिंदू तुरुक बादि करत संग्राम।
> इक दीपति सों दीपियत काबा काशीधाम॥

(११) **बलभद्र मिश्र**—ये ओरछा के सनाढ्य ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका जन्म-काल संवत् १६०० के लगभग माना जा सकता है। इनका 'नखशिख' शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन उपमा उत्प्रेक्षा संदेह आदि अलंकारों के प्रचुर विधान द्वारा किया है। ये केशवदासजी के समकालीन या पहले के उन कवियों में थे जिनके चित्त में रीति के अनुसार काव्य-रचना की प्रवृत्ति हो रही थी। कृपाराम ने जिस प्रकार रसरीति का अवलंबन कर नायिकाओं का वर्णन किया उसी प्रकार बलभद्र नायिका के अंगों को एक स्वतंत्र विषय बनाकर चले थे। इनका रचना-

काल संवत् १६४० के पहले माना जा सकता है। रचना इनकी बहुत प्रौढ़ और परिमार्जित है, इससे अनुमान होता है कि नखशिख के अतिरिक्त इन्होंने और पुस्तकें भी लिखी होंगी। संवत् १८९१ में गोपाल कवि ने बलभद्रकृत नखशिख की एक टीका लिखी जिसमें उन्होंने बलभद्रकृत तीन और ग्रंथों का उल्लेख किया है—बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक और गोवर्द्धन-सतसई टीका। पुस्तकों की खोज में इनका 'दूषण-विचार' नाम का एक और ग्रंथ मिला है जिसमें काव्य के दोषों का निरूपण है। नखशिख के दो कवित्त उद्धृत किए जाते हैं।

पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ,
बलभद्र बासर उनींदी लखी बाल मैं।
सोभा के सरोवर में बाड़व की आभा कैधौं,
देवधुनी भारती मिली है पुन्यकाल मैं॥
काम-कैवरत कैधौं नासिका-उडुप बैठो,
खेलत सिकार तरुनी के मुख-ताल मैं।
लोचन सितासित में लोहित लकीर मानो
बाँधे जुग मीन लाल रेसम की डोर मैं॥

मरकत के सूत, कैधौं पन्नग के पूत, अति
राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
मखतूल-गुनग्राम सोभित सरस स्याम,
काम-मृग-कानन, कै कुहू के कुमार हैं॥
कोप की किरन, कै जलज-नाल नील तंतु,
उपमा अनंत चारु चँवर सिँगार हैं।
कारे सटकारे भीजे सोंधे सों सुगंध बास,
ऐसे बलभद्र नवबाला तेरे बार हैं॥

---

(१२) **जमाल**—ये भारतीय काव्य-परंपरा से पूर्ण परिचित कोई सहृदय मुसलमान कवि थे जिनका रचना-काल संवत् १६२७ अनुमान किया गया है। इनके नीति और शृंगार के दोहे राजपूताने की ओर बहुत जनप्रिय हैं। भावों की व्यंजना बहुत ही मार्मिक पर सीधे-सादे ढंग पर की गई है। इनका कोई ग्रंथ तो नहीं मिलता, पर कुछ संगृहीत दोहे मिलते हैं। सहृदयता के अतिरिक्त इनमें शब्दक्रीडा की निपुणता भी थी, इससे इन्होंने कुछ पहेलियाँ भी अपने दोहों में रखी हैं। कुछ नमूने दिए जाते हैं—

पूनम चाँद, कुसूंभ रँग नदी-तीर द्रुम-डाल।
रेत भीत, भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल॥
रंग ज चोल मजीठ का, संत वचन प्रतिपाल।
पाहण-रेख रु करम गत, ए किम मिटैं, जमाल॥

———

जमला ऐसी प्रीत कर जैसी केस कराय।
कै काला, कै ऊजला, जब तब सिर स्यूँ जाय॥
मनसा तो गाहक भए, नैना भए दलाल।
धनी बसत बेचै नहीं किस बिध बनै जमाल॥

———

बालपणे धौला भया, तरुणपणे भया लाल।
वृद्धपणे काला भया, कारण कोण जमाल॥
कामिण जावक-रँग रच्यो, दमकत मुकता-कोर।
इम हंसा मोती तजे, इम चुग लिए चकोर॥

(१३) **केशवदास**—ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ के आसपास हुई। ओरछा-नरेश महाराजा राम-

सिंह के भाई इंद्रजीतसिंह की सभा में ये रहते थे, जहाँ इनका बहुत मान था। इनके घराने में बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थिति में रहकर ये अपने समय के प्रधान साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने गए। इनके आविर्भाव-काल से कुछ पहले ही रस, अलंकार आदि काव्यांगों के निरूपण की ओर कुछ कवियों का ध्यान जा चुका था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदी काव्य-रचना प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रंथों के उपरांत ही लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है। केशवदासजी संस्कृत के पंडित थे अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-चर्चा का प्रचार भाषा में पूर्ण रूप से करने की इच्छा इनके लिये स्वाभाविक थी।

केशवदास के पहले सं० १५९८ में कृपाराम थोड़ा रस-निरूपण कर चुके थे। इसी समय में चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगारसागर' नामक एक ग्रथ शृंगाररस-संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जानेवाले करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे थे पर अब तक किसी कवि ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र में निरूपित काव्यांगों का पूरा परिचय नहीं कराया था। यह काम केशवदासजी ने किया।

ये काव्य में अलंकार का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि थे, जैसा कि इन्होंने स्वयं कहा है—

> जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
> भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता, मित्त॥

अपनी इसी मनोवृत्ति के अनुसार इन्होंने भामह, उद्भट और दंडी आदि प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया जो रस रीति

आदि सब कुछ अलंकार के ही अन्तर्गत लेते थे; साहित्य-शास्त्र को अधिक व्यवस्थित और समुन्नत रूप में लानेवाले मम्मट, आनन्दवर्द्धनाचार्य्य और विश्वनाथ का नहीं। अलंकार के सामान्य और विशेष दो भेद करके इन्होंने उसके अन्तर्गत वर्णन की प्रणाली ही नहीं, वर्णन के विषय भी ले लिए हैं। 'अलंकार' शब्द का प्रयोग इन्होंने व्यापक अर्थ में किया है। वास्तविक अलंकार इनके विशेष अलंकार ही हैं। अलंकारों के लक्षण इन्होंने दंडी के 'काव्यादर्श' से तथा और बहुत सी बातें अमर-रचित 'काव्य-कल्पलता वृत्ति' और केशव मिश्र कृत 'अलंकार-शेखर' से ली हैं।

पर केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिंदी में लक्षण-ग्रंथों की जो परंपरा चली वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के संबंध में तो वह रस की प्रधानता माननेवाले काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण के पक्ष पर रही और अलंकारों के निरूपण में उसने अधिकतर चंद्रालोक और कुवलयानन्द का अनुसरण किया। इसी से केशव के अलंकार-लक्षण हिंदी में प्रचलित अलंकार-लक्षणों से नहीं मिलते। केशव ने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और रस पर 'रसिकप्रिया' लिखी।

इन ग्रंथों में केशव का अपना विवेचन कहीं नहीं दिखाई पड़ता। सारी सामग्री कई संस्कृत-ग्रंथों से ली हुई मिलती है। नामों में अवश्य कहीं कहीं थोड़ा हेरफेर मिलता है जिससे गड़बड़ी के सिवा और कुछ नहीं हुआ है। 'उपमा' के जो २२ भेद केशव ने रखे हैं उनमें से १५ तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं, ५ के केवल नाम भर बदल दिए गए हैं। शेष रहे दो भेद—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनमें विपरीतोपमा को तो उपमा कहना ही व्यर्थ है। इसी प्रकार 'आक्षेप' के जो ९ भेद केशव ने रखे हैं उनमें ४ तो ज्यों के त्यों दंडी के हैं। पाँचवाँ

'मरणाक्षेप' दंडी का 'मूर्च्छाक्षेप' ही है। कविप्रिया का 'प्रेमालंकार' दंडी के (विश्वनाथ के नहीं) 'प्रेयस' का ही नामांतर है। 'उत्तर' अलंकार के चारों भेद वास्तव में पहेलियाँ हैं। कुछ भेदों को दंडी से लेकर भी केशव ने उनका और का और ही अर्थ समझा है।

केशव के रचे सात ग्रंथ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचंद्रिका, वीरसिंहदेवचरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीर-जस-चंद्रिका।

केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है। पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और संबंध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्रांजल और ऊबड़ खाबड़ हो गई है और तात्पर्य्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है। केशव की कविता जो कठिन कही जाती है, उसका प्रधान कारण उनकी यही त्रुटि है—उनकी मौलिक भावनाओं की गंभीरता या जटिलता नहीं। 'रामचंद्रिका' में 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव', 'कादम्बरी' और 'नैषध' की बहुत सी उक्तियों का अनुवाद करके रख दिया गया है। कहीं कहीं अनुवाद अच्छा न होने के कारण उक्ति विकृत हो गई है, जैसे—प्रसन्नराघव के "प्रियतम-पदैरङ्कितान्भूमिभागान्" का अनुवाद "प्यौ-पद-पंकज ऊपर" करके केशव ने उक्ति को एकदम

बिगाड़ डाला है। हाँ, जिन उक्तियों में जटिलता नहीं है—समास-शैली का आश्रय नहीं लिया गया है—उनके अनुवाद में कहीं कहीं बहुत अच्छी सफलता प्राप्त हुई हैं; जैसे, भरत के प्रश्न और कैकेयी के उत्तर में—

मातु, कहाँ नृप तात ? गए सुरलोकहि; क्यों ? सुत-शोक लए।

जो कि हनुमन्नाटक के एक श्लोक का अनुवाद है।

केशव ने दो प्रबंध-काव्य लिखे—एक 'वीरसिंह देव चरित' दूसरा 'रामचंद्रिका'। पहला तो काव्य ही नहीं कहा जा सकता। इसमें वीरसिंहदेव का चरित तो थोड़ा है, दान लोभ आदि के संवाद भरे हैं। 'रामचंद्रिका' अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर यह समझ रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। अतः वे मुक्तक-रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबंध-रचना के नहीं। प्रबंध-पटुता उनमें कुछ भी न थी। प्रबंध-काव्य के लिये तीन बातें अनिवार्य्य हैं—१ संबंध-निर्वाह, २ कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और ३ दृश्यों की स्थानगत विशेषता।

संबंध-निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। उनकी 'रामचंद्रिका' अलग अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है। कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलनेवाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं। दूसरी बात भी केशव में बहुत कम पाई जाती है। रामायण की कथा का केशव के हृदय पर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती। उन्हें एक बड़ा प्रबंधकाव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिये राम की कथा ले ली। उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है।

वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गए हैं या यों ही इतिवृत्त मात्र कह-कर चलता कर दिया है। राम आदि को वन की ओर जाते देख मार्ग में पड़नेवाले लोगों से कुछ कहलाया भी तो यह कि "किधौं मुनिशाप-हत, किधौं ब्रह्मदोष-रत, किधौं कोऊ ठग हौ।" ऐसा अलौकिक सौंदर्य और सौम्य आकृति सामने पाकर सहानुभूतिपूर्ण शुद्ध सात्त्विक भावों का उदय होता है, इसका अनुभव शायद एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखनेवाले नीतिकुशल दरबारियों के बीच रहकर केशव के लिए कठिन था।

दृश्यों की स्थानगत विशेषता (Local colour) केशव की रचनाओं में ढूँढ़ना तो व्यर्थ ही है। पहली बात तो यह कि केशव के लिये प्राकृतिक दृश्यों में कोई आकर्षण नहीं था। वे उनकी देशगत विशेषताओं का निरीक्षण करने क्यों जाते? दूसरी बात यह कि केशव के बहुत पहले से ही इसकी परंपरा एक प्रकार से उठ चुकी थी। कालिदास के दृश्य-वर्णनों में देशगत विशेषताओं का जो रंग पाया जाता है वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रूढ़ हो गए। चारों ओर फैली हुई प्रकृति के नाना रूपों के साथ केशव के हृदय का सामंजस्य कुछ भी न था। अपनी इस मनोवृत्ति का आभास उन्होंने यह कहकर कि—

> "देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल चंद,
> ताते मुख मुखै, सखी, कमलौ न चंद री॥"

साफ दे दिया है। ऐसे व्यक्ति से प्राकृतिक दृश्यों के सच्चे वर्णन की भला क्या आशा की जा सकती है? पंचवटी और प्रवर्षण गिरि ऐसे रमणीय स्थलों में शब्द-साम्य के आधार पर श्लेष के एक भद्दे खेलवाड़ के अतिरिक्त और कुछ न मिलेगा।

केवल शब्द-साम्य के सहारे जो उपमान लाए गए हैं वे किसी रमणीय दृश्य से उत्पन्न सौंदर्य्य की अनुभूति के सर्वथा विरुद्ध या बेमेल हैं—जैसे, प्रलयकाल, पांडव, सुग्रीव, शेषनाग। सादृश्य या साधर्म्य की दृष्टि से दृश्य वर्णन में जो उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि लाई गई हैं वे भी सौंदर्य की भावना में वृद्धि करने के स्थान पर कुतूहल मात्र उत्पन्न करती हैं। जैसे श्वेत कमल के छत्ते पर बैठे हुए भौंरे पर यह उक्ति—

केशव केशवराय मनो कमलासन के सिर ऊपर सोहै।

पर कहीं कहीं रमणीय और उपयुक्त उपमान भी मिलते हैं; जैसे, जनकपुर के सूर्योदय-वर्णन में, जिसमें "कापालिक काल" को छोड़कर और सब उपमान रमणीय हैं।

सारांश यह कि प्रबंधकाव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति। परंपरा से चले आते हुए कुछ नियत विषयों के (जैसे, युद्ध, सेना की तैयारी, उपवन, राज-दरबार के ठाटबाट तथा शृंगार और वीर रस) फुटकल वर्णन ही अलंकारों की भरमार के साथ वे करना जानते थे। इसी से बहुत से वर्णन यों ही, बिना अवसर का विचार किए, वे भरते गए हैं। वे वर्णन वर्णन के लिये करते थे, न कि प्रसंग या अवसर की अपेक्षा से। कहीं कहीं तो उन्होंने उचित-अनुचित की भी परवा नहीं की है, जैसे—भरत की चित्रकूट-यात्रा के प्रसंग में सेना की तैयारी और तड़क-भड़क का वर्णन। अनेक प्रकार के रूखे सूखे उपदेश भी बीच बीच में रखना वे नहीं भूलते थे। दान-महिमा, लोभ-निंदा के लिए तो वे प्रायः जगह निकाल लिया करते थे। उपदेशों का समावेश दो एक जगह तो पात्र का बिना विचार किए अत्यंत अनुचित और भद्दे रूप में किया गया है, जैसे—वन जाते समय राम का अपनी माता कौशल्या को पातिव्रत का उपदेश।

रामचंद्रिका के लंबे चौड़े वर्णनों को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि केशव की दृष्टि जीवन के गभीर और मार्मिक पक्ष पर न थी। उनका मन राजसी ठाटबाट, तैयारी, नगरों की सजावट, चहल-पहल आदि के वर्णन में ही विशेषतः लगता है।

केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिये जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तु-वर्णन के लिये। पददोष, वाक्यदोष आदि तो बिना प्रयास जगह जगह मिल सकते हैं। कहीं कहीं उपमान भी बहुत हीन और बेमेल हैं; जैसे, राम की वियोग-दशा के वर्णन में यह वाक्य—

"वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत।"

रामचंद्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुंदर है (जैसे, लक्ष्मण, राम, परशुराम-संवाद तथा लवकुश के प्रसंग के संवाद) तथा वाक्पटुता और राजनीति के दावँ-पेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है। उनका रावण-अंगद-संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुंदर है। 'रामचंद्रिका' और 'कविप्रिया' दोनों का रचनाकाल कवि ने १६५८ दिया है; केवल मास में अंतर है।

रसिकप्रिया (सं० १६४८) की रचना प्रौढ़ है। उदाहरणों में चतुराई और कल्पना से काम लिया गया है और पद-विन्यास भी अच्छे हैं। इन उदाहरणों में वाग्वैदग्ध्य के साथ साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है। 'विज्ञानगीता' संस्कृत के 'प्रबोध-चंद्रोदय नाटक' के ढंग की पुस्तक है। 'रतन-बावनी' में इंद्रजीत के बड़े भाई रत्नसिंह की वीरता का छप्पयों में अच्छा वर्णन है। यह वीररस का अच्छा काव्य है।

केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय कराकर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला। कहते हैं, वे रसिक जीव थे। एक दिन बुड्ढे होने पर किसी कुएँ पर बैठे थे। वहाँ स्त्रियों ने 'बाबा' कहकर संबोधन किया। इसपर इनके मुँह से यह दोहा निकला—

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिँ।
चंद्रबदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि कहि जाहिँ॥

केशवदास की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जौ हौं कहौं रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तौ हितहानि नाहिँ सहनो।
'भावै सो करहु' तौ उदासभाव, प्राननाथ !
'साथ लै चलहु', कैसे लोकलाज बहनो॥
केशवदास की सौं तुम सुनहु, छबीले लाल,
चलेही बनत जौ पै, नाहीँ आज रहनो।
जैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहिं जैसो कछु कहनो॥

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैंचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ, सुक तौ सोवायो जू।
मंद करौ दीप-दुति चंदमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तौ दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै विडारि देउँ,
भायो तुम्हैँ केशव सो मोहूँ मन भायो जू।
छल के निवास ऐसे वचन-विलास सुनि,
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू॥

कैटभ सो, नरकासुर सो, पल में मधु सो, मुर सो जिन मारयो।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव, पूरन वेद पुरान विचारयो॥
श्री कमला-कुच-कुंकुम-मंडन-पंडित देव अदेव निहारयो।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसारयो॥

(रामचंद्रिका से)

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी-प्राननाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ़्यो मानिक-मयूख पट॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को॥

विधि के समान हैं विमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातैा दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है॥
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय कैधौं सूरज अमल है।
सब बिधि समरथ राजै राजा दसरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय।
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन हीं, जो कुटिलगति सरितन ही में।
श्रीफल कैा अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में॥

कुंतल ललित नील, भ्रुकुटी धनुष, नैन
　　कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
　　मध्यदेश केशरी सु जग गति भाई है।।
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
　　ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है।
रामचंद्र जू की चमू, राजश्री विभीषन की,
　　रावन की मीचु दर कूच चलि आई है।।

———

पढ़ौ विरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर मंडि रे।।
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संगही।
न बोलु चंद मंदबुद्धि, इंद्र की सभा नहीं।।

———

(१४) होलराय—ये ब्रह्मभट्ट अकबर के समय में हरिवंश राय के आश्रित थे और कभी कभी शाही दरबार में भी जाया करते थे। इन्होंने अकबर से कुछ जमीन पाई थी जिसमें होलपुर गाँव बसाया था। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने इन्हें अपना लोटा दिया था जिस पर इन्होंने कहा था—

लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।

गोस्वामीजी ने चट उत्तर दिया—

मोल तोल कछु है नहीं, लेहु राय कवि होल।।

रचना इनकी पुष्ट होती थी, पर जान पड़ता है कि ये केवल राजाओं और रईसों की विरुदावली वर्णन किया करते थे जिसमें जनता के लिये ऐसा कोई विशेष आकर्षण नहीं था कि इनकी

रचना सुरक्षित रहती। अकबर बादशाह की प्रशंसा में इन्होंने यह कवित्त लिखा है—

दिल्ली तें न तख्त ह्वै है, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग तें न गुनी, तानसेन तें न तानबाज,
मान तें न राजा औ न दाता बीरबर तें॥
खान खानखाना तें न, नर नरहरि तें न,
ह्वै है ना दिवान कोऊ बेडर टुडर तें।
नवौ खंड सात दीप, सात हू समुद्र पार,
ह्वै है ना जलालुदीन साह अकबर तें॥

(१५) रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना)—ये अकबर बादशाह के अभिभावक प्रसिद्ध मोगल सरदार बैरमखाँ खानखाना के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ। ये संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के पूर्ण विद्वान् और हिंदी काव्य के पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे। ये दानी और परोपकारी ऐसे थे कि अपने समय के कर्ण माने जाते थे। इनकी दानशीलता हृदय की सच्ची प्रेरणा के रूप में थी, कीर्त्ति की कामना से उसका कोई संपर्क न था। इनकी सभा विद्वानों और कवियों से सदा भरी रहती थी। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। अकबर के समय में ये प्रधान सेना-नायक और मंत्री थे और अनेक बड़े बड़े युद्धों में भेजे गए थे।

ये जहाँगीर के समय तक वर्तमान रहे। लड़ाई में धोखा देने के अपराध में एक बार जहाँगीर के समय में इनकी सारी जागीर ज़ब्त हो गई और ये क़ैद कर लिए गए। क़ैद से छूटने पर इनकी आर्थिक अवस्था कुछ दिनों तक बड़ी हीन रही। पर जिस मनुष्य ने करोड़ों रुपए दान कर दिए, जिसके यहाँ से कोई विमुख न लौटा उसका पीछा याचकों से कैसे छूट सकता

था ? अपनी दरिद्रता का दुःख वास्तव में इन्हें उसी समय होता था जिस समय इनके पास कोई याचक जा पहुँचता और ये उसकी यथेष्ट सहायता नहीं कर सकते थे। अपनी अवस्था के अनुभव की व्यंजना इन्होंने इस दोहे में की है—

तबही लौं जीबो भलो दैबो होय न धीम।
जग में रहिबो कुँचित गति उचित न होय रहीम॥

संपत्ति के समय में जो लोग सदा घेरे रहते हैं विपद आने पर उनमें से अधिकांश किनारा खींचते हैं, इस बात का द्योतक यह दोहा है—

ये रहीम दर दर फिरैं, माँगि मधुकरी खाहिँ।
यारो यारी छाँड़िए, अब रहीम वे नाहिँ॥

कहते हैं कि इसी दीन दशा में इन्हें एक याचक ने आ घेरा। इन्होंने यह दोहा लिखकर उसे रीवाँ-नरेश के पास भेजा—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध-नरेस।
जापर बिपदा परति है सो आवत यहि देस॥

रीवाँ-नरेश ने उस याचक को एक लाख रुपए दिए।

गो० तुलसीदासजी से भी इनका बड़ा स्नेह था। ऐसी जन-श्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिये धन न होने से घबराया हुआ गोस्वामीजी के पास आया। गोस्वामीजी ने उसे रहीम के पास भेजा और दोहे की एक यह पंक्ति लिखकर दे दी—

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत सा द्रव्य देकर बिदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी करके दे दी—

गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम ने बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की थीं और मोगल-साम्राज्य के लिये न जाने कितने प्रदेश जीते थे। इन्हें जागीर में बहुत

बड़े बड़े सूबे और गढ़ मिले थे। संसार का इन्हें बड़ा गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की भावुकता इनमें अद्वितीय थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की है उसी की व्यंजना अपने दोहों में की है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिंदी-भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। रहीम के दोहे वृंद और गिरधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय, द्रवीभूत होने के लिये, कल्पना की उड़ान की अपेक्षा नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही अपने द्रवीभूत होने के लिये पर्य्याप्त स्वरूप पा जाता था। 'बरवै नायिका-भेद' में भी जो मनोहर और रस छलकाते हुए चित्र हैं वे भी सच्चे हैं—कल्पना के झूठे खेल नहीं हैं। उनमें भारतीय प्रेम-जीवन की सच्ची झलक है।

भाषा पर तुलसी का सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं। ये ब्रज और अवधी—पच्छिमी और पूरबी—दोनों काव्य-भाषाओं में समान कुशल थे। 'बरवै नायिका-भेद' बड़ी सुंदर अवधी भाषा में है। इनकी उक्तियाँ ऐसी लुभावनी हुईं कि बिहारी आदि परवर्त्ती कवि भी बहुतों का अपहरण करने का लोभ न रोक सके। यद्यपि रहीम सर्वसाधारण में अपने दोहों के लिये ही प्रसिद्ध हैं पर इन्होंने बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद—सब में थोड़ी-बहुत रचना की है।

रहीम का देहावसान संवत् १६८३ में हुआ। अब तक इनके निम्नलिखित ग्रंथ ही सुने जाते थे—रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक, रास-पंचाध्यायी। पर भरतपुर के श्रीयुत पंडित मयाशंकरजी याज्ञिक ने इनकी और भी रचनाओं का पता लगाया है—जैसे नगर-शोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त सवैये—और रहीम का एक पूरा संग्रह 'रहीम-रत्नावली' के नाम से निकाला है।

कहा जा चुका है कि ये कई भाषाओं और विद्याओं में पारंगत थे। इन्होंने फ़ारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाक़यात बाबरी' का तुर्की से फ़ारसी में अनुवाद किया था। कुछ मिश्रित रचना भी इन्होंने की है, जैसे—'रहीम-काव्य' हिंदी-संस्कृत की खिचड़ी है और 'खेट कौतुकम्' नामक ज्योतिष का ग्रंथ संस्कृत और फ़ारसी की खिचड़ी है। कुछ संस्कृत श्लोकों की रचना भी ये कर गए हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

(सतसई या दोहावली से)

दुरदिन परे रहीम कह, भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं वित-हानि को, जो न होय हित-हानि॥
कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, विपति सबै लै जाय॥
ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥
सर सूखे पंछी उड़ैं, औरै सरन समाहिँ।
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहँ जाहिँ॥
माँगत मुकरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ?
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ॥

रहिमन वे नर मरि चुके, जे कहुँ माँगन जाहिँ ।
उनतें पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत "नाहिँ" ॥
रहिमन रहिला की भली, जौ परसै चित लाय ।
परसत मन मैलो करै, सो मैदा जरि जाय ॥

(बरवै नायिका-भेद से)

भोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप ।
घरी एक भरि, अलिया ! रहु चुपचाप ॥
बाहर लैकै दियवा बारन जाइ ।
सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ ॥
पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन ।
बिहँसत चतुर तिरियवा बैठक दीन ॥
लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ ॥
पीतम इक सुमरिनियाँ मोहिँ देइ जाहु ।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु ॥

(मदनाष्टक से)

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था ।
चपल-चखन-वाला चाँदनी में खड़ा था ॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला ।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला ॥

(नगर-शोभा से)

उत्तम जाति है बाम्हनी, देखत चित्त लुभाय ।
परम पाप पल में हरत, परसत वाके पाय ॥

रूपरंग रतिराज में, छतरानी इतरान।
मानौ रची बिरंचि पचि, कुसुम-कनक में सान ॥
बनियाइनि बनि आइकै, बैठि रूप की हाट।
पेम पेक तन हेरि कै, गरुवै टारति बाट ॥
गरब तराजू करति चख, भौंह मोरि मुसकाति।
डाँड़ी मारति बिरह की, चित चिंता घटि जाति ॥

(फुटकल कवित्त आदि से)

बड़न सों जान पहचान कै रहीम कहा,
जौ पै करतार ही न सुख देनहार है।
सीतहर सूरज सों नेह कियो याही हेत,
ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है ॥
छीरनिधि माहिँ धँस्यो, संकर के सीस बस्यो,
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै।
बड़ो रिझवार या चकोर-दरबार है, पै
कलानिधि-यार तऊ चाखत अँगार है ॥

जाति हुती सखि गोहन में मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नँदलाल को रीझिबो जानो ॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैत दमानक में फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो ॥

कमलदल नैनन की उनमानि।
बिसरति नाहिं, सखी ! मो मन तें मंद मंद मुसकानि।
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधापगी बतरानि ॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुतमाल थहरानि।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहर फहर फहरानि ॥

अनुदिन श्रीवृंदाबन ब्रज तें आवन आवन जानि।
अब रहीम चित तें न टरति है सकल स्याम की बानि॥

(१६) **कादिर**—क़ादिरबख़्श पिहानी ज़िला हरदोई के रहनेवाले और सैयद इब्राहीम के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६३५ में माना जाता है अतः इनका कविता-काल सं० १६६० के आसपास समझा जा सकता है। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती पर फुटकल कवित्त पाए जाते हैं। कविता ये चलती भाषा में अच्छी करते थे। इनका यह कवित्त लोगों के मुँह से बहुत सुनने में आता है—

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान-ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरानो है॥
कादिर कहत यासों कछु कहिबे की नाहिँ,
जगत की रीति देखि चुप मन मानो है;
खोलि देखौ हियो सब ओरन सों भाँति भाँति,
गुन ना हिरानो, गुनगाहक हिरानो है॥

(१७) **मुबारक**—सैयद मुबारक अली बिलग्रामी का जन्म सं० १६४० में हुआ था, अतः इनका कविता-काल सं० १६७० के पीछे मानना चाहिए।

ये संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के अच्छे पंडित और हिंदी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है ये केवल शृंगार की ही कविता करते थे। इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक एक अंग पर सौ सौ दोहे बनाए थे। इनका प्राप्त ग्रंथ "अलक-शतक और "तिल-शतक" उन्हीं के अंतर्गत है।

इन दोहों के अतिरिक्त इनके बहुत से कवित्त सवैये संग्रह-ग्रंथों में पाए जाते और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। इनकी उत्प्रेक्षा बहुत बढ़ी चढ़ी होती थी और वर्णन के उत्कर्ष के लिये कभी कभी ये बहुत दूर तक बढ़ जाते थे। कुछ नमूने देखिए—

(अलक-शतक और तिल-शतक से)

परी मुबारक तिय-बदन अलक ओप अति होय।
मनो चंद की गोद में रही निसा सी सोय॥
चिबुक-कूप में मन परयो छबिजल-तृषा विचारि।
कढ़ति मुबारक ताहि तिय अलक-डोरि सी डारि॥
चिबुक-कूप, रसरी-अलक, तिल सु चरस, दृग बैल।
बारी बैस सिँगार की, सींचत मनमथ-छैल॥

———

(फुटकल से)

कनक-बरन बाल, नगन-लसत भाल,
मोतिन के माल उर सोहैं भली भाँति है।
चंदन चढ़ाय चारु चंदमुखी मोहनी सी,
प्रात ही अन्हाय पग धारे मुसुकाति है॥
चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारकजू,
ढाँकि नखसिख तें निपट सकुचाति है।
चंद्रमै लपेटि कै, समेटि कै नखत मानो,
दिन को प्रनाम किए राति चली जाति है॥

(१८) **बनारसीदास**—ये जौनपुर के रहनेवाले एक जैन जौहरी थे जो आमेर में भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम खड़गसेन था। ये संवत् १६४३ में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संवत् १६९८ तक का अपना जीवनवृत्त अर्द्धकथानक नामक ग्रंथ में दिया है। पुराने हिंदी-साहित्य में यही एक आत्म-चरित मिलता है, इससे इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इस ग्रंथ

से पता चलता है कि युवावस्था में इनका आचरण अच्छा न था और इन्हें कुष्ठ रोग भी हो गया था। पर पीछे ये सँभल गए। ये पहले शृंगाररस की कविता किया करते थे पर पीछे ज्ञान हो जाने पर इन्होंने वे सब कविताएँ गोमती नदी में फेंक दीं और ज्ञानोपदेशपूर्ण कविताएँ करने लगे। कुछ उपदेश इनके ब्रजभाषा-गद्य में भी हैं। इन्होंने जैनधर्म-संबंधी अनेक पुस्तकों के सारांश हिंदी में कहे हैं। अब तक इनकी बनाई इतनी पुस्तकों का पता चला है—

बनारसी-विलास (फुटकल कवित्तों का संग्रह), नाटक-समयसार (कुंदकुंदाचार्य-कृत ग्रंथ का सार), नाममाला (कोश), अर्द्धकथानक, बनारसी पद्धति, मोक्षपदी, ध्रुववंदना, कल्याण-मंदिर भाषा, वेदनिर्णय-पंचाशिका, मारगन विद्या।

इनकी रचनाशैली पुष्ट है और इनकी कविता दादूपंथी सुंदरदासजी की कविता से मिलती जुलती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

भोंदू! ते हिरदय की आँखैं।
जे सरबैं अपनी सुख-संपति भ्रम की सपति भाखैं॥
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारैं।
जिन आँखिन सों लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारैं॥

———

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
लिए हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्यौंही पायँ गाड़ै पै न छाँड़ै टेक पकरी॥
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावैं,
धावैं चहुँ ओर ज्यौं बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी॥

(१९) **सेनापति**—ये अनूपशहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर, पितामह का परशुराम और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इनका जन्मकाल संवत् १६४६ के आस-पास माना जाता है। ये बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतुवर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतुवर्णन में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। पदविन्यास भी इनका ललित है। कहीं कहीं विरामों पर अनुप्रास का निर्वाह और यमक का चमत्कार भी अच्छा है। सारांश यह कि अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे। अपना परिचय इन्होंने इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम,
जिन कीन्हें जज्ञ, जाकी विपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है॥
महा जानमनि, विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई, सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है॥

इनकी गर्वोक्तियाँ खटकती नहीं, उचित जान पड़ती हैं। अपने जीवन के पिछले काल में ये संसार से कुछ विरक्त हो चले थे। जान पड़ता है कि मुसलमानी दरबारों में भी इनका अच्छा मान रहा, क्योंकि अपनी विरक्ति की झोंक में इन्होंने कहा है—

केतो करौ कोइ, पैए करम लिखोइ, तातें
दूसरी न होइ, उर सोइ ठहराइए।
आधी तें सरस बीति गई है बरस, अब
दुर्जन-दरस बीच रस न बढ़ाइए॥

चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए।
चारि-बर-दानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए॥

शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि पीछे इन्होंने क्षेत्र-संन्यास ले लिया था। इनके भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त 'कवित्त-रत्नाकर' में मिलते हैं। जैसे—

महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि में,
दिन दुख-दंदनि में जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है, कलेस सब भाँतिन को,
सेनापति याही तें कहत अकुलाय कै॥
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोकलाज के समाज बिसराय कै।
हरिजन-पुंजनि में, बृंदावन-कुंजनि में,
रहौं बैठि कहूँ तरवर-तर जाय कै॥

यद्यपि इस कवित्त में वृंदावन का नाम आया है पर इनके उपास्य राम ही जान पड़ते हैं; क्योंकि स्थान स्थान पर इन्होंने 'सियापति', 'सीतापति', 'राम' आदि नामों का ही स्मरण किया है। कवित्तरत्नाकर इनका सबसे पिछला ग्रंथ जान पड़ता है क्योंकि उसकी रचना संवत् १७०६ में हुई है, यथा—

संवत् सत्रह सै छ में सेइ सियापति पाय।
सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय॥

इनका एक ग्रंथ 'काव्य-कल्पद्रुम' भी प्रसिद्ध है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार

लाने की पूरी निपुणता भी। श्लेष का ऐसा साफ़ उदाहरण शायद ही और कहीं मिले—

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब दैन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार है।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सुभ जनमन भावै निरधार है॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दानपाठ परवार है।
सेनापति बचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हें इकसार है॥

भाषा पर ऐसा अच्छा अधिकार कम कवियों का देखा जाता है। इनकी भाषा में बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत पदावली पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इनके ऋतुवर्णन के अनेक कवित्त बहुत से लोगों को कंठ हैं। रामचरित-संबंधी कवित्त भी बहुत ही ओजपूर्ण हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

बानि सों सहित सुबरन मुँह रहै जहाँ,
धरत बहुत भाँति अरथ-समाज को।
संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को॥
सुनौ महाजन! चोरी होति चार चरन की,
तातें सेनापति कहै तजि उर लाज को।
लीजियो बचाय ज्यों चुरावै नाहिं कोउ, सौंपी
बित्त की सी थाती मैं कवित्तन के ब्याज को॥

बृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत
धमका विषम जो न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानों काजर के ढोय कै॥
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि,
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै॥

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की, हिये में आनि खरकी,
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

बालि को सपूत कपिकुल-पुरहूत,
रघुवीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्धमद गाढ़ो पाँव रोपि भयो ठाढ़ो, सेना-
पति बल बाढ़ो रामचंद्र भुवपाल को॥
कच्छप कहलि रह्यो, कुंडली टहलि रह्यो,
दिग्गज दहलि त्रास परो चकचाल को।
पाँव के धरत अति भार के परत भयो—
एक ही परत मिलि सपत-पताल को॥

रावन को वीर, सेनापति, रघुबीर जू की
आयो है सरन, छाँड़ि ताहि मद-अंध को।
मिलत ही ताको राम कोप कै करी है ओप
नाम जोय दुर्जनदलन दीनबंध को॥
देखौ दानवीरता-निदान एक दान ही में,
दीन्हे दोऊ दान, को बखानै सत्यसंध को।
लंका दसकंधर की दीनी है विभीषन को,
संका विभीषन की सो दीनी दसकंध को॥

सेनापतिजी के भक्तिप्रेरित उद्‌गार भी बहुत अनूठे और चमत्कारपूर्ण हैं। "आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौ तौ हौं ही करतार, करतार तुम काहे के?" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्हीं का है।

(२०) **पुहकर कवि**—ये परतापपुर (जिला मैनपुरी) के रहनेवाले थे पर पीछे गुजरात में सोमनाथजी के पास भूमिगाँव में रहते थे। ये जाति के कायस्थ थे और जहाँगीर के समय में वर्तमान थे। कहते हैं कि जहाँगीर ने किसी बात पर इन्हें आगरे में क़ैद कर लिया था। वहीं कारागार में इन्होंने

'रसरतन' नामक ग्रंथ संवत् १६७३ में लिखा जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने इन्हें कारागार से मुक्त कर दिया। इस ग्रंथ में रंभावती और सूरसेन की प्रेम-कथा कई छंदों में, जिनमें मुख्य दोहा और चौपाई हैं, प्रबंध-काव्य की साहित्यिक पद्धति पर लिखी गई है। कल्पित कथा लेकर प्रबंध-काव्य रचने की प्रथा पुराने हिंदी-कवियों में बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, पर उनकी परिपाटी बिल्कुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से 'रसरतन' को हिंदी-साहित्य में एक विशेष स्थान देना चाहिए।

इसमें संयोग और वियोग की विविध दशाओं का साहित्य की रीति पर वर्णन है। वर्णन उसी ढँग के हैं जिस ढँग के श्रृंगार के मुक्तक-कवियों ने किए हैं। पूर्वराग, सखी, मंडन, नखशिख, ऋतु-वर्णन आदि श्रृंगार की सब सामग्री एकत्र की गई है। कविता सरस और भाषा प्रौढ़ है। इस कवि के और ग्रंथ नहीं मिले हैं पर प्राप्त ग्रंथ को देखने से ये एक अच्छे कवि जान पड़ते हैं। इनकी रचना की शैली दिखाने के लिये ये उद्धृत पद्य पर्याप्त होंगे—

चले मैमता हस्ति झूमंत मत्ता। मनौ बद्दला स्याम साथै चलंता॥
बनी बागरी रूप राजंत दंता। मनौ बग्ग आषाढ़ पाँतैं उदंता॥
लसैं पीत लालैं, सुढालैं ढलक्कैं। मनो चंचला चौंधि छाया छलक्कैं॥

चंद की उजारी प्यारी नैनन तिहारे, परे
चंद की कला में दुति दूनी दरसाति है।
ललित लतानि में लता सी गहि सुकुमारि
मालती सी फूलै जब मृदु मुसकाति है॥
पुहकर कहै जित देखिए विराजै तित
परम विचित्र चारु चित्र मिलि जाति है।

आवै मन माहि तब रहै मन ही में गड़ि,
नैननि बिलोके बाल नैननि समाति है ॥

(२१) **सुंदर**—ये ग्वालियर के ब्राह्मण थे और शाहजहाँ के दरबार में कविता सुनाया करते थे। इन्हें बादशाह ने पहले कविराय की और फिर महा-कविराय की पदवी दी थी। इन्होंने संवत् १६८८ में "सुंदर-शृंगार" नामक नायिकाभेद का एक ग्रंथ लिखा। कवि ने रचना की तिथि इस प्रकार दी है—

संवत सोरह सै बरप बीते अठतर सीति।
कातिक सुदि सतमी गुरौ रचे ग्रंथ करि प्रीति ॥

इसके अतिरिक्त 'सिंहासन-बत्तीसी' और 'बारहमासा' नाम की इनकी दो पुस्तकें और कही जाती हैं। यमक और अनुप्रास की ओर इनकी कुछ विशेष प्रवृत्ति जान पड़ती है। इनकी रचना शब्द-चमत्कार-पूर्ण है। एक उदाहरण दिया जाता है—

काके गए बसन ? पलटि आए बसन, सु
मेरो कछु बस न रसन उर लागे हौ।
भौहैं तिरछौहैं कवि सुंदर सुजान सोहैं,
कछू अलसौहैं गौहैं जाके रस पागे हौ ॥
परसौं मैं पाय हुते परसौं मैं पाय गहि,
परसौ वे पाय निसि जाके अनुरागे हौ।
कौन बनिता के हौ जू कौन बनिता के हौ सु,
कौन बनिता के बनि, ताके संग जागे हौ ?

(२२) **लालचंद या लक्षोदय**—ये मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह (सं० १६८९—१७०९) की माता जांबवतीजी के प्रधान श्रावक हंसराज के भाई डूँगरसी के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७०० में 'पद्मिनी-चरित्र' नामक एक प्रबन्ध-काव्य की रचना की जिसमें राजा रत्नसेन और पद्मिनी की कथा का राजस्थानी

मिली भाषा में वर्णन है। जायसी ने कथा का जो रूप रखा है उससे इसकी कथा में बहुत जगह भेद है—जैसे, जायसी ने हीरामन तोते के द्वारा पद्मिनी का वर्णन सुनकर रत्नसेन का मोहित होना लिखा है, पर इसमें भाँटों द्वारा। एकबारगी घर से निकल पड़ने का कारण इसमें यह बताया गया है कि पटरानी प्रभावती ने राजा के सामने जो भोजन रखा वह उसे पसंद न आया। इस पर रानी ने चिढ़कर कहा कि यदि मेरा भोजन अच्छा नहीं लगता तो कोई पद्मिनी ब्याह लाओ—

> तब तड़की बोली तिसे जी, राखी मन धरि रोस।
> नारी आणों काँ न बीजी थ्रो मत झूठो दोस।
> हम्मे कलेबो जीणा नहीं जो, किसूँ करीजै बाद।
> पदमिणि का परणो न बीजी, जिमि भोजन होय स्वाद॥

इस पर रत्नसेन यह कहकर उठ खड़ा हुआ—

> राणो तो हूँ रतनसी परणूँ पदमनि नारि।

राजा समुद्र-तट पर जा पहुँचा जहाँ से औघड़नाथ सिद्ध ने अपने योगबल से उसे सिंहलद्वीप पहुँचा दिया। वहाँ राजा की बहिन पद्मिनी के स्वयंवर की मुनादी हो रही थी—

> सिंहलदीप नो राजियो रे सिंहल सिंह समान रे।
> तसु बहण छै पदमिणि रे, रूपे रंभ समान रे।
> जोबन लहर्याँ जायछै रे, ते परणूँ भरतार रे।
> परतज्ञा जे पूरवै रे तासु बरै बरमाल रे।

राजा अपना पराक्रम दिखाकर पद्मिनी को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार जायसी के वृत्त से और भी कई बातों में भेद है। इस चरित्र की रचना गीत-काव्य के रूप में समझनी चाहिए।

सूफ़ी-रचनाओं के अतिरिक्त

भक्तिकाल के अन्य आख्यान-काव्य

आश्रयदाता राजाओं के चरित-काव्य तथा ऐतिहासिक या पौराणिक आख्यान-काव्य लिखने की जैसी परंपरा हिंदुओं में बहुत प्राचीन काल से चली आती थी वैसी पद्यबद्ध कल्पित कहानियाँ लिखने की नहीं थी। ऐसी कहानियाँ मिलती हैं, पर बहुत कम। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रसंगों या वृत्तों की कल्पना की प्रवृत्ति कम थी। पर ऐसी कल्पना किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष या घटना का कुछ—कभी कभी अत्यंत अल्प—सहारा लेकर खड़ी की जाती थी। कहीं कहीं तो केवल कुछ नाम ही ऐतिहासिक या पौराणिक रहते थे, वृत्त सारा कल्पित रहता था, जैसे, ईश्वरदास कृत 'सत्यवती कथा' (दे० पृ० ८८)।

आत्मकथा का विकास भी नहीं पाया जाता। केवल जैन कवि बनारसीदास का 'अर्द्धकथानक' मिलता है।

नीचे मुख्य आख्यान-काव्यों का उल्लेख किया जाता है—

ऐतिहासिक-पौराणिक	कल्पित	आत्मकथा
१ रामचरित-मानस (तुलसी)	१ ढोला मारू रा दूहा (प्राचीन)	१ अर्द्धकथानक (बनारसीदास)
२ हरिचरित्र (लालचदास)	२ लक्ष्मणसेन पद्मावती-कथा (दामोकवि)	
३ रुक्मिणी - मंगल (नरहरि)	सत्यवती - कथा (ईश्वरदास)	
४ ,, ,, (नंददास)	४ माधवानल - कामकंदला (आलम)	

५ सुदामाचरित्र (नरोत्तमदास)	५ रसरतन (पुहकर कवि)
६ रामचंद्रिका (केशवदास)	६ पद्मिनी-चरित्र (लालचंद)
७ वीरसिंहदेव-चरित (केशव)	७ कनकमंजरी (काशीराम)
८ बेलि क्रिसन रुक्मणी री (जोधपुर के राठौड़ राजा प्रिथीराज)	

ऊपर दी हुई सूची में 'ढोला मारू रा दूहा' और 'बेलि क्रिसन रुकमणी री' राजस्थानी भाषा में हैं। ढोला मारू की प्रेमकथा राजपुताने में बहुत प्रचलित है। दोहे बहुत पुराने हैं, यह बात उनकी भाषा से पाई जाती है। बहुत दिनों तक मुखाग्र ही रहने के कारण बहुत से दोहे लुप्त हो गए थे, जिससे कथा की शृंखला बीच बीच में खंडित हो गई थी। इसी से संवत् १६१८ के लगभग जैनकवि कुशल-लाभ ने बीच बीच में चौपाइयाँ रचकर जोड़ दीं। दोहों की प्राचीनता का अनुमान इस बात से हो सकता है कि कबीर की साखियों में ढोला मारू के बहुत से दोहे ज्यों के त्यों मिलते हैं।

"बेलि क्रिसन रुकमणी री" जोधपुर के राठौड़ राजवंशीय स्वदेशाभिमानी कवि पृथ्वीराज की रचना है जिनका महाराणा प्रताप को क्षोभ से भरा पत्र लिखना इतिहास-प्रसिद्ध है। रचना प्रौढ़ भी है और मार्मिक भी। इसमें श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह की कथा है।

पद्मिनी-चरित्र की भाषा भी राजस्थानी मिली है।

उत्तर-मध्यकाल

(रीतिकाल १७००–१९००)

प्रकरण १

सामान्य परिचय

हिंदी-काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत् १५९८ में कृपाराम थोड़ा बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'शृंगार-सागर' नामक एक ग्रंथ शृंगार-संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुति-भूषण' और 'भूप-भूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे। रस-निरूपण और अलंकार-निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशव-दासजी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें संदेह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की 'कवि-प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं।

केशव के प्रसंग में यह पहले कहा जा चुका है कि वे काव्य में अलंकारों का स्थान प्रधान समझनेवाले चमत्कारवादी कवि

थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक विचित्र संयोग घटित हुआ। संस्कृत साहित्य-शास्त्र के विकास-क्रम की एक संक्षिप्त उद्धरणी हो गई। साहित्य की मीमांसा क्रमशः बढ़ते बढ़ते जिस स्थिति पर पहुँच गई थी उस स्थिति से सामग्री न लेकर केशव ने उसके पूर्व की स्थिति से सामग्री ली। उन्होंने हिंदी-पाठकों को काव्यांग-निरूपण की उस पूर्व दशा का परिचय कराया जो भामह और उद्भट के समय में थी; उस उत्तर दशा का नहीं जो आनंदवर्द्धनाचार्य्य, मम्मट और विश्वनाथ द्वारा विकसित हुई। भामह और उद्भट के समय में अलंकार और अलंकार्य्य का स्पष्ट भेद नहीं हुआ था; रस, रीति, अलंकार आदि सब के लिये 'अलंकार' शब्द का व्यवहार होता था। यही बात हम केशव की 'कविप्रिया' में भी पाते हैं। उसमें 'अलंकार' के 'सामान्य' और 'विशेष' दो भेद कर के, 'सामान्य' के अंतर्गत वर्ण्य विषय और 'विशेष' के अंतर्गत वास्तविक अलंकार रखे गए हैं। (विशेष दे० केशवदास)

पर केशवदास के उपरांत तत्काल रीतिग्रंथों की परंपरा चली नहीं। कविप्रिया के ५० वर्ष पीछे उसकी अखंड परंपरा का आरंभ हुआ। यह परंपरा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्य्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चल कर परवर्त्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था। हिंदी के अलंकार-ग्रंथ अधिकतर 'चंद्रालोक' और 'कुवलयानंद' के अनुसार निर्मित हुए। कुछ ग्रंथों में 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का भी आधार पाया जाता है। काव्य के स्वरूप और अंगों के संबंध में हिंदी के रीतिकार कवियों ने संस्कृत के इन परवर्ती ग्रंथों का मत ग्रहण किया। इस प्रकार दैव-योग से संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास की एक संक्षिप्त उद्धरणी हिंदी में हो गई।

हिंदी रीतिग्रंथों की अखंड परंपरा चिंतामणि त्रिपाठी से चली, अतः रीतिकाल का आरंभ उन्हीं से मानना चाहिए। उन्होंने संवत् १७०० के कुछ आगे पीछे 'काव्य-विवेक', 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' ये तीन ग्रंथ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छंदःशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके उपरांत तो लक्षणग्रंथों की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिंदी-साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य्य दो भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी-काव्यक्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्य्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्यालोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्य्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नए नए सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या उस पर तर्क वितर्क हो नहीं सकता। इस अवस्था में 'चंद्रालोक' की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कहकर छुट्टी ली।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में लक्षण-ग्रंथ की परिपाटी पर रचना करनेवाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य्य-कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में

कवि ही थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्य्याप्त लक्षण साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं। बहुत स्थलों पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक ठीक बोध नहीं हो सकता। कहीं कहीं तो उदाहरण भी ठीक नहीं हैं। 'शब्द-शक्ति' का विषय तो दो ही चार कवियों ने नाममात्र के लिये लिया है जिससे उस विषय का स्पष्ट बोध होना तो दूर रहा, कहीं कहीं भ्रांत धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणतः दो भेद किए जाते हैं—श्रव्य और दृश्य। इनमें से दृश्य काव्य का निरूपण तो छोड़ ही दिया गया। सारांश यह कि इन रीति-ग्रंथों पर ही निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्य-ज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह न समझा जाय कि रीतिकाल के भीतर साहित्य-शास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई नई बातों की उद्भावना होती रही।

केशवदास के वर्णन में यह दिखाया जा चुका है कि उन्होंने सारी सामग्री कहाँ कहाँ से ली। आगे होनेवाले लक्षणग्रंथकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तकों से लेकर लिखे हैं जो कहीं कहीं अपर्य्याप्त हैं। अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार-क्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस-क्षेत्र में। काव्यांगों का विस्तृत समावेश दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में किया है। अलंकारों को जिस प्रकार उन्होंने बहुत से छोटे छोटे प्रकरणों में बाँट कर रखा है उससे भ्रम हो सकता है कि शायद किसी आधार पर उन्होंने अलंकारों का वर्गीकरण किया है। पर वास्तव में उन्होंने किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न नहीं किया है। दास जी की एक नई योजना अवश्य ध्यान देने योग्य है। संस्कृत-काव्य में अंत्या-

नुप्रास या तुक का चलन नहीं था, इससे संस्कृत के साहित्य-ग्रंथों में उसका विचार नहीं हुआ है। पर हिंदी-काव्य में वह बराबर आरंभ से ही मिलता है। अतः दासजी ने अपनी पुस्तक में उसका विचार करके बड़ा ही आवश्यक कार्य्य किया।

भूषण का 'भाविक छवि' एक नया अलंकार सा दिखाई पड़ता है, पर है वास्तव में संस्कृत ग्रंथों के 'भाविक' का ही एक दूसरा या प्रवर्द्धित रूप। 'भाविक' का संबंध कालगत दूरी से है; इसका देशगत से। बस इतना ही अंतर है।

दासजी के 'अतिशयोक्ति' के पाँच नए दिखाई पड़नेवाले भेदों में से चार तो भेदों के भिन्न भिन्न योग हैं। पाँचवाँ 'संभावनातिशयोक्ति' तो संबंधातिशयोक्ति ही है।

देव कवि का संचारियों के बीच 'छल' बढ़ा देना कुछ लोगों को नई सूझ समझ पड़ा है। उन्हें समझना चाहिए कि देव ने जैसे और सब बातें संस्कृत की 'रस-तरंगिणी' से ली हैं, वैसे ही यह 'छल' भी। सच पूछिए तो छल का अंतर्भाव अवहित्था में हो जाता है।

इस बात का संकेत पहले किया जा चुका है कि हिंदी के पद्यबद्ध लक्षण-ग्रंथों में दिए हुए लक्षणों और उदाहरणों में बहुत जगह गड़बड़ी पाई जाती है। अब इस गड़बड़ी के संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं। या तो यह कहें कि कवियों ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिये जानबूझकर भिन्नता कर दी है अथवा प्रमादवश और का और समझ कर। मतभेद तो तब कहा जाता जब कहीं कोई नूतन विचार-पद्धति मिलती। अतः दूसरा कारण ही ठहरता है। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) केशवदास ने रूपक के तीन भेद दंडी से लिए—अद्भुत रूपक, विरुद्ध रूपक और रूपक-रूपक। इनमें से प्रथम का

लक्षण भी स्वरूप व्यक्त नहीं करता और उदाहरण भी अधिकतर दृष्य रूपक का हो गया है। विरुद्ध-रूपक भी दंडी से नहीं मिलता और रूपकातिशयोक्ति हो गया है। रूपक-रूपक दंडी के अनुसार वहाँ होता है जहाँ प्रस्तुत पर एक अप्रस्तुत का आरोप करके फिर दूसरे अप्रस्तुत का भी आरोप कर दिया जाता है। केशव के न तो लक्षण से यह बात प्रकट होती है, न उदाहरण से। उदाहरण में दंडी के उदाहरण का ऊपरी ढाँचा भर कुछ झलकता है, पर असल बात का पता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि बिना ठीक तात्पर्य समझे ही लक्षण और उदाहरण हिंदी में दे दिए गए हैं।

(२) भूषण क्या प्राय: सब हिंदी कवियों ने 'भ्रम', 'संदेह' और 'स्मरण' अलंकारों के लक्षणों में सादृश्य की बात छोड़ दी है। इससे बहुत जगह उदाहरण अलंकार के न होकर भाव के हो गए हैं। भूषण का उदाहरण सबसे गड़बड़ है।

(३) शब्द-शक्ति का विषय दास ने थोड़ा सा लिया है, पर उससे उसका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। 'उपादान लक्षणा' का लक्षण भी विलक्षण है और उदाहरण भी असंगत। उदाहरण से साफ झलकता है कि इस लक्षणा का स्वरूप ही समझने में भ्रम हुआ है।

जब कि काव्यांगों का स्वतंत्र विवेचन ही नहीं हुआ तब तरह तरह के 'वाद' कैसे प्रतिष्ठित होते? संस्कृत-साहित्य में जैसे, अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिये हिंदी के रीति-क्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरांत रीतिकाल में होनेवाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु

मानकर चले। महाराज जसवंतसिंह ने अपने 'भाषा-भूषण' की रचना 'चंद्रालोक' के आधार पर की, पर उसके अलंकार की अनिवार्य्यतावाले सिद्धांत का समावेश नहीं किया।

इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिकाभेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगार-रस के अंतर्गत बहुत सुंदर मुक्तक-रचना हिंदी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी-साहित्य में हुआ कि इसके एक एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिका-भेद के भीतर दिखाया। रस-ग्रंथ वास्तव में नायिका-भेद के ही ग्रंथ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिए गए हैं। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रंथ केवल नख-शिख-वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं। विप्रलंभ-संबंधी 'बारहमासे' भी कुछ कवियों ने लिखे।

रीति-ग्रंथों की इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न चिंत्य बातों तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और

परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा-शैली, पद-विन्यास, अलंकार-विधान आदि बाहरी बातों का भेद हम थोड़ा बहुत दिखा सकें तो दिखा सकें, पर उनकी आभ्यंतर प्रकृति के अन्वीक्षण में समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।

रीति-काल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्त्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युत-संस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा-काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्य-दोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण ब्रज और अवधी इन दोनों काव्य-भाषाओं का कवि के इच्छानुसार संमिश्रण भी था। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश-विशेष के

प्रयोगों तक ही परिमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। काव्य की व्रजभाषा के संबंध में भी अधिकतर यही बात रही। सूरदास की भाषा में यत्र-तत्र पूरबी प्रयोग—जैसे, मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि—बराबर मिलते हैं। बिहारी की भाषा भी 'कीन' 'दीन' आदि से खाली नहीं। रीति-ग्रंथों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। अतः इस काल में काव्य की व्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस बात को किसी किसी कवि ने लक्ष्य भी किया। दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय' में काव्यभाषा पर भी कुछ दृष्टि-पात किया। मिश्रित भाषा के समर्थन में वे कहते हैं—

> व्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
> मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति प्रगट जु होइ॥
> व्रज, मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
> सहज पारसी हू मिलै, षट विधि कहत बखानि॥

उक्त दोहों में 'मागधी' शब्द से पूरबी भाषा का अभिप्राय है। अवधी अर्द्ध-मागधी से निकली मानी जाती है और पूरबी हिंदी के अंतर्गत है। जबाँदानी के लिये व्रज का निवास आवश्यक नहीं है, आप्त कवियों की वाणी भी प्रमाण है, इस बात को दासजी ने स्पष्ट कहा है—

> सूर, केसव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
> चिंतामणि, मतिराम, भूषन सु जानिए।
> लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
> नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
> आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
> अनेकन सुमति भए कहाँ लौं बखानिए।
> व्रजभाषा हेत व्रजवास ही न अनुमानौ,
> ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥

मिली-जुली भाषा के प्रमाण में दासजी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ॥

इस सीधे सादे दोहे का जो यह अर्थ ले कि तुलसी और गंग इसी लिये कवियों के सरदार हुए कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली है, उसकी समझ को क्या कहा जाय ?

दासजी ने काव्यभाषा के स्वरूप का जो निर्णय किया वह कोई सौ वर्षों की काव्य-परंपरा के पर्य्यालोचन के उपरांत। अतः उनका स्वरूप-निरूपण तो बहुत ही ठीक है। उन्होंने काव्यभाषा व्रजभाषा ही कही है जिसमें और भाषाओं के शब्दों का भी मेल हो सकता है। पर भाषा-संबंधी और अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियों ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा; उनके कारक-चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौकर्य्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना' के भूतकाल के लिये वे छंद की आवश्यकता के अनुसार 'कियो', 'कीनो', 'करयो', 'करियो', 'कीन', यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिये आवश्यक है। रूपों के स्थिर न होने से यदि कोई विदेशी काव्य की व्रजभाषा का अध्ययन करना चाहे तो उसे कितनी कठिनता होगी !

भक्तिकाल की प्रारंभिक अवस्था में ही किस प्रकार मुसलमानों के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलते भाव मिलने लगे थे इसका उल्लेख हो चुका है। नामदेव और कबीर

आदि की तो बात ही क्या, तुलसीदासजी ने भी गनी, गरीब, साहब, इताति, उमरदराज आदि बहुत से शब्दों का प्रयोग किया। सूर में ऐसे शब्द अवश्य कम मिलते हैं। फिर मुसलमानी राज्य की दृढ़ता के साथ-साथ इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया त्यों-त्यों कवि लोग उन्हें अधिकाधिक स्थान देने लगे। राजा महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द वहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अतः भाट या कवि लोग 'आयुष्मान्' और 'जयजयकार' ही तक अपने को कैसे रख सकते थे? वे भी दरबार में खड़े होकर "उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" पुकारने लगे। 'बखत-बलंद' आदि शब्द उनकी जबान पर भी नाचने लगे।

यह तो हुई व्यावहारिक भाषा की बात। फारसी-काव्य के शब्दों को भी थोड़ा बहुत कवियों ने अपनाना आरंभ किया। रीति-काल में ऐसे शब्दों की संख्या कुछ और बढ़ी। पर यह देखकर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की स्वाभाविक सरसता का ध्यान रखनेवाले उत्कृष्ट कवियों ने ऐसे शब्दों को बहुत ही कम स्थान दिया। पर परंपरागत साहित्य का कम अभ्यास रखनेवाले साधारण कवियों ने कहीं-कहीं बड़े बेढंगे तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे हैं। कहीं-कहीं 'खुसबोयन' आदि उनके विकृत शब्दों को देखकर शिक्षितों को एक प्रकार की विरक्ति सी होती है और उनकी कविता गँवारों की रचना सी लगती है। शब्दों के साथ-साथ कुछ थोड़े से कवियों ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार-सामग्री तक उठाकर रख ली है और उनके भाव भी बाँध गए हैं। रसनिधि-कृत 'रतनहजारा' में यह बात अरुचिकर मात्रा में पाई जाती है। बिहारी ऐसे परम उत्कृष्ट कवि भी यद्यपि फारसी भावों के प्रभाव से नहीं बचे हैं

पर उन्होंने उन भावों को अपने देशी साँचे में ढाल लिया है जिससे वे खटकते क्या सहसा लक्ष्य भी नहीं होते। उनकी विरह-ताप की अत्युक्तियों में दूर की सूझ और नाज़ुकख़याली बहुत कुछ फारसी की शैली की है, पर बिहारी रसभंग करनेवाले बीभत्स रूप कहीं नहीं लाए हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सवैया ही रहे। कवित्त तो श्रृंगार और वीर दोनों रसों के लिये समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव में पढ़ने के ढँग में थोड़ा विभेद कर देने से उसमें दोनों के अनुकूल नादसौंदर्य पाया जाता है। सवैया, श्रृंगार और करुण इन दो कोमल रसों के बहुत उपयुक्त होता है, यद्यपि वीररस की कविता में भी इसका व्यवहार कवियों ने जहाँ तहाँ किया है। वास्तव में श्रृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता श्रृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई श्रृंगारकाल कहे तो कह सकता है। श्रृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं; आश्रयदाता राजा महा-राजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

प्रकरण २

रीति-ग्रंथकार कवि

हिंदी-साहित्य की गति का ऊपर जो संक्षिप्त उल्लेख हुआ उससे रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति का पता चल सकता है। अब उस काल के मुख्य-मुख्य कवियों का विवरण दिया जाता है।

(१) **चिंतामणि त्रिपाठी**—ये तिकवाँपुर (जि० कानपुर) के रहनेवाले और चार भाई थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारों कवि थे, जिनमें प्रथम तीन तो हिंदी-साहित्य में बहुत यशस्वी हुए। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ दिन से यह विवाद उठाया गया है कि भूषण न तो चिंतामणि और मतिराम के भाई थे, न शिवाजी के दरबार में थे। पर इतनी प्रसिद्ध बात का जब तक पर्याप्त विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक वह अस्वीकार नहीं की जा सकती। चिंतामणिजी का जन्मकाल संवत् १६६६ के लगभग और कविता-काल संवत् १७०० के आसपास ठहरता है। इनका 'कविकुलकल्पतरु' नामक ग्रंथ सं० १७०७ का लिखा है इनके संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि ये "बहुत दिन तक नागपुर में सूर्यवंशी भोंसला मकरंद शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर छंदविचार नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्य-प्रकाश', 'रामायण' ये पाँच ग्रंथ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं। इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना अन्य छंदों में बहुत अपूर्व है। बाबू रुद्रसाहि सोलंकी, शाहजहाँ

बादशाह और जैनदीं अहमद ने इनको बहुत दान दिए हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ में कहीं-कहीं अपना नाम मणिमाल भी कहा है।"

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि चिंतामणिजी ने काव्य के सब अंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। विषय-वर्णन की प्रणाली भी मनोहर है। ये वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे। रचना के कुछ नमूने लीजिए—

येई उधारत हैं तिन्हैं जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन, ते न परैं कबहूँ जम-घेरे॥
राजै रमा-रमनी-उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।
हैं बलभार उदंड भरे हरि के भुजदंड सहायक मेरे॥

इक आजु मैं कुंदन-बेलि लखी मनिमंदिर की रुचिवृंद भरैं।
कुरविंद के पल्लव इंदु तहाँ अरविंदन तें मकरंद झरैं॥
उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै फल सुंदर ह्वै पर आनि परैं।
लखि यों दुति कंद अनंद कला नँदनंद सिलाद्रव रूप धरैं॥

आँखिन मूदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै॥
नाह छुई छल सों छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै।
जोबन के मद मत्त तिया हित सों पति का नित चित्त चुरावै॥

(२) **बेनी**—ये असनी के बंदीजन थे और संवत् १७०० के आसपास विद्यमान थे। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता पर फुटकल कवित्त बहुत से सुने जाते हैं जिनसे यह

अनुमान होता है कि इन्होंने नखशिख और षट्ऋतु पर पुस्तकें लिखी होंगी। कविता इनकी साधारणतः अच्छी होती थी। भाषा चलती होने पर भी अनुप्रासयुक्त होती थी। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

छहरै सिर पै छवि मोरपखा उनकी नथ के मुकुता थहरैं।
फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं॥
रसरंग भिरे अभिरे हैं तमाल दोऊ रसख्याल चहैं लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं॥

——

कवि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा बन बोलत कूकन री।
छहरै बिजुरी छिति-मंडल छ्वै, लहरै मन मैन-भभूकन री॥
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के झूलहु झूकन री।
ऋतु पावस यों ही बितावति हौ, मरिहौ, फिर बावरि! हूकन री॥

(३) **महाराज जसवंतसिंह**—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज थे जो अपने समय के सब से प्रतापी हिंदू नरेश थे और जिनका भय औरंगजेब को बराबर बना रहता था। इनका जन्म संवत् १६८३ में हुआ। ये शाहजहाँ के समय में ही कई लड़ाइयों पर जा चुके थे। ये महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरांत संवत् १६९५ में गद्दी पर बैठे। इनके बड़े भाई अमरसिंह अपने उद्धत स्वभाव के कारण पिता द्वारा अधिकारच्युत कर दिए गए थे। महाराज जसवंतसिंह बड़े अच्छे साहित्यमर्मज्ञ और तत्त्वज्ञान-संपन्न पुरुष थे। उनके समय में राज्य भर में विद्या की बड़ी चर्चा रही और अच्छे-अच्छे कवियों और विद्वानों का बराबर समागम होता रहा। महाराज ने स्वयं तो अनेक ग्रंथ लिखे ही; अनेक विद्वानों और कवियों से न जाने कितने ग्रंथ लिखाए। औरंग-

जेब ने इन्हें कुछ दिनों के लिये गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ताखाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गए थे। कहते हैं कि चढ़ाई में शाइस्ताखाँ की जो दुर्गति हुई वह बहुत कुछ इन्हीं के इशारे से। अंत में ये अफ़ग़ानों को सर करने के लिये काबुल भेजे गए जहाँ संवत् १७३५ में इनका परलोकवास हुआ।

ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं और इनका 'भाषा-भूषण' ग्रंथ अलकारों पर एक बहुत ही प्रचलित पाठ्य ग्रंथ रहा है। इस ग्रंथ को इन्होंने वास्तव में आचार्य्य के रूप में लिखा है, कवि के रूप में नहीं। प्राक्कथन में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि रीतिकाल के भीतर जितने लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले हुए वे वास्तव में कवि थे और उन्होंने कविता करने के उद्देश्य से ही वे ग्रंथ लिखे थे, न कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराज जसवंतसिंहजी इस नियम के अपवाद थे। वे आचार्य्य की हैसियत से ही हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में आए, कवि की हैसियत से नहीं। उन्होंने अपना 'भाषा-भूषण' बिलकुल 'चंद्रालोक' की छाया पर बनाया और उसी की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण किया। जिस प्रकार चंद्रालोक में प्रायः एक ही श्लोक के भीतर लक्षण और उदाहरण दोनों का सन्निवेश है उसी प्रकार 'भाषा-भूषण' में भी प्रायः एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गए हैं। इससे विद्यार्थियों को अलंकार कंठ करने में बड़ा सुबीता हो गया और 'भाषा-भूषण' हिंदी काव्य-रीति के अभ्यासियों के बीच वैसा ही सर्वप्रिय हुआ जैसा कि संस्कृत के विद्यार्थियों के बीच चंद्रालोक। भाषा-भूषण बहुत छोटा सा ग्रंथ है।

भाषा-भूषण के अतिरिक्त जो और ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं वे तत्त्वज्ञान-संबंधी हैं। जैसे—अपरोक्ष-सिद्धांत, अनुभव-प्रकाश,

आनंदविलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, प्रबोधचंद्रोदय नाटक। ये सब ग्रंथ भी पद्य में ही हैं, जिनसे पद्य-रचना की पूरी निपुणता प्रकट होती है। पर साहित्य से जहाँ तक संबंध है, ये आचार्य या शिक्षक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। अलंकार-निरूपण की इनकी पद्धति का परिचय कराने के लिये 'भाषा-भूषण' के दो दोहे नीचे दिए जाते हैं—

अत्युक्ति—अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप॥

———

पर्य्यस्तापह्नुति—पर्यस्त जु गुन एक को और विषय आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह, वदन सुधाधर ओप॥

ये दोहे चंद्रालोक के इन श्लोकों की स्पष्ट छाया हैं—

अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्य्यौदार्यादिवर्णनम।
त्वयि दातरि राजेंद्र याचकाः कल्पशाखिनः॥
पर्य्यस्तापह्नुतिर्यत्र धर्ममात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्॥

भाषा-भूषण पर पीछे तीन टीकाएँ रची गईं—'अलंकार-रत्नाकर' नाम की टीका, जिसे बंसीधर ने संवत् १७९२ में बनाया, दूसरी टीका प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषणचंद्रिका'।

(४) **बिहारीलाल**—ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी ससुराल मथुरा में आ रहे। अनुमानतः ये संवत् १७२० तक वर्तमान रहे। ये जयपुर के मिर्जा राजा जयसाह (महाराज

जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता है कि जिस समय ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिये महलों के बाहर निकलते ही न थे। इस पर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के *पास भीतर भिजवाया*—

नहिँ पराग नहिँ मधुर मधु, नहिँ विकास यहि काल।
अली कली ही सोँ बँध्यो, आगे कौन हवाल॥

कहते हैं कि इस पर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे बना-बनाकर सुनाने लगे और उन्हें प्रति दोहे पर एक एक अशरफी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संगृहीत होकर "बिहारी-सतसई" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगाररस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिंदी-साहित्य में एक एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। इन टीकाओं में ४-५ टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं—कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजी लाल की लालचंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करनेवाले छप्पय, कुंडलिया, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलिया इन दोहों पर बहुत अच्छी है, पर अधूरी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कुछ और कुंडलियाँ रचकर पूर्ति करनी चाही थी। पं० अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' में सब दोहों के भावों को पल्लवित करके रोला छंद लगाए हैं। पं० परमा-

नंद ने 'शृंगारसप्तशती' के नाम से दोहों का संस्कृत अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरों में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुंदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद (प्रीतम) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी-संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सब से उत्तम और प्रामाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ थोड़े दिन हुए प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ और ब्रजभाषा के प्रधान आधुनिक कवि बाबू जगन्नाथ-दास 'रत्नाकर' ने निकाला। जितने श्रम और जितनी साव-धानी से यह संपादित हुआ है, आज तक हिंदी का और कोई ग्रंथ नहीं हुआ।

बिहारी ने इस सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही एक ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य-क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परि-माण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसी से वह सभा-समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक रमणीय खंडदृश्य

इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी। इसी से वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस के छोटे-छोटे छींटे हैं। इसी से किसी ने कहा है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं बेधैं सकल सरीर॥

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थलों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति-कौशल के दर्शन होते हैं, पर इस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई श्रृंगारी कवि नहीं कर सका है। नीचे की हाव-भरी सजीव मूर्त्तियाँ देखिए—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकैं हिए, गड़ी कँटीली भौंह॥
ललन-चलन सुनि पलन में अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू झूठै ही जमुहाइ॥

भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है—विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन

में। कहीं कहीं इनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है, जैसे—इन दोहों में—

पत्रा ही तिथि पाइए वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥
छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियैं गुलाब कैं झवा झवावति पाइ॥
इत आवति, चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिँडोरे सी रहै लगी उसासन साथ॥
सीरे जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिनन परयो परोसिनि पाप॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेहबस सखी सबै ढिग जाति॥

अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिये बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं। पर यहाँ दो एक उदाहरण ही पर्य्याप्त होंगे—

ढीठि परोसिनि ईठ ह्वै कहे जु गहे सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान॥
नए विरह बढ़ती बिथा खरी बिकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ हरषि हँसी तिहि काल॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर में सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही संभव हुआ है। यदि नायिकाभेद की प्रथा इतने जोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी किसी दोहे में कई अलंकार उलझे पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। 'असंगति' और 'विरोधाभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिए, दई नई यह रीति॥
तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

दो एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढँग से आए हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है—

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन॥

शृंगार की संचारी भावों की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिनी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुँह से बार बार सुने जाते हैं। इस स्मरण में कैसी गंभीर तन्मयता है—

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें बहुत सी नीति-संबंधिनी हैं। सूक्तियों में वर्णन-वैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है अतः उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिये बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं। कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुनौ दीपक-देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिए जितो सनेह॥
कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय॥

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

बिहारी के बहुत से दोहे "आर्य्यासप्तशती" और "गाथा-सप्तशती" की छाया लेकर बने हैं, इस बात को पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतंत्र और कहीं कहीं अधिक सुंदर रूप दे दिया है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। व्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है और कहीं कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिये 'समर', 'ककै' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे। जो यह भी नहीं जानते कि संक्रांति को 'संक्रमण' (अप० संक्रोन) भी कहते हैं, 'अच्छ' साफ़ के अर्थ में संस्कृत शब्द है, 'रोज' रुलाई के अर्थ में आगरे के आस पास बोला जाता है और कबीर जायसी आदि द्वारा बराबर व्यवहृत हुआ है, 'सोनजाइ' शब्द 'स्वर्णजाती' से निकला है—जुही से कोई मतलब नहीं, संस्कृत में 'वारि' और 'वार्' दोनों शब्द हैं और 'वार्द' का अर्थ भी बादल है, 'मिलान' पड़ाव या मुक़ाम के अर्थ में पुरानी कविता में भरा पड़ा है, चलती व्रजभाषा में 'पिछानना' रूप ही आता है, 'खटकति' का रूप बहुवचन में भी यही रहेगा, यदि पचासों शब्द उनकी समझ में न आएँ तो बेचारे बिहारी का क्या दोष ?

बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है, पर 'नखशिख', 'नायिकाभेद', 'षट्ऋतु' के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसा कि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसी लिये हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख, उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

बिहारी की कृति का मूल्य जो बहुत अधिक आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखनेवाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए—उनके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेल-बूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यंतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त-सवैयों का सा गूँजनेवाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

दूसरी बात यह कि भावों का बहुत उत्कृष्ट और उदात्त स्वरूप बिहारी में नहीं मिलता। कविता उनकी शृंगारी है, पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे ही रह जाती है।

(५) **मंडन**—ये जैतपुर (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे और संवत् १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में वर्त्तमान थे।

इनके फुटकल कवित्त-सवैये बहुत सुने जाते हैं, पर कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। पुस्तकों की खोज में इनके पाँच ग्रंथों का पता लगा है—रस-रत्नावली, रसविलास, जनक-पचीसी, जानकी जू को ब्याह, नैन-पचासा।

प्रथम दो ग्रंथ रसनिरूपण पर हैं, यह उनके नामों से ही प्रकट होता है। संग्रह-ग्रंथों में इनके कवित्त-सवैये बराबर मिलते हैं। "जेइ जेइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती" यह पद भी इनका मिलता है। इससे जान पड़ता है कि कुछ पद भी इन्होंने रचे थे। जो पद्य इनके मिलते हैं उनसे ये बड़ी सरस कल्पना के भावुक कवि जान पड़ते हैं। भाषा इनकी बड़ी ही स्वाभाविक, चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमें और कवियों का सा शब्दाडंबर नहीं दिखाई पड़ता। यह सवैया देखिए—

अलि हौं तौ गई जमुना जल को सो कहा कहौं वीर ! विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई, इतनेई में गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो, कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिर जीवहु नंद को बारो, अरी, गहि बाहँ गरीब ने ठाढ़ी करी॥

(६) **मतिराम**—ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में हैं और चिंतामणि तथा भूषण के भाई परंपरा से प्रसिद्ध हैं। ये तिकवाँपुर (ज़िला कानपुर) में संवत् १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे और बहुत दिनों तक जीवित रहे। ये बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय में अपना 'ललितललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच किसी समय बनाया। इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रंथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है।

इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और हैं—'साहित्यसार' और 'लक्षण-श्रृंगार'। बिहारी सतसई के ढँग पर इन्होंने एक "मतिराम-सतसई" भी बनाई जो हिंदी-पुस्तकों की खोज में मिली है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिये अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना में ही प्रयुक्त हैं। रीतिग्रंथ-वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा कम कवियों में मिलती है, पर कहीं कहीं वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करनेवालों में बहुत ही कम मिलती है।

भाषा के ही समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न उनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरह-ताप को लेकर बिहारी के समान मज़ाक़ इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसंद न थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार ख़याल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई संदेह नहीं। भारतीय जीवन से

छाँटकर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं।

'रसराज' और 'ललितललाम', मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही क्या है। 'ललितललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरसता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरल व्यंजना नहीं मिलती। बिहारी की प्रसिद्धि का कारण बहुत कुछ उनका वाग्वैदग्ध्य है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नाद-सौंदर्य्य नहीं आ सका है जो कवित्त सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।

मतिराम की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौन में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि-मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यौं त्यौं खरी निकरै सी निकाई॥

———

क्यों इन आँखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै?
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै?
होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै॥

———

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो', भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही, हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही, सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥

सूबन को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चमू
सुभट समूह निसि वाकी उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर में,
काहू के न हिम्मति हिए में उलहति है॥
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब
गरब गनीम-बरगीन को दहति है।
पति पातसाह की, इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है॥

(७) **भूषण**—वीररस के ये प्रसिद्ध कवि चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्मकाल संवत् १६७० है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। इनका असल नाम क्या था, इसका पता नहीं। ये कई राजाओं के यहाँ रहे। अंत में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता, जो इनके वीर-काव्य के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान हुआ।

कहते हैं कि महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था जिस पर इन्होंने कहा था "सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल को"। ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्हें एक एक छंद पर शिवाजी से लाखों रुपए मिले। इनका परलोकवास संवत १७७२ में माना जाता है।

रीति-काल के भीतर शृंगार रस की ही प्रधानता रही। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति में उनके प्रताप आदि के प्रसंग में उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर वह शुष्क प्रथा-पालन के रूप में ही होने के कारण ध्यान देने योग्य नहीं है। ऐसे वर्णनों के साथ जनता की हार्दिक सहानुभूति कभी हो नहीं सकती थी। पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिंदू-धर्म के संरक्षक, दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिंदू-जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्त्ति-संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्त्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। क्या संस्कृत-साहित्य में, क्या हिंदी-साहित्य में, सहस्रों कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ रचे जिनका आज पता तक नहीं है। पुरानी वस्तु खोजनेवालों को ही कभी कभी किसी राजा के पुस्तकालय में, कहीं किसी घर के कोने में, उनमें से दो चार इधर उधर मिल जाते हैं। जिस भोज ने दान दे देकर अपनी इतनी तारीफ़ कराई उसके चरितकाव्य भी कवियों ने लिखे होंगे। पर उन्हें आज कौन जानता है?

शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदाताओं की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं हैं। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू-जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू-जाति के प्रतिनिधि कवि हैं। जैसा कि आरंभ में कहा गया है, शिवाजी के दरबार में पहुँचने के पहले वे और राजाओं के पास भी रहे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हें अवश्य ही करनी पड़ी होगी। पर वह झूठी थी, इसी से टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति ही हुई होगी। इनके 'शिव-राज-भूषण', शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रंथ ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त ३ ग्रंथ और कहे जाते हैं—'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'।

जो कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हैं उनके संबंध में यहाँ यह कहना कि वे कितनी ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण हैं, पिष्टपेषण मात्र होगा। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि भूषण वीर रस के ही कवि थे। इधर इनके दो चार कवित्त शृंगार के भी मिले हैं, पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीति-काल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज-भूषण' अलंकार के ग्रंथ के रूप में बनाया। पर रीति-ग्रंथ की दृष्टि से अलंकार-निरूपण के विचार से, यह उत्तम ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं हैं। भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्रायः है और वाक्य-रचना भी कहीं कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी बहुत बिगाड़े गए हैं और कहीं कहीं बिल्कुल गढ़ंत के शब्द रखे गए हैं। पर जो

कवित्त इन दोषों से मुक्त हैं वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

इंद्र जिमि जृंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन बारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगभुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

डाढ़ा के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस-हद्द हिंदुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग,
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम, न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।

तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो
स्याह मुख नौरँग, सिपाह-मुख पियरे ॥

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधौं मीर सहवाल को।
मठ विश्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को ॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यो न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ॥

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है।
बिलखि बदन बिलखत बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है ॥
थर थर काँपत कुतुब साहि गोलकुंडा,
हहरि हबस-भूप-भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है ॥

जिहि फन फूतकार उड़त पहार भार,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
विषजाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो ॥
कीन्हो जिहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोलहू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।

खग्ग-खगराज महाराज सिवराजजू को
अखिल भुजंग मुगलद्दल निगलि गो ॥

(८) **कुलपति मिश्र**—ये आगरे के रहनेवाले माथुर चौबे थे और महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध हैं। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। कुलपतिजी जयपुर के महाराज जयसिंह (बिहारी के आश्रयदाता) के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके 'रसरहस्य' का रचना-काल कार्तिक कृष्ण ११ संवत् १७२७ है। अब तक इनका यही ग्रंथ प्रसिद्ध और प्रकाशित है। पर खोज में इनके निम्नलिखित ग्रंथ और मिले हैं—

द्रोणपर्व (सं० १७३७), युक्ति-तरंगिणी (१७४३), नखशिख, संग्रामसार, रसरहस्य (१७२४)।

अतः इनका कविता-काल संवत् १७२४ और संवत् १७४३ के बीच ठहरता है।

रीति-काल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रस-रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने के कारण इनके लिये यह स्वाभाविक था कि ये प्रचलित लक्षण-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ निरूपण का प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से इन्होंने अपना 'रस-रहस्य' लिखा। शास्त्रीय निरूपण के लिये पद्य उपयुक्त नहीं होता, इसका अनुभव इन्होंने किया, इससे कहीं कहीं कुछ गद्य वार्त्तिक भी रखा। पर गद्य परिमार्जित न होने के कारण जिस उद्देश्य से इन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा वह पूरा न हुआ। इस ग्रंथ का जैसा प्रचार चाहिए था न हो सका। जिस स्पष्टता से 'काव्यप्रकाश' में विषय प्रतिपादित हुए हैं वह स्पष्टता इनके ब्रजभाषा-गद्यपद्य में न आ सकी। कहीं कहीं तो भाषा और वाक्य-रचना दुरूह हो गई है।

यद्यपि इन्होंने शब्दशक्ति और भावादि-निरूपण में लक्षण उदाहरण दोनों बहुत कुछ काव्यप्रकाश के ही दिए हैं पर अलंकार प्रकरण में इन्होंने प्रायः अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के स्वरचित उदाहरण दिए हैं। ये व्रजमंडल के निवासी थे अतः इनको व्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है जहाँ इनको अधिक स्वच्छंदता रही होगी वहाँ इनकी रचना और सरस होगी। इनकी रचना का एक नमूना दिया जाता है—

ऐसिय कुंज बनी छबिपुंज रहै अलिगुंजत यों सुख लीजै।
नैन बिसाल हिए बनमाल बिलोकत रूप-सुधा भरि पीजै॥
जामिनि-जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
आनँद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै॥

(९) **सुखदेव मिश्र**—दौलतपुर (जि० रायबरेली) में इनके वंशज अब तक हैं। कुछ दिन हुए उसी ग्राम के निवासी सुप्रसिद्ध पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इनका एक अच्छा जीवनवृत्त 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा था। सुखदेव मिश्र का जन्मस्थान 'कंपिला' था जिसका वर्णन इन्होंने अपने "वृत्त-विचार" में किया है। इनका कविता-काल संवत् १७२० से १७६० तक माना जा सकता है। इनके सात ग्रंथों का पता अब तक है—

वृत्तविचार (संवत् १७२८), छंदविचार, फाजिलअली-प्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश (संवत् १७५५), दशरथ राय।

अध्यात्म-प्रकाश में कवि ने ब्रह्मज्ञान-संबंधी बातें कही हैं जिससे यह जनश्रुति पुष्ट होती है कि वे एक निःस्पृह विरक्त साधु के रूप में रहते थे।

काशी से विद्याध्ययन करके लौटने पर ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची तथा डौंड़िया-खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। कुछ दिनों तक ये औरंगजेब के मंत्री फाजिलअलीशाह के यहाँ भी रहे। अंत में मुरारमऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गए जिनके बहुत आग्रह पर ये सकुटुंब दौलतपुर में जा बसे। राजा राजसिंह गौड़ ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि दी थी। वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंदःशास्त्र पर इनका सा विशद निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पंडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे। "फाजिल-अली-प्रकाश" और "रसार्णव" दोनों में शृंगार रस के उदाहरण बहुत ही सुंदर हैं। दो नमूने लीजिए—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, वैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली-महा, लाग्यो मैन-सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

———

जोहै जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चली चंदमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है।
भीतर ही जो लखी सो लखी, अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिलि जाति ज्यौं दूध में दूध की धार है॥

(१०) **कालिदास त्रिवेदी**—ये अंतर्वेद के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। जान

पड़ता है कि संवत् १७४५ वाली गोलकुंडे की चढ़ाई में ये औरंगजेब की सेना में किसी राजा के साथ गए थे। इस लड़ाई का औरंगजेब की प्रशंसा से युक्त वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है—

गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि,
बीजापुर ओप्यो दलमलि सुघराई में।
कालिदास कोप्यो बीर औलिया अलमगीर,
तीर तरवारि गही पुहमी पराई में॥
बूँद तें निकसि महिमंडल घमंड मची,
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।
गाड़ि के सुझंडा आड़ कीनी बादसाह, तातें
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई में॥

कालिदास का जंबू-नरेश जोगजीतसिंह के यहाँ भी रहना पाया जाता है जिनके लिये संवत् १७४९ में इन्होंने 'वार-वधू-विनोद' बनाया। यह नायिका-भेद और नखशिख की पुस्तक है। बत्तीस कवित्तों की इनकी एक छोटी सी पुस्तक 'जँजीराबंद' भी है। 'राधा-माधव-बुधमिलन-विनोद' नाम का एक कोई और ग्रंथ इनका खोज में मिला है। इन रचनाओं के अतिरिक्त इनका बड़ा संग्रहग्रंथ 'कालिदास हज़ारा' बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। इस संग्रह के संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि इसमें संवत् १४८१ से लेकर संवत् १७७६ तक के २१२ कवियों के १००० पद्य संगृहीत हैं। कवियों के काल-आदि के निर्णय में यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इनके पुत्र कवींद्र और पौत्र दूलह भी बड़े अच्छे कवि हुए।

ये एक अभ्यस्त और निपुण कवि थे। इनके फुटकल कवित्त इधर उधर बहुत सुने जाते हैं जिनसे इनकी सरस-

हृदयता का अच्छा परिचय मिलता है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

चूमौं करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह ! मो तन निहारि दै।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि,
माथे धरि मुकुट, लकुट कर डारि दै॥
कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया, चारु,
लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दै।
मेरे कर मेहँदी लगी है, नंदलाल प्यारे !
लट उरझी है नकबेसर सँभारि दै॥

———

हाथ हँसि दीन्हों भीति अंतर परसि प्यारी,
देखत ही छकी मति कान्हर प्रवीन की।
निकस्यो झरोखे माँझ बिगस्यो कमल सम,
ललित अँगूठी तामें चमक चुनीन की॥
कालिदास तैसी लाल मेहँदी के बुंदन की,
चारु नख-चदन की लाल-अँगुरीन की।
कैसी छवि छाजति है छाप औ छलान की सु-
कंकन चुरीन की, जड़ाऊ पहुँचीन की॥

(११) **राम**—शिवसिंहसरोज में इनका जन्म-संवत् १७०३ लिखा है और कहा गया है कि इनके कवित्त कालिदास के हजारा में हैं। इनका नायिकाभेद का एक ग्रंथ शृंगारसौरभ है जिसकी कविता बहुत ही मनोरम है। खोज में एक "हनुमान नाटक" भी इनका पाया गया है। शिवसिंह के अनुसार इनका कविता-काल संवत् १७३० के लगभग माना जा सकता है। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

उमड़ि घुमड़ि घन छोड़त अखंड धार,
चंचला उठति तामें तरजि तरजि कै।
बरही पपीहा भेक पिक खग टेरत हैं,
धुनि सुनि प्रान उठे लरजि लरजि कै॥
कहै कवि राम लखि चमक खदोतन की,
पीतम को रही मैं तो बरजि बरजि कै।
लागे तन तावन बिना री मनभावन के,
सावन दुवन आयो गरजि गरजि कै॥

(१२) **नेवाज**—ये अंतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग वर्त्तमान थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ ये किसी भगवत् कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे जिस पर भगवत् कवि ने यह फबती छोड़ी थी—

भली आजु कलि करत हौ, छत्रसाल महराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

शिवसिंह ने नेवाज का जन्म-संवत् १७३९ लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि इनके 'शकुंतला नाटक' का निर्माण-काल संवत् १७३७ है। दो और नेवाज हुए हैं जिनमें एक भगवंतराय खीची के यहाँ थे। प्रस्तुत नेवाज का औरंगजेब के पुत्र आज़मशाह के यहाँ रहना भी पाया जाता है। इन्होंने 'शकुंतला नाटक' का आख्यान दोहा, चौपाई, सवैया आदि छंदों में लिखा। इनके फुटकल कवित्त बहुत स्थानों पर संगृहीत मिलते हैं जिनसे इनकी काव्य-कुशलता और सहृदयता टपकती है। भाषा इनकी बहुत परिमार्जित, व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। उसमें भरती के शब्द और वाक्य बहुत ही कम मिलते हैं। इनके अच्छे शृंगारी कवि होने में संदेह नहीं। संयोग-शृंगार के वर्णन की प्रवृत्ति इनकी विशेष जान पड़ती

है जिसमें कहीं कहीं ये अश्लीलता की सीमा के भीतर जा पड़ते हैं। दो सवैये इनके उद्धृत किए जाते हैं—

देखि हमैं सब आपुस में जो कछू मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि द्यौस नेवाज हमैं दहती हैं॥
बातैं चवाव भरी सुनि कै रिस आवति, पै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिये सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं॥

———

आगे तौ कीन्हीं लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जौ छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो, ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज, जो तू तरसै, उनहू तरसावति।
बावरी! जौ पै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

(१३) **देव**—ये इटावा के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। 'भावविलास' का रचना-काल इन्होंने १७४६ दिया है और उस ग्रंथ-निर्माण के समय अपनी अवस्था सोलह ही वर्ष की कही है। इस हिसाब से इनका जन्म-संवत् १७३० निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनका और कुछ वृत्तांत नहीं मिलता। इतना अवश्य अनुमित होता है कि इन्हें कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला जिसके यहाँ रहकर इन्होंने सुख से कालयापन किया हो। ये बराबर अनेक रईसों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे, पर कहीं जमे नहीं। इसका कारण या तो इनकी प्रकृति की विचित्रता मानें या इनकी कविता के साथ उस काल की रुचि का असामंजस्य। इन्होंने अपने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को औरंगजेब के बड़े पुत्र आज़मशाह को सुनाया था जो हिंदी-कविता के प्रेमी थे। इसके पीछे इन्होंने भवानीदत्त वैश्य के

नाम पर "भवानीविलास" और कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल-विलास' की रचना की। फिर मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योत-सिंह बैस के लिये 'प्रेमचंद्रिका' बनाई। इसके उपरांत ये बरा-बर अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते रहे। इस यात्रा के अनुभव का इन्होंने अपने 'जाति-विलास' नामक ग्रंथ में कुछ उपयोग किया। इस ग्रंथ में भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन में उनकी विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त हुई हों, यह बात नहीं है। इतने पर्यटन के उपरांत जान पड़ता है कि इन्हें एक अच्छे आश्रयदाता राजा भोगीलाल मिले जिनके नाम पर संवत् १७८३ में इन्होंने 'रसविलास' नामक ग्रंथ बनाया। इन राजा भोगीलाल की इन्होंने अच्छी तारीफ़ की है, जैसे, "भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।"

रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सब से अधिक ग्रंथ-रचना देव ने की है। कोई इनकी रची पुस्तकों की संख्या ५२ और कोई ७२ तक बतलाते हैं। जो हो, इनके निम्नलिखित ग्रंथों का तो पता है—

(१) भाव-विलास, (२) अष्टयाम, (३) भवानी-विलास, (४) सुजान-विनोद, (५) प्रेम-तरंग, (६) राग-रत्नाकर, (७) कुशल-विलास, (८) देव-चरित्र, (९) प्रेम-चंद्रिका, (१०) जाति-विलास, (११) रस-विलास, (१२) काव्य-रसायन या शब्द-रसायन, (१३) सुख-सागर-तरंग, (१४) वृक्ष-विलास, (१५) पावस-विलास, (१६) ब्रह्म-दर्शन पचीसी, (१७) तत्त्व-दर्शन पचीसी, (१८) आत्म-दर्शन पचीसी, (१९) जगद्दर्शन पचीसी, (२०) रसानंद-लहरी, (२१) प्रेम-दीपिका, (२२) सुमिल-विनोद, (२३) राधिका-विलास, (२४) नीति-शतक और (२५) नख-शिख-प्रेमदर्शन।

ग्रंथों की अधिक संख्या के संबंध में यह जान रखना भी आवश्यक है कि देवजी अपने पुराने ग्रंथों के कवित्तों को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया करते थे। इससे वे ही कवित्त बार बार इनके अनेक ग्रंथों में मिलेंगे। 'सुखसागर-तरंग' तो प्राय: अनेक ग्रंथों से लिए हुए कवित्तों का संग्रह है। 'रागरत्नाकर' में राग-रागिनियों के स्वरूप का वर्णन है। 'अष्टयाम' तो रात-दिन के भोग-विलास की दिनचर्य्या है जो मानो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओं के सामने कालयापन-विधि का ब्योरा पेश करने के लिये बनी थी। 'ब्रह्मदर्शन-पचीसी' और 'तत्त्व-दर्शन-पचीसी' में जो विरक्ति का भाव है वह बहुत संभव है कि अपनी कविता के प्रति लोक की उदासीनता देखते देखते उत्पन्न हुई हो।

ये आचार्य्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य्यत्व के पद के अनुरूप कार्य्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई समर्थ नहीं हुआ। कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्य-शास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धांत-निरूपण का मार्ग नहीं पा सके। बात यह थी कि एक तो व्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप में ही हुआ; विचार-पद्धति के उत्कर्ष-साधन के योग्य वह न हो पाई। दूसरे उस समय पद्य में ही लिखने की परिपाटी थी। अतः आचार्य्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ लोगों ने भक्तिवश अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हें कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग हैं जिन्हें "तात्पर्य्य-वृत्ति" एक नया नाम मालूम होता है और जो संचारियों में एक 'छल' और बढ़ा हुआ देखकर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्य्य-वृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आ रही है

और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्य्य-वृत्ति वास्तव में वाक्य के भिन्न भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है अतः वह अभिधा से भिन्न नहीं; वाक्यगत अभिधा ही है। रहा 'छल संचारी'; वह संस्कृत की 'रसतरंगिणी' से, जहाँ से और बातें ली गई हैं, लिया गया है। दूसरी बात यह कि साहित्य के सिद्धांतग्रंथों से परिचित मात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ संचारी उपलक्षण मात्र हैं, संचारी और भी कितने हो सकते हैं।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का निरूपण हिंदी के रीति-ग्रंथों में प्रायः कुछ भी नहीं हुआ है। इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक ज़रा है भी कठिन। इस दृष्टि से देवजी के इस कथन पर कि—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस-विरस, उलटी कहत नवीन॥

यहाँ अधिक कुछ कहने का अवकाश नहीं। व्यंजना की व्याप्ति कहाँ तक है, उसकी किस-किस प्रकार क्रिया होती है, इत्यादि बातों का पूरा विचार किए बिना कुछ कहना कठिन है। देवजी का यहाँ 'व्यजंना' से तात्पर्य्य पहेली-बुझौवलवाली "वस्तुव्यंजना" का ही जान पड़ता है। यह दोहा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान में था।

कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में ख़ूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही में उसका अंगभंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का एक कारण यह भी था।

अधिकतर इनकी भाषा में प्रवाह पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्दव्यय बहुत अधिक है और अर्थ अल्प।

अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकांत और अनुप्रास के लिये ये कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते मरोड़ते न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है, वहाँ की रचना बहुत ही सरस हुई है। इनका सा अर्थ-सौष्ठव और नवोन्मेष बिरले ही कवियों में मिलता है। रीति-काल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-संपन्न कवि थे, इसमें संदेह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दूरारूढ़ है। इनकी कविता के कुछ उत्तम उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

सूनो कै परम पद, ऊनो कै अनंत मद,
नूनो कै नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रजवीथी बिथुरै परी॥
भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय के सँयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि,
जसुदा के कोरै एक बारही कुरै परी॥

———

डार द्रुम पलना, बिछौना नवपल्लव के,
सुमन झँगूला सोहै तन छबि भारी दै।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावैं देव,
कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥

पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन
कंजकली-नायिका लतानि सिर सारी दै ।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी दै ॥

———

सखी के सकोच, गुरु-सोच मृगलोचनि
रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात ।
देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात ॥
को जानै, री बीर ! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात ।
बड़े-बड़े नैनन सों आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो-गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात ॥

———

झहरि झहरि झीनी बूँद हैं परति मानो,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में ।
आनि कह्यो स्याम मो सौं 'चलौ झूलिबे कों आज',
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ॥
चाहत उठ्योई, उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में ।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेई छाई बूँदैं मेरे आँसु ह्वै दृगन में ॥

———

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ॥

'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहू पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥

———

जब तें कुँवर कान्ह रावरी, कलानिधान!
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति रिसानी सी ॥
छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छका सी, छिन
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी।
बाँधी सी, बँधी सी विष, बूड़ति बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति, बिलोकति बिकानी सी ॥

———

'देव' मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद-बिंदु कै भाख्यो।
कंचुकि में चुपरयो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो ॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो ॥

———

धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसीं, उकसीं न उधेरी।
री! अगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी ॥
'देव', कछू अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूड़ि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥

(१४) **श्रीधर या मुरलीधर**—ये प्रयाग के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग उत्पन्न हुए थे। यद्यपि अभी तक इनका "जंगनामा" ही प्रकाशित हुआ है जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदार के युद्ध का वर्णन है, पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इनके बनाए कई रीति-ग्रंथों का उल्लेख

किया है; जैसे, नायिकाभेद, चित्रकाव्य आदि। इनका कविता-काल संवत् १७६० के आगे माना जा सकता है।

(१५) **सूरति मिश्र**—ये आगरे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे जैसा कि इन्होंने स्वयं लिखा है—"सूरति मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास"। इन्होंने 'अलंकारमाला' संवत् १७६६ में और बिहारी-सतसई की 'अमरचंद्रिका' टीका संवत् १७९४ में लिखी। अतः इनका कविता-काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

ये नसरुल्लाखाँ नामक सरदार के यहाँ तथा दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आया जाया करते थे। इन्होंने 'बिहारी-सतसई', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर विस्तृत टीकाएँ रची हैं जिनसे इनके साहित्य-ज्ञान और मार्मिकता का अच्छा परिचय मिलता है। टीकाएँ व्रजभाषा गद्य में हैं। इन टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने 'वैताल-पंचविंशति' का व्रजभाषा गद्य में अनुवाद किया है और निम्नलिखित रीति-ग्रंथ रचे हैं—

१—अलंकार-माला, २—रसरत्न-माला, ३—सरस-रस, ४—रस-ग्राहक चंद्रिका, ५—नख-शिख, ६—काव्य-सिद्धांत, ७—रस-रत्नाकर।

अलंकार-माला की रचना इन्होंने 'भाषाभूषण' के ढँग पर की है। इसमें भी लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही दोहे में मिलते हैं। जैसे—

(क) हिम सो, हर के हास सो जस **मालोपम** ठानि।

(ख) सो **असँगति**, कारन अवर, कारज औरै थान॥

चलि अहि श्रुति आनहि डसत, नसत और के प्रान॥

इनके ग्रंथ सब मिले नहीं हैं। जितने मिले हैं उनसे ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कवि जान पड़ते हैं। इनकी कविता

में तो कोई विशेषता नहीं जान पड़ती पर साहित्य का उपकार इन्होंने बहुत कुछ किया है। 'नख-शिख' से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

तेरे ये कपोल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है॥
नेकु दरपन समता की चाह करी कहूँ,
भए अपराधी ऐसो चित्त धारियत है।
'सूरति' सो याही तें जगत बीच आजहूँ लौं
उनके बदन पर छार डारियत है॥

(१६) **कवींद्र (उदयनाथ)**—ये कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे और संवत् १७३६ के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका "रसचंद्रोदय" नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'विनोदचंद्रिका' और 'जोगलीला' नामक इनकी दो और पुस्तकों का पता खोज में लगा है। 'विनोदचंद्रिका' संवत् १७७७ और 'रसचंद्रोदय' संवत् १८०४ में बना। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०४ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्तसिंह (भूपति) के यहाँ बहुत दिन रहे।

इनका 'रसचंद्रोदय' शृंगार का एक अच्छा ग्रंथ है। इनकी भाषा मधुर और प्रसादपूर्ण है। वर्ण्य विषय के अनुकूल कल्पना भी ये अच्छी करते थे। इनके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

सहर मँझार ही पहर एक लागि जैहै,
छोर पै नगर के सराय है उतारे की।

कहत कविंद मग माँझ ही परैगो साँझ,
खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की ॥
घर के हमारे परदेस को सिधारे,
यातें दया कै बिचारी हम रीति राहबारे की।
उतरौ नदी के तीर, बर के तरे ही तुम,
चौंकौ जनि चौकी तहाँ पाहरू हमारे की ॥

———

राजै रसमै री तैसी बरषा समै री चढ़ी,
चंचला नचै री चकचौंधा कौंधा वारैं री।
व्रती व्रत हारैं हिए परत फुहारैं,
कछू छोरैं कछू धारैं जलधर जलधारैं री ॥
भनत कविंद कुंजभौन पौन सौरभ सों
काके न कँपाय प्रान परहथ पारैं री ?
काम-कंदुका से फूल डोलि डोलि डारैं, मन
औरै किए डारैं ये कदंबन की डारैं री ॥

(१७) **श्रीपति**—ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७७७ में 'काव्य-सरोज' नामक रीतिग्रंथ बनाया। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

१—कविकल्पद्रुम, २—रस-सागर, ३—अनुप्रास-विनोद, ४—विक्रम-विलास, ५—सरोज-कलिका, ६—अलंकार-गंगा।

श्रीपति ने काव्य के सब अंगों का निरूपण विशद रीति से किया है। दोषों का विचार पिछले ग्रंथों से अधिक विस्तार के साथ किया है और दोषों के उदाहरणों में केशवदास के बहुत से पद्य रखे हैं। इससे इनका साहित्यिक विषयों का सम्यक् और स्पष्ट बोध तथा विचार-स्वातंत्र्य प्रकट होता है। 'काव्य-सरोज'

बहुत ही प्रौढ़ ग्रंथ है। काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य में व्याख्या की परिपाटी चल गई होती तो आचार्य्यत्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते। दासजी तो इनके बहुत अधिक ऋणी हैं। उन्होंने इनकी बहुत सी बातें ज्यों की त्यों अपने "काव्यनिर्णय" में चुपचाप रख ली हैं। आचार्य्यत्व के अतिरिक्त कवित्व भी इनमें ऊँची कोटि का था। रचना-विवेक इनमें बहुत ही जाग्रत और रुचि अत्यंत परिमार्जित थी। झूठे शब्दाडंबर के फेर में ये बहुत कम पड़े हैं। अनुप्रास इनकी रचनाओं में बराबर आए हैं पर उन्होंने अर्थ या भाव-व्यंजना में बाधा नहीं डाली है। अधिकतर अनुप्रास रसानुकूल वर्णविन्यास के रूप में आकर भाषा में कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य घटित करते पाए जाते हैं। पावस ऋतु का तो इन्होंने बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जलभरे झूमैं मानौं भूमै परसत आय,
दसहू दिसान घूमें दामिनी लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुँधारे कारे,
धुरवान धारे धावैं छवि सों छए छए॥
श्रीपति सुकवि कहै घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तन ताव तें तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज-चादर रहैगी आज,
कादर करत मोहिं बादर नए नए॥

———

सारस के नादन को बाद ना सुनात कहूँ,
नाहक ही बकवाद दादुर महा करै।

श्रीपति सुकवि जहाँ ओज ना सरोजन की,
फूल ना फुलत जाहि चित दै चहा करै ॥
बकन की बानी की बिराजति है राजधानी,
काई सों कलित पानी फेरत हहा करै।
घोंघन के जाल, जामें नरई सेवाल व्याल,
ऐसे पापी ताल को मराल लै कहा करै ?

घूँघट-उदयगिरिवर तें निकसि रूप,
सुधा सों कलित छबि-कीरति बगारो है।
हरिन डिठौना स्याम, सुख सील बरषत,
करषत सोक, अति तिमिर बिदारो है॥
श्रीपति बिलोकि सौति-बारिज मलिन होत,
हरषि कुमुद फूलै नंद को दुलारो है।
रंजन मदन, तन गंजन बिरह, बिबि
खंजन सहित चंदवदन तिहारो है॥

(१८) **बीर**—ये दिल्ली के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने "कृष्णचंद्रिका" नामक रस और नायिकाभेद का एक ग्रंथ संवत् १७७९ में लिखा। कविता साधारण है। वीर-रस का एक कवित्त देखिए—

अरुन बदन और फरकैं बिसाल बाहु,
कौन को हियो है करै सामने जो रुख को।
प्रबल प्रचंड निसिचर फिरैं धाए,
धूरि चाहत मिलाए दसकंध-अंध मुख को॥
चमकैं समरभूमि बरछी, सहस फन,
कहत पुकारे लंक-अंक दीह दुख को।
बलकि बलकि बोलैं बीर रघुबीर धीर,
महि पर मीड़ि मारौं आज दसमुख को॥

(१९) **कृष्ण कवि**—ये माथुर चौबे थे और बिहारी के पुत्र प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के मंत्री, राजा आयामल्ल की आज्ञा से बिहारी-सतसई की जो टीका की उसमें महाराज जयसिंह के लिये वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है और उनकी प्रशंसा भी की है। अतः यह निश्चित है कि यह टीका जयसिंह के जीवनकाल में ही बनी। महाराज जयसिंह संवत् १७९९ तक वर्त्तमान थे। अतः यह टीका संवत् १७८५ और १७९० के बीच बनी होगी। इस टीका में कृष्ण ने दोहों के भाव पल्लवित करने के लिये सवैये लगाए हैं और वार्तिक में काव्यांग स्फुट किए हैं। काव्यांग इन्होंने अच्छी तरह दिखाए हैं और वे इस टीका के एक प्रधान अंग हैं, इसी से ये रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों के बीच ही रखे गए हैं।

इनकी भाषा सरल और चलती है तथा अनुप्रास आदि की ओर बहुत कम झुकी है। दोहों पर जो सवैये इन्होंने लगाए हैं उनसे इनकी सहृदयता, रचनाकौशल और भाषा पर अधिकार अच्छी तरह प्रमाणित होता है। इनके दो सवैये देखिए—

"सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥"

छबि सों फबि सीस किरीट बन्यो, रुचिसाल हिए बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि कृष्ण कहैं लखि सुंदर मूरति यों अभिलाष हिए सरसै।
वह नंदकिसोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझ बसै॥

———

"थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह मनौ भए आजुकालि के दानि॥"

ह्वै अति आरत मैं बिनती बहु बार करी करुना रस-भीनी।
कृष्ण कृपानिधि दीन के बंधु सुनी असुनी तुम काहे को कीनी॥

रीझते रंचक ही गुन सों वह बानि बिसारि मनो अब दीनी ।
जानि परी तुमहू हरि जू ! कलिकाल के दानिन की गति लीनी ॥

(२०) **रसिक सुमति**—ये ईश्वरदास के पुत्र थे और सन् १७८५ में वर्त्तमान थे । इन्होंने "अलंकार-चंद्रोदय" नामक एक अलंकार-ग्रंथ कुवलयानंद के आधार पर दोहों में बनाया । पद्यरचना साधारणतः अच्छी है । 'प्रत्यनीक' का लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में देखिए—

प्रत्यनीक अरि सों न बस, अरि-हितूहि दुख देय ।
रवि सों चलै न, कंज की दीपति ससि हरि लेय ॥

(२१) **गंजन**—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे । इन्होंने संवत् १७८६ में "कमरुद्दीनखाँ हुलास" नामक शृंगाररस का एक ग्रंथ बनाया जिसमें भावभेद, रसभेद के साथ षट्ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है । इस ग्रंथ में इन्होंने अपना पूरा वंश-परिचय दिया है और अपने प्रपितामह मुकुटराय के कवित्व की प्रशंसा की है । कमरुद्दीनखाँ दिल्ली के बादशाह के वज़ीर थे और भाषाकाव्य के अच्छे प्रेमी थे । इनकी प्रशंसा गंजन ने खूब जी खोलकर की है जिससे जान पड़ता है इनके द्वारा कवि का बड़ा अच्छा सम्मान हुआ था । उपर्युक्त ग्रंथ एक अमीर को खुश करने के लिये लिखा गया है इससे ऋतु-वर्णन के अंतर्गत उसमें अमीरी शौक और आराम के बहुत से सामान गिनाए गए हैं । इस बात में ये ग्वाल कवि से मिलते जुलते हैं । इस पुस्तक में सच्ची भावुकता और प्रकृति-रंजन की शक्ति बहुत अल्प है । भाषा भी शिष्ट और प्रांजल नहीं । एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

मीना के महल जरबाफ दर परदा हैं,
हलबी फनूसन में रोशनी चिराग की ।

गुलगुली गिलम गरकआब पग हात,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की ॥
केती महताबमुखी खचित जवाहिरन,
गंजन सुकवि कहै बौरी अनुराग की।
एतमाददौला कमरुद्दीखाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की ॥

(२२) **अलीमुहिबखाँ (प्रीतम)**—ये आगरे के रहनेवाले थे। इन्होंने संवत् १७८७ में "खटमलबाईसी" नाम की हास्यरस की एक पुस्तक लिखी। इस प्रकरण के आरंभ में कहा गया है कि रीतिकाल में प्रधानता शृंगाररस की रही। यद्यपि वीररस लेकर भी रीति-ग्रंथ रचे गए, पर किसी और रस को अकेला लेकर मैदान में कोई नहीं उतरा था। यह हौसले का काम हजरत अलीमुहिबखाँ साहिब ने कर दिखाया। इस ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व कई पक्षों में दिखाई पड़ता है। हास्य आलंबन-प्रधान रस है। आलंबन मात्र का वर्णन ही इस रस में पर्य्याप्त होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए जब हम अपने साहित्यक्षेत्र में हास के आलंबनों की परंपरा की जाँच करते हैं तब एक प्रकार की बंधी रूढ़ि सी पाते हैं। संस्कृत के नाटकों में खाऊपन और पेट की दिल्लगी बहुत कुछ बँधी सी चली आई। भाषा-साहित्य में कंजूसों की बारी आई। अधिकतर ये ही हास्यरस के आलंबन रहे। खाँ साहब ने शिष्ट हास का एक बहुत अच्छा मैदान दिखाया। इन्होंने हास्यरस के लिये खटमल को पकड़ा जिस पर यह संस्कृत उक्ति प्रसिद्ध है—

कमला कमले शेते, हरश्शेते हिमालये।
क्षीराब्धौ च हरिश्शेते मन्ये मत्कुण-शंकया ॥

क्षुद्र और महान् के अभेद की भावना उसके भीतर कहीं छिपी

हुई है। इन सब बातों के विचार से हम खाँ साहब या प्रीतमजी को एक उत्तम श्रेणी का पथप्रदर्शक कवि मानते हैं। इनका और कोई ग्रंथ नहीं मिलता, न सही; इनकी "खटमल-बाईसी" ही बहुत काल तक इनका स्मरण बनाए रखने के लिये काफ़ी है।

"खटमलबाईसी" के दो कवित्त देखिए—

जगत के कारन, करन चारौ वेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरि कै।
पोषन अवनि, दुख-सोषन तिलोकन के,
सागर में जाय सोए सेस सेज करि कै॥
मदन जरायो जो, सँहारैं दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरबरि कै।
बिधि हरि हर, और इनतें न कोऊ, तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन कों डरि कै॥

———

बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू ना बताई है॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है॥

(२३) **दास (भिखारीदास)**—ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना बंश-परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु, प्रपितामह राय रामदास और वृद्धप्रपिता-

मह राय नरोत्तमदास थे। दासजी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके अपुत्र मर जाने से वंशपरंपरा खंडित हो गई। दासजी के इतने ग्रंथों का पता लग चुका है—

रससारांश (संवत् १७९९), छंदोर्णव पिंगल (संवत् १७९९), काव्यनिर्णय (संवत् १८०३), शृंगारनिर्णय (संवत् १८०७), नामप्रकाश (कोश, संवत् १७९५), विष्णुपुराण भाषा (दोहे चौपाई में), छंदप्रकाश, शतरंज-शतिका, अमरप्रकाश (संस्कृत अमरकोष भाषा-पद्य में)।

'काव्यनिर्णय' में दासजी ने प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई बाबू हिंदूपतिसिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। राजा पृथ्वीपति संवत् १७९१ में गद्दी पर बैठे थे और १८०७ में दिल्ली के वजीर सफदरजंग द्वारा छल से मारे गए थे। ऐसा जान पड़ता है कि संवत् १८०७ के बाद इन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा अतः इनका कविता-काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जा सकता है।

काव्यांगों के निरूपण में दासजी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, श्रीपति से इन्होंने बहुत कुछ लिया है। इनकी विषय-प्रतिपादन-शैली उत्तम है और आलोचन शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। जैसे, हिंदी काव्यक्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अंतर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधाकृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दासजी ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ अधिक व्यापक करना चाहा और कहा—

श्रीमानन के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनैं सुकवि-सिरमौर ॥

पर यह कोई बड़े महत्त्व की उद्भावना नहीं कही जा सकती है। जो लोग दासजी के दस और हावों के नाम लेने पर चौंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि साहित्यदर्पण में नायिकाओं के स्वभावज अलंकार १८ कहे गए हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमें से अंतिम आठ को लेकर यदि दासजी ने भाषा में प्रचलित दस हावों में और जोड़ दिया तो क्या नई बात की? यह चौंकना तब तक बना रहेगा जब तक हिंदी में संस्कृत के मुख्य सिद्धांत-ग्रंथों के सब विषयों का यथावत् समावेश न हो जायगा और साहित्य-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन न होगा।

अतः दासजी के आचार्यत्व के संबंध में भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय में। यद्यपि इस क्षेत्र में औरों को देखते दासजी ने अधिक काम किया है, पर सच्चे आचार्य का पूरा रूप इन्हें भी नहीं प्राप्त हो सका है। परिस्थिति से ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्य्याप्त और कहीं कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे, उपादान-लक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दासजी भी औरों के समान वस्तुतः कवि के रूप में ही हमारे सामने आते हैं।

दासजी ने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार किया है। शृंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। अतः इन्होंने भी उसका वर्णन-विस्तार देव की तरह बढ़ाया है। देव ने भिन्न भिन्न देशों और जातियों की स्त्रियों के वर्णन के

लिये जाति-विलास लिखा जिसमें नाइन, धोबिन, सब आ गईं, पर दासजी ने रसाभास के डर से या मर्यादा के ध्यान से इनको आलंबन के रूप में न रखकर दूती के रूप में रखा है। इनके 'रससारांश' में नाइन, नटिन, धोबिन, कुम्हारिन, बरइन, सब प्रकार की दूतियाँ मौजूद हैं। इनमें देव की अपेक्षा अधिक रस-विवेक था। इनका शृंगार-निर्णय अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिये व्याकुल हुए हैं। इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी है। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इनमें कम पाई जाती है उसी प्रकार उनकी सी असफलता भी कहीं नहीं मिलती। जिस बात को ये जिस ढंग से—चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो—कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमें थी। दासजी ऊँचे दरजे के कवि थे। इनकी कविता के कुछ नमूने लीजिए—

वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनको घरकाज की धाई॥
ह्याँ दिखसाध निवारे रहौ तब ही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई॥

———

नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि मैं तैए?
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए?
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे तें कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पैए॥

———

ऊधो ! तहाँ ई चलौ लै हमें जहँ कूबरि कान्ह बसैं एक ठौरी।
देखिय दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र; लगाइए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबरि-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥

———

कढ़ि कै निसंक पैठि जाति झुंड झुंडन में,
लोगन को देखि दास आनँद पगति है।
दौरि दौरि जहीं तहीं लाल करि डारति है,
अंक लगि कंठ लगिबे को उमगति है॥
चमक-झमक-वारी, ठमक-जमक-वारी,
रमक-तमक-वारी जाहिर जगति है।
राम ! असि रावरे की रन में नरन में—
निलज वनिता सी होरी खेलन लगति है॥

———

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री, तेरी
तन-दुति-केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी-स्वाति-बूँदन के चातक मे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो, री !
जियरो मनोभव-सरन को तुनीर भो।
एरी ! बेगि करि कैं मिलापु थिर थापु, न तौ
आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

———

अँखियाँ हमारी दईमारी सुधि बुधि हारीं,
मोहू तें जु न्यारी दास रहैं सब काल में।
कौन गहै ज्ञानै, काहि सौंपत सयानै, कौन
लोक ओक जानै, ये नहीं हैं निज हाल में॥

प्रेम पगि रहीं, महामोह में उमगि रहीं,
ठीक ठगि रहीं, लगि रहीं बनमाल में।
लाज को अँचै कै, कुलधरम पचै कै, वृथा
बंधन सँचै कै भईं मगन गोपाल में ॥

(२४) भूपति (राजा गुरुदत्तसिंह)—ये अमेठी के राजा थे। इन्होंने संवत् १७९१ में शृंगार के दोहों की एक सतसई बनाई। उदयनाथ कवींद्र इनके यहाँ बहुत दिनों तक रहे। ये महाशय जैसे सहृदय और काव्य-मर्मज्ञ थे वैसे ही कवियों का आदर-सम्मान करनेवाले थे। क्षत्रियों की वीरता भी इनमें पूरी थी। एक बार अवध के नवाब सआदतखाँ से ये बिगड़ खड़े हुए। सआदतखाँ ने जब इनकी गढ़ी घेरी तब ये बाहर सआदतखाँ के सामने ही बहुतों को मार-काटकर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए। इसका उल्लेख कवींद्र ने इस प्रकार किया है—

समर अमेठी के सरेष गुरुदत्तसिंह,
सादत की सेना समसेरन सों भानी है।
भनत कवींद्र काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है ॥
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उड़ी,
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालो लै चिनी को नीको जोबन-तरंग मानो,
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है ॥

'सतसई' के अतिरिक्त भूपतिजी ने 'कंठाभूषण' और 'रस-रत्नाकर' नाम के दो रीति-ग्रंथ भी लिखे थे जो कहीं देखे नहीं गए हैं। शायद अमेठी में हों। सतसई के दोहे दिए जाते हैं—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि-मंडल तें कढ़ति छनि जनु पियूष की धार ॥

भए रसाल रसाल हैं भरे पुहुप मकरंद।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद-मंद॥

(२५) **तोषनिधि**—ये एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। ये शृंगवेरपुर (सिंगरौर जिला इलाहाबाद) के रहनेवाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७९१ में 'सुधानिधि' नामक एक अच्छा बड़ा ग्रंथ रसभेद और भाव-भेद का बनाया। खोज में इनकी दो पुस्तकें और मिली हैं—विनयशतक और नख-शिख। तोषजी ने काव्यांगों के बहुत अच्छे लक्षण और सरस उदाहरण दिए हैं। उठाई हुई कल्पना का अच्छा निर्वाह हुआ है और भाषा स्वाभाविक प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है। तोषजी एक बड़े ही सहृदय और निपुण कवि थे। भावों का विधान सघन होने पर भी कहीं उलझा नहीं है। बिहारी के समान इन्होंने भी कहीं कहीं ऊहात्मक अत्युक्ति की है। कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं।

भूषन-भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस मैं छबि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उकतैं मुकतैं उलही कवि तोष अनोष-भरी चतुराई।
होत सबै सुख की जनिता बनि आवति जौ बनिता कविताई॥

एक कहै हँसि ऊधवजू! ब्रज की जुवती तजि चंद्रप्रभा सी।
जाय कियो कह तोष प्रभू! एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा! मथुरा में कहा मति नासी।
जीव नहीं उबियात जबै ढिग पौढ़ति है कुबजा कछुवा सी॥

श्रीहरि की छबि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहि में करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित स्रौन जितै-तित सो करतौ करि हेतो॥

मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहै तोष कहै लिखितो बिधि एतो ।
तौ करतार इती करनी करिकै कलि में कल कीरति लेतो ॥

———

तौ तन में रवि को प्रतिबिंब परे किरनैं सो घनी सरसाती ।
भीतर हू रहि जात नहीं, अँखियाँ चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती ॥
बैठि रहौ, बलि, कोठरी में कह तोष करौं बिनती बहु भाँती ।
सारसी-नैनि लै आरसी सो अँग काम कहा कढ़ि घाम में जाती ?

(२६-२७) **दलपतिराय और बंसीधर**—दलपतिराय महाजन और बंसीधर ब्राह्मण थे। दोनों अहमदाबाद (गुजरात) के रहनेवाले थे। इन लोगों ने संवत् १७९२ में उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम पर "अलंकार-रत्नाकर" नामक ग्रंथ बनाया। इसका आधार महाराज जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण' है। इसका 'भाषाभूषण' के साथ प्रायः वही संबंध है जो 'कुवलयानंद' का 'चंद्रालोक' के साथ। इस ग्रंथ में विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है। रीतिकाल के भीतर व्याख्या के लिये कभी कभी गद्य का उपयोग कुछ ग्रंथकारों की सम्यक् निरूपण की उत्कंठा सूचित करता है। इस उत्कंठा के साथ ही साथ गद्य की उन्नति की आकांक्षा का सूत्रपात समझना चाहिए जो सैकड़ों वर्ष बाद पूरी हुई।

'अलंकार-रत्नाकर' में उदाहरणों पर अलंकार घटाकर बताए गए हैं और उदाहरण दूसरे अच्छे कवियों के भी बहुत से हैं। इससे यह अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। दंडी आदि कई संस्कृत आचार्यों के उदाहरण भी लिए गए हैं। हिंदी-कवियों की लंबी नामावली ऐतिहासिक खोज में बहुत उपयोगी है।

कवि भी ये लोग अच्छे थे। पद्यरचना की निपुणता के अतिरिक्त इनमें भावुकता और बुद्धि-वैभव दोनों हैं। इनका एक कवित्त नीचे दिया जाता है।

अरुन हरौल नभ-मंडल-मुलुक पर
चढ़्यो अक्क चक्कवै कि तानि कै किरिन-कोर।
आवत ही साँवत नछत्र जोय धाय धाय,
घोर घमसान करि काम आए ठौर ठौर॥
ससहर सेत भयो, सटक्यो सहमि ससी,
आमिल-उलूक जाय गिरे कंदरन ओर।
दुंद देखि अरबिंद-बदीखाने तें भगाने
पायक पुलिंद वै मलिंद मकरंद-चोर॥

(२८) **सोमनाथ**—ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १७९४ में 'रसपीयूष-निधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल, काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दासजी के काव्य-निर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांग-निरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।

विषय-निरूपण के अतिरिक्त कवि-कर्म में भी ये सफल हुए हैं। कविता में ये अपना उपनाम 'ससिनाथ' भी रखते थे। इनमें भावुकता और सहृदयता पूरी थी, इससे इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पाई। इनकी एक अन्योक्ति कल्पना की मार्मिकता और प्रसादपूर्ण व्यंग्य के कारण बहुत प्रसिद्ध है। सघन और पेचीले मजमून गाँठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरुद्ध

है। 'रसपीयूष-निधि' के अतिरिक्त खोज में इनके तीन और ग्रंथ मिले हैं—

कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी (संवत् १८००)
सुजान-विलास (सिंहासन-बत्तीसी पद्य में) (संवत् १८०७)
माधव-विनोद नाटक (संवत् १८०९)

उक्त ग्रंथों के निर्माणकाल की ओर ध्यान देने से इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक ठहरता है।

रीतिग्रंथ और मुक्तक-रचना के सिवा इस सत्कवि ने प्रबंध-काव्य की ओर भी ध्यान दिया। सिंहासन-बत्तीसी के अनुवाद को यदि हम काव्य न मानें तो कम से कम पद्यप्रबंध अवश्य ही कहना पड़ेगा। 'माधव-विनोद' नाटक शायद मालती-माधव के आधार पर लिखा हुआ प्रेमप्रबंध है। पहले कहा जा चुका है कि कल्पित कथा लिखने की प्रथा हिंदी के कवियों में प्रायः नहीं के बराबर रही। जहाँगीर के समय में संवत् १६७३ में बना पुहकर कवि का 'रसरत्न' ही अब तक नाम लेने योग्य कल्पित प्रबंधकाव्य था। अतः सोमनाथजी का यह प्रयत्न उनके दृष्टि-विस्तार का परिचायक है। नीचे सोमनाथजी की कुछ कविताएँ दी जाती हैं—

दिसि विदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छाँड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरि गे।
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरि गे॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदाबूँदि हू न करि गे।
सोर भयो घोर चारो ओर महिमंडल में,
'आए घन, आए घन', आयकै उघरि गे॥

———

प्रीति नई नित कीजत है, सब सों छल की बतरानि परी है।
सीखी ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमैं दिन द्वैक तें जानि परी है।।
और कहा लहिए, सजनी! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है।।

———

झमकतु बदन मतंग कुंभ उत्तंग अंग वर।
बंदन-बलित भुसुंड कुंडलित सुंडि सिद्धिधर।।
कंचन-मनिमय मुकुट जगमगै सुघर सीस पर।
लोचन तीनि विसाल चार भुज ध्यावत सुर नर।।
ससिनाथ नंद स्वच्छंद निति कोटि-विघन-छरछंद-हर।
जय बुद्धि-बिलंद अमंद दुति इंदुभाल आनंदकर।।

(२९) **रसलीन**—इनका नाम सैयद गुलाम नबी था। ये प्रसिद्ध बिलग्राम (जि० हरदोई) के रहनेवाले थे, जहाँ अच्छे अच्छे विद्वान मुसलमान होते आए हैं। अपने नाम के आगे 'बिलगरामी' लगाना एक बड़े सम्मान की बात यहाँ के लोग समझते थे। गुलाम नबी ने अपने पिता का नाम बाकर लिखा है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अंगदर्पण" संवत् १७९४ में लिखी जिसमें अंगों का, उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त, चमत्कारपूर्ण वर्णन है। सूक्तियों के चमत्कार के लिये यह ग्रंथ काव्य-रसिकों में बराबर विख्यात चला आया है। यह प्रसिद्ध दोहा, जिसे जनसाधारण बिहारी का समझा करते हैं, अंगदर्पण का ही है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत, स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार।।

'अंगदर्पण' के अतिरिक्त रसलीनजी ने सं० १७९८ में 'रस-प्रबोध' नामक रसनिरूपण का ग्रंथ दोहों में बनाया। इसमें

११५५ दोहे हैं और रस, भाव, नायिकाभेद, षट्ऋतु, बारहमासा आदि अनेक प्रसंग आए हैं। रस-विषय का अपने ढँग का यह छोटा सा अच्छा ग्रंथ है। रसलीन ने स्वयं कहा है कि इस छोटे से ग्रंथ को पढ़ लेने पर रस का विषय जानने के लिये और ग्रंथ पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। पर यह ग्रंथ अंगदर्पण के ऐसा प्रसिद्ध न हुआ।

रसलीन ने अपने को दोहों की रचना तक ही रखा जिनमें पदावली की गति द्वारा नाद-सौंदर्य्य का अवकाश बहुत ही कम रहता है। चमत्कार और उक्तिवैचित्र्य की ओर इन्होंने अधिक ध्यान रखा। नीचे इनके कुछ दोहे दिए जाते हैं—

धरति न चौकी नगजरी, यातें उर में लाय।
छाँह परे पर-पुरुष की, जनि तिय-धरम नसाय॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढ़ि छुवन छवानि।
कटि निज दरब धरयो चहत, वक्षस्थल में आनि॥

कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि, मास मास कढ़ि आय।
तुव मुख-मधुराई लखे फीको परि घटि जाय॥
रमनी-मन पावत नहीं लाज प्रीति को अंत।
दुहूँ ओर ऐंचो रहै, जिमि बिबि तिय को कंत॥
तिय-सैसव-जोबन मिले, भेद न जान्यो जात।
प्रात समय निसि द्यौस के दुवौ भाव दरसात॥

(३०) **रघुनाथ**—ये बंदीजन एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं जो काशिराज महाराज बरिबंडसिंह की सभा को सुशोभित करते थे। काशी-नरेश ने इन्हें चौरा ग्राम दिया था। इनके पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने महाभारत का भाषा-अनुवाद किया जो काशिराज के पुस्तकालय में है। ठाकुर शिवसिंहजी ने इनके चार ग्रंथों के नाम लिखे हैं—

काव्य-कलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन और इश्क-महोत्सव। बिहारी-सतसई की एक टीका का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक समझना चाहिए।

'रसिकमोहन' (सं० १७९६) अलंकार का ग्रंथ है। इसमें उदाहरण केवल शृंगार के ही नहीं हैं, वीर आदि अन्य रसों के भी बहुत अधिक हैं। एक अच्छी विशेषता तो यह है कि इसमें अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य आए हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलंकार के सुंदर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं। इस प्रकार इनके कवित्त या सवैये का सारा कलेवर अलंकार को उदाहृत करने में प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियों ने अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य रखे हैं उनका केवल अंतिम या और कोई चरण ही वास्तव में उदाहरण होता है। उपमा के उदाहरण में इनका यह प्रसिद्ध कवित्त लीजिए—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैनरस सिय रे।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
सिद्ध से सुजान सुखसागर सों नियरे॥
सुरभी सी खुलन सुकवि को सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आजु,
भोर कैसे नखत नरिंद भए पियरे॥

"काव्य-कलाधर" (सं० १८०२) रस का ग्रंथ है। इसमें प्रथानुसार भावभेद, रसभेद थोड़ा बहुत कहकर नायिकाभेद और नायकभेद का ही विस्तृत वर्णन है। विषय-निरूपण इसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। 'जगतमोहन' (सं० १८०७) वास्तव में एक अच्छे प्रतापी और ऐश्वर्यवान् राजा की दिनचर्य्या बताने

के लिये लिखा गया है। इसमें कृष्ण भगवान् की १२ घंटे की दिनचर्य्या कही गई है। इसमें ग्रंथकार ने अपनी बहुज्ञता अनेक विषयों—जैसे, राजनीति, सामुद्रिक, वैद्यक, ज्योतिष, शालिहोत्र, मृगया, सेना, नगर, गढ़रक्षा, पशुपक्षी, शतरंज इत्यादि—के विस्तृत और अरोचक वर्णनों द्वारा प्रदर्शित की है। इस प्रकार वास्तव में पद्य में होने पर भी यह काव्यग्रंथ नहीं है। 'इश्क-महोत्सव' में आपने 'खड़ी बोली' की रचना का शौक़ दिखाया है। उससे सूचित होता है कि खड़ी बोली की धारणा तब तक अधिकतर उर्दू के रूप में ही लोगों को थी।

कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

ग्वाल संग जैबो, ब्रज गैयन चरैबो ऐबो,
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत हैं।
मोतिन की माल वारि डारौ गुजमाल पर,
कुंजन की सुधि आए हियो धरकत हैं॥
गोबर को गारो रघुनाथ कछू यातें भारो,
कहा भयो महलनि मनि मरकत हैं!
मंदिर हैं मंदर तें ऊँचे मेरे द्वारका के,
ब्रज के खरिक तऊ हिए खरकत हैं॥

कैधों मेस देस तें निकसि पुहुमी पै आय,
बदन उचाय बानी जस-असपंद की।
कैधों छिति चँवरी उसीर की दिखावति है,
ऐसी सोहै उज्ज्वल किरन जैसे चंद की॥
जानि दिनपाल श्रीनृपाल नंदलाल जू को,
कहैं रघुनाथ पाय सुघरी अनंद की।

छूटत फुहारे कैधों फूल्यो है कमल, तासों
अमल अमंद कढ़ै धार मकरंद की ॥

———

सुधरे सिलाह राखै, वायुवेग वाह राखै,
रसद की राह राखै, राखे रहै बन को।
चोर को समाज राखै बजा औ नजर, राखै
खबरि के काज बहुरूपी हर फन को ॥
आगम-भखैया राखै, सगुन-लेवैया राखै,
कहै रघुनाथ औ बिचार बीच मन को।
बाजी हारै कबहूँ न औसर के परे जौन
ताजी राखै प्रजन को, राजी सुभटन को ॥

———

आप दरियाव, पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि-आसरे को कभी राखता न,
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी ॥
मेरे तो लायक जो था कहना सो कहा मैंने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है; आप उसके न,
आप क्यों चलोगे? वह आप पास आवैगी ॥

(३१) **दूलह**—ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ 'कवींद्र' के पुत्र थे। ऐसा जान पड़ता है कि ये अपने पिता के सामने ही अच्छी कविता करने लगे थे। ये कुछ दिनों तक अपने पिता के सम-सामयिक रहे। कवींद्र के रचे ग्रंथ १८०४ तक के मिले हैं। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०० से लेकर संवत् १८२५ के आस पास तक माना जा सकता है।

इनका बनाया एक ही ग्रंथ "कविकुल-कंठाभरण" मिला है जिसमें निर्माण-काल नहीं दिया है। पर इनके फुटकल कवित्त और भी सुने जाते हैं।

"कविकुल-कंठाभरण" अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य में कहे गए हैं पर कवित्त और सवैया के समान बड़े छंद लेने से अलंकार-स्वरूप और उदाहरण दोनों के सम्यक् कथन के लिये पूरा अवकाश मिला है। भाषाभूषण आदि दोहों में रचे हुए इस प्रकार के ग्रंथों से इसमें यही विशेषता है। इसके द्वारा सहज में अलंकारों का चलता बोध हो सकता है। इसी से दूलहजी ने इसके संबंध में आप कहा है—

जो या कंठाभरण को, कंठ करै चित लाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इनके कविकुल-कंठाभरण में केवल ८५ पद्य हैं। फुटकल जो कवित्त मिलते हैं वे अधिक से अधिक १५ या २० होंगे। अत: इनकी रचना बहुत थोड़ी है; पर थोड़ी होने पर भी उसने इन्हें बड़े अच्छे और प्रतिभा-संपन्न कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। देव, दास, मतिराम आदि के साथ दूलह का भी नाम लिया जाता है। इनकी इस सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारों के प्रमाण में भी सुनाए जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिये भी। किसी कवि ने इन पर प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा है कि "और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय"।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

माने सनमाने तेइ माने सनमाने सन,
माने सनमाने सनमान पाइयतु है।

कहैं कवि दूलह अजाने अपमाने,
अपमान सों सदन तिनही को छाइयतु है ॥
जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार,
जानि बूझि भूले तिनको सुनाइयतु है।
कामबस परे कोऊ गहत गरूर तौ वा
अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु है ॥

———

धरी जब बाहीं तब करी तुम 'नाहीं',
पायँ दियौ पलिकाही 'नाहीं नाहीं' कै सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं,
कवि दूलह, उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ ॥
चुंबन में नाहीं, परिरंभन में नाहीं,
सब आसन बिलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्हीं चितचाही, यह
'हाँ' तें भली 'नाहीं' सो कहाँ तें सीखि आई हौ ॥

———

उरज उरज धँसे, बसे उर आड़े लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छबि छाए हौ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन,
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हौ ॥
जावक सों लाल भाल, पलकन पीकलीक,
प्यारे ब्रजचंद सुचि सूरज सुहाए हौ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन घरबसी घर बसी करि आए हौ ?

———

सारी की सरौंट सब सारी में मिलाय दीन्हीं,
भूषन की जेब जैसे जेब जहियतु है।
कहै कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है॥
बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे,
कीन्हीं चतुराई सो लखाई लहियतु है।
सारिका पुकारै "हम नाहीं, हम नाहीं",
"एजू! राम राम कहौ", 'नाहीं नाहीं' कहियतु है॥

फल विपरीत को जतन सों 'विचित्र';
हरि ऊँचे होत बामन भे बलि के सदन में।
आधार बड़े तें बड़ो आधेय 'अधिक' जानौ,
चरन समानो नाहिं चौदहो भुवन में॥
आधेय अधिक तें आधार की अधिकताई,
"दूसरो अधिक" आयो ऐसो गननन में।
तीनों लोक तन में, अमान्यो ना गगन में,
बसैं ते संत-मन में, कितेक कहौ मन में॥

(३२) **कुमारमणिभट्ट**—इनका कुछ वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८०३ के लगभग "रसिक-रसाल" नामक एक बहुत अच्छा रीतिग्रंथ बनाया। ग्रंथ में इन्होंने अपने को हरिवल्लभ का पुत्र कहा है। शिवसिंह ने इन्हें गोकुलवासी कहा है। इनका एक सवैया देखिए—

गावैं बधू मधुरे सुर गीतन, प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति में छबि, मानो बिछाई नई दरियाई॥
ऊँचे अटा चढ़ि देखि चहूँ दिसि बोली यों बाल गरो भरि आई।
कैसी करौं हहरै हियरा, हरि आए नहीं उलही हरियाई॥

(३३) **शंभुनाथ मिश्र**—इस नाम के कई कवि हुए हैं जिनमें से एक संवत् १८०६ में, दूसरे १८६७ में और तीसरे १९०१ में हुए हैं। यहाँ प्रथम का उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने 'रस-कल्लोल', 'रसतरंगिणी' और 'अलंकारदीपक' नामक तीन रीति-ग्रंथ बनाए हैं। ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहते थे। 'अलंकारदीपक' में अधिकतर दोहे हैं, कवित्त सवैया कम। उदाहरण शृंगार-वर्णन में अधिक प्रयुक्त न होकर आश्रयदाता के यश और प्रताप-वर्णन में अधिक प्रयुक्त हैं। एक कवित्त दिया जाता है—

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही,
धौंसा की धुकार धूरि परी मुँह माही के।
भय के अजीरन तें जीरन उजीर भए,
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के॥
बीर खेत बीच बरछी लै बिरुझानो, इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।
भूप भगवंत बीर ग्वाही कै खलक सब,
स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के॥

(३४) **शिवसहायदास**—ये जयपुर के रहनेवाले थे। इन्होंने संवत् १८०९ में 'शिवचौपाई' और 'लोकोक्तिरस-कौमुदी' दो ग्रंथ बनाए। लोकोक्तिरस-कौमुदी में विचित्रता यह है कि पखानों या कहावतों को लेकर नायिकाभेद कहा गया है, जैसे,

करौ रुखाई नाहिंन बाम। बेगिहि लै आऊँ घनस्याम॥
कहै पखानो भरि अनुराग। बाजी ताँत, कि बूझ्यो राग॥
बोलै निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गहि रोस॥
कहै पखानो जेहि गहि मोन। बैल न कूद्यो, कूदी गोन॥

(३५) **रूपसाहि**—ये पन्ना के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने संवत् १८१३ में 'रूपविलास' नामक एक

ग्रंथ लिखा जिसमें दोहों में ही कुछ पिंगल, कुछ अलंकार, कुछ नायिकाभेद आदि हैं। दो दोहे नमूने के लिये दिए जाते हैं—

जगमगाति सारी जरी झलमल भूषन-जोति।
भरी दुपहरी तिया की भेंट पिया सों होति॥
लालन बेगि चलौ न क्यों ? बिना तिहारे बाल।
मार-मरोरनि सों मरति; करिए परसि निहाल॥

(३६) **ऋषिनाथ**—ये असनी के रहनेवाले बंदीजन, प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता और सेवक के प्रपितामह थे। काशिराज के दीवान सदानंद और रघुवर कायस्थ के आश्रय में इन्होंने "अलंकारमणि-मंजरी" नाम की एक अच्छी पुस्तक बनाई जिसमें दोहों की संख्या अधिक है, यद्यपि बीच बीच में घनाक्षरी और छप्पय भी हैं। इसका रचना-काल संवत् १८३१ है जिससे यह इनकी वृद्धावस्था का ग्रंथ जान पड़ता है। इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८३१ तक माना जा सकता है। कविता ये अच्छी करते थे। एक कवित्त दिया जाता है—

छाया छत्र ह्वै करि करति महिपालन को,
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख श्रौनन में,
जगत जगत हंस, हास, हीरहार ह्वै॥
ऋषिनाथ सदानंद-सुजस बिलंद,
तमवृंद के हरैया चंदचंद्रिका सुढार ह्वै।
हीतल को सीतल करत घनसार ह्वै,
महीतल को पावन करत गंगधार ह्वै॥

(३७) **बैरीसाल**—ये असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशधर अब तक असनी में हैं। इन्होंने 'भाषा-भरण' नामक एक अच्छा अलंकार-ग्रंथ संवत् १८२५ में बनाया

जिसमें प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

नहिं कुरंग नहिं ससक यह, नहिं कलंक, नहिं पंक।
बीस बिसे बिरहा दही गड़ी दीठि ससि अंक॥
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भए अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार॥

(३८) **दत्त**—ये माढ़ी (जिला कानपुर) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबार में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८३० माना जा सकता है। इन्होंने "लालित्यलता" नाम की एक अलंकार की पुस्तक लिखी है जिससे ये बहुत अच्छे कवि जान पड़ते हैं। एक सवैया दिया जाता है—

ग्रीषम में तपै भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
घाम सों बाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनस्याम दुकूल सों॥
कंपत यों प्रगस्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरबिंद-कलीन पै मानो गिरै मकरंद गुलाब के फूल सों॥

(३९) **रतन कवि**—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह ने इनका जन्मकाल संवत् १७९८ लिखा है। इससे इनका कविता-काल संवत् १८३० के आसपास माना जा सकता है। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतहसाहि के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नाम पर "फतेहभूषण" नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ इन्होंने बनाया। इसमें लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। उदाहरण में शृंगार के ही पद्य न रखकर इन्होंने अपने राजा की प्रशंसा के कवित्त बहुत रखे हैं। संवत् १८२७ में इन्होंने 'अलंकार-

दर्पण' लिखा। इनका निरूपण भी विशद है और उदाहरण भी बहुत ही मनोहर और सरस हैं। ये एक उत्तम श्रेणी के कुशल कवि थे, इसमें संदेह नहीं। कुछ नमूने लीजिए—

बैरिन की बाहिनी को भीषन निदाघ-रवि,
कुवलय केलि को सरस सुधाकरु है।
दान-झरि सिंधुर है, जग को बसुंधर है,
बिबुध-कुलनि को फलित कामतरु है॥
पानिप मनिन को, रतन रतनाकर को,
कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।
अंग को सनाह, बन-राह को रमा को नाह,
महाबाह फतेहसाह एकै नरवरु है॥

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन,
कारे सटकारे बार छहरे छवानि छ्वै।
श्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही बदन उजारी ह्वै॥
मृगमद बेंदी भाल में दी, याही आभरन
हरन हिए को तू है रंभा रति ही अवै।
नीके नथुनी के तैसे सुंदर सुहात मोती
चंद पर च्वै रहे सु मानो सुधाबुंद द्वै॥

(४०) (**नाथ हरिनाथ**)—ये काशी के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १८२६ में "अलंकार-दर्पण" नामक एक छोटा सा ग्रंथ बनाया जिसमें एक एक पद्य के भीतर कई कई उदाहरण हैं। इनका क्रम औरों से विलक्षण है। ये पहले अनेक दोहों में बहुत से लक्षण कहते गए हैं फिर एक साथ सबके उदाहरण कवित्त आदि में देते गए हैं। कविता साधारणतः अच्छी है। एक दोहा देखिए—

तरुनी लसति प्रकास तें, मालति लसति सुबास ।
गोरस गोरस देत नहिं गोरस चहति हुलास ॥

(४१) **मनीराम मिश्र**—ये कन्नौज निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १८२९ में 'छंदछप्पनी' और 'आनंदमंगल' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। 'आनंदमंगल' भागवत दशम स्कंध का पद्य में अनुवाद है। 'छंदछप्पनी' छंद:शास्त्र का बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है।

(४२) **चंदन**—ये नाहिल पुवायाँ (जिला शाहजहाँपुर) के रहनेवाले बंदीजन थे और गौड़ राजा केसरीसिंह के पास रहा करते थे। इन्होंने 'शृंगार-सागर', 'काव्याभरण', 'कल्लोल-तरंगिणी' ये तीन रीतिग्रंथ लिखे। इनके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

(१) केसरीप्रकाश, (२) चंदन-सतसई, (३) पथिकबोध, (४) नखशिख, (५) नाममाला (कोश), (६) पत्रिका-बोध, (७) तत्त्वसंग्रह, (८) सीतवसंत (कहानी), (९) कृष्ण-काव्य, (१०) प्राज्ञ-विलास।

ये एक अच्छे चलते कवि जान पड़ते हैं। इन्होंने 'काव्या-भरण' संवत् १८४५ में लिखा। फुटकल रचना तो इनकी अच्छी है ही। सीतवसंत की कहानी भी इन्होंने प्रबंधकाव्य के रूप में लिखी है। सीतवसंत की रोचक कहानी इन प्रांतों में बहुत प्रचलित है। उसमें विमाता के अत्याचार से पीड़ित सीतवसंत नामक दो राजकुमारों की बड़ी लंबी कथा है। इनकी पुस्तकों की सूची देखने से यह धारणा होती है कि इनकी दृष्टि रीतिग्रंथों तक ही बद्ध न रहकर साहित्य के और और अंगों पर भी थी।

ये फारसी के भी अच्छे शायर थे और अपना तखल्लुस 'संदल' रखते थे। इनका 'दीवाने संदल' कहीं कहीं मिलता है।

इनका कविता-काल संवत् १८२० से १८५० तक माना जा सकता है। इनका एक सवैया नीचे दिया जाता है—

ब्रजवारी गँवारी दै जानैं कहा, यह चातुरता न लुगायन में।
पुनि बारिनी जानि अनारिनी है, रुचि एती न चंदन नायन में।।
छवि रंग सुरंग के बिंदु बने लगै इंद्रवधू लघुतायन में।
चित जो चहैं दी चकि सी रहैं दी, केहि दी मेंहदी इन पायन में।।

(८३) **देवकीनंदन**—ये कन्नौज के पास मकरंदनगर ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम सबली शुक्ल था। इन्होंने संवत् १८४१ में 'शृंगार-चरित्र' और १८५७ में 'अवधूत-भूषण' और 'सरफराज-चंद्रिका' नामक रस और अलंकार के ग्रंथ बनाए। संवत् १८४३ में ये कुँवर सरफराज गिरि नामक किसी धनाढ्य महंत के यहाँ थे जहाँ इन्होंने "सरफराजचंद्रिका" नामक अलंकार का ग्रंथ लिखा। इसके उपरांत ये रुद्दामऊ (जिला हरदोई) के रईस अवधूतसिंह के यहाँ गए जिनके नाम पर "अवधूत-भूषण" बनाया। इनका एक नखशिख भी है। शिवसिंह को इनके इस नखशिख का ही पता था, दूसरे ग्रंथों का नहीं।

'शृंगारचरित्र' में रस, भाव, नायिकाभेद आदि के अतिरिक्त अलंकार भी आ गए हैं। 'अवधूत-भूषण' वास्तव में इसी का कुछ प्रवर्द्धित रूप है। इनकी भाषा मँजी हुई और भाव प्रौढ़ हैं। बुद्धि-वैभव भी इनकी रचना में पाया जाता है। कहीं कहीं कूट भी इन्होंने कहे हैं। कला-वैचित्र्य की ओर अधिक झुकी हुई होने पर भी इनकी कविता में लालित्य और माधुर्य्य पूरा है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

बैठी रंग-रावटी में हेरत पिया की बाट,
आए न बिहारी भई निपट अधीर मैं।

देवकीनंदन कहै स्याम घटा घिरि आई,
जानि गति प्रलय की डरानी बहु, बीर! मैं ॥
सेज पै सदासिव की मूरति बनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदबीर मैं।
पाखन में सामरे, सुलाखन में अखैवट,
ताखन में लाखन की लिखी तसवीर मैं ॥

मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीरि डारै,
फेरि कै न जैहौं आली, दुख बिकरारे हैं।
देवकीनंदन कहै धोखे नागछौनन के
अलकै प्रसून नोचि नोचि निरवारे हैं ॥
मानि मुख चंद-भाव चोंच दई अधरन,
तीनौ ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे, तैसे
मोर मतवारे त्यों चकोर मतवारे हैं ॥

(४४) **महाराज रामसिंह**—ये नरवलगढ़ के राजा थे। इन्होंने रस और अलंकार पर तीन ग्रंथ लिखे हैं—अलंकार-दर्पण, रसनिवास (सं० १८३९) और रसविनोद (सं० १८६०)। अलंकारदर्पण दोहों में है। नायिकाभेद भी अच्छा है। ये एक अच्छे और प्रवीण कवि थे। उदाहरण लीजिए—

सोहत सुंदर स्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
मनो नीलमनि सैल पर नाचत राजत मोर ॥
दमकन लागी दामिनी, करन लगे घन रोर।
बोलति माती कोइलैं, बोलत माते मोर ॥

(४५) **भान कवि** - इनके पूरे नाम तक का पता नहीं। इन्होंने संवत् १८४५ में 'नरेंद्र-भूषन' नामक अलंकार का एक

ग्रंथ बनाया जिससे केवल इतना ही पता लगता है कि ये राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिंह बुँदेले के यहाँ रहते थे। इन्होंने अलंकारों के उदाहरण शृंगाररस के प्रायः बराबर ही वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसों के रखे हैं। इससे इनके ग्रंथ में कुछ नवीनता अवश्य दिखाई पड़ती है जो शृंगार के सैकड़ों वर्ष के पिष्टपेषण से ऊबे हुए पाठक को विराम सा देती है। इनकी कविता में भूषण की सी फड़क और प्रसिद्ध शृंगारियों की सी तन्मयता और मधुरता तो नहीं है, पर रचना प्रायः पुष्ट और परिमार्जित है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

रन-मतवारे ये जोरावर दुलारे तव,
बाजत नगारे भए गालिब दिलीस पर।
दल के चलत भर भर होत चारों ओर,
चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर॥
देखि कै समर-सनमुख भयो ताहि समै,
बरनत भान पैज कै कै बिसे बीस पर।
तेरी समसेर कीं सिफत सिंह रनजोर,
लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर॥

———

घन से सघन स्याम, इंदु पर छाय रहे,
बैठी तहाँ असित द्विरेफन की पाँति सी।
तिनके समीप तहाँ खंज की सी जोरी, लाल!
आरसी से अमल निहारे बहु भाँति सी॥
ताके ढिग अमल ललौहैं बिबि बिद्रुम से,
फरकति ओप जामैं मोतिन की कांति सी॥
भीतर तें कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि,
सुनि करि भान परि कानन सुहाति सी॥

(४६) **थान कवि**—ये चंदन बंदीजन के भानजे थे और डौंडिया-खेरे (जिला रायबरेली) में रहते थे। इनका पूरा नाम थानराय था। इनके पिता निहालराय, पितामह महासिंह और प्रपितामह लालराय थे। इन्होंने संवत् १८४८ में 'दलेल-प्रकाश' नामक एक रीतिग्रंथ चँड़रा (बैसवारा) के रईस दलेलसिंह के नाम पर बनाया। इस ग्रंथ में विषयों का कोई क्रम नहीं है। इसमें गणविचार, रस-भाव-भेद, गुणदोष आदि का कुछ निरूपण है और कहीं कहीं अलंकारों के कुछ लक्षण आदि भी दे दिए गए हैं। कहीं राग-रागिनियों के नाम आए, तो उनके भी लक्षण कह दिए। पुराने टीकाकारों की सी गति है। अंत में चित्रकाव्य भी रखे हैं। सारांश यह है कि इन्होंने कोई सर्वांगपूर्ण ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इसे नहीं लिखा है। अनेक विषयों में अपनी निपुणता का प्रमाण सा इन्होंने उपस्थित किया है। ये इसमें सफल हुए हैं, यह अवश्य कहना पड़ता है। जो विषय लिया है उस पर उत्तम कोटि की रचना की है। भाषा में मंजुलता और लालित्य है। ह्रस्व वर्णों की मधुर योजना इन्होंने बड़ी सुंदर की है। यदि अपने ग्रंथ को इन्होंने भानमती का पिटारा न बनाया होता और एक ढंग पर चले होते तो इनकी बड़े कवियों की सी ख्याति होती, इसमें संदेह नहीं। इनकी रचना के दो नमूने देखिए—

दासन पै दाहिनी परम हंसवाहिनी हौ,
पोथी कर, वीना सुरमंडल मढ़त है।
आसन कँवल, अंग अंबर धवल,
मुख चंद सो अँवल, रंग नवल चढ़त है॥
ऐसी मातु भारती की आरती करत थान,
जाको जस विधि ऐसो पंडित पढ़त है।

ताकी दया-दीठि लाख पाथर निराखर के,
मुख ते मधुर मंजु आखर कढ़त है ॥

कलुष-हरनि सुख-करनि सरनजन
बरनि बरनि जस कहत धरनिधर।
कलिमल-कलित चलित-अघ खलगन
लहत परमपद कुटिल कपटतर ॥
मदन-कदन सुर-सदन बदन ससि,
अमल नवल दुति भजन भगतवर।
सुरसरि ! तव जल दरस परस करि,
सुर सरि सुभगति लहत अधम नर ॥

(४७) **बेनी बंदीजन**—ये बैंती (जिला रायबरेली) के रहनेवाले थे और अवध के प्रसिद्ध वज़ीर महाराज टिकैतराय के आश्रय में रहते थे। उन्हीं के नाम पर इन्होंने "टिकैतराय-प्रकाश" नामक अलंकार-ग्रंथ संवत् १८४९ में बनाया। अपने दूसरे ग्रंथ "रसविलास" में इन्होंने रस-निरूपण किया है। पर ये अपने इन दोनों ग्रंथों के कारण इतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने अपने भँड़ौवों के लिये। इनके भँड़ौवों का एक संग्रह "भँड़ौवा-संग्रह" के नाम से भारतजीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

भँड़ौवा हास्यरस के अंतर्गत आता है। इसमें किसी की उपहास-पूर्ण निंदा रहती है। यह प्रायः सब देशों में साहित्य का एक अंग रहा है। जैसे, फ़ारसी और उर्दू की शायरी में 'हजो' का एक विशेष स्थान है वैसे ही अँगरेजी में सटायर (Satire) का। पूरबी साहित्य में 'उपहास-काव्य' के लक्ष्य अधिकतर कंजूस अमीर या आश्रयदाता ही रहे हैं और योरपीय साहित्य में समसामयिक कवि और लेखक। इससे योरप के

उपहास-काव्य में साहित्यिक मनोरंजन की सामग्री अधिक रहती थी। उर्दू-साहित्य में सौदा 'हजो' के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने किसी अमीर के दिए हुए घोड़े की इतनी हँसी की है कि सुननेवाले लोट पोट हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी कवि ने औरंगजेब की दी हुई हथिनी की निंदा की है—

तिमिरलंग लइ मोल, चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के॥
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो।
साहजहाँ करि न्याव ताहि पुनि माँड़ चटायो॥
बल-रहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार-डर।
औरंगजेब करिनी सोई लै दीन्हीं कविराज कर॥

इस पद्धति के अनुयायी बेनीजी ने भी कहीं बुरी रजाई पाई तो उसकी निंदा की, कहीं छोटे आम पाए तो उनकी निंदा जी खोल कर की।

पर जिस प्रकार उर्दू के शायर कभी कभी दूसरे कवि पर भी छींटा दे दिया करते हैं, उसी प्रकार बेनीजी ने भी लखनऊ के ललकदास महंत (इन्होंने 'सत्योपाख्यान' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें रामकथा बड़े विस्तार से चौपाइयों में कही है) पर कुछ कृपा की है। जैसे, "बाजे बाजे ऐसे डलमऊ में बसत जैसे मऊ के जुलाहे, लखनऊ के ललकदास"। इनका 'टिकैत-प्रकाश' संवत् १८४९ में और 'रसविलास' संवत् १८७४ में बना। अतः इनका कविता-काल संवत् १८४९ से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे देखिए—

अलि डसे अधर सुगंध पाय आनन को,
कानन में ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फटि गई कंचुकी लगे तें कंट कुंजन के,
बेनी बरहीन खोली, बार छबि छाए हैं॥

वेग तें गवन कीनो, धक धक होत सीनो,
ऊरध उसासैं तन सेद सरसाए हैं।
भली प्रीति पालो बनमाली के बुलाइबे को,
मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए हैं॥

घर घर घाट घाट बाट बाट ठाट ठटे,
बेला औ कुबेला फिरैं चेला लिए आस पास।
कविन सों बाद करैं, भेद बिन नाद करैं,
महा उनमाद करैं धरम करम नास॥
बेनी कवि कहै बिभिचारिन को बादसाह,
अतन प्रकासत न सतन सरम तास।
ललना ललक, नैन मैन की झलक,
हँसि हेरत अलक रद खलक ललकदास॥

चीटीं की चलावै को ? मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सो लगत है॥

(४८) **बेनी प्रवीन**—ये लखनऊ के वाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण कायस्थ के पुत्र नवलकृष्ण उर्फ ललनजी के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से संवत् १८७४ में इन्होंने 'नवरस-तरंग' नामक

ग्रंथ बनाया। इसके पहले 'शृंगार-भूषण' नामक एक ग्रंथ ये बना चुके थे। ये कुछ दिन के लिये महाराज नानाराव के पास बिठूर भी गए थे और उनके नाम पर "नानाराव प्रकाश" नामक अलंकार का एक बड़ा ग्रंथ कविप्रिया के ढँग पर लिखा था। खेद है इनका कोई ग्रंथ अब तक प्रकाशित न हुआ। इनके फुटकल कवित्त तो इधर उधर बहुत कुछ संगृहीत और उद्धृत मिलते हैं। कहते हैं कि बेनी बंदीजन (भँड़ौवावाले) से इनसे एक बार कुछ वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें 'प्रवीन' की उपाधि दी थी। पीछे से रुग्ण होकर ये सपत्नीक आबू चले गए और वहीं इनका शरीर-पात हुआ। इन्हें कोई पुत्र न था।

इनका 'नवरस-तरंग' बहुत ही मनोहर ग्रंथ है। उसमें नायिकाभेद के उपरांत रसभेद और भावभेद का संक्षेप में निरूपण हुआ है। उदाहरण और रसों के भी दिए गए हैं पर रीतिकाल के रससंबंधी और ग्रंथों की भाँति यह शृंगार का ही ग्रंथ है। इसमें नायिकाभेद के अंतर्गत प्रेम-क्रीड़ा की बहुत सी सुंदर कल्पनाएँ भरी पड़ी हैं। भाषा इनकी बहुत साफ़ सुथरी और चलती है, बहुतों की भाषा की तरह लद्दू नहीं। ऋतुओं के वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से जहाँ तक रमणीय हो सकते हैं किए गए हैं, जिनमें प्रथानुसार भोग-विलास की सामग्री भी बहुत कुछ आ गई है। अभिसारिका आदि कुछ नायिकाओं के वर्णन बड़े ही सरस हैं। ये व्रजभाषा के मतिराम ऐसे कवियों के समकक्ष हैं और कहीं कहीं तो भाषा और भाव के माधुर्य्य में पद्माकर तक से टक्कर लेते हैं। जान पड़ता है, शृंगार के लिये सवैया ये विशेष उपयुक्त समझते थे। कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

भोर ही न्योति गई ती तुम्हैं वह गोकुल गाँव की ग्वालिनि गोरी।
आधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करी बरजोरी॥

आवै हँसी मोहिं देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
एते बड़े ब्रजमंडल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी॥

जान्यो न मैं ललिता अलि ताहि जो सोवत माहिं गई करि हाँसी।
लाए हिए नख केहरि के सम, मेरी तऊ नहिं नींद बिनासी॥
लै गई अंबर बेनी प्रवीन ओढ़ाय लटी दुपटी दुखरासी।
तोरि तनी, तन छोरि अभूषन भूलि गई गर देन को फाँसी॥

घनसार पटीर मिलै मिलै नीर चहै तन लावै न लावै चहै।
न बुझै बिरहागिनि झार झरी हू चहै घन लावै न लावै चहै॥
हम टेरि सुनावतीं बेनी प्रवीन चहै मन लावै न लावै चहै।
अब आवै बिदेस तें पीतम गेह, चहै धन लावै, न लावै चहै॥

कालिह ही गूँथी बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की, संग एई जमुना तट बाला॥
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन, हँसैं सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अँग की बदली, सब सों "बदली बदली" कहै माला॥

सोभा पाई कुंजभौन जहाँ जहाँ कीन्हो गौन,
सरस सुगंध पौन पाई मधुपनि है।
बीथिन बिथोरे मुकुताहल मराल पाए,
आली दुसाल साल पाए अनगनि हैं॥
रैनि पाई चाँदनी फटक सी चटक रुख,
सुख पायो पीतम प्रवीन बेनी धनि है।
बैन पाई सारिका, पढ़न लागी कारिका,
सो आई अभिसारिका कि चारु चिंतामनि है॥

---

(४९) **जसवंतसिंह द्वितीय**—ये बघेल क्षत्रिय और तेरवाँ (कन्नौज के पास) के राजा थे और बड़े विद्या-प्रेमी थे। इनके पुस्तकालय में संस्कृत और भाषा के बहुत से ग्रंथ थे। इनका कविताकाल संवत् १८५६ अनुमान किया गया है। इन्होंने दो ग्रंथ लिखे—एक सालिहोत्र और दूसरा शृंगार-शिरोमणि। यहाँ इसी दूसरे ग्रंथ से प्रयोजन है, जो शृंगार रस का एक बड़ा ग्रंथ है। कविता साधारण है। एक कवित्त देखिए—

घनन के घोर, सोर चारों ओर मोरन के,
अति चितचोर तैसे अंकुर मुनै रहैं।
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय,
लूक से लगत चीर चारन चुनै रहैं॥
झिल्ली झनकार तैसी पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सु नै रहैं।
लुनै रहैं प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहैं॥

(५०) **यशोदानंदन**—इनका कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं। शिवसिंहसरोज में इनका जन्म-संवत् १८२८ लिखा पाया जाता है। इनका एक छोटा सा ग्रंथ "बरवै नायिका-भेद" ही मिलता है जो निस्संदेह अनूठा है और रहीमवाले से अच्छा नहीं तो उसकी टक्कर का है। इसमें ९ बरवा संस्कृत में और ५३ ठेठ अवधी भाषा में हैं। अत्यंत मृदु और कोमल भाव अत्यंत सरल और स्वाभाविक रीति से व्यंजित हैं। भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है। इस दृष्टि से इनकी यह छोटी सी रचना बहुत सी बड़ी बड़ी रचनाओं से मूल्य में बहुत अधिक है। कवियों की श्रेणी में ये निस्संदेह उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इनके बरवै के नमूने देखिए—

(संस्कृत) यदि च भवति बुध-मिलनं किं त्रिदिवेन।
यदि च भवति शठ-मिलनं किं निरयेण॥

———

(भाषा) अहिरिनि मन कै गहिरिनि उतरु न देइ।
नैना करै मथनिया, मन मथि लेइ॥
तुरकिनि जाति हुरुकिनी अति इतराइ।
छुवन न देइ इजरवा मुरि मुरि जाइ॥
पीतम तुम कचलोइया, हम गजबेलि।
सारस कै असि जोरिया, फिरौं अकेलि॥

(५१) **करन कवि**—ये षट्कुल कान्यकुब्जों के अंतर्गत पाँड़े थे और छत्रसाल के वंशधर पन्ना-नरेश महाराज हिंदू-पति की सभा में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८६० के लगभग माना जा सकता है। इन्होंने 'साहित्यरस' और 'रस-कल्लोल' नामक दो रीतिग्रंथ लिखे हैं। 'साहित्यरस' में इन्होंने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनिभेद, रसभेद, गुण, दोष आदि काव्य के प्रायः सब विषयों का विस्तार से वर्णन किया है। इस दृष्टि से यह एक उत्तम रीतिग्रंथ है। कविता भी इसकी सरस और मनोहर है। इससे इनका एक सुविज्ञ कवि होना सिद्ध होता है। इनका एक कवित्त देखिए—

कंटकित होत गात विपिन-समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो लरजतु है।
एते पै करन धुनि परति मयूरन की,
चातक पुकारि तेह ताप सरजतु है॥
निपट चवाई भाई बंधु जे बसत गाँव,
दाँव परे जानिकै न कोऊ बरजतु है।

अरज्यो न मानी तू, न गरज्यो चलत बार,
एरे घन बैरी ! अब काहे गरजतु है ॥

———

खल खंडन, मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड ।
दलमंडन दारुन समर हिंदुराज भुजदंड ॥

(५२) **गुरदीन पाँडे**—इनके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८६० में "बागमनोहर" नामक एक बहुत ही बड़ा रीतिग्रंथ कविप्रिया की शैली पर बनाया। 'कवि-प्रिया' से इसमें विशेषता यह है कि इसमें पिंगल भी आ गया है। इस एक ही ग्रंथ में पिंगल, रस, अलंकार, गुण, दोष, शब्दशक्ति आदि सब कुछ अध्ययन के लिये रख दिया गया है। इससे यह साहित्य का एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें हर प्रकार के छंद हैं। संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में बड़ी सुंदर रचना है। यह अत्यंत रोचक और उपादेय ग्रंथ है। कुछ पद्य देखिए—

मुख-ससी ससि दून कला धरे। कि मुकुता-गन जावक में भरे।
ललित कुंदकली अनुहारि के। दसन हैं वृषभानु-कुमारि के॥
सुखद जंत्र कि भाल सुहाग के। ललित मंत्र किधौं अनुराग के।
भ्रुकुटि यों वृषभानु-सुता लसैं। जनु अनंग-सरासन को हँसैं॥
मुकुर तौ पर-दीपति को धनी। ससि कलंकित, राहु-बिथा घनी।
अपर ना उपमा जग में लहै। तव प्रिया ! मुख के सम को कहै ?

(५३) **ब्रह्मदत्त**—ये ब्राह्मण थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायणसिंह के छोटे भाई बाबू दीपनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होंने संवत् १८६० में 'विद्वद्विलास' और १८६५ में 'दीपप्रकास' नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ बनाया।

इनकी रचना सरल और परिमार्जित है। आश्रयदाता की प्रशंसा में यह कवित्त देखिए—

कुसल कलानि में, करनहार कीरति को,
कवि कोविदन को कलप-तरुवर है।
सील सनमान बुद्धि विद्या को निधान ब्रह्म,
मतिमान हंसन को मानसरवर है॥
दीपनारायन, अवनीप को अनुज प्यारो,
दीन दुख देखत हरत हरबर है।
गाहक गुनी को, निरवाहक दुनी को नीको,
गनी गज-बकस, गरीबपरवर है॥

(५४) **पद्माकर भट्ट**—रीतिकाल के कवियों में सहृदय-समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल भट्ट का जन्म बाँदे में हुआ था। ये पूर्ण पंडित और अच्छे कवि भी थे जिसके कारण इनका कई राजधानियों में अच्छा सम्मान हुआ था। ये कुछ दिनों तक नागपुर के महाराज रघुनाथराव (अप्पा साहब) के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिंदूपति के गुरु हुए और कई गाँव प्राप्त किए। वहाँ से ये फिर जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ जा रहे जहाँ इन्हें 'कविराज-शिरोमणि' की

पदवी और अच्छी जागीर मिली। उन्हीं के पुत्र सुप्रसिद्ध पद्माकरजी हुए। पद्माकरजी का जन्म संवत् १८१० में बाँदे में हुआ। इन्होंने ८० वर्ष की आयु भोगकर अंत में कानपुर में गंगातट पर संवत् १८९० में शरीर छोड़ा। ये कई स्थानों पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह ने इन्हें अपना मंत्रगुरु बनाया। संवत् १८४९ में ये गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मत बहादुर के यहाँ गए जो बड़े अच्छे योद्धा थे और पहले बाँदे के नवाब के यहाँ थे, फिर अवध के बादशाह के यहाँ सेना के बड़े अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकरजी ने "हिम्मत बहादुर-विरदावली" नाम की वीररस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। संवत् १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव (प्रसिद्ध राघोबा) के यहाँ गए और एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव पाए। इसके उपरांत पद्माकरजी जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे और वहाँ बहुत दिन तक रहे। महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगतसिंह के समय में भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया। ऐसा जान पड़ता है जयपुर में ही इन्होंने अपना अलंकार का ग्रंथ 'पद्माभरण' बनाया जो दोहों में है। ये एक बार उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार में भी गए थे जहाँ इनका बहुत अच्छा सम्मान हुआ था। महाराणा साहब की आज्ञा से इन्होंने "गनगौर" के मेले का वर्णन किया था। महाराज जगतसिंह का परलोकवास संवत् १८६० में हुआ। अतः उसके अनंतर ये ग्वालियर के महाराज दौलतराव सेंधिया के दरबार में गए और यह कवित्त पढ़ा—

मीनागढ़ बंबई सुमंद मंदराज बंग,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।

कहै पदमाकर कसकि कासमीर हू को
पिंजर सों घेरि कै कलिंजर छुड़ावैगो ॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबैं
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो ॥

सेंधिया दरबार में भी इनका अच्छा मान हुआ। कहते हैं कि वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से इन्होंने हितोपदेश का भाषानुवाद किया था। ग्वालियर से ये बूँदी गए और वहाँ से फिर अपने घर बाँदे में आ रहे। आयु के पिछले दिनों में ये रोगग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने "प्रबोध-पचासा" नामक विराग और भक्तिरस से पूर्ण ग्रंथ बनाया। अंतिम समय निकट जान पद्माकरजी गंगातट के विचार से कानपुर चले आए और वहीं अपने जीवन के शेष सात वर्ष पूरे किए। अपनी प्रसिद्ध 'गंगालहरी' इन्होंने इसी समय के बीच बनाई थी।

'राम-रसायन' नामक वाल्मीकि-रामायण का आधार लेकर लिखा हुआ एक चरित-काव्य भी इनका दोहे चौपाइयों में है पर उसमें इन्हें काव्य संबंधिनी सफलता नहीं हुई है। संभव है वह इनका न हो।

मतिरामजी के 'रसराज' के समान पद्माकरजी का 'जगद्विनोद' भी काव्यरसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह श्रृंगाररस का सार-ग्रंथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभाव-पूर्ण मूर्त्ति-विधान करती है कि पाठक मानों प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्त्ति-विधान करनेवाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती, या तो वह

भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ फड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी के साथ जिस भावुकता का संयोग होता है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इन कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेम-मूर्त्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है, और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्यजीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदासजी में दिखाई पड़ती है।

अनुप्रास की प्रवृत्ति तो हिंदी के प्रायः सब कवियों में आवश्यकता से अधिक रही है। पद्माकरजी भी उसके प्रभाव से नहीं बचे हैं। पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों में ही मिलेगी जिनमें ये जान बूझकर शब्दचमत्कार प्रकट करना चाहते थे। अनुप्रास की दीर्घ शृंखला अधिकतर इनके वर्णनात्मक (Descriptive) पद्यों में पाई जाती है। जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुंदर कोमल भाव-तरंग का स्पंदन है वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ सुथरी है—वहाँ अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप में। भाव-मूर्त्ति-विधायिनी कल्पना का क्या कहना है? ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मजमून बाँधने के प्रयासी कवि न थे, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं कहीं

ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिमान कर देते हैं कि सुननेवालों का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

पद्माकरजी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

फागु की भीर, अभीरिन में गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसुकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी"॥

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस इँडुरी सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी॥
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई, तामें
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की।
तान लागे लटकी, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली ! याही कोद कहूँ
नीके कै निहारैं ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो श्यामरंग में चोराइ चित चोराचोरी
बोरत तो बोर्‌यो, पै निचोरत बनै नहीं॥

आरस सों आरत, सँभारत न सीस-पट,
गजब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहै पदमाकर सुरा सों सरसार, तैसे
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर॥
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलिमंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

———

मोहिं लखि सोवत बिथोरिगो सुबेनी बनी,
तोरिगो हिए को हार, छोरिगो सुगैया को।
कहै पदमाकर त्यों घोरिगो घनेरो दुख,
बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को॥
अहित अनैसो ऐसो कौन उपहास ? यातें
सोचन खरी मैं परी जोवति जुन्हैया को।
बूझिहैं चवैया तब कैहौं कहा, दैया !
इत पारिगो को, मैया ! मेरी सेज पै कन्हैया को ?

———

एहो नंदलाल ! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगे
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सों
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लगि चैन जौलौं चेतिहै न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी में चुरि जायगी॥

———

चालो सुनि चंदमुखी चित में सुचैन करि,
तित बन बागन घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै पदमाकर मयूर मंजु नाचत हैं,
चाय सों चकोरनी चकोर चूमि चूमि रहे॥
कदम, अनार, आम, अगर, असोक-थोक,
लतनि समेत लोने लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे, फलि रहे, फबि रहे, फैलि रहे,
झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे॥

———

तीखे तेगवाही जे सिलाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ै अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़ैं हाथिन पै,
धूरि धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥

———

ए ब्रजचंद गोबिंद गोपाल! सुन्यो क्यों न एते कलाम किए मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ, नँदनंदन! जानि लिए मैं॥
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिए मैं।
दूरि न दौरि दुरयौ जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिए मैं?

(५५) **ग्वाल कवि**—ये मथुरा के रहनेवाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। ये ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। इनका कविता-काल संवत् १८७९ से संवत् १९१८ तक है। अपना पहला ग्रंथ 'यमुना लहरी' इन्होंने संवत् १८७९ में और अंतिम

ग्रंथ 'भक्तभावन' संवत् १९१९ में बनाया। रीतिग्रंथ इन्होंने चार लिखे हैं—'रसिकानंद' (अलंकार), 'रसरंग' (संवत् १९०४), कृष्णजू को नख-शिख (संवत् १८८४) और 'दूषण-दर्पण' (संवत् १८९१)। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—हम्मीर हठ (संवत् १८८१) और गोपी पच्चीसी।

और भी दो ग्रंथ इनके लिखे कहे जाते हैं—'राधा-माधव-मिलन' और 'राधा-अष्टक'। 'कविहृदय-विनोद' इनकी बहुत सी कविताओं का संग्रह है।

रीतिकाल की सनक इनमें इतनी अधिक थी कि इन्हें 'यमुना-लहरी' नामक देवस्तुति में भी नवरस और षट्ऋतु सुझाई पड़ी है। भाषा इनकी चलती और व्यवस्थित है। वाग्वि-दग्धता भी इनमें अच्छी है। षट्ऋतुओं का वर्णन इन्होंने विस्तृत किया है, पर वही शृंगारी उद्दीपन के ढँग का। इनके ऋतुवर्णन के कवित्त लोगों के मुँह से अधिक सुने जाते हैं जिनमें बहुत से भोग-विलास के अमीरी सामान भी गिनाए गए हैं। ग्वाल कवि ने देशाटन अच्छा किया था और इन्हें भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों का अच्छा ज्ञान हो गया था। इन्होंने ठेठ पूरबी हिंदी, गुजराती और पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैया लिखे हैं। फारसी अरबी शब्दों का इन्होंने बहुत प्रयोग किया है। सारांश यह कि ये एक विदग्ध और कुशल कवि थे पर कुछ फक्कड़पन लिए हुए। इनकी बहुत सी कविता बाजारी है। थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥

ग्वाल कवि कहै कोरे कुंभन तें कूपन तें,
ले लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेर अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या फरद की।
अंबर अमल, सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूर भई दूषन दरद की।
जल पर, थल पर, महल, अचल पर
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन में,
ताकी बदजाती बदजाती ह्वाँ उराहना॥
ग्वाल कवि वे ही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग,
वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ ह्वाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना॥

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यही रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है॥

ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे !
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है, न जाना है॥

(५६) **प्रतापसाहि**—ये रतनेस बंदीजन के पुत्र थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत १८८२ में "व्यंग्यार्थकौमुदी" और संवत् १८८६ में "काव्यविलास" की रचना की। इन दोनों परम प्रसिद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकें इनकी बनाई हुई और हैं—

जयसिंह-प्रकाश (सं० १८५२), शृंगार-मंजरी (सं० १८८९), शृंगार-शिरोमणि (सं० १८९४), अलंकार-चिंतामणि (सं० १८९४), काव्य-विनोद (१८९६), रसराज की टीका (सं० १८९६), रत्नचंद्रिका (सतसई की टीका, सं० १८९६), जुगल नखशिख (सीताराम का नखशिख वर्णन), बलभद्र नख-शिख की टीका।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८८० से १९०० तक ठहरता है। पुस्तकों के नाम से ही इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और पांडित्य का अनुमान हो सकता है। आचार्यत्व में इनका नाम मतिराम, श्रीपति और दास के साथ आता है और एक दृष्टि से इन्होंने उनके चलाए हुए कार्य्य को पूर्णता को पहुँचाया था। लक्षणा-व्यंजना का उदा-हरणों द्वारा विस्तृत निरूपण पूर्ववर्त्ती तीनों कवियों ने नहीं किया था। इन्होंने व्यंजना के उदाहरणों की एक अलग पुस्तक ही "व्यंग्यार्थकौमुदी" के नाम से रची। इसमें कवित्त, दोहे, सवैये मिलाकर १३० पद्य हैं जो सब व्यंजना या ध्वनि के उदा-

हरण हैं। साहित्यमर्मज्ञ तो बिना कहे ही समझ सकते हैं कि ये उदाहरण अधिकतर वस्तु-व्यंजना के ही होंगे। वस्तु-व्यंजना को बहुत दूर घसीटने पर बड़े चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेना पड़ता है और व्यंग्यार्थ तक पहुँच केवल साहित्यिक रूढ़ि के अभ्यास पर अवलंबित रहती है। नायिकाओं के भेदों, रसादि के सब अंगों तथा भिन्न भिन्न बँधे उपमानों का अभ्यास न रखनेवाले के लिये ऐसे पद्य पहेली ही समझिए। उदाहरण के लिये 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' का यह सवैया लीजिए—

सीख सिखाई न मानति है, बर ही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में, बिना काम वृथा कत जाम बितावै॥
छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहि पावै।
कौन परी यह बानि, अरी! नित नीरभरी गगरी ढरकावै॥

सहृदयों की सामान्य दृष्टि में तो वयःसंधि की मधुर क्रीड़ा-वृत्ति का यह एक परम मनोहर दृश्य है। पर फ़न में उस्ताद लोगों की आँखें एक और ही ओर पहुँचती हैं। वे इसमें से यह व्यंग्यार्थ निकलते हैं—घड़े के पानी में अपने नेत्रों का प्रतिबिंब देख उसे मछलियों का भ्रम होता है। इस प्रकार का भ्रम एक अलंकार है। अतः भ्रम या भ्रांति अलंकार यहाँ व्यंग्य हुआ। और चलिए। 'भ्रम' अलंकार में 'सादृश्य' व्यंग्य रहा करता है अतः अब इस व्यंग्यार्थ पर पहुँचे कि "नेत्र मीन के समान हैं"। अब अलंकार का पीछा छोड़िए; नायिकाभेद की तरफ आइए। वैसा भ्रम जैसा ऊपर कहा गया है "अज्ञात-यौवना" को हुआ करता है। अतः ऊपर का सवैया अज्ञात-यौवना का उदाहरण हुआ। यह इतनी बड़ी अर्थ-यात्रा रूढ़ि के ही सहारे हुई है। जब तक यह न ज्ञात हो कि कवि-परंपरा में आँख की उपमा मछली से दिया करते हैं, तब तक यह सब अर्थ स्फुट नहीं हो सकता।

प्रतापसाहिजी का यह कौशल अपूर्व है कि उन्होंने एक रसग्रंथ के अनुरूप नायिकाभेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं जिससे उनके ग्रंथ को जो चाहे तो नायिकाभेद का एक अत्यंत सरस और मधुर ग्रंथ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्य्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्त्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल में जाती है तो उधर आचार्य्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे ही दिखाई पड़ता है। इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर की प्रतिभा के साथ साथ रीतिबद्ध काव्यकला को पूर्णता पर पहुँचाकर छोड़ दिया। पद्माकर की अनुप्रास-योजना कभी कभी रुचिकर सोमा के बाहर जा पड़ी है, पर इस भावुक और प्रवीण की वाणी में यह दोष कहीं नहीं आने पाया है। इनकी भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है—उसमें न कहीं कृत्रिम आडंबर का अड़ंगा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दों की तोड़-मरोड़। हिंदी के मुक्तक-कवियों में समस्यापूर्ति की पद्धति पर रचना करने के कारण एक अत्यंत प्रत्यक्ष दोष देखने में आता है। उनके अंतिम चरण की भाषा तो बहुत ही गँठी हुई, व्यवस्थित और मार्मिक होती है पर शेष तीनों चरणों में यह बात बहुत ही कम पाई जाती है। बहुत से स्थलों पर तो प्रथम तीन चरणों की वाक्यरचना बिल्कुल अव्यवस्थित और बहुत सी पद-योजना निरर्थक होती है। पर 'प्रताप' की भाषा एकरस चलती है। इन सब बातों के विचार से हम प्रतापजी को पद्माकरजी के समकक्ष ही बहुत बड़ा कवि मानते हैं।

प्रतापजी की कुछ रचनाएँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

चंचलता अपनी तजि कै रस ही रस सों रस सुंदर पीजियो।
कोऊ कितेक कहै तुम सों तिनकी कही बातन को न पतीजियो॥
चोज चवाइन के सुनियो न, यही इक मेरी कही नित कीजियो।
मंजुल मंजरी पैहौ, मलिन्द! बिचारि कै भार सँभारि कै दीजियो॥

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें, छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ये नभ मंडल में छहरैं, घहरैं कहुँ जाय, कहूँ ठहरैं॥

कानि करै गुरुलोगन की, न सखीन की सीखन ही मन लावति।
ऐंड़-भरी अँगराति खरी, कत घूँघट में नए नैन नचावति॥
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति।
कौन सुभाव री तेरो पर्‌यो, खिन आँगन में, खिन पौरि में आवति॥

कहा जानि, मन में मनोरथ बिचारि कौन,
चेति कौन काज, कौन हेतु उठि आई प्रात।
कहै परताप छिन डोलिबो पगन कहूँ,
अंतर को खोलिबो न बोलिबो हमैं सुहात॥
ननद जिठानी सतरानी, अनखानी अति,
रिस कै रिसानी, सो न हमैं कछू जानी जात।
चाहौ पल बैठी रहौ, चाहौ उठि जाव तौ न,
हमको हमारी परी, बूझै को तिहारी बात?

चंचल चपला चारु चमकत चारो ओर,
झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत है।

सीतल समीर लगै दुखद वियोगिन्ह,
सँयोगिन्ह समाज सुखसाज सरसत है ॥
कहै परताप अति निविड़ अँधेरी माँह
मारग चलत नाहिं नेकु दरसत है।
भुमड़ि भलानि चहुँ कोद तें उमड़ि आज
धाराधर धारन अपार बरसत है ॥

———

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेस के।
सेवत दरीन केते गब्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्योंही डरन खगेस के ॥
कहै परताप धरा धँसत त्रसत,
कसमसत कमठ-पीठि कठिन कलेस के।
कुहरत कोल, हहरत हैं दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के ॥

(५७) **रसिक गोविंद**—ये निंबार्क संप्रदाय के एक महात्मा हरिव्यास की गद्दी के शिष्य थे और वृंदावन में रहते थे। हरिव्यासजी की शिष्यपरंपरा में सर्वेश्वरशरण देवजी बड़े भारी भक्त हुए हैं। रसिकगोविंदजी उन्हीं के शिष्य थे। ये जयपुर (राजपुताना) के रहनेवाले और नटाणी जाति के थे। इनके पिता का नाम शालिग्राम, माता का गुमाना, चाचा का मोतीराम और बड़े भाई का बालमुकुंद था। इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८९० तक अर्थात् विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से लेकर अंत तक स्थिर होता है। अब तक इनके ९ ग्रंथों का पता चला है—संभवतः और भी होंगे। नौ ग्रंथ ये हैं—

(१) रामायण सूचनिका—३३ दोहों में अक्षर-क्रम से रामायण की कथा संक्षेप में कही गई है। यह संवत् १८५८ के पहले की रचना है। इसके ढंग का पता इन दोहों से लग सकता है—

> चकित भूप बानी सुनत गुरु बसिष्ठ समुझाय।
> दिए पुत्र तब, ताड़का मग में मारी जाय॥
> छाँड़त सर मारिच उड़्यो, पुनि प्रभु हत्यो सुबाहु॥
> मुनि मख पूरन, सुमन सुर बरसत अधिक उछाह॥

(२) रसिक गोविंदानंदघन—यह सात आठ सौ पृष्ठों का बड़ा भारी रीतिग्रंथ है जिसमें रस, नायक-नायिकाभेद, अलंकार, गुण-दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। इसे इनका प्रधान ग्रंथ समझना चाहिए। इसका निर्माणकाल वसंत पंचमी संवत् १८५८ है। यह चार प्रबंधों में विभक्त है। इसमें बड़ी भारी विशेषता यह है कि लक्षण गद्य में हैं और रसों, अलंकारों आदि के स्वरूप गद्य में समझाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के बड़े बड़े आचार्यों के मतों का उल्लेख भी स्थान स्थान पर है। जैसे, रस का निरूपण इस प्रकार है—

"अन्य-ज्ञानरहित जो आनंद सो रस। प्रश्न—अन्य-ज्ञान-रहित आनंद तो निद्रा हू है। उत्तर—निद्रा जड़ है, यह चेतन। भरत आचार्य्य सूत्रकर्त्ता को मत—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के जोग तें रस की सिद्धि। अथ काव्यप्रकाश को मत—कारण कारज सहायक हैं जे लोक में इन ही को नाट्य में, काव्य में, विभाव संज्ञा है। अथ टीकाकर्त्ता को मत तथा साहित्यदर्पण को मत—सत्त्व, विशुद्ध, अखंड, स्वप्रकाश, आनंद, चित्, अन्यज्ञान नहिं संग, ब्रह्मास्वाद-सहोदर रस"।

इसके आगे अभिनवगुप्ताचार्य्य का मत कुछ विस्तार से दिया है। सारांश यह कि यह ग्रंथ आचार्य्यत्व की दृष्टि से लिखा

गया है और इसमें संदेह नहीं कि और ग्रंथों की अपेक्षा इसमें विवेचन भी अधिक है और छूटी हुई बातों का समावेश भी। दोषों का वर्णन, जो हिंदी के लक्षण-ग्रंथों में बहुत कम पाया जाता है, इन्होंने काव्यप्रकाश के अनुसार विस्तार से किया है। रसों, अलंकारों आदि के उदाहरण कुछ तो अपने हैं, पर बहुत से दूसरे कवियों के। उदाहरणों के चुनने में इन्होंने बड़ी सहृदयता का परिचय दिया है। संस्कृत के उदाहरणों के अनुवाद भी बहुत सुंदर करके रखे हैं। साहित्य-दर्पण के मुग्धा के उदाहरण (दत्ते सालसमंथरं...इत्यादि) को देखिए हिंदी में ये किस सुंदरता से लाए हैं—

आलस सों मंद मंद धरा पै धरति पाय,
भीतर तें बाहिर न आवै चित चाय कै।
रोकति दृगनि छिनछिन प्रति लाज साज,
बहुत हँसी की दीनो बानि बिसराय कै।।
बोलति बचन मृदु मधुर बनाय, उर
अंतर के भाव की गँभीरता जनाय कै
बात सखी सुंदर गोबिंद की कहात तिन्हैं
सुंदरि बिलोकै बंक भृकुटी नचाय कै।।

(३) लछिमन-चंद्रिका—'रसिकगोविंदानंदघन' में आए लक्षणों का संक्षिप्त संग्रह जो संवत १८८६ में लछिमन कान्यकुब्ज के अनुरोध से कवि ने किया था।

(४) अष्टदेशभाषा—इसमें ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी, पूरबी आदि आठ बोलियों में राधा-कृष्ण की शृंगारलीला कही गई है।

(५) पिंगल।

(६) समयप्रबंध—राधाकृष्ण की ऋतुचर्य्या ८५ पद्यों में वर्णित है।

(७) कलिजुग रासो—इसमें १६ कवित्तों में कलिकाल की बुराइयों का वर्णन है। प्रत्येक कवित्त के अंत में "कीजिए सहाय जू कृपाल श्री गोविंदराय, कठिन कराल कलिकाल चलि आयो है" यह पद आता है। निर्माणकाल संवत् १८६५ है।

(८) रसिक गोविंद—चंद्रालोक या भाषाभूषण के ढँग की अलंकार की एक छोटी पुस्तक जिसमें लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में हैं। रचनाकाल संवत् १८९० है।

(९) युगलरस माधुरी—रोला छंद में राधाकृष्णविहार और वृंदावन का बहुत ही सरस और मधुर भाषा में वर्णन है जिससे इनकी सहृदयता और निपुणता पूरी पूरी टपकती है। कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं—

मुकलित पल्लव फूल सुगंध परागहि झारत।
जुग मुख निरखि विपिन जनु राई लोन उतारत॥
फूल फलन के भार डार झुकि यों छबि छाजै।
मनु पसारि दइ भुजा देन फल पथिकन काजै॥
मधु मकरंद पराग-लुब्ध अलि मुदित मत्त मन।
बिरद पढ़त ऋतुराज नृपति के मनु बंदीजन॥

—

प्रकरण ३

रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का, जिन्होंने लक्षणग्रंथ के रूप में रचनाएँ की हैं, संक्षेप में वर्णन हो चुका है। अब यहाँ पर इस काल के भीतर होनेवाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीति-ग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। ऐसे कवियों में कुछ ने तो प्रबंध-काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति या भक्ति-ज्ञान-संबंधी पद्य और कुछ ने शृंगार-रस की फुटकल कविताएँ लिखी हैं। ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगाररस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानंद सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं में प्रायः मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हें कोई बंधन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिये पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानंद,

आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।

प्रबंध-काव्य की उन्नति इस काल में कुछ विशेष न हो पाई। लिखे तो अनेक कथा-प्रबंध गए पर उनमें से दो ही चार में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है। सबलसिंह का महाभारत, छत्रसिंह की विजयमुक्तावली, गुरु गोविंदसिंहजी का चंडीचरित्र, लाल कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीर-रासो, गुमान मिश्र का नैषधचरित, सरयूराम का जैमिनि पुराण, सूदन का सुजानचरित्र, देवीदत्त की बैतालपचीसी, हरनारायण की माधवानल कामकंदला, व्रजवासीदास का व्रजविलास, गोकुल-नाथ आदि का महाभारत, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा भागवत, नवलसिंहकृत भाषा सप्तशती, आल्हारामायण, आल्हाभारत, मूलढोला तथा चंद्रशेखर का हम्मीरहठ, श्रीधर का जंगनामा, पद्माकर का रामरसायन, ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य हैं। इनमें से चंद्रशेखर के हम्मीरहठ, लाल कवि के छत्रप्रकाश, जोधराज के हम्मीर-रासो, सूदन के सुजानचरित्र और गोकुलनाथ आदि के महा-भारत में ही काव्योपयुक्त रसात्मकता भिन्न भिन्न परिमाण में पाई जाती है। 'हम्मीररासो' की रचना बहुत ही प्रशस्त है। 'रामाश्वमेध' की रचना भी साहित्यिक है। 'व्रजविलास' में यद्यपि काव्य के गुण अल्प हैं पर उसका थोड़ा बहुत प्रचार कम पढ़े लिखे कृष्णभक्तों में है।

कथात्मक प्रबंधों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है जिसे हम वर्णनात्मक प्रबंध कह सकते हैं। दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव-वर्णन, मंगलवर्णन, रामकलेवा इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। बड़े बड़े प्रबंधकाव्यों के

भीतर इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रसंग रहा करते हैं। काव्य-पद्धति में जैसे शृंगाररस के क्षेत्र से 'नखशिख', 'षट्ऋतु' आदि लेकर स्वतंत्र पुस्तकें बनने लगीं वैसे ही कथात्मक महाकाव्यों के ये अंग भी निकालकर अलग पुस्तकें लिखी गईं। इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तुवर्णन चलता है, कभी कभी तो इतने विस्तार के साथ कि परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। जहाँ कविजी अपने वस्तु-परिचय का भंडार खोलते हैं—जैसे, बरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ों जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पचीसों प्रकार के कपड़ों के नाम और भोजन की बात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों के नाम—वहाँ तो अच्छे अच्छे धीरों का धैर्य छूट जाता है।

चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहनेवालों का है। इनको हम 'कवि' कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य-कथन के ढँग में कभी कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी संबंध रखते हैं, पर उनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करनेवालों को हम 'कवि' न कहकर 'सूक्तिकार' कहेंगे। रीतिकाल के भीतर वृंद, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं।

पाँचवाँ वर्ग ज्ञानोपदेशकों का है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं। ये कभी कभी समझाने के लिये उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिये ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं। इनका उद्देश्य अधिकतर बोधवृत्ति जाग्रत करने का रहता है, मनोविकार उत्पन्न करने का नहीं। ऐसे ग्रंथकारों को हम

केवल 'पद्यकार' कहेंगे। हाँ, इनमें जो भावुक और प्रतिभा-संपन्न हैं, जो अन्योक्तियों आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं वे अवश्य कवि क्या, उच्चकोटि के कवि, कहे जा सकते हैं।

छठा वर्ग कुछ भक्त कवियों का है जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढँग पर गाए हैं।

इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीररस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमें युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ थोडी बहुत तो रसग्रंथों के आदि में मिलती हैं, कुछ अलंकार ग्रंथों के उदाहरण रूप (जैसे, शिवराजभूषण) और कुछ अलग पुस्तकाकार जैसे "शिवा-बावनी", "छत्रसाल-दशक", "हिम्मतबहादुर-विरुदावली" इत्यादि। ऐसी पुस्तकों में सर्वप्रिय और प्रसिद्ध वे ही हो सकी हैं जो या तो देवकाव्य के रूप में हुई हैं अथवा जिनके नायक कोई देशप्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन रहे हैं—जैसे, शिवाजी, छत्रसाल, महाराणा प्रताप आदि। जो पुस्तकें यों ही खुशामद के लिये, आश्रित कवियों की रूढ़ि के अनुसार लिखी गईं, जिनके नायकों के लिये जनता के हृदय में कोई स्थान न था, वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। बहुत सी तो लुप्त हो गईं। उनकी रचना में सच पूछिए तो कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया। उनके द्वारा कवियों को अर्थ-सिद्धि भर प्राप्त हुई, यश का लाभ न हुआ। यदि बिहारी ने जयसिंह की प्रशंसा में ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होतीं। संस्कृत और हिंदी के न जाने कितने कवियों का प्रौढ़ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया। काव्यक्षेत्र में यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई है।

भक्तिकाल के समान रीतिकाल में भी थोड़ा बहुत गद्य इधर उधर दिखाई पड़ जाता है पर अधिकांश कच्चे रूप में। गोस्वामियों की लिखी 'वैष्णव-वार्त्ताओं' के समान कुछ पुस्तकों में ही पुष्ट व्रजभाषा मिलती है। रही खड़ी बोली। वह पहले कुछ दिनों तक तो मुसलमानों के व्यवहार की भाषा समझी जाती रही। मुसलमानों के प्रसंग में उसका कभी कभी प्रयोग कवि लोग कर देते थे, जैसे—अफ़जल खान को जिन्होंने मैदान मारा (भूषण)। पर पीछे दिल्ली राजधानी होने से रीतिकाल के भीतर ही खड़ी बोली शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो गई थी और उसमें अच्छे गद्य ग्रंथ लिखे जाने लगे थे। संवत् १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'योगवासिष्ठ भाषा' बहुत ही परिमार्जित गद्य में लिखा। (विशेष दे० आधुनिक काव्य)।

इसी रीतिकाल के भीतर रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह ने हिंदी का प्रथम नाटक (आनंदरघुनंदन) लिखा। इसके उपरांत गणेश कवि ने 'प्रद्युम्न-विजय' नामक एक पद्यबद्ध नाटक लिखा जिसमें पात्र-प्रवेश, विष्कंभक, प्रवेशक आदि रहने पर भी इतिवृत्तात्मक पद्य रखे जाने के कारण नाटक का प्रकृत स्वरूप न दिखाई पड़ा।

(१) **बनवारी**—ये संवत् १६९० और १७०० के बीच वर्त्तमान थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह की वीरता की बड़ी प्रशंसा की है। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि एक बार शाहजहाँ के दरबार में सलावतखाँ ने किसी बात पर अमरसिंह को गँवार कह दिया, जिस पर उन्होंने चट तलवार खींचकर सलावतखाँ को वहीं मार डाला। इस घटना का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन इनके इन पद्यों में मिलता है—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलावत खान॥

उत्त गकार मुख ते कढ़ी इतै कढ़ी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार॥

आनि कै सलावत खाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर-पंजर करेजे जाय करकी।
दिलीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को, सुनी जो बात बर की॥
कहै बनवारी बादसाही के तखत पास
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों अरकी।
कर की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
बाढ़ की बड़ाई, कै बड़ाई जमधर की॥

बनवारी कवि की श्रृंगारस की कविता भी बड़ी चमत्कार-पूर्ण होती थी। यमक लाने का ध्यान इन्हें विशेष रहा करता था। एक उदाहरण लीजिए—

नेह बर साने तेरे नेह बरसाने देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे।
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखे सुख पावैंगे॥
तू ही उर बसो, उर बसी नाहिं और तिय,
कोटि उरबसी तजि तोसों चित लावैंगे।
सजे बनवारी बनवारी तन आभरन,
गोरे-तन-वारी बनवारी आजु आवैंगे॥

(२) **सबलसिंह चौहान**—इनके निवासस्थान का ठीक निश्चय नहीं। शिवसिंहजी ने यह लिखकर कि कोई इन्हें चंदागढ़ का राजा और कोई सबलगढ़ का राजा बतलाते हैं, यह अनुमान किया है कि ये इटावे के किसी गाँव के जमींदार

थे। सबलसिंहजी ने औरंगजेब के दरबार में रहनेवाले किसी राजा मित्रसेन के साथ अपना संबंध बताया है। इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहों चौपाइयों में लिखी है। इनका महाभारत बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसे इन्होंने संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच पूरा किया। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होंने 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद, 'रूपविलास' और एक पिंगल ग्रंथ भी लिखा था पर वे प्रसिद्ध नहीं हुए। ये वास्तव में अपने महाभारत के लिये ही प्रसिद्ध हैं। उसमें यद्यपि भाषा का लालित्य या काव्य की छटा नहीं है पर सीधी-सादी भाषा में कथा अच्छी तरह कही गई है। रचना का ढँग नीचे के अवतरण से विदित होगा।

अभिमनु धाइ खड्ग परहारे। सम्मुख जेहि पायो तेहि मारे ॥
भूरिश्रवा बान दस छाँटे। कुँवर-हाथ के खड्गहि काटे ॥
तीनि बान सारथि उर मारे। आठ बान ते अस्व सँहारे ॥
सारथि जूझि गिरे मैदाना। अभिमनु बीर चित्त अनुमाना ॥
यहि अंतर सेना सब धाई। मारु मारु कै मारन आई ॥
रथ को खैंचि कुँवर कर लीन्हे। तातें मार भयानक कीन्हे ॥
अभिमनु कोपि खंभ परहारे। इक इक घाव बीर सब मारे ॥
अर्जुनसुत इमि मार किय महाबीर परचंड।
रूप भयानक देखियत जिमि जम लीन्हे दंड ॥

——

(३) **वृंद**—ये मेड़ता (जोधपुर) के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ में ये शायद कृष्णगढ़-नरेश के साथ औरंगजेब की फौज में ढाके तक गए थे। इनके वंशधर अब तक कृष्णगढ़ में वर्त्तमान हैं। इनकी "वृंदसतसई" (संवत् १७६१), जिसमें नीति

के सात सौ दोहे हैं, बहुत प्रसिद्ध है। खोज में 'शृंगारशिक्षा' (सं० १७४८) और 'भावपंचाशिका' नाम की दो रस-संबंधी पुस्तकें और मिली हैं पर इनकी ख्याति अधिकतर सूक्तिकार के रूप में ही है। वृंदसतसई के कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

भले बुरे सब एक सम जौ लौ बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काग पिक ऋतु बसंत के माहिं॥
हितहू की कहिए न तेहि जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटे को आरसी होत दिखाए क्रोध॥

(४) **छत्रसिंह कायस्थ**—ये बटेश्वर क्षेत्र के अटेर नामक गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके आश्रय-दाता अमरावती के कोई कल्याणसिंह थे। इन्होंने 'विजय-मुक्तावली' नाम की पुस्तक संवत् १७५७ में लिखी जिसमें महाभारत की कथा एक स्वतंत्र प्रबंध-काव्य के रूप में कई छंदों में वर्णित है। पुस्तक में काव्य के गुण यथेष्ट परिमाण में हैं और कहीं कहीं की कविता बड़ी ही ओजस्विनी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

निरखत ही अभिमन्यु को, बिदुर डुलायो सीस।
रच्छा बालक की करौ, ह्वै कृपाल जगदीस॥
आपुन काँधो युद्ध नहिँ, धनुष दियो भुव डारि।
पापी बैठे गेह कत, पांडुपुत्र तुम चारि॥
पौरुष तजि, लज्जा तजी, तजी सकल कुलकानि।
बालक रनहिं पठाय कै, आपु रहे सुख मानि॥

कवच कुंडल इंद्र लीने, बाण कुंती लै गई।
भई बैरिनि मेदिनी, चित कर्ण के चिंता भई॥

(५) **बैताल**—ये जाति के बंदीजन थे और राजा विक्रमसाहि की सभा में रहते थे। यदि ये विक्रमसाहि चर-

खारीवाले प्रसिद्ध विक्रमसाहि ही हैं जिन्होंने 'विक्रम-सतसई' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं और जो खुमान, प्रताप आदि कई कवियों के आश्रयदाता थे, तो बैताल का समय संवत् १८३९ और १८८६ के बीच मानना पड़ेगा। पर शिवसिंहसरोज में इनका जन्मकाल सं० १७३४ लिखा हुआ है। बैताल ने गिरिधरराय के समान नीति की कुंडलियों की रचना की है और प्रत्येक कुंडलिया विक्रम को संबोधन करके कही है। इन्होंने लौकिक व्यवहार-संबंधी अनेक विषयों पर सीधे सादे पर जोरदार पद्य कहे हैं। गिरिधरराय के समान इन्होंने भी वाक्चातुर्य्य या उपमा रूपक आदि लाने का प्रयत्न नहीं किया है। बिलकुल सीधी सादी बात ज्यों की त्यों छंदोबद्ध कर दी गई है। फिर भी कथन के ढँग में अनूठापन है। एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू॥
बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै॥
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनो, एते मरे न रोइए॥

(६) **आलम**—ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम में फसकर पीछे से मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। आलम को शेख से जहान नामक एक पुत्र भी हुआ। ये औरंगजेब के दूसरे बेटे मुअज्जम के आश्रय में रहते थे जो पीछे बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। अतः आलम का कविताकाल संवत् १७४० से संवत् १७६० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' के नाम से निकला है। इस पुस्तक

में आए पद्यों के अतिरिक्त इनके और बहुत से सुंदर और उत्कृष्ट पद्य ग्रंथों में संगृहीत मिलते हैं और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं।

शेख रँगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी। आलम के साथ प्रेम होने की विचित्र कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि आलम ने एक बार उसे पगड़ी रँगने को दी जिसकी खूँट में भूल से कागज का चिट बँधा चला गया। उस चिट में दोहे की यह आधी पंक्ति लिखी थी "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"। शेख ने दोहा इस तरह पूरा करके "कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन", उस चिट को फिर ज्यों का त्यों पगड़ी की खूँट में बाँधकर लौटा दिया। उसी दिन से आलम शेख के पूरे प्रेमी हो गए और अंत में उसके साथ विवाह कर लिया। शेख बहुत ही चतुर और हाज़िर-जवाब स्त्री थी। एक बार शाहज़ादा मुअज्ज़म ने हँसी से शेख से पूछा—"क्या आलम की औरत आप ही हैं?" शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहाँपनाह! जहान की माँ मैं ही हूँ।" "आलमकेलि" में बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम के कवित्त-सवैयों में भी बहुत सी रचना शेख की मानी जाती है। जैसे, नीचे लिखे कवित्त में चौथा चरण शेख का बनाया कहा जाता है—

> प्रेमरंग-पगे जगमगे जगे जामिनि के,
> जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
> मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
> झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत हैं॥
> आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
> पाँखुरी-पदुम पै भँवर थिरकत हैं।
> चाहत हैं उड़िबे को, देखत मयंक-मुख,
> जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत हैं॥

आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। "प्रेम की पीर" या "इश्क का दर्द" इनके एक एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक कही हैं। शब्दवैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगाररस की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुननेवाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है। रेखता या उर्दू भाषा में भी इन्होंने कवित्त कहे हैं। भाषा भी इस कवि की परिमार्जित और सुव्यवस्थित है पर उसमें कहीं कहीं "कीन, दीन, जौन" आदि अवधी या पूरबी हिंदी के प्रयोग भी मिलते हैं। कहीं कहीं फारसी की शैली के रसबाधक भाव भी इनमें मिलते हैं। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' और 'घनानंद' की कोटि में होनी चाहिए। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

———

कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं, ए दई!
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बगपाँति उत अंतगति ह्वै गई?
आलम कहै, हो आली! अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीत विपरीत विधि ने ठई?

मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई ? ॥

—

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै बार बार,
त्यों त्यों बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले, कैधौं नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं ?

—

दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
यौं गली महबूब की अराम खुसखाना है।
रोज ही से है जो राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है॥
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजै, हाल के न ख्याल हूजै,
बेखुद फकीर वह आशिक दिवाना है॥

(७) **गुरु गोविंदसिंहजी**—ये सिखों के महापराक्रमी दसवें या अंतिम गुरु थे। इनका जन्म सं० १७२३ में और सत्यलोक-वास संवत् १७६५ में हुआ। यद्यपि सब गुरुओं ने थोड़े बहुत पद भजन आदि बनाए हैं पर ये महाराज काव्य के अच्छे ज्ञाता और ग्रंथकार थे। सिखों में शास्त्रज्ञान का अभाव इन्हें बहुत खटका था और इन्होंने बहुत से सिखों को व्याकरण,

साहित्य, दर्शन आदि के अध्ययन के लिये काशी भेजा था। ये हिंदू भावों और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिये बराबर युद्ध करते रहे। 'तिलक' और 'जनेऊ' की रक्षा में इनकी तलवार सदा खुली रहती थी। यद्यपि सिख-संप्रदाय की निर्गुण उपासना है पर सगुण स्वरूप के प्रति इन्होंने पूरी आस्था प्रकट की है और देवकथाओं की चर्चा बड़े भक्तिभाव से की है। यह बात प्रसिद्ध है कि ये शक्ति के आराधक थे। इनके इस पूर्ण हिंदू-भाव को देखते यह बात समझ में नहीं आती कि वर्त्त-मान समय में सिखों की एक शाखा-विशेष के भीतर पैगंबरी मजहबों का कट्टरपन कहाँ से और किसकी प्रेरणा से आ घुसा है।

इन्होंने हिंदी में कई अच्छे और साहित्यिक ग्रंथों की रचना की है जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—सुनीति-प्रकाश, सर्वलोह-प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर और चंडीचरित्र। चंडीचरित्र की रचनापद्धति बड़ी ही ओजस्विनी है। ये प्रौढ़ साहित्यिक ब्रजभाषा लिखते थे। चंडीचरित्र में दुर्गासप्तशती की कथा बड़ी सुंदर कविता में कही गई है। इनकी रचना के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> निर्जन निरूप हौ, कि सुंदर स्वरूप हौ,
> कि भूपन के भूप हौ, कि दानी महादान हौ ?
> प्रान के बचैया, दूध पूत के देवैया,
> रोग सोग के मिटैया, किधौं मानी महामान हौ ?
> विद्या के विचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
> कि सुद्धता की मूर्त्ति हौ, कि सिद्धता की सान हौ ?
> जोबन के जाल हौ, कि कालहू के गाल हौ,
> कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ ?

(८) **श्रीधर या मुरलीधर**—ये प्रयाग के रहनेवाले थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं और बहुत सी फुटकल कविता

बनाई है। संगीत की पुस्तक, नायिकाभेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के फुटकल पद्य, चित्रकाव्य इत्यादि के अतिरिक्त इन्होंने 'जंगनामा' नामक एक ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य लिखा जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रंथ काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस छोटी सी पुस्तक में सेना की चढ़ाई, साज सामान आदि का कवित्त-सवैयों में अच्छा वर्णन है। इनका कविता-काल सं० १७६७ के आसपास माना जा सकता है। 'जंगनामा' का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

इत गलगाजि चल्यो फर्रुखसियर साह,
उत मौजदीन करी भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सों, बीर हहकारनि सों,
धौंसे की धुकारनि धमकि उठी धरती॥
श्रीधर नवाब फरजंदखाँ सुजंग जुरे,
जोगिनी अघाई जुग जुगन की बरती।
हहरयो हरौल, भीर गोल पै परी ही, तू न
करतो हरौली तौ हरौलै भीर परती॥

(९) **लाल कवि**—इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था और ये मऊ (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे। इन्होंने प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनका जीवनचरित दोहों चौपाइयों में बड़े ब्योरे के साथ वर्णन किया है। इस पुस्तक में छत्रसाल का संवत् १७६४ तक का ही वृत्तांत आया है, इससे अनुमान होता है कि या तो यह ग्रंथ अधूरा ही मिला है अथवा लाल कवि का परलोकवास छत्रसाल के पूर्व ही हो गया था। जो कुछ हो, इतिहास की दृष्टि से "छत्रप्रकाश" बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमें सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक ठीक दिए गए हैं। इसमें वर्णित घटनाएँ और संवत् आदि ऐतिहासिक

खोज के अनुसार बिल्कुल ठीक हैं, यहाँ तक कि जिस युद्ध में छत्रसाल को भागना पड़ा है उसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

ग्रंथ की रचना प्रौढ़ और काव्यगुण-युक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। लाल कवि में प्रबंधपटुता पूरी थी। संबंध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिये मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। वस्तु-परिगणन द्वारा वर्णनों का अरुचिकर विस्तार बहुत ही कम मिलता है। सारांश यह कि लाल कवि का सा प्रबंध-कौशल हिंदी के कुछ इने गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्दवैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृत्रिमता कहीं से नहीं आने दी है। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियों का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई है और न ऊहा की जटिलता। देश की दशा की ओर भी कवि का पूरा ध्यान जान पड़ता है। शिवाजी का जो वीरव्रत था वही छत्रसाल का भी था। छत्रसाल का जो भक्तिभाव शिवाजी पर कवि ने दिखाया है तथा दोनों के सम्मिलन का जो दृश्य खींचा है दोनों इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं।

"छत्रप्रकाश" में लाल कवि ने बुंदेल-वंश की उत्पत्ति, चंपत-राय के विजय-वृत्तांत, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपतराय के अंतिम दिनों में उनके राज्य का मोगलों के हाथ में जाना, छत्र-साल का थोड़ी सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मोगलों का नाकों दम करना इत्यादि बातों का विस्तार से वर्णन किया है। काव्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में अपने ढँग का

अनूठा है। लाल कवि का एक और ग्रंथ 'विष्णु-विलास' है जिसमें बरवै छंद में नायिकाभेद कहा गया है। पर इस कवि की कीर्त्ति का स्तंभ 'छत्रप्रकाश' ही है।

'छत्रप्रकाश' से नीचे कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं।

(छत्रसाल-प्रशंसा)

लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै ॥
सतकवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अरथन में आगै ॥
रुचि सों लखत तुरंग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के ॥
चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा खान खुमान।
अब धौं धावै कौन पर छत्रसाल बलवान ॥

(युद्ध-वर्णन)

छत्रसाल हाड़ा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छवि छायो ॥
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरनहारो ॥
दौरि देस मुगलन के मारौ। दपटि दिली के दल संहारौ ॥
एक आन सिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही ॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दंड लै छोरे ॥
काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों, बाँटि धरनि धरि लेहु ॥

चहूँ ओर सों सूबनि घेरो। दिसनि अलातचक्र सो फेरो ॥
पजरे सहर साहि के बाँके। धूम धूम में दिनकर ढाँके ॥
कबहूँ प्रगटि युद्ध में हाँकै। मुगलनि मारि पुहुमि तल ढाँकै ॥
बानन बरखि गयंदनि फोरै। तुरकनि तमक तेग तर तोरै ॥
कबहूँ उमड़ि अचानक आवै। घन सम घुमड़ि लोह बरसावै ॥
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै। कबहूँ चापि चँदालनि लूटै ॥
कबहूँ देस दौरि कै लावै। रसद कहूँ की कढ़न न पावै ॥

(१०) **घन आनंद**—ये साक्षात् रसमूर्त्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तंभों में हैं। इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और ये संवत् १७९६ में नादिरशाही में मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे। कहते हैं कि एक दिन दरबार में कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। इन्होंने उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाना गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इनके गाने पर जितना खुश हुआ उतना ही बेअदबी पर नाराज़। उसने इन्हें शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन जाकर निंबार्क-संप्रदाय के वैष्णव हो गए और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे। वृंदावन-भूमि का प्रेम इनके इस कवित्त से झलकता है—

> गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
> सदा सुखद सुहायो वृंदावन गाढ़े गहि रे।
> अद्‌भुत अभूत महिमंडन, परे तें परे,
> जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
> आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही,
> सरस सुदेय सो, पपीहापन बहि रे।
> जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
> पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

संवत् १७९६ में जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कह दिया कि वृंदावन में

बादशाह का मीरमुंशी रहता है; उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें आ घेरा और 'जर जर जर' (अर्थात् धन, धन, धन, लाओ) चिल्लाने लगे। घनानंदजी ने शब्द को उलटकर 'रज' 'रज' 'रज' कहकर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूल उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या? सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। कहते हैं कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन-भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घनआनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घन-आनंदजी के इतने ग्रंथों का पता लगता है—सुजान-सागर, विरहलीला, कोकसार, रसकेलिवल्ली और कृपाकांड। इसके अतिरिक्त इनके कवित्त सवैयों के फुटकल संग्रह डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तों तक के मिलते हैं। कृष्णभक्ति-संबंधी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में है जिसमें प्रियाप्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगवेली, कृपाकंद निबंध, गिरिगाथा, भावनाप्रकाश, गोकुलविनोद, धाम-चमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, रस-वसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी 'विरहलीला' व्रजभाषा में पर फारसी के छंद में है।

इनकी सी विशुद्ध, सरस और शक्तिशालिनी व्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ

प्रौढ़ता और माधुर्य्य भी अपूर्व ही है। विप्रलंभ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। ये वियोग-शृंगार के प्रधान मुक्तक-कवि हैं। "प्रेम की पीर" ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा ज़बाँ-दानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। अतः इनके संबंध में निम्नलिखित उक्ति बहुत ही संगत है—

नेही महा, ब्रजभाषा-प्रवीन औ सुंदरताहु के भेद को जानै।
योग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठानै॥
चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर 'सुजान' को संबोधन किया है जो शृंगार में नायक के लिये और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान् के लिये प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान' का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा। यद्यपि अपने पिछले जीवन में घनानंद विरक्त भक्त के रूप में वृंदावन जा रहे पर इनकी अधिकांश कविता भक्ति-काव्य की कोटि में नहीं आएगी, शृंगार की ही कही जायगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए। कविता इनकी भावपक्षप्रधान है। कोरे विभावपक्ष का चित्रण इनमें कम मिलता है। जहाँ रूप-छटा का वर्णन इन्होंने किया भी है वहाँ उसके प्रभाव का ही वर्णन मुख्य है। इनकी वाणी की प्रवृत्ति अन्तर्वृत्ति-निरूपण की ओर ही विशेष रहने के कारण बाह्यार्थ-निरूपक रचना कम मिलती है। होली के उत्सव, मार्ग में नायक-नायिका की भेंट, उनकी रमणीय चेष्टाओं आदि के वर्णन के रूप में ही वह पाई जाती है। संयोग का भी कहीं कहीं बाह्य वर्णन मिलता है,

पर उसमें भी प्रधानता बाहरी व्यापारों या चेष्टाओं की नहीं है, हृदय के उल्लास और लीनता की ही है।

प्रेमदशा की व्यंजना ही इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिन्दी के अन्य शृंगारी कवि में नहीं। इस दशा का पहला स्वरूप है हृदय या प्रेम का आधिपत्य और बुद्धि का अधीन पद, जैसा कि घनानंद ने कहा है—

"रीझ सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।"

प्रेमियों की मनोवृत्ति इस प्रकार की होती है कि वे प्रिय की कोई साधारण चेष्टा भी देखकर उसका अपनी ओर झुकाव मान लिया करते हैं और फूले फिरते हैं। इसका कैसा सुंदर आभास कवि ने नायिका के इस वचन द्वारा दिया है जो मन को संबोधन करके कहा गया है—

"रुचि के वे राजा जान प्यारे हैं अनंदघन,
होत कहा हेरे, रंक ! मानि लीनो मेल सो"।

कवियों की इसी अंतर्दृष्टि की ओर लक्ष्य करके एक प्रसिद्ध मनस्तत्त्ववेत्ता ने कहा है कि भावों या मनोविकारों के स्वरूप-परिचय के लिये कवियों की वाणी का अनुशीलन जितना उपयोगी है उतना मनोविज्ञानियों के निरूपण नहीं।

प्रेम की अनिर्वचनीयता का आभास घनानंद ने विरोधाभासों के द्वारा दिया है। उनके विरोध-मूलक-वैचित्र्य की प्रवृत्ति का कारण यही समझना चाहिए।

यद्यपि इन्होंने संयोग और वियोग दोनों पक्षों को लिया है, पर वियोग की अंतर्दशाओं की ओर ही दृष्टि अधिक है। इसी से इनके वियोग-संबंधी पद्य ही प्रसिद्ध हैं। वियोग-वर्णन भी अधिकतर अंतर्वृत्ति-निरूपक है, बाह्यार्थ-निरूपक नहीं। घनानंद ने न तो बिहारी की तरह विरह-ताप को बाहरी मान से

मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है वह भीतर की है—बाहर से वह वियोग प्रशांत और गंभीर है; न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछल कर भागना है। उनकी "मौन मधि पुकार" है।

यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं। भाषा मानो इनके हृदय के साथ जुड़ कर ऐसी वशवर्त्तिनी हो गई थी कि ये उसे अपनी अनूठी भावभंगी के साथ साथ जिस रूप में चाहते थे उस रूप में मोड़ सकते थे। इनके हृदय का योग पाकर भाषा को नूतन गति-विधि का अभ्यास हुआ और वह पहले से कहीं अधिक बलवती दिखाई पड़ी। जब आवश्यकता होती थी तब ये उसे बँधी प्रणाली पर से हटा कर अपनी नई प्रणाली पर ले जाते थे। भाषा की पूर्व अर्जित शक्ति से ही काम न चला कर इन्होंने उसे अपनी ओर से नई शक्ति प्रदान की है। घनानंदजी उन बिरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूप-रंग की व्यंजना के लिये भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करनेवाला हिंदी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।

लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिंदी-कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया। एक घनानंद ही ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने इस क्षेत्र में अच्छी दौड़ लगाई। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्त्तमान काल की नूतन काव्यधारा में ही, 'अभिव्यंजना-वाद' के प्रभाव से कुछ विदेशी

रंग लिए प्रकट हुई। घनानंद का प्रयोग-वैचित्र्य दिखाने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

(क) **अरसानि गही वह बानि कछू**, सरसानि सों आनि निहोरत है।

(ख) **ह्वै है सोऊ घरी भाग-उघरी** अनंदघन सुरस बरसि, लाल! देखिहौ हरी हमें। ('खुले भाग्यवाली घड़ी' में विशेषण-विपर्यय)।

(ग) **उघरो जग**, छाय रहे घन-आनँद, चातक ज्यों तकिए अब तौ। (उघरो जग = संसार जो चारों ओर घेरे था वह दृष्टि से हट गया।)

(घ) कहिए सु कहा, अब मौन भली, नहिं खोवते जौ **हमैं** पावते जू। (हमैं = हमारा हृदय)।

विरोधमूलक वैचित्र्य भी जगह जगह बहुत सुंदर मिलता है, जैसे—

(च) **झूठ की सचाई** छाक्यो, त्यों **हित-कचाई पाक्यो**, ताके गुनगन घनआनँद कहा गनौं।

(छ) **उजरनि बसी है** हमारी अँखियानि देखौ, सुबस सुदेस जहाँ रावरे बसत हौ।

(ज) गति सुनि हारी, देखि थकनि मैं चली जाति, थिर चर दसा कैसी **ढकी उघरति है**।

(झ) तेरे ज्यौं न लेखो, मोहिं मारत परेखो महा, जान घन-आनँद पै **खोयबो लहत हैं**।

इन उद्धरणों से कवि की चुभती हुई वचन-वक्रता पूरी पूरी झलकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि की उक्ति ने वक्र पथ हृदय के वेग के कारण पकड़ा है।

भाव का स्रोत जिस प्रकार टकरा कर कहीं-कहीं वक्रोक्ति के छींटे फेंकता है उसी प्रकार कहीं कहीं भाषा के स्निग्ध, सरल

और चलते प्रवाह के रूप में भी प्रकट होता है। ऐसे स्थलों पर अत्यंत चलती और प्रांजल व्रजभाषा की रमणीयता दिखाई पड़ती है—

कान्ह परे बहुतायत में, इकलैन की वेदन जानौ कहा तुम ?
हौ मन-मोहन, मोहे कहूँ न, बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम ?
बौरे बियोगिन्ह आप सुजान ह्वै, हाय ! कछू उर आनौ कहा तुम ?
आरतिवंत पपीहन को घन आनँद जू ! पहिचानौ कहा तुम ?

कारी कूर कोकिल कहाँ को बैर काढ़ति री
कूकि कूकि अबहीं करेजो किन कोरि लै।
पैंड़ परे पापी ये कलापी निसि द्यौस ज्यों ही,
चातक रे घातक ह्वै तूहू कान फोरि लै।
आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरो-दल जोरि लै।
जौ लौं करैं आवन बिनोद-बरसावन वे
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै॥

इस प्रकार की सरल रचनाओं में कहीं कहीं नाद-व्यंजना भी बड़ी अनूठी है, एक उदाहरण लीजिए—

एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन, वारि
तो सों और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान, घन
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा हा ! नैकु आनि दै॥

ऊपर के कवित्त के दूसरे चरण में आए हुए "आनँद-निधान सुखदान दुखियान दै" में मृदंग की ध्वनि का बड़ा सुंदर अनुकरण है।

उक्ति का अर्थगर्भत्व भी घनानंद का स्वतंत्र और स्वावलंबी होता है, बिहारी के दोहों के समान साहित्य की रूढ़ियों (जैसे, नायिकाभेद) पर आश्रित नहीं रहता। उक्तियों की सांगोपांग योजना या अन्विति इनकी निराली होती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधारि है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र विचित्रनि यों पचि कै रचि राखि बिसेख्यो।
ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जो आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो घन-आनँद जान अजान लौं टूक कियो, पर बाँचि न देख्यो॥

———

आनाकानी-आरसी निहारिबो करौगे कौलौं?
कहा मो चकित दसा त्यों न दीठि डोलिहै?
मौन हू सों देखिहौं कितेक पन पालिहौ जू
कूक-भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।
जान घन-आनँद यों मोहिं तुम्हैं पैज परी,
जानियैगो टेक टरें कौन धौं मलोलिहै।
रुई दिए रहौगे कहाँ लौं बहरायबे की?
कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै॥

———

अंतर में बासी पै प्रवासी कैसो अंतर है,
मेरी न सुनत, दैया! आपनीयौ ना कहौ।
लोचननि तारे ह्वै सुझाओ सब, सूझौ नाहिं,
बूझी न परति ऐसो सोचनि कहा दहौ॥

हौ तौ जानराय, जाने जाहु न, अजान यातें,
आनँद के घन छाया छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा! सूरति दिखैए नैकु,
हमैं खोय या बिधि हो! कौन धौं लहा लहौ॥

———

मूरति सिँगार की उजारी छवि आछी भाँति,
दीठि-लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद पाँवड़े पुनीतकारी पाय,
चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं।
जान प्यारे प्रान अंग-अंग-रुचि-रंगनि में,
बोरि सब अंगन अनंग-दुख भाँजिहौं।
कब घन-आनंद ढरौहीं बानि देखें,
सुधा-हेत मन-घट दरकनि सुठि राँजिहौं॥
(राँजना = फूटे बरतन में जोड़ या टाँका लगाना)

———

निसि द्यौस खरी उर माँझ अरी छवि रंग-भरी मुरि चाहनि की।
तकि मोरनि त्यों चख ढोरि रहैं, ढरिगो हिय ढोरनि बाहनि की॥
चट दै कटि पै बट प्रान गए गति सों मति में अवगाहनि की।
घन आनँद जान लख्यो जब तें जक लागियै मोहि कराहनि की॥

इस अंतिम सवैये के प्रथम तीन चरणों में कवि ने बहुत सूक्ष्म कौशल दिखाया है। 'मुरि चाहनि' और 'तकि मोरनि' से यह व्यक्त किया गया है कि एक बार नायक ने नायिका की ओर मुड़ कर देखा फिर देखकर मुड़ गए और अपना रास्ता पकड़ा। देख कर जब वे मुड़े तब नायिका का मन उनकी ओर इस प्रकार ढल पड़ा जैसे पानी नाली में ढल जाता है। कटि में बल देकर प्यारे नायिका के मन में डूबने के ढब से निकल गए।

घनानंद के ये दो सवैये बहुत प्रसिद्ध हैं—

पर-कारज देह को धारे फिरौ परजन्य ! जथारथ ह्वै दरसौ ।
निधि नीर सुधा के समान करौ, सबही बिधि सुंदरता सरसौ ॥
धनआनँद जीवनदायक हौ, कबौं मेरियौ पीर हिये परसौ ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ ॥

———

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं ।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं ॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं ।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं ॥

———

('विरहलीला' से)

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आवौ । दरस प्यासी मरैं तिनकौं जिवावौ ॥
कहाँ हौ जू, कहाँ हौ जू कहाँ हौ । लगे ये प्रान तुमसों हैं जहाँ हौ ॥
रहौ किन प्रान प्यारे नैन आगैं । तिहारे कारनै दिनरात जागैं ॥
सजन ! हित मान कै ऐसी न कीजै । भई हैं बावरी सुध आय लीजै ॥

(११) **रसनिधि**—इनका नाम पृथ्वीसिंह था और ये दतिया के एक जमींदार थे। इनका संवत् १७१७ तक वर्त्तमान रहना पाया जाता है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने बिहारी-सतसई के अनुकरण पर "रतनहजारा" नामक दोहों का एक ग्रंथ बनाया। कहीं कहीं तो इन्होंने बिहारी के वाक्य तक रख लिए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी बहुत से दोहे बनाए जिनका संग्रह बाबू जगन्नाथप्रसाद (छत्रपुर) ने किया है। "अरिल्ल और माँझों" का संग्रह भी खोज में मिला है। ये शृंगार-रस के कवि थे। अपने दोहों में इन्होंने फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत कुछ प्रयत्न

किया है। फारसी की आशिकी कविता के शब्द भी इन्होंने इस परिमाण में कहीं कहीं रखे हैं कि सुरुचि और साहित्यिक शिष्टता को आघात पहुँचता है। पर जिस ढंग की कविता इन्होंने की है उसमें इन्हें सफलता हुई है। कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

अद्भुत गति यहि प्रेम की, बैनन कही न जाय।
दरस-भूख लागै दृगन, भूखहिं देत भगाय॥
लेहु न मजनू-गोर ढिग, कोऊ लैला नाम।
दरदवंत को नेकु तौ, लेन देहु बिसराम॥

———

चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर-आँगुरी कटी कटाछन जाय॥
मनगयंद छबिमद-छके तोरि जँजीर भगात।
हिय के झीने तार सों सहजै ही बँधि जात॥

(१२) **महाराज विश्वनाथसिंह**—ये रीवाँ के बड़े ही विद्या-रसिक और भक्त नरेश तथा प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह के पिता थे। आप संवत् १७७८ से लेकर १७९७ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे। ये जैसे भक्त थे वैसे ही विद्या-व्यसनी तथा कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। काव्य-रचना में भी ये सिद्धहस्त थे। यह ठीक है कि इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रंथ दूसरे कवियों के रचे हैं पर इनकी रचनाएँ भी कम नहीं हैं। नीचे इनकी बनाई पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं जिनसे विदित होगा कि कितने विषयों पर इन्होंने लिखा है—

(१) अष्टयाम-आह्निक, (२) आनंद-रघुनंदन नाटक, (३) उत्तम-काव्य-प्रकाश, (४) गीता-रघुनंदन शतिका, (५) रामायण, (६) गीता-रघुनंदन प्रामाणिक, (७) सर्वसंग्रह, (८) कबीर बीजक की टीका, (९) विनयपत्रिका की टीका, (१०)

रामचंद्र की सवारी, (११) भजन, (१२) पदार्थ, (१३) धनुर्विद्या, (१४) आनंद-रामायण, (१५) परधर्म-निर्णय, (१६) शांति-शतक, (१७) वेदांत-पंचक शतिका, (१८) गीतावली पूर्वार्द्ध, (१९) ध्रुवाष्टक, (२०) उत्तम-नीतिचंद्रिका, (२१) अबोधनीति, (२२) पाखंड-खंडिनी, (२३) आदिमंगल, (२४) वसंत-चौंतीसी, (२५) चौरासी रमैनी, (२६) ककहरा, (२७) शब्द, (२८) विश्वभोजन-प्रसाद, (२९) ध्यानमंजरी, (३०) विश्वनाथ-प्रकाश, (३१) परमतत्त्व, (३२) संगीत-रघुनंदन इत्यादि ।

यद्यपि ये रामोपासक थे पर कुलपरंपरा के अनुसार निर्गुण संत मत की बानी का भी आदर करते थे । कबीरदास के शिष्य धर्मदास का बाँधव नरेश के यहाँ जाकर उपदेश सुनाना परंपरा से प्रसिद्ध है । 'ककहरा', 'शब्द', 'रमैनी' आदि उसी प्रभाव के द्योतक हैं । पर इनकी साहित्यिक रचना प्रधानतः रामचरित-संबंधिनी है । कबीर-बीजक की टीका इन्होंने निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण राम पर घटाई है । 'ब्रजभाषा' में नाटक पहले पहल इन्हीं ने लिखा । इस दृष्टि से इनका "आनंद-रघुनंदन नाटक" विशेष महत्त्व की वस्तु है । भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इसे हिंदी का प्रथम नाटक माना है । यद्यपि इसमें पद्यों की प्रचुरता है पर संवाद सब ब्रजभाषा गद्य में हैं । अंक-विधान और पात्रविधान भी है । हिंदी के प्रथम नाटककार के रूप में ये चिरस्मरणीय हैं ।

इनकी कविता अधिकतर या तो वर्णनात्मक है अथवा उपदेशात्मक । भाषा स्पष्ट और परिमार्जित है । इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं ।

भाइन भृत्यन विष्णु सो, रैयत भानु सो, सत्रुन काल सो भावै ।
सत्रु बली सों बचै करि बुद्धि औ अस्त्र सों धर्म की रीति चलावै ॥

जीतन को करै केते उपाय औ दीरघ दृष्टि सबै फल पावै।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै नृप सो कबहूँ नहिं राज गँवावै॥

बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐंड़वारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले राजबंसवारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के॥
केते जातिवारे, केते केते देसवारे,
जीव स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।
डंका की धुकार द्वै सवार सबै एक बार,
राज वार पार कार कोशलकुमार के॥

उठौ कुँवर दोउ प्रान पियारे।
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे पुहकर तारे॥
जगवन महँ निकस्यो हरषित हिय विचरन हेत दिवस मनियारो।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उजियारो॥

करि जो कर में कयलास लियो कसिकै अब नाक सिकोरत है।
दइ तालन बीस भुजा झहराय झुको धनु को झकझोरत है॥
तिल एक हलै न हलै पुहुमी रिसि पीसि कै दाँतन तोरत है।
मन में यह ठीक भयो हमरे मद काको महेस न मोरत है॥

(१३) भक्तवर नागरीदासजी—यद्यपि इस नाम के कई भक्त कवि व्रज में हो गए पर उनमें सबसे प्रसिद्ध कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंतसिंहजी हैं जिनका जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ में हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शूर वीर थे। १३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने बूँदी के हाड़ा जैत-

सिंह को मारा था। संवत् १८०४ में ये दिल्ली के शाही दरबार में थे। इसी बीच में इनके पिता महाराज राजसिंह का देहांत हुआ। बादशाह अहमदशाह ने इन्हें दिल्ली में ही कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकार दिया। पर जब ये कृष्णगढ़ पहुँचे तब राज्य पर अपने भाई बहादुरसिंह का अधिकार पाया जो जोधपुर की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। ये व्रज की ओर लौट आए और मरहठों से सहायता लेकर इन्होंने अपने राज्य पर अधिकार किया। पर इस गृहकलह से इन्हें कुछ ऐसी विरक्ति हो गई कि ये सब छोड़-छाड़कर वृंदावन चले गए और वहाँ विरक्त भक्त के रूप में रहने लगे। अपनी उस समय की चित्तवृत्ति का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

> जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
> सबै कलह इक राज में, राज कलह को मूल॥
> कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
> लेत न सुख हरिभक्ति को सकल सुखन को सार॥
> मैं अपने मन मूढ़ तें डरत रहत हौं हाय।
> वृंदावन की ओर तें मति कबहूँ फिरि जाय॥

वृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो "कृष्णगढ़ के राजा" यह व्यावहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने मेरे 'नागरीदास' ('नागरी' शब्द श्रीराधा के लिये आता है) नाम को सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया—

> सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
> दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥
> इक मिलत भुजन भरि दौर दौर। इक टेरि बुलावत और ठौर॥

वृंदावन में उस समय वल्लभाचार्य्यजी की गद्दी की पाँचवीं पीढ़ी थी। वृंदावन से इन्हें इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जा पहुँचे। रात को जब जमुना के किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव-बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इन्हें इतना असह्य हो गया कि ये जमुना में कूद पड़े और तैरकर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

देख्यो श्रीवृंदाविपिन पार। बिच बहति महा गंभीर धार॥
नहिं नाव, नाहिं कछु और दाव। हे दई! कहा कीजै उपाव॥
रहे वार लगन की लगै लाज। गए पारहि पूरै सकल काज॥
यह चित्त माहिं करि कै विचार। परे कूदि कूदि जलमध्य-धार॥

वृंदावन में इनके साथ इनकी उपपत्नी "बणीठणीजी" भी रहती थीं, जो कविता भी करती थीं।

ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं। इनका कविता-काल संवत् १७८० से १८१९ तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ "मनोरथ-मंजरी" संवत् १७८० में पूरा हुआ। इन्होंने संवत् १८१४ में आश्विन शुक्ल १० को राज्य पर अपने पुत्र सरदारसिंहजी को प्रतिष्ठित करके घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहले ही ये कृष्ण-भक्ति और ब्रजलीला-संबंधिनी बहुत सी पुस्तकें लिख चुके थे। कृष्णगढ़ में इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें संगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—

सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश (सं० १८००), पदप्रसंगमाला, ब्रज-वैकुंठ तुला, ब्रजसार (सं० १७९९), भोरलीला, प्रातरस-मंजरी, बिहार-चंद्रिका (सं० १७८८) भोजनानंदाष्टक, जुगल-रस माधुरी, फूलविलास, गोधन-आगमन दोहन, आनंदलग्नाष्टक, फागविलास, ग्रीष्मविहार, पावसपचीसी, गोपीबैनविलास,

रासरसलता, नैनरूपरस, शीतसार, इश्कचमन, मजलिस-मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षाऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्द्धन-धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमगदीपिका (सं० १८०२), तीर्थानंद (१८१०), फाग बिहार (१८०८), बालविनोद, बन-विनोद (१८०९), सुजानानंद (१८१०), भक्तिसार (१७९९), देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक-रत्नावली (१७८२), कलि-वैराग्य-वल्लरी (१७९५), अरिल्लपचीसी, छूटक-विधि, पारायण-विधि-प्रकाश (१७९९), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ-मंजरी (१७८०), रामचरित्रमाला, पदप्रबोधमाला, जुगल-भक्ति विनोद (१८०८), रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल-बीनन संवाद, वसंतवर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग-खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज-विलास (१७९४), गोविंद परचई, वनजन-प्रशंसा, छूटक दोहा, उत्सव-माला, पद-मुक्तावली।

इनके अतिरिक्त "वैनविलास" और "गुप्तरस-प्रकाश" नाम की दो अप्राप्य पुस्तकें भी हैं। इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य करने के पहले पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न भिन्न प्रसंगों या विषयों के कुछ पद्यों में वर्णन मात्र हैं, जिन्हें यदि एकत्र करें तो ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों में आ जायँगे। अतः ऊपर लिखे नामों को पुस्तकों के नाम न समझकर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमें से बहुतों को पाँच पाँच, दस दस, पचीस पचीस पद्य मात्र समझिए। कृष्णभक्त कवियों की अधिकांश रचनाएँ इसी ढंग की हैं। भक्तिकाल के इतने अधिक कवियों की कृष्णलीला-

संबंधिनी फुटकल उक्तियों से ऊबे हुए और केवल साहित्यिक दृष्टि रखनेवाले पाठकों को नागरीदासजी की ये रचनाएँ अधिकांश में पिष्टपेषण सी प्रतीत होंगी। पर ये भक्त थे और साहित्य-रचना की नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर भी इनकी शैली और भावों में बहुत कुछ नवीनता और विशिष्टता है। कहीं कहीं बड़े सुंदर भावों की व्यंजना इन्होंने की है। काल-गति के अनुसार फारसी काव्य का आशिकी और सूफ़ियाना रंग-ढंग भी कहीं कहीं इन्होंने दिखाया है। इन्होंने गाने के पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला आदि कई छंदों का व्यवहार किया है। भाषा भी सरस और चलती है, विशेषतः पदों की। कवित्तों की भाषा में वह चलतापन नहीं है। कविता के नमूने नीचे देखिए—

(वैराग्य-सागर से)

काहे को रे नाना मत सुनै तू पुरानन के,
तै ही कहा ? तेरी मूढ़ गूढ़ मति पंग की।
वेद के विवादनि को पावैगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की॥
और सिद्धि सोधे अब, नागर, न सिद्ध कछू,
मानि लेहु मेरी कही वार्त्ता सुढंग की।
जाइ ब्रज भोरे! कोरे मन को रँगाइ लै रे
वृंदावन-रेनु रची गौर स्याम रंग की॥

——

(अरिल्ल)

अंतर कुटिल कठोर भरे अभिमान सों।
तिन के गृह नहिं रहैं संत सनमान सों॥
उनको संगति भूलि न कबहूँ जाइए।
ब्रज-नागर नँदलाल सु निसि दिन गाइए॥

——

(पद)

जौ मेरे तन होते दोय ।
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय ।
एक जो तन हरि-विमुखन के सँग रहतो देस विदेस ।
विविध भाँति के जग-दुख-सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस ॥
एक जौ तन सतसंग-रंग रँगि रहतो अति सुख-पूर ।
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि जहँ ब्रज-जीवन-मूर ।
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वै हैं, आयु तौ छिन छिन छीजै ॥
नागरिदास एक तन तें अब कहौ काह करि लीजै ?

——

(मनोरथ-मंजरी से)

चरन छिदत काँटेनि तें स्रवत रुधिर सुधि नाहिं ।
पूछति हौं फिरि हौं भटू खग मृग तरु बन माहिं ॥
कबै झुकत मो ओर को ऐहैं मदगज-चाल ।
गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नँदलाल ॥

——

(इश्क-चमन से)

सब मजहब सब इल्म अरु सबै ऐश के स्वाद ।
अरे ! इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद ॥
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट ।
सोई आया खलक में और भरैं सब पेट ॥

——

(वर्षा के कवित्त से)

भादों की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै ।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस-रीति मलारहि गावै ॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै ।
पौन मया करि घूँघट टारै, दया करि दामिनि दीप दिखावै ॥

(१४) **जोधराज**—ये गौड़ ब्राह्मण बालकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने नीबँगढ़ (वर्त्तमान नीमराणा—अलवर) के राजा चंद्रभान चौहान के अनुरोध से "हम्मीर रासो" नामक एक बड़ा प्रबंध-काव्य संवत् १८७५ में लिखा जिसमें रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव का चरित्र वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति पर वर्णन किया गया है। हम्मीरदेव सम्राट् पृथ्वीराज के वंशज थे। उन्होंने दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन को कई बार परास्त किया था और अंत में अलाउद्दीन की चढ़ाई में ही वे मारे गए थे। इस दृष्टि से इस काव्य के नायक देश के प्रसिद्ध वीरों में हैं। जोधराज ने चंद आदि प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा का भी यत्र तत्र अनुकरण किया है;—जैसे जगह जगह 'हि' विभक्ति के प्राचीन रूप 'ह' का प्रयोग। 'हम्मीररासो' की कविता बड़ी ओजस्विनी है। घटनाओं का वर्णन ठीक ठीक और विस्तार के साथ हुआ है। काव्य का स्वरूप देने के लिये कवि ने कुछ घटनाओं की कल्पना भी की है। जैसे महिमा मंगोल का अपनी प्रेयसी वेश्या के साथ दिल्ली से भागकर हम्मीरदेव की शरण में आना और अलाउद्दीन का दोनों को माँगना। यह कल्पना राजनीतिक उद्देश्य हटाकर प्रेम-प्रसंग को युद्ध का कारण बताने के लिये, प्राचीन कवियों की प्रथा के अनुसार, की गई है। पीछे संवत् १९०२ में चंद्रशेखर वाजपेयी ने जो हम्मीरहठ लिखा उसमें भी यह घटना ज्यों की त्यों ले ली गई है। ग्वाल कवि के हम्मीरहठ में भी, बहुत संभव है कि, यह घटना ली गई होगी।

प्राचीन वीरकाल के अंतिम राजपूत वीर का चरित जिस रूप में और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिए था उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने में सफल हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इन्हें हिंदी-काव्य की ऐतिहासिक

परंपरा की अच्छी जानकारी थी, यह बात स्पष्ट लक्षित होती है। नीचे इनकी रचना के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

कब हठ करै अलावदीं रणथँभवर गढ़ आहि।
कबै सेख सरनै रहै बहुरयो महिमा साहि॥
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहौ न फेरि।
जो हठ छंडो राव तुम, उत न लजै अजमेरि॥
सरन राखि सेख न तजौ, तजौ सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर कों यह दीन्हों उपदेस॥

———

कहँ पँवार जगदेव सीस आपन कर कट्टयो।
कहाँ भोज विक्रम सुराव जिन पर-दुख मिट्टयो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दीनो।
रह्यो न रहिए कोय देव नर नाग सु चीनो॥
यह बात राय हम्मीर सूँ रानी इमि आसा कही।
जो भई चक्कवै-मंडली सुनौ राव दीखै नहीं॥

———

जीवन-मरन-सँजोग जग कौन मिटावै ताहि।
जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि॥
कहाँ जैत कहँ सूर, कहाँ सोमेश्वर राणा।
कहाँ गए प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिंता कोहि।
आसा कहै हमीर सौं अब चूकौ मत सोहि॥

———

पुंडरीक-सुत-सुता तासु पद-कमल मनाऊँ।
विसद बरन बर बसन बिसद भूषन हिय ध्याऊँ॥
विषद जंत्र सुर सुद्ध तंत्र तुंबर जुत सोहै।
विषद ताल इक भुजा, दुतिय पुस्तक मन मोहै॥

गति राजहंस हंसइ चढ़ी रटी सुरन कीरति विमल।
जय मातु सदा बरदायिनी, देहु सदा बरदान-बल ॥

(१५) **बख्शी हंसराज**—ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म संवत १७९९ में पन्ना में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी हरकिशुनजी पन्ना राज्य के मंत्री थे। हंसराजजी पन्ना-नरेश श्रीअमानसिंहजी के दरबारियों में थे। ये व्रज की व्यास-गद्दी के "विजय सखी" नामक महात्मा के शिष्य थे, जिन्होंने इनका सांप्रदायिक नाम 'प्रेमसखी' रखा था। 'सखी-भाव' के उपासक होने के कारण इन्होंने अत्यंत प्रेम-माधुर्य्य-पूर्ण रचनाएँ की हैं। इनके चार ग्रंथ पाए जाते हैं—

(१) सनेह-सागर, (२) विरहविलास, (३) रायचंद्रिका, (४) बारहमासा (संवत् १८११)।

इनमें से प्रथम बड़ा ग्रंथ है। दूसरा शायद इनकी पहली रचना है। 'सनेह-सागर' का संपादन श्रीयुत लाला भगवानदीनजी बड़े अच्छे ढंग से कर चुके हैं। शेष ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं।

'सनेह-सागर' नौ तरंगों में समाप्त हुआ है जिनमें कृष्ण की विविध लीलाएँ सार छंद में वर्णन की गई हैं। भाषा बहुत ही मधुर, सरस और चलती है। भाषा का ऐसा स्निग्ध सरल प्रवाह बहुत ही कम देखने में आता है। पद-विन्यास अत्यंत कोमल और ललित है। कृत्रिमता का लेश नहीं। अनुप्रास बहुत ही संयत मात्रा में और स्वाभाविक हैं। माधुर्य प्रधानतः संस्कृत की पदावली का नहीं, भाषा की सरल सुबोध पदावली का है। एक शब्द का भी समावेश व्यर्थ केवल पादपूर्त्यर्थ नहीं है। सारांश यह कि इनकी भाषा सब प्रकार से आदर्श-भाषा है। कल्पना भाव-विधान में ही पूर्णतया प्रवृत्त है, अपनी अलग उड़ान दिखाने में नहीं। भाव-विकास के लिये अत्यंत

परिचित और स्वाभाविक व्यापार ही रखे गए हैं। वास्तव में 'सनेह-सागर' एक अनूठा ग्रंथ है। उसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दमकति दिपति देह दामिनि सी चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उड़ि उड़ि दीठि लगै ना॥
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैर सो आवत, मनहुँ भुजंगिनि कारी॥

— —

इत तें चली राधिका गोरी सौंपन अपनी गैया।
उत तें अति आतुर आनँद सों आए कुँवर कन्हैया॥
कसि भौंहें, हँसि कुँवरि राधिका कान्ह कुँवर सों बोली।
अँग अँग उमगि भरे आनँद सों, दरकति छिन छिन चोली॥

——

एरे मुकुटवार चरवाहे! गाय हमारी लीजौ।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी, सौंपि खरक कै दीजौ॥
होहु चरावनहार गाय के बाँधनहार छुरैया।
करि दीजौ तुम आय दोहनी, पावै दूध लुरैया॥

——

कोऊ कहूँ आय बन-बीथिन या लीला लखि जैहै।
कहि कहि कुटिल कठिन कुटिलन सों सिगरे ब्रज बगरैहै॥
जो तुम्हरी इनकी ये बातें सुनिहै कीरति रानी।
तौ कैसे पटिहै पाटे ते, घटिहै कुल को पानी॥

(१६) **जनकराज-किशोरीशरण**—ये अयोध्या के एक वैरागी थे और संवत् १७९७ में वर्त्तमान थे। इन्होंने भक्ति, ज्ञान और रामचरित-संबंधिनी बहुत सी कविता की है। कुछ ग्रंथ संस्कृत में भी लिखे हैं। हिंदी कविता साधारणतः अच्छी है। इनकी बनाई पुस्तकों के नाम ये हैं—

आंदोलरहस्य दीपिका, तुलसीदासचरित्र, विवेकसार चंद्रिका, सिद्धांतचौंतीसी, बारहखड़ी, ललित-शृंगार-दीपक, कवितावली, जानकी-सरणाभरण, सीताराम-सिद्धांतमुक्तावली, अनन्य-तरंगिणी, रामरस-तरंगिणी, आत्मसंबंध-दर्पण, होलिका-विनोद-दीपिका, वेदांतसार, श्रुति-दीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर-करुणाभरण।

उपर्युक्त सूची से प्रकट है कि इन्होंने राम-सीता के शृंगार, ऋतुविहार आदि के वर्णन में ही भाषा कविता की है। इनका एक पद्य नीचे दिया जाता है—

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुँ चाब।
गुंजत मधुप मधुमत्त नाना रंग रज अँग फाब॥
सीरो सुगंध सुमंद बात विनोद कंत बहंत।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाष कामिनि कंत॥

(१७) **अलबेली अलि**—ये विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा 'वंशीअलि' जी के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त इनका और कोई वृत्त ज्ञात नहीं। अनुमान से इनका कविता-काल विक्रम की १८वीं शताब्दी का अंतिम भाग आता है। ये भाषा के सत्कवि होने के अतिरिक्त संस्कृत में भी सुंदर रचना करते थे जिसका प्रमाण इनका लिखा "श्रीस्तोत्र" है। इन्होंने "समय-प्रबंध पदावली" नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसमें ३१३ बहुत ही भाव भरे पद हैं। नीचे कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं—

लाल तेरे लोभी लोलुप नैन।
केहि रस-छकनि छके हौ छबीले मानत नाहिंन चैन।
नींद नैन घुरि घुरि आवत अति, घोरि रही कछु नैन॥
अलबेली अलि रस के रसिया, कत बितरत ये बैन।

——

बने नवल प्रिय प्यारो।
सरद रैन उजियारी ॥
सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुना-तीर सुहायो।
सकल कला-पूरन ससि सीतल महि-मंडल पर आयो ॥
अतिसय सरस सुगंध मंद गति बहत पवन रुचिकारी।
नव नव रूप नवल नव जोबन बने नवल पिय प्यारी ॥

(१८) **चाचा हित वृंदावन दास**—ये पुष्कर क्षेत्र के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे और संवत् १७६५ में उत्पन्न हुए थे। ये राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूपजी के शिष्य थे। तत्कालीन गोसाईंजी के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण गोसाईंजी की देखादेखी सब लोग इन्हें "चाचाजी" कहने लगे। ये महाराज नागरीदासजी के भाई बहादुरसिंहजी के आश्रय में रहते थे, पर जब राजकुल में विग्रह उत्पन्न हुआ तब ये कृष्णगढ़ छोड़कर वृंदावन चले आए और अंत समय तक वहीं रहे। संवत् १८०० से लेकर संवत १८४४ तक की इनकी रचनाओं का पता लगता है। जैसे सूरदास के सवा लाख पद बनाने की जनश्रुति है वैसे ही इनके भी एक लाख पद और छंद बनाने की बात प्रसिद्ध है। इनमें से २०००० के लगभग पद्य तो इनके मिले हैं। इन्होंने नखशिख, अष्टयाम, समय प्रबंध, छद्मलीला आदि असंख्य प्रसंगों का विशद वर्णन किया है। छद्मलीलाओं का वर्णन तो बड़ा ही अनूठा है। इनके ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं। रागरत्नाकर आदि ग्रंथों में इनके बहुत से पद संगृहीत मिलते हैं। छत्रपुर के राजपुस्तकालय में इनकी बहुत सी रचनाएँ सुरक्षित हैं।

इतने अधिक परिमाण में होने पर भी इनकी रचना शिथिल या भरती की नहीं है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार प्रकट होता है। लीलाओं के अंतर्गत वचन और व्यापार की योजना

भी इनकी कल्पना की स्फूर्ति का परिचय देती है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं।

(मनिहारी लीला से)

मिठबोलनी नवल मनिहारी।
भौहें गोल गरूर हैं, याके नयन चुटीले भारी॥
चूरी लखि मुख तें कहै, घूँघट में मुसकाति।
ससि मनु बदरी ओट तें दुरि दरसत यहि भाँति॥
चूरो बड़ो है मोल को, नगर न गाहक कोय।
मो फेरो खाली परी, आई सब घर टोय॥

प्रीतम तुम मो दृगन बसत हौ।
कहा भरोसे ह्वै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हौ॥
लीजै परखि स्वरूप आपनो, पुतरिन में तुमहीं तौ लसत हौ।
वृंदावन हित रूप-रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हौ॥

(१९) **गिरिधर कविराज**—इनका कुछ भी वृत्तांत ज्ञात नहीं। नाम से भाट जान पड़ते हैं। शिवसिंह ने इनका जन्म-संवत् १७७० दिया है जो संभवतः ठीक हो। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८०० के उपरांत ही माना जा सकता है। इनकी नीति की कुंडलियाँ ग्राम ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अपढ़ लोग भी दो चार चरण जानते हैं। इस सर्वप्रियता का कारण है बिल्कुल सीधी सादी भाषा में तथ्य मात्र का कथन। इनमें न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार। कथन की पुष्टिमात्र के लिये (अलंकार की दृष्टि से नहीं) दृष्टांत आदि इधर उधर मिलते हैं। कहीं कहीं, पर बहुत कम, कुछ अन्योक्ति का सहारा इन्होंने लिया है। इन सब बातों के

विचार से ये कोरे 'पद्यकार' ही कहे जा सकते हैं; सूक्तिकार भी नहीं। वृंद कवि में और इनमें यही अंतर है। वृंद ने स्थान स्थान पर अच्छी घटती हुई और सुंदर उपमाओं आदि का भी विधान किया है। पर इन्होंने कोरा तथ्य-कथन किया है। कहीं कहीं तो इन्होंने शिष्टता का ध्यान भी नहीं रखा है। पर घर गृहस्थी के साधारण व्यवहार, लोकव्यवहार आदि का बड़े स्पष्ट शब्दों में इन्होंने कथन किया है। यही स्पष्टता इनकी सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है। दो कुंडलियाँ दी जाती हैं—

साईं बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावागीर भए महि-मंडल सिगरे॥
कह गिरिधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई?

— —

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहि में सोय॥
छाहँ न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरिधर कविराय छाहँ मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

(२०) **भगवत रसिक**—ये टट्टी संप्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहनी दास के शिष्य थे। इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया और निर्लिप्त भाव से भगवद्भजन में ही लगे रहे। अनुमान से इनका जन्म संवत् १७९५ के लगभग हुआ। अतः इनका रचना-काल संवत् १८३० और १८५० के

बीच माना जा सकता है। इन्होंने अपनी उपासना से संबंध रखनेवाले अनन्य-प्रेम-रस-पूर्ण बहुत से पद, कवित्त, कुंडलियाँ, छप्पय आदि रचे हैं जिनमें एक ओर तो वैराग्य का भाव और दूसरी ओर अनन्य प्रेम का भाव छलकता है। इनका हृदय प्रेम-रस-पूर्ण था। इसी से इन्होंने कहा है कि "भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।" ये कृष्णभक्ति में लीन एक प्रेम-योगी थे। इन्होंने प्रेमतत्त्व का निरूपण बड़े ही अच्छे ढँग से किया है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कुंजन तें उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधुबन करि दंडवत बिहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेय प्रसाद लगै जब भोजन साधा॥
संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
वृंदावन बिहरत फिरै, जुगल रूप नैनन भरे॥

हमारो वृंदावन उर और।
माया काल तहाँ नहिं व्यापै जहाँ रसिक-सिरमौर॥
छूटि जाति सत असत वासना, मन की दौरा-दौर।
भगवत रसिक बतायो श्री गुरु, अमल अलौकिक ठौर॥

(२१) **श्रीहठीजी**—ये श्रीहितहरिवंशजी की शिष्य-परंपरा में बड़े ही साहित्यमर्मज्ञ और कला-कुशल कवि हो गए हैं। इन्होंने संवत् १८३७ में "राधासुधाशतक" बनाया जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त सवैया हैं। अधिकांश भक्तों की अपेक्षा इनमें विशेषता यह है कि इन्होंने कला-पक्ष पर भी पूरा जोर दिया है। इनकी रचना में यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का बाहुल्य पाया जाता है। पर साथ

ही भाषा या वाक्य-विन्यास में लद्धड़पन नहीं आने पाया है। वास्तव में "राधासुधा-शतक" छोटा होने पर भी अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को यह ग्रंथ अत्यंत प्रिय था। उससे कुछ अवतरण दिए जाते हैं—

कलप लता के किधौं पल्लव नवीन दोऊ,
हरन मंजुता के कंज ताके बनिता के हैं।
पावन पतित गुन गावैं मुनि ताके छबि,
छलै सविता के जनता के गुरुता के हैं॥
नवौ निधि ताके सिद्धता के आदि आलै हठी,
तीनौ लोकता के प्रभुता के प्रभु ताके हैं।
कटैं पाप ताके बढ़ैं पुन्य के पताके जिन
ऐसे पद ताके वृषभानु के सुता के हैं॥

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन? तौन जौन राधे राधे नाम रटै,
तट कीजै बर कूल कालिंदी-कगर को॥
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
रखिए न आन फेर हठी के झगर को।
गोपी पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को॥

(२२) **गुमान मिश्र**—ये महोबे के रहनेवाले गोपालमणि के पुत्र थे। इनके तीन भाई और थे। दीपसाहि, खुमान और अमान। गुमान ने पिहानी के राजा अकबर-अलीखाँ के आश्रय में संवत् १८०० में श्रीहर्षकृत नैषध काव्य का पद्यानुवाद नाना छंदों में किया। यही ग्रंथ इनका प्रसिद्ध

है और प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त खोज में इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—कृष्णचंद्रिका और छंदाटवी (पिंगल)। कृष्णचंद्रिका का निर्माणकाल संवत् १८३८ है। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०० से संवत् १८४० तक माना जा सकता है। इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त रस, नायिका-भेद, अलंकार आदि कई और ग्रंथ सुने जाते हैं।

यहाँ केवल इनके नैषध के संबंध में ही कुछ कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में इन्होंने बहुत से छंदों का प्रयोग किया है और बहुत जल्दी जल्दी छंद बदले हैं। इंद्रवज्रा, वंशस्थ, मंद्राक्रांता, शार्दूलविक्रीडित आदि कठिन वर्णवृत्तों से लेकर दोहा चौपाई तक मौजूद हैं। ग्रंथारंभ में अकबरअली खाँ की प्रशंसा में जो बहुत से कवित्त इन्होंने कहे हैं, उनसे इनकी चमत्कार-प्रियता स्पष्ट प्रकट होती है। उनमें परिसंख्या अलंकार की भरमार है। गुमानजी अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कलाकुशल थे, इसमें कोई संदेह नहीं। भाषा पर भी इनका पूरा अधिकार था। जिन श्लोकों के भाव जटिल नहीं हैं उनका अनुवाद बहुत ही सरस और सुंदर है। वह स्वतंत्र रचना के रूप में प्रतीत होता है। पर जहाँ कुछ जटिलता है वहाँ की वाक्यावली उलझी हुई और अर्थ अस्पष्ट है। बिना मूल श्लोक सामने आए ऐसे स्थलों का स्पष्ट अर्थ निकालना कठिन ही है। अतः सारी पुस्तक के संबंध में यही कहना चाहिए कि अनुवाद में वैसी सफलता नहीं हुई है। संस्कृत के भावों के सम्यक् अवतरण में यह असफलता गुमान ही के सिर नहीं मढ़ी जा सकती। रीतिकाल के जिन जिन कवियों ने संस्कृत से अनुवाद करने का प्रयत्न किया है उनमें से बहुत से असफल हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस काल में जिस मधुर रूप में ब्रजभाषा का विकास हुआ वह सरल रस-व्यंजना के तो बहुत ही अनुकूल हुआ पर जटिल भावों और

विचारों के प्रकाशन में वैसा समर्थ नहीं हुआ। कुलपति मिश्र ने अपने "रसरहस्य" में काव्यप्रकाश का जो अनुवाद किया है उसमें भी जगह जगह इसी प्रकार की अस्पष्टता है।

गुमानजी उत्तम श्रेणी के कवि थे, इसमें संदेह नहीं। जहाँ वे जटिल भाव भरने की उलझन में नहीं पड़े हैं वहाँ की रचना अत्यंत मनोहारिणी हुई है। कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं--

दुर्जन की हानि, बिरधापनोई करै पीर,
गुन लोप होत एक मोतिन के हार ही।
टूटै मनिमालै, निरगुन गायताल लिखै,
पोथिन ही अंक, मन कलह विचार ही॥
संकर बरन पसु पच्छिन में पाइयत,
अलक ही पारै अंसभंग निरधार ही।
चिर चिर राजौ राज अली अकबर, सुरराज
के समाज जाके राज पर वारही॥

दिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि,
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को, माल बाल अबला को अरि
तजत परान, राह चाहत परान की॥
सैयद समर्थ भूप अली अकबर-दल
चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फननि फनीस उलटतु ऐसे,
चोली खोलि ढोली ज्यों तमोली पाके पान की॥

न्हाती जहाँ सुनयना नित बावली में,
छूटे उरोजतल कुंकुम नीर ही में।

श्रीखंड चित्र दृग-अंजन संग साजै,
मानौ त्रिबेनि नित ही घर ही बिराजै ॥

हाटक-हंस चल्यो उड़िकै नभ में, दुगनी तन-ज्योति भई ।
लीक सी खैंचि गयो छन में, छहराय रही छबि सोनमई ॥
नैनन सों निरख्यो न बनाय कै, कै उपमा मन माहिं लई ।
स्यामल चीर मनौ पसर्‌यो, तेहि पै कल कंचन बेलि नई ॥

(२३) **सरजूराम पंडित**—इन्होंने "जैमिनि पुराण भाषा" नामक एक कथात्मक ग्रंथ संवत् १८०५ में बनाकर तैयार किया। इन्होंने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रंथ में नहीं दिया है। जैमिनि पुराण दोहों चौपाइयों में तथा और कई छंदों में लिखा गया है और ३६ अध्यायों में समाप्त है। इसमें बहुत सी कथाएँ आई हैं; जैसे, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, संक्षिप्त रामायण, सीतात्याग, लवकुश-युद्ध, मयूर-ध्वज, चंद्रहास आदि राजाओं की कथाएँ। चौपाइयों का ढँग "रामचरितमानस" का सा है। कविता इनकी अच्छी हुई है। उसमें गांभीर्य है। नमूने के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

गुरुपद पंकज पावन रेनू। कहा कलपतरु, का सुरधेनू ॥
गुरुपद-रज अज हरिहर धामा। त्रिभुवन-विभव, विस्व-विश्रामा ॥
तब लगि जग जड़ जीव भुलाना। परम तत्त्व गुरु जिय नहिं जाना ॥
श्रीगुरु पंकज पाँव पसाऊ। स्रवत सुधामय तीरथराऊ ॥
सुमिरत होत हृदय असनाना। मिटत मोहमय मन-मल नाना ॥

(२४) **भगवंतराय खीची**—ये असोथर (जिला फतहपुर) के एक बड़े गुणग्राही राजा थे जिनके यहाँ बराबर अच्छे अच्छे कवियों का सत्कार होता रहता था। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि इन्होंने सातों कांड रामायण बड़े सुंदर कवित्तों

में बताई है। यह रामायण तो इनकी नहीं मिलती पर हनुमानजी की प्रशंसा के ५० कवित्त इनके अवश्य पाए गए हैं जो संभव है रामायण के ही अंश हों। खोज में जो इनकी "हनुमत् पचीसी" मिली है उसमें निर्माणकाल १८१७ दिया है। इनकी कविता बड़ी ही उत्साहपूर्ण और ओजस्विनी है। एक कवित्त देखिए—

विदित बिसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की।
जाही सों चपेटि कै गिराए गिरि गढ़, जासों
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सों मार की॥
भनै भगवंत जासों लागि लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओड़े ब्रह्मअस्त्र की अवाती महाताती, बंदौं
युद्ध-मद-माती छाती पवन-कुमार की॥

(२५) **सूदन**—ये मथुरा के रहनेवाले माथुर चौबे थे। इनके पिता का नाम बसंत था। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। उन्हीं के पराक्रम-पूर्ण चरित्र का वर्णन इन्होंने "सुजान-चरित्र" नामक प्रबंधकाव्य में किया है। मोगल-साम्राज्य के गिरे दिनों में भरतपुर के जाट राजाओं का कितना प्रभाव बढ़ा था यह इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्होंने शाही महलों और खजानों को कई बार लूटा था। पानीपत की अंतिम लड़ाई के संबंध में इतिहासज्ञों की यह धारणा है कि यदि पेशवा की सेना का संचालन भरतपुर के अनुभवी महाराज के कथनानुसार हुआ होता और वे रूठकर न लौट आए होते तो मरहठों की हार कभी न होती। इतने ही से भरतपुरवालों के आतंक और प्रभाव का अनुमान हो सकता है। अतः सूदन को एक सच्चा वीर चरित्रनायक मिल गया।

"सुजानचरित्र" बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसमें संवत् १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः इसकी समाप्ति १८१० के दस पंद्रह वर्ष पीछे मानी जा सकती है। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८२० के आसपास माना जा सकता है। सूरजमल की वीरता की जो घटनाएँ कवि ने वर्णित की हैं वे कपोल-कल्पित नहीं, ऐतिहासिक हैं। जैसे अहमदशाह बादशाह के सेनापति असदखाँ के फतहअली पर चढ़ाई करने पर सूरजमल का फतहअली के पक्ष मे होकर असदखाँ का ससैन्य नाश करना, मेवाड़, माँडौगढ़ आदि जीतना, संवत् १८०४ में जयपुर की ओर होकर मरहठों को हटाना, संवत् १८०५ में बादशाही सेनापति सलाबतखाँ बख्शी को परास्त करना, संवत् १८०६ में शाही वजीर सफदरजंग मंसूर की सेना से मिलकर बंगश पठानों पर चढ़ाई करना, बादशाह से लड़कर दिल्ली लूटना इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों के विचार से 'सुजानचरित्र' का ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत कुछ है।

इस काव्य की रचना के संबंध में सबसे पहली बात जिस पर ध्यान जाता है वह वर्णनों का अत्यधिक विस्तार और प्रचुरता है। वस्तुओं की गिनती गिनाने की प्रणाली का इस कवि ने बहुत अधिक अवलंबन किया है, जिससे पाठकों को बहुत से स्थलों पर अरुचि हो जाती है। कहीं घोड़ों की जातियों के नाम ही नाम गिनाते चले गए हैं, कहीं अस्त्रों और वस्त्रों की सूची की भरमार है, कहीं भिन्न भिन्न देशवासियों और जातियों की फिहरिस्त चल रही है। इस कवि को साहित्यिक मर्यादा का ध्यान बहुत ही कम था। भिन्न भिन्न भाषाओं और बोलियों को लेकर कहीं कहीं इन्होंने पूरा खेलवाड़ किया है। ऐसे चरित्र को लेकर जो गांभीर्य कवि

में होना चाहिए वह इनमें नहीं पाया जाता। पद्य में व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम भरने की निपुणता इस कवि की एक विशेषता समझिए। ग्रंथारंभ में ही १७५ कवियों के नाम गिनाए गए हैं। सूदन में युद्ध, उत्साहपूर्ण भाषण, चित्त की उमंग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी पर उक्त त्रुटियों के कारण उनके ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व बहुत कुछ घटा हुआ है। प्रगल्भता और प्रचुरता का प्रदर्शन सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण जगह जगह खटकता है। भाषा के साथ भी सूदनजी ने पूरी मनमानी की है। पंजाबी, खड़ी बोली, सब का पुट मिलता है। न जाने कितने गढ़ंत के और तोड़े मरोड़े शब्द लाए गए हैं। जो स्थल इन सब दोषों से मुक्त हैं वे अवश्य मनोहर हैं पर अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है। यह वीर-रसात्मक ग्रंथ है और इसमें भिन्न भिन्न युद्धों का ही वर्णन है इससे अध्यायों का नाम जंग रखा गया है। सात जंगों में ग्रंथ समाप्त हुआ है। छंद बहुत से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

बखत बिलंद तेरी दुंदुभी धुकारन सों,
 दुंद दबि जात देस देस सुख जाही के।
दिन दिन दूनो महिमंडल प्रताप होत,
 सूदन दुनी में ऐसे बखत न काही के॥
उद्धत सुजान-सुत बुद्धि बलवान सुनि,
 दिल्ली के दरनि बाजै आवज उछाही के।
जाही के भरोसे अब तखत उमाही करैं,
 पाही से खरे हैं जो सिपाही पातसाही के॥

———

दुहुँ ओर बंदूक जहँ चलत बेचूक,
 रव होत धुकधूक, किलकार कहुँ कूक।

कहुँ धनुष-टंकार जिहि बान झंकार,
भट देत हुंकार संकार मुँह सूक ॥
कहुँ देखि दपटंत, गज बाजि झपटंत,
अरिब्यूह लपटंत, रपटंत कहुँ चूक ।
समसेर सटकंत, सर सेल फटकंत,
कहुँ जात हटकंत, लटकंत लगि झूक ॥

——

दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक सुखब्बत से ।
चब्बत लोह, अचब्बत सोनित गब्बत से ॥
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक मही ।
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित तेग गही ॥
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही ।
छुट्टित आयुध; हुट्टित गुट्टित देह दही ॥

——

धड़धद्धरं, धड़धद्धरं, भड़भब्भरं भड़भब्भरं ।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं, कड़कक्करं कड़कक्करं ॥
घड़घग्घरं घड़घग्घरं, झड़झज्झरं झड़झज्झरं ।
अररर्ररं अररर्ररं, सररर्ररं सररर्ररं ॥

——

सोनित अरघ ढारि, लुत्थ जुत्थ पाँवड़े दै,
दारूधूम धूपदीप, रंजक की ज्वालिका ।
चरबी को चंदन, पुहुप पल-टूकन के,
अच्छत अखंड गोला गोलिन की चालिका ॥
नैवेद्य नीको साहि सहित दिली को दल,
कामना बिचारी मनसूर-पन-पालिका ॥

कोटरा के निकट विकट जंग जोरि सूजा
भली विधि पूजा कै प्रसन्न कीन्ही कालिका ॥

———

इसी गल्ल धरि कन्न में बकसी मुसक्याना।
हमनूँ बूझत हौं तुसी 'क्यों किया पयाना' ॥
'असी आवने भेदनू तूने नहिं जाना।
साह अहम्मद ने मुझे अपना करि माना' ॥

———

डोलती डरानी खतरानी बतरानी बेबे,
कुड़िए न बेखी अगी मी गुरून पावाँ हाँ।
कित्थे जला पेऊँ, कित्थें उजले भिड़ाऊँ असी,
तुसी को लै गीवा असी जिंदगी बचावा हाँ ॥
भट्टररा साहि हुआ चंदला वज़ीर बेखो,
एहा हाल कीता, वाह गुरूनूँ मनावा हाँ।
जावाँ कित्थे जावाँ अम्मा बाबे केहा पावाँजली,
एही गल्ल अक्खैं लक्खैं लक्खैं गली जावाँ हाँ ॥

(२६) **हरनारायण**—इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' और '**बैताल पचीसी**' नामक दो कथात्मक काव्य लिखे हैं। '**माधवानल कामकंदला**' का रचना-काल सं० १८१२ है। इनकी कविता अनुप्रास आदि से अलंकृत है। एक कवित्त दिया जाता है—

सोहै मुंड चंद सों, त्रिपुंड सों विराजै भाल,
तुंड राजै रदन उदंड के मिलन तें।
पाप-रूप-पानिप विघन-जल-जीवन के
कुंड सोखि सुजन बचावै अखिलन तें ॥
ऐसे गिरिनंदिनी के नंदन को ध्यान ही में
कीवे छोड़ि सकल अपानहि दिलन तें।

भुगुति मुकुति ताके तुंड तें निकसि तापै
कुंड बाँधि कढ़ती भुसुंड के बिलन तें॥

(२७) **ब्रजवासीदास**—ये वृंदावन के रहनेवाले और वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने संवत् १८२७ में 'ब्रजविलास' नामक एक प्रबंधकाव्य तुलसीदासजी के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में बनाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रबोध-चंद्रोदय' नाटक का अनुवाद भी विविध छंदों में किया है। पर इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'ब्रजविलास' ही है जिसका प्रचार साधारण श्रेणी के पाठकों में है। इस ग्रंथ में कथा भी सूर-सागर के क्रम से ली गई और बहुत से स्थलों पर सूर के शब्द और भाव भी चौपाइयों में करके रख दिए गए हैं। इस बात को ग्रंथकार ने स्वीकार भी किया है—

यामें कछुक बुद्धि नहिं मेरी। उक्ति युक्ति सब सूरहि केरी॥

इन्होंने तुलसी का छंदःक्रम ही लिया है; भाषा शुद्ध ब्रजभाषा ही है। उसमें कहीं अवधी या बैसवाड़ी का नाम तक नहीं है। जिनको भाषा की पहचान तक नहीं, जो वीर-रस-वर्णन-परिपाटी के अनुसार किसी पद्य में वर्णों का द्वित्व देख उसे प्राकृत भाषा कहते हैं, वे चाहे जो कहें। ब्रजविलास में कृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाओं का जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक का वर्णन किया गया है। भाषा सीधी सादी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमें सफ़ाई है। यह सब होने पर भी इसमें वह बात नहीं है जिसके बल से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का इतना देशव्यापी प्रचार हुआ। जीवन की परिस्थितियों की वह अनेकरूपता, गंभीरता और मर्मस्पर्शिता इसमें कहाँ जो रामचरित और तुलसी की वाणी में है? इसमें तो अधिकतर क्रीड़ामय जीवन का ही

चित्रण है। फिर भी साधारण श्रेणी के कृष्णभक्त पाठकों में इसका प्रचार है। नीचे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

कहति जसोदा कौन विधि समझाऊँ अब कान्ह।
भूलि दिखायो चंद मैं, ताहि कहत हरि खान॥

यहै देत नित माखन मोकों। छिन छिन देति तात सो तोकों॥
जो तुम स्याम चंद को खैहौ। बहुरो फिर माखन कहँ पैहौ?
देखत रहौ खिलौना चंदा। हठ नहिं कीजै बालगोविंदा॥
पा लागौं हठ अधिक न कीजै। मैं बलि, रिसहि रिसहि तन छीजै॥
जसुमति कहति कहा धौं कीजै। माँगत चंद कहाँ तें दीजै॥
तब जसुमति इक जलपुट लीनो। कर मैं लै तेहि ऊँचो कीनो॥
ऐसे कहि श्यामै बहरावै। आव चंद! तोहि लाल बुलावै॥
हाथ लिए तेहि खेलत रहिए। नैकु नहीं धरनी पै धरिए॥

(२८) गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव—इन तीनों महानुभावों ने मिलकर हिंदी-साहित्य में बड़ा भारी काम किया है। इन्होंने समग्र महाभारत और हरिवंश (जो महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है) का अनुवाद अत्यंत मनोहर विविध छंदों में पूर्ण कवित्व के साथ किया है। कथा प्रबंध का इतना बड़ा काव्य हिंदी-साहित्य में दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इतना बड़ा ग्रंथ होने पर भी न तो इसमें कहीं शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्यगुण में कमी हुई है। छंदों का विधान इन्होंने ठीक उसी रीति से किया है जिस रीति से इतने बड़े ग्रंथ में होना चाहिए। जो छंद उठाया है उसका कुछ दूर तक निर्वाह किया है। केशवदास की तरह छंदों का तमाशा नहीं दिखाया है। छंदों का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है। रूपमाला, घनाक्षरी, सवैया आदि मधुर छंद अधिक रखे गए हैं; बीच बीच में दोहे और चौपाइयाँ भी हैं। भाषा प्रांजल

और सुव्यवस्थित है। अनुप्रास आदि का अधिक आग्रह न होने पर भी आवश्यक विधान है। रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और लेखकों की काव्य-कुशलता का परिचय देती है। इस ग्रंथ के बनने में भी ५० वर्ष के ऊपर लगे हैं। अनुमानतः इसका आरंभ संवत् १८३० में हो चुका था और यह संवत् १८८४ में जाकर समाप्त हुआ है। इसकी रचना काशीनरेश महाराज उदितनारायणसिंह की आज्ञा से हुई जिन्होंने इसके लिये लाखों रुपये व्यय किए। इस बड़े भारी साहित्यिक यज्ञ के अनुष्ठान के लिये हिंदीप्रेमी उक्त महाराज के सदा कृतज्ञ रहेंगे।

गोकुलनाथ और गोपीनाथ प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के पुत्र और पौत्र थे। मणिदेव बंदीजन भरतपुर राज्य के जहानपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से रुष्ट होकर काशी चले आए थे। काशी में वे गोकुलनाथजी के यहाँ ही रहते थे। और स्थानों पर भी उनका बहुत मान हुआ था। जीवन के अन्तिम दिनों में वे कभी कभी विक्षिप्त भी हो जाया करते थे। उनका परलोक-वास संवत् १९२० में हुआ।

गोकुलनाथ ने इस महाभारत के अतिरिक्त निम्नलिखित और भी ग्रंथ लिखे हैं—

चेतचंद्रिका, गोविंद-सुखदविहार, राधाकृष्ण-विलास (सं० १८५८), राधानखशिख, नामरत्नमाला (कोश) (सं० १८७०), सीताराम-गुणार्णव, अमरकोष भाषा (सं० १८७०) कवि-मुखमंडन।

चेतचंद्रिका अलंकार का ग्रंथ है जिसमें काशिराज की वंशावली भी दी हुई है। 'राधाकृष्ण-विलास' रस-संबंधी ग्रंथ है और 'जगतविनोद' के बराबर है। 'सीताराम-गुणार्णव'

अध्यात्मरामायण का अनुवाद है जिसमें पूरी रामकथा वर्णित है। 'कविमुखमंडन' भी अलंकार-संबंधी ग्रंथ है। गोकुलनाथ का कविता-काल संवत् १८४० से १८७० तक माना जा सकता है। ग्रंथों की सूची से ही स्पष्ट है कि ये कितने निपुण कवि थे। रीति और प्रबंध दोनों ओर इन्होंने प्रचुर रचना की है। इतने अधिक परिमाण में और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्यमर्मज्ञ, काव्यकला में सिद्ध-हस्त और भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाला हो। अतः महाभारत के तीनों अनुवादकों में तो ये श्रेष्ठ हैं ही, साहित्य-क्षेत्र में भी ये बहुत ही ऊँचे पद के अधिकारी हैं। रीतिग्रंथ-रचना और प्रबंध-रचना दोनों में समान रूप से कुशल और कोई दूसरा कवि रीतिकाल के भीतर नहीं पाया जाता।

महाभारत के जिस जिस अंश का अनुवाद जिसने जिसने किया है उस उस अंश में उसका नाम दिया हुआ है। नीचे तीनों कवियों की रचना के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

गोकुलनाथ—

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की।
गोकुल अरुन चरनांबुज पै गुंजपुंज
धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की॥
पीतम के श्रवन समीप ह्वै जुगुति होति
मैन-मन्त्र-तन्त्र के बरन गुनगान की।
सौतिन के कानन में हालाहल ह्वै हलति,
एरी सुखदानि! तौ बजनि बिछुवान की॥
(राधाकृष्णविलास)

दुर्ग अतिही महत् रक्षित भटन सों चहुँ ओर ।
ताहि घेरयो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर ।।
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह ।
परी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह ।।

लहि सुदेष्णा की सुआज्ञा नीच कीचक जौन ।
जाय सिंहिनि पास जंबुक तथा कीनो गौन ।।
लग्यो कृष्णा सों कहन या भाँति सस्मित बैन ।
यहाँ आई कहाँ तें ? तुम कौन हौ छबि-ऐन ?

नहीं तुम सी लखी भू पर भरी-सुषमा बाम ।
देवि, जच्छिनि, किन्नरी, कै श्री, सची अभिराम ।।
कांति सों अति भरो तुम्हरो लखत बदन अनूप ।
करैगो नहिं स्ववस काको महा मन्मथ भूप ।।

(महाभारत)

गोपीनाथ —

सर्वदिसि में फिरत भीषम को सुरथ मन-मान ।
लखे सब कोउ तहाँ भूप अलातचक्र समान ।।
सर्व थर सब रथिन सों तेहि समय नृप सब ओर ।
एक भीषम सहस सम रन जुरो हो तहँ जोर ।।

मणिदेव—

बचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार ।
उड़ौगे मम संग किमि तुम कहहु सो उपचार ।।
खाय जूठो पुष्ट, गर्वित काग सुनि ये बैन ।
कह्यो जानत उड़न की शत रीति हम बलऐन ।।

(२९) **बोधा**—ये राजापुर (जि० बाँदा) के रहनेवाले सरयूपारी ब्राह्मण थे। पन्ना दरबार में इनके संबंधियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। उसी संबंध से ये बाल्यकाल ही में पन्ना चले गए। इनका नाम बुद्धिसेन था, पर महाराज इन्हें प्यार से 'बोधा' कहने लगे और वही नाम इनका प्रसिद्ध हो गया। भाषा-काव्य के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत और फारसी का भी अच्छा बोध था। शिवसिंहसरोज में इनका जन्म संवत् १८०४ दिया हुआ है। इनका कविता-काल संवत् १८३० से १८६० तक माना जा सकता है।

बोधा एक बड़े रसिक जीव थे। कहते हैं कि पन्ना दरबार में सुभान (सुबहान) नाम की एक वेश्या थी जिस पर इनका प्रेम हो गया। इस पर रुष्ट होकर महाराज ने इन्हें ६ महीने देश-निकाले का दंड दिया। सुभान के वियोग में ६ महीने इन्होंने बड़े कष्ट से बिताए और उसी बीच में "विरह-बारीश" नामक एक पुस्तक लिखकर तैयार की। ६ महीने पीछे जब ये फिर दरबार में लौटकर आए तब अपने "विरह-वारीश" के कुछ कवित्त सुनाए। महाराज ने प्रसन्न होकर इनसे कुछ माँगने को कहा। इन्होंने कहा "सुभान अल्लाह"। महाराज ने प्रसन्न होकर सुभान को इन्हें दे दिया और इनकी मुराद पूरी हुई।

'विरह-वारीश' के अतिरिक्त "इश्कनामा" भी इनकी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके बहुत से फुटकल कवित्त सवैये इधर उधर पाए जाते हैं। बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिखकर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यों की ही रचना की है। ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होंने बहुत से पद्य कहे हैं। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्म-

स्पर्शिनी युक्ति से की है। यत्र तत्र व्याकरण-दोष रहने पर भी भाषा इनकी चलती और महावरेदार होती थी। उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है। इनके स्वभाव में फक्कड़पन भी कम नहीं था। 'नेज़े', 'कटारी' और 'क़ुरबान' वाली बाज़ारी ढँग की रचना भी इन्होंने कहीं कहीं की है। जो कुछ हो, ये भावुक और रसज्ञ कवि थे, इसमें कोई संदेह नहीं। कुछ पद्य इनके नीचे दिए जाते हैं—

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह कै द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥

——

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिए लखि कै मुसकाहट ताको॥
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तौ जहान मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहान कहाँ को॥

——

'कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढ़ि आवै, गरे तें फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै॥
कवि बोधा न चाँड़ सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै॥

——

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत,
हित को न जानै ताको हितू न बिसाहिए।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिए॥

बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै,
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिए।
दाता कहा, सूर कहा, सुंदर सुजान कहा,
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिए॥

(३०) **रामचंद्र**—इन्होंने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है। भाषा महिम्न के कर्त्ता काशीवासी मनियारसिंह ने अपने को "चाकर अखंडित श्रीरामचंद्र पंडित के" लिखा है। मनियारसिंह ने अपना "भाषा महिम्न" संवत् १८४१ में लिखा। अत: इनका समय संवत १८४० माना जा सकता है। इनकी एक ही पुस्तक "चरणचंद्रिका" ज्ञात है जिस पर इनका सारा यश स्थिर है। यह भक्ति-रसात्मक ग्रंथ केवल ६२ कवित्तों का है। इसमें पार्वतीजी के चरणों का वर्णन अत्यंत रुचिर और अनूठे ढँग से किया गया है। इस वर्णन से अलौकिक सुषमा, विभूति, शक्ति और शांति फूटी पड़ती है। उपास्य के एक अंग में अनंत ऐश्वर्य की भावना भक्ति की चरम भावुकता के भीतर ही संभव है। भाषा लाक्षणिक और पांडित्य-पूर्ण है। कुछ और अधिक न कहकर इनके दो कवित्त ही सामने रख देना ठीक है।

नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत-झरनि को।
खंजन से नचैं देखि सुषमा सरद की सी,
सचैं मधुकर से पराग केसरनि को॥
रीझि रीझि तेरी पदछबि पै तिलोचन के,
लोचन ये, अंब! धारैं केतिक धरनि को।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख;
पंकज से खिलैं लखि तरवा-तरनि को॥

मानिए करींद्र जो हरींद्र को सरोष हर,
मानिए तिमिर घेरै भानु किरनन को।
मानिए चटक बाज जुर्रा को पटकि मारै,
मानिए झटकि डारै भेक भुजगन को॥
मानिए कहै जो वारिधार पै दवारि औ
अँगार बरसाइबो बतावै बारिदन को।
मानिए अनेक विपरीत की प्रतीति, पै न
भीति आई मानिए भवानी-सेवकन को॥

(३१) **मंचित**—ये मऊ (बुँदेलखंड) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३६ में वर्त्तमान थे। इन्होंने कृष्ण-चरित संबंधी दो पुस्तकें लिखी हैं—सुरभी-दानलीला और कृष्णायन। सुरभी-दानलीला में बाललीला, यमलार्जुन-पतन और दानलीला का विस्तृत वर्णन सार छंद में किया गया है। इसमें श्रीकृष्ण का नखसिख भी बहुत अच्छा कहा गया है। कृष्णायन तुलसीदासजी की रामायण के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में लिखी गई है। इन्होंने गोस्वामीजी की पदावली तक का अनुकरण किया है। स्थान स्थान पर भाषा अनुप्रासयुक्त और संस्कृत-गर्भित है, इससे व्रजवासीदास की चौपाइयों की अपेक्षा इनकी चौपाइयाँ गोस्वामीजी की चौपाइयों से कुछ अधिक मेल खाती हैं। पर यह मेल केवल कहीं कहीं दिखाई पड़ जाता है। भाषा-मर्मज्ञ को दोनों का भेद बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है। इनकी भाषा व्रज है, अवधी नहीं। उसमें वह सफाई और व्यवस्था कहाँ? कृष्णायन की अपेक्षा इनकी सुरभी-दानलीला की रचना अधिक सरस है। दोनों से कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं।
डुलैं आप से खुलैं जोर छबि बरबस मनहिं चुरावैं॥

खौर बिसाल भाल पर सोभित केसर की चित भावैं ।
ताके बीच बिंदु रोरी को, ऐसो बेस बनावैं ॥
भ्रुकुटी बंक नैन खंजन से कंजन गंजनवारे ।
मद-भंजन खग मीन सदा जे मनरंजन अनियारे ॥
(सुरभी-दानलीला से)

अचरज अमित भयो लखि सरिता । दुतिय न उपमा कहि सम-चरिता ॥
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी । जिमि गोकुल गोलोक-प्रकासी ॥
अति बिस्तार पार, पय पावन । उभय करार घाट मनभावन ॥
बनचर बनज बिपुल बहु पच्छी । अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी ॥
नाना जिनिस जीव सरि सेवैं । हिंसाहीन असन सुचि जेवैं ॥
(कृष्णायन)

(३२) **मधुसूदनदास**—ये माथुर चैाबे थे। इन्होंने गोविंददास नामक किसी व्यक्ति के अनुरोध से संवत् १८३९ में "रामाश्वमेध" नामक एक बड़ा और मनोहर प्रबंधकाव्य बनाया जो सब प्रकार से गोस्वामीजी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रंथ होने के योग्य है। इसमें श्रीरामचंद्र द्वारा अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान, घोड़े के साथ गई हुई सेना के साथ सुबाहु, दमन, विद्युन्माली राक्षस, वीरमणि, शिव, सुरथ आदि का घोर युद्ध; अंत में राम के पुत्र लव और कुश के साथ भयंकर संग्राम; श्रीरामचंद्र द्वारा युद्ध का निवारण और पुत्रों सहित सीता का अयोध्या में आनयन; इन सब प्रसंगों का पद्मपुराण के आधार पर बहुत ही विस्तृत और रोचक वर्णन है। ग्रंथ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है। प्रधानता दोहों के साथ चौपाइयों की है, पर बीच बीच में गीतिका आदि और छंद भी हैं। पदविन्यास और भाषा-सौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है। प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गए

हैं। गोस्वामीजी की प्रणाली के अनुसरण में मधुसूदनदासजी को पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबंधकुशलता, कवित्व-शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की हैं। इनकी चौपाइयाँ अलबत्तः गोस्वामीजी की चौपाइयों में बेखटके मिलाई जा सकती हैं। सूक्ष्म दृष्टिवाले भाषा-मर्मज्ञों को केवल थोड़े ही से ऐसे स्थलों में भेद लक्षित हो सकता है जहाँ बोलचाल की भाषा होने के कारण भाषा का असली रूप अधिक स्फुटित है। ऐसे स्थलों पर गोस्वामीजी के अवधी के रूप और प्रत्यय न देखकर भेद का अनुभव हो सकता है। पर जैसा कहा जा चुका है, पदविन्यास की प्रौढ़ता और भाषा का सौष्ठव गोस्वामीजी के मेल का है।

सिय-रघुपति-पदकंज पुनीता। प्रथमहि बंदन करौं सप्रीता ॥
मृदु मंजुल सुंदर सब भाँती। ससि-कर-सरिस सुभग नख-पाँती ॥
प्रणत कल्पतरु तर सब ओरा। दहन अज्ञ तम जन-चितचोरा ॥
त्रिविध कलुष कुंजर घनघोरा। जगप्रसिद्ध केहरि बरजोरा ॥
चिंतामणि पारस सुरधेनू। अधिक कोटि गुन अभिमत देनू ॥
जन-मन-मानस रसिक मराला। सुमिरत भंजन विपति बिसाला ॥

———

निरखि कालजित कोपि अपारा। विदित होय करि गदा प्रहारा ॥
महावेगयुत आवै सोई। अष्टधातुमय जाय न जोई ॥
अयुत भार भरि भार प्रमाना। देखिय जमपति-दंड समाना ॥
देखि ताहि लव हनि इषु चंडा। कीन्ही तुरत गदा त्रय खंडा ॥
जिमि नभ माहँ मेघ-समुदाई। बरषहिँ बारि महा झरि लाई ॥
तिमि प्रचंड सायक जनु व्याला। हने कीस-तन लव तेहि काला ॥
भए विकल अति पवनकुमारा। लगे करन तब हृदय विचारा ॥

(३३) **मनियारसिंह**—ये काशी के रहनेवाले क्षत्रिय थे। इन्होंने देवपक्ष में ही कविता की है और अच्छी की है। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता है—

महिम्न भाषा, सौंदर्य लहरी (पार्वती या देवी की स्तुति), हनुमत छबीसी, सुंदरकांड। भाषा महिम्न इन्होंने संवत् १८४१ में लिखा। इनकी भाषा सानुप्रास, शिष्ट और परिमार्जित है और उसमें ओज भी पूरा है। ये अच्छे कवि हो गए हैं। रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

मेरो चित्त कहाँ दीनता में अति दूबरो है,
अधरम-धूमरो न सुधि के सँभारे पै।
कहाँ तेरी ऋद्धि कवि बुद्धि-धारा-ध्वनि तें,
त्रिगुण तें, परे ह्वै दिखात निरधारे पै॥
मनियार यातें मति थकित जकित ह्वै कै,
भक्तिबस धरि उर धीरज बिचारे पै।
बिरची कृपाल वाक्यमाल या पुहुपदंत,
पूजन करन काज चरन तिहारे पै॥

तेरे पद-पंकज-पराग राज-राजेश्वरी!
वेद-बंदनीय बिरुदावलि बढ़ी रहै।
जाकी किनुकाई पाय धाता ने धरित्री रची,
जापै लोक लोकन की रचना कढ़ी रहै॥
मनियार जाहि विष्णु सेवैं सर्व पोषत में,
सेस हू के सदा सास सहस मढ़ी रहै।
सोई सुरासुर के सिरोमनि सदाशिव के
भसम के रूप ह्वै सरीर पै चढ़ी रहै॥

अभय कठोर बानी सुनि लछिमन जू की
मारिबे को चाहि जो सुधारी खल तरवारि।
वीर हनुमंत तेहि गरजि सुहास करि,
उपटि पकरि ग्रीव भूमि लै परे पछारि॥

पुच्छ तें लपेटि फेरि दंतन दरदराइ,
नखन बकोटि चोंथि देत महि डारि डारि।
उदर विदारि मारि लुत्थन कों टारि बीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि॥

(३४) **कृष्णदास**—ये मिरजापुर के रहनेवाले कोई कृष्णभक्त जान पड़ते हैं। इन्होंने संवत् १८५३ में "माधुर्य्य लहरी" नाम की एक बड़ी पुस्तक ४२० पृष्ठों की बनाई जिसमें विविध छंदों में कृष्णचरित का वर्णन किया गया है। कविता इनकी साधारणतः अच्छी है। एक कवित्त देखिए—

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कहो नरदेव कहाँ पाइए।
दुर्लभ समाज मिल्यो सकल सिद्धांत जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइए॥
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैननहू,
धन्य धन्य राधाकृष्ण नित ही गनाइए॥

(३५) **गणेश**—ये नरहरि बंदीजन के वंश में लालकवि के पौत्र और गुलाब कवि के पुत्र थे और संवत् १८५० से लेकर १९१० तक वर्त्तमान थे। ये काशिराज महाराज उदितनारायण सिंह के दरबार में थे और महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह के समय तक जीवित रहे। इन्होंने तीन ग्रंथ लिखे—१—वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश। (बालकांड समग्र और किष्किंधा के पाँच अध्याय) २—प्रद्युम्न-विजय नाटक। ३—हनुमत पचीसी।

प्रद्युम्नविजय नाटक समग्र पद्यबद्ध है और अनेक प्रकार के छंदों में सात अंकों में समाप्त हुआ है। इसमें दैत्यों के वज्रनाभपुर नामक नगर में प्रद्युम्न के जाने और प्रभावती से गांधर्व विवाह होने की कथा है। यद्यपि इसमें, पात्र-प्रवेश विष्कंभक, प्रवेशक आदि नाटक के अंग रखे गए हैं पर इतिवृत्त का भी वर्णन पद्य में होने के कारण नाटकत्व नहीं आया है। एक उदाहरण दिया जाता है—

ताही के उपरांत कृष्ण इंद्र आवत भए।
भेंटि परस्पर कांत बैठ सभासद मध्य तहँ॥
बोले हरि इंद्र सों बिनै कै कर जोरि दोऊ,
आजु दिगविजय हमारे हाथ आयो है।
मेरे गुरु लोग सब तोषित भए हैं आजु,
पूरो तप दान, भाग्य सफल सुहायो है॥
कारज समस्त सरे, मंदिर में आए आप,
देवन के देव मोहि धन्य ठहरायो है।
सो सुनि पुरंदर उपेंद्र लखि आदर सों,
बोले सुनौ बंधु! दानवीर नाम पायो है॥

(३६) **सम्मन**—ये मल्लावाँ (जि० हरदोई) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३४ में उत्पन्न हुए थे। इनके नीति के दोहे गिरधर की कुंडलिया के समान गाँवों तक में प्रसिद्ध हैं। इनके कहने के ढँग में कुछ मार्मिकता है। "दिनों के फेर" आदि के संबंध में इनके मर्मस्पर्शी दोहे स्त्रियों के मुँह से बहुत सुने जाते हैं। इन्होंने संवत् १८७९ में "पिंगल काव्य-भूषण" नामक एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पर ये अधिकतर अपने दोहों के लिये ही प्रसिद्ध हैं। इनका रचना-काल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। कुछ दोहे देखिए—

निकट रहे आदर घटै, दूरि रहे दुख होय।
सम्मन या संसार में प्रीति करौ जनि कोय ॥
सम्मन चहैा सुख देह को तौ छाँड़ौ ये चारि।
चोरी, चुगुली, जामिनी और पराई नारि ॥
सम्मन मीठी बात सों होत सबै सुख पूर।
जेहि नहिं सीखो बोलिबो, तेहि सीखो सब धूर ॥

(३७) ठाकुर—इस नाम के तीन कवि हो गए हैं जिनमें दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखड के कायस्थ। तीनों की कविताएँ ऐसी मिल जुल गई हैं कि भेद करना कठिन है। हाँ, बुंदेलखंडी ठाकुर की वे कविताएँ पहचानी जा सकती हैं जिनमें बुंदेलखंडी कहावतें या मुहावरे आए हैं।

असनीवाले प्राचीन ठाकुर

ये रीतिकाल के आरंभ में संवत् १७०० के लगभग हुए थे। इनका कुछ वृत्त नहीं मिलता; केवल फुटकल कविताएँ इधर उधर पाई जाती हैं। संभव है, इन्होंने रीतिबद्ध रचना न करके अपने मन की उमंग के अनुसार ही समय समय पर कवित्त-सवैये बनाए हों जो चलती और स्वच्छ भाषा में हैं। इनके ये दो सवैये बहुत सुने जाते हैं—

सजि सूहे दुकूलन बिज्जुछटा सी अटान चढ़ी घटा जोवति हैं।
सुचिती ह्वै सुनैं धुनि मोरन की, रसमाती सँजोग सँजोवति हैं ॥
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं, हम आँसुन सों तन धोवति हैं।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं ॥

———

बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत, भौंरन भीर चुपैबो चहै ना ॥
सीतल मंद सुगंधित, बीर, समीर लगे तन धीर रहै ना।
व्याकुल कीन्हो बसंत बनाय कै, जाय कै कंत सों कोऊ कहै ना ॥

असनीवाले दूसरे ठाकुर

ये ऋषिनाथ कवि के पुत्र और सेवक कवि के पितामह थे। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण ने अपने पूर्वजों का जो वर्णन लिखा है उसके अनुसार ऋषिनाथजी के पूर्वज देवकीनंदन मिश्र गोरखपुर जिले के एक कुलीन सरयूपारी ब्राह्मण—पयासी के मिश्र—थे और अच्छी कविता करते थे। एक बार मँझौली के राजा के यहाँ विवाह के अवसर पर देवकीनंदनजी ने भाटों की तरह कुछ कवित्त पढ़े और पुरस्कार लिया। इस पर उनके भाई-बंधुओं ने उन्हें जातिच्युत कर दिया और वे असनी के भाट नरहर कवि की कन्या के साथ अपना विवाह करके असनी में जा रहे और भाट हो गए। उन्हीं देवकीनंदन के वंश में ठाकुर के पिता ऋषिनाथ कवि हुए।

ठाकुर ने संवत् १८६१ में "सतसई बरनार्थ" नाम की 'बिहारी सतसई' की एक टीका (देवकीनंदन टीका) बनाई। अत: इनका कविता-काल संवत् १८६० के इधर उधर माना जा सकता है। ये काशिराज के संबंधी काशी के नामी रईस (जिनकी हवेली अब तक प्रसिद्ध है) बाबू देवकीनंदन के आश्रित थे। इनका विशेष वृत्तांत स्व० पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपने "बिहारी विहार" की भूमिका में दिया है। ये ठाकुर भी बड़ी सरस कविता करते थे। इनके पद्यों में भाव या दृश्य का निर्वाह अबाध रूप में पाया जाता है। दो उदाहरण लीजिए—

कारे लाल करहे पलासन के पुंज तिन्हैं
 अपने झकोरन झुलावन लगी है री।
ताही की ससेटी तृन-पत्रन-लपेटी धरा-
 धाम तें अकास धूरि धावन लगी है री॥
ठाकुर कहत सुचि सौरभ प्रकासन मों
 आछी भाँति रुचि उपजावन लगी है री।

तातो सीरो बैहर वियोग वा सँयोगवारी,
आवनि बसंत की जनावन लगी है री ॥

प्रात झुकामुकि भेष छपाय कै गागर लै घर तें निकरी ती।
जानि परी न कितीक अबार है, जाय परी जहँ होरी धरी ती ॥
ठाकुर दौरि परे मोहिं देखि कै, भागि बची री, बड़ी सुघरी ती।
बीर की सैां जैा किवार न देउँ तैा मैं होरिहारन हाथ परी ती ॥

तीसरे ठाकुर बुँदेलखंडी

ये जाति के कायस्थ थे और इनका पूरा नाम लाला ठाकुर-दास था। इनके पूर्वज काकोरी (जिला लखनऊ) के रहनेवाले थे और इनके पितामह खड्गरायजी बड़े भारी मंसबदार थे। उनके पुत्र गुलाबराय का विवाह बड़ी धूमधाम से ओरछे (बुंदेल-खंड) के राव राजा (जो महाराज ओरछा के मुसाहब थे) की पुत्री के साथ हुआ था। ये ही गुलाबराय ठाकुर कवि के पिता थे। किसी कारण से गुलाबराय अपनी ससुराल ओरछे में ही आ बसे जहाँ संवत् १८२३ में ठाकुर का जन्म हुआ। शिक्षा समाप्त होने पर ठाकुर अच्छे कवि निकले और जैतपुर में सम्मान पाकर रहने लगे। उस समय जैतपुर के राजा केसरी-सिंहजी थे। ठाकुर के कुल के कुछ लोग बिजावर में भी जा बसे थे। इससे ये कभी कभी वहाँ भी रहा करते थे। बिजा-वर के राजा ने भी एक गाँव देकर ठाकुर का सम्मान किया। जैतपुर-नरेश राजा केसरीसिंह के उपरांत जब उनके पुत्र राजा पारीछत गद्दी पर बैठे तब ठाकुर उनकी सभा के एक रत्न हुए। ठाकुर की ख्याति उसी समय से फैलने लगी और वे बुँदेल-खंड के दूसरे राजदरबारों में भी आने जाने लगे। बाँदे के हिम्मतबहादुर गोसाईं के दरबार में कभी कभी पद्माकरजी

के साथ ठाकुर की कुछ नोंक-झोंक की बातें हो जाया करती थीं। एक बार पद्माकरजी ने कहा "ठाकुर कविता तो बहुत अच्छी करते हैं पर पद कुछ हलके पड़ते हैं"। इस पर ठाकुर बोले "तभी तो हमारी कविता उड़ी उड़ी फिरती है"।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि हिम्मतबहादुर कभी अपनी सेना के साथ अँगरेजों का कार्य्यसाधन करते और कभी लखनऊ के नवाब के पक्ष में लड़ते। एक बार हिम्मतबहादुर ने राजा पारीछत के साथ कुछ धोखा करने के लिये उन्हें बाँदे बुलाया। राजा पारीछत वहाँ जा रहे थे कि मार्ग में ठाकुर कवि मिले और दो ऐसे संकेत-भरे सवैये पढ़े कि राजा पारीछत लौट गए। एक सवैया यह है—

कैसे सुचित्त भए निकसौ बिहँसौ बिलसौ हरि दै गलबाहीं।
ये छल छिद्रन की बतियाँ छलती छिन एक घरी पल माहीं॥
ठाकुर वै जुरि एक भईं, रचिहैं परपंच कछू ब्रज माहीं।
हाल चवाइन की दुहचाल की लाल तुम्हें है दिखात कि नाहीं?

कहते हैं कि यह हाल सुनकर हिम्मतबहादुर ने ठाकुर को अपने दरबार में बुला भेजा। बुलाने का कारण समझ कर भी ठाकुर बेधड़क चले गए। जब हिम्मतबहादुर इन पर झल्लाने लगे तब इन्होंने यह कवित्त पढ़ा—

वेई नर निर्णय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिए रहैं।
हरि-रस चंदन चढ़ाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिए रहैं॥
ठाकुर कहत मंजु कंजु तें मृदुल मन,
मोहनी सरूप, धारे हिम्मत हिए रहैं।
भेंट भए समये असमये, अचाहे चाहे,
ओर लौं निबाहैं, आँखैं एकसी किए रहैं॥

इस पर हिम्मतबहादुर ने जब कुछ और कटु वचन कहे तब सुना जाता है कि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के बिसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं, पै चाकर चतुर के।

हिम्मतबहादुर यह सुनते ही चुप हो गए। फिर मुस्कराते हुए बोले—"कविजी बस! मैं तो यही देखा चाहता था कि आप कोरे कवि ही हैं या पुरखों की हिम्मत भी आप में है।" इस पर ठाकुरजी ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया—"महाराज! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है, आज हिम्मत कैसे गिर जायगी?" (गोसाईं हिम्मत गिरि का असल नाम अनूप गिरि था; हिम्मतबहादुर शाही ख़िताब था।)

ठाकुर कवि का परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। अतः इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक अच्छा संग्रह "ठाकुर-ठसक" के नाम से श्रीयुत लाला भगवानदीनजी ने निकाला है। पर इसमें भी दूसरे दो ठाकुर की कविताएँ मिली हुई हैं। इस संग्रह में विशेषता यह है कि कवि का जीवन-वृत्त भी बहुत कुछ दे दिया गया है। ठाकुर के पुत्र दरियावसिंह (चातुर) और पौत्र शंकरप्रसाद भी कवि थे।

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढँग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढँग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोलचाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री-पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात बात में कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिये ये कहावतें मानो एक संचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों में से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ खास बुंदेलखंड की हैं। ठाकुर सच्चे, उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसी से इनकी कविताएँ विशेषतः सवैये इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छंद कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसंद करता? जब जिस विषय पर जी में आया कुछ कहा।

ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इसी से प्रेमभाव की अपनी स्वाभाविक तन्मयता के अतिरिक्त कभी तो ये अखती, फाग, बसंत, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों के उल्लास में मग्न दिखाई पड़ते हैं; कभी लोगों की क्षुद्रता, कुटिलता, दुःशीलता आदि पर क्षोभ प्रकट करते पाए जाते हैं और कभी काल की गति पर खिन्न

और उदास देखे जाते हैं। कविकर्म को ये कठिन समझते थे। रूढ़ि के अनुसार शब्दों की लड़ी जोड़ चलने को ये कविता नहीं कहते थे। नमूने के लिये यहाँ इनके थोड़े ही से पद्य दिए जा सकते हैं—

सीखि लीन्हो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हो जस औ प्रताप को कहानो है।
सीख लीन्हो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

——

दस बार, बीस बार बरजि दई है जाहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन बरन देव।
कैसो कहा कीजै, कछू आपनो करो न हाय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निहसंक रस-रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव॥

——

अपने अपने सुठि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भींजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री॥
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगाँव पै री॥

——

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत हैं नित मेरे लिये, इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वै है॥

———

यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चाँदनी चारु निहारि लै री।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ एतो बिचार बिचारि लै री॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जौ गोपाल तौ तैं बिगरी कौं सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायँ पखारि लै री॥

———

पावस तें परदेस तें आय मिले पिय औ मनभाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है॥
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनि दामिनि कौंधि कितै को गई है?
री अब तौ घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हें धूर दई है॥

———

पिय प्यार करैं जेहि पै सजनी तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मान करौं तौ परौं भ्रम में, फिर पाछे परे पछितैयत है॥
कवि ठाकुर कौन की कासों कहौं? दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन एरी भटू! निज सौत के मायके जैयत है॥

(३८) **ललकदास**—बेनी कवि के भँड़ौवा से ये लखनऊ के कोई कंठीधारी महंत जान पड़ते हैं जो अपनी शिष्य-मंडली के साथ इधर उधर फिरा करते थे। अतः संवत् १८६० और १८८० के बीच इनका वर्तमान रहना अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने "सत्योपाख्यान" नामक एक बड़ा वर्णनात्मक ग्रंथ लिखा है जिसमें रामचंद्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इस

ग्रंथ का उद्देश्य कौशल के साथ कथा चलाने का नहीं, बल्कि जन्म की बधाई, बाललीला, होली, जलक्रीड़ा, झूला, विवाहोत्सव आदि का बड़े ब्योरे और विस्तार के साथ वर्णन करने का है। जो उद्देश्य महाराज रघुराजसिंह के रामस्वयंवर का है वही इसका भी समझिए। पर इसमें सादगी है और यह केवल दोहे चौपाइयों में लिखा गया है। वर्णन करने में ललकदासजी ने भाषा के कवियों के भाव तो इकट्ठे ही किए हैं; संस्कृत कवियों के भाव भी कहीं कहीं रखे हैं। रचना अच्छी जान पड़ती है। कुछ चौपाइयाँ देखिए—

धरि निज अंक राम को माता। लह्यो मोद लखि मुख मृदु गाता॥
दंत कुंद मुकुता सम सोहै। बंधुजीव सम जीभ बिमोहै॥
किसलय सधर अधर छबि छाजैं। इंद्रनील सम गंड बिराजैं॥
सुंदर चिबुक नासिका सोहै। कुंकुम तिलक चिलक मन मोहै॥
कामचाप सम भ्रकुटि बिराजै। अलक-कलित मुख अति छबि छाजै॥
यहि विधि सकल राम के अंगा। लखि चूमति जननी सुख संगा॥

(३९) **खुमान**—ये बंदीजन थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इनके बनाए इन ग्रंथों का पता है—

अमरप्रकाश (सं० १८३६), अष्टजाम (सं० १८५२), लक्ष्मणशतक (सं० १८५५), हनुमान नखशिख, हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, नीतिविधान, समरसार (युद्ध-यात्रा के मुहूर्त आदि का विचार), नृसिंह-चरित्र (सं० १८७९), नृसिंह-पचीसी।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८३० से १८८० तक माना जा सकता है। "लक्ष्मणशतक" में लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध बड़े फड़कते हुए शब्दों में कहा गया है।

खुमान कविता में अपना उपनाम 'मान' रखते थे। नीचे एक कवित्त दिया जाता है—

आयो इंद्रजीत दसकंध को निबंध बंध,
बोल्यो रामबंधु सों प्रबंध किरवान को।
को है अंसुमाल, को है काल विकराल,
मेरे सामुहें भए न रहे मान महेसान को॥
तू तौ सुकुमार यार लखन कुमार! मेरी
मार बेसुमार को सहैया घमासान को?
बीर ना चितैया, रनमंडल रितैया, कोल
कहर बितैया हौं जितैया मघवान को॥

(४०) **नवलसिंह कायस्थ**—ये झाँसी के रहनेवाले थे और समथर-नरेश राजा हिंदूपति की सेवा में रहते थे। इन्होंने बहुत से ग्रंथों की रचना की है जो भिन्न भिन्न विषयों पर और भिन्न भिन्न शैली के हैं। ये अच्छे चित्रकार भी थे। इनका झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर विशेष था। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—

रासपंचाध्यायी, रामचंद्रविलास, शंकामोचन (सं० १८७३), जौहरिन-तरंग (१८७५), रसिकरंजनी (१८७७), विज्ञान-भास्कर (१८७८), ब्रजदीपिका (१८८३), शुकरम्भासंवाद (१८८८), नाम-चिंतामणि (१९०३), मूलभारत (१९१२), भारत-सावित्री (१९१२), भारत कवितावली (१९१३), भाषा सप्तशती (१९१७), कविजीवन (१९१८), आल्हा-रामायण (१९२२), रुक्मिणीमंगल (१९२५), मूलढोला (१९२५), रहस लावनी (१९२६), अध्यात्मरामायण, रूपक रामायण, नारीप्रकरण, सीतास्वयंवर, रामविवाहखंड, भारत वार्तिक, रामायण-सुमिरनी, पूर्व शृंगारखंड, मिथिलाखंड, दानलोभ संवाद, जन्मखंड।

उक्त पुस्तकों में यद्यपि अधिकांश बहुत छोटी छोटी हैं फिर भी इनकी रचना की बहुरूपता का आभास देती हैं। इनकी पुस्तकें प्रकाशित नहीं हुई हैं। अतः इनकी रचना के संबंध में विस्तृत और निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। खोज की रिपोर्टों में उद्धृत उदाहरणों के देखने से रचना इनकी पुष्ट और अभ्यस्त प्रतीत होती है। व्रजभाषा में कुछ वार्तिक या गद्य भी इन्होंने लिखा है। इनके कुछ पद्य नीचे देखिए—

अभव अनादि अनंत अपारा। अमन, अप्रान, अमर, अविकारा॥
अग अनीह आतम अविनासी। अगम अगोचर अविरल वासी॥
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा॥
रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजस मैं गाऊँ॥

——

सगुन सरूप सदा सुषमा-निधान मंजु,
बुद्धि गुन गुनन अगाध बनपति से।
भनै नवलेस फैल्यो विशद मही में यश,
बरनि न पावै पार भार फनपति से॥
जक्त निज भक्तन के कलुष प्रभंजै रंजै,
सुमति बढ़ावै धन धान धनपति से।
अवर न दूजो देव सहज प्रसिद्ध यह,
सिद्धि-बरदैन सिद्ध ईस गनपति से॥

(४१) **रामसहायदास**—ये चौबेपुर (जिला बनारस) के रहनेवाले लाला भवानीदास कायस्थ के पुत्र थे और काशी-नरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। "बिहारी सतसई" के अनुकरण पर इन्होंने "रामसतसई" बनाई। बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसी को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना

में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि ये दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं, रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी निकालना नहीं, बिहारी को भी कुछ नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। बिहारी में क्या क्या मुख्य विशेषताएँ हैं, यह उनके प्रसंग में दिखाया जा चुका है। जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से संबंध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया गया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुंदर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, संचारियों की वह सुंदर व्यंजना इस सतसई में कहाँ? नकल ऊपरी बातों की हो सकती है, हृदय की नहीं। पर हृदय पहचानने के लिये हृदय चाहिए, चेहरे पर की दो आँखों से ही नहीं काम चल सकता। इस बड़े भारी भेद के होते हुए भी "रामसतसई" शृंगाररस का एक उत्तम ग्रंथ है। इस सतसई के अतिरिक्त इन्होंने तीन पुस्तकें और लिखी हैं—

वाणीभूषण, वृत्ततरंगिणी (सं० १८७३) और ककहरा।

वाणीभूषण अलंकार का ग्रंथ है और वृत्त-तरंगिणी पिंगल का। ककहरा जायसी की 'अखरावट' के ढंग की छोटी सी पुस्तक है और शायद सबसे पिछली रचना है, क्योंकि उसमें धर्म और नीति के उपदेश हैं। रामसहाय का कविता-काल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। नीचे सतसई के कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

गड़े नुकीले लाल के नैन रहैं दिन रैनि।
तव नाजुक ढोड़ी न क्यों गाड़ परै मृदुबैनि ?
भटक न, झटपट चटक कै अटक सुनट के संग।
लटक पीतपट की निपट हटकति कटक अनंग॥

लागे नैना नैन में किया कहा धौं मैन।
नहिं लागैं नैना, रहैं लागे नैना नै न ॥
गुलुफनि लगि ज्यों त्यों गयो करि करि साहस जोर।
फिर न फिरयो मुरवान चपि, चित अति खात मरोर ॥
यों विभाति दसनावली ललना बदन मँझार।
पति को नातो मानि कै मनु आई उडुमार ॥

(४२) **चंद्रशेखर**—ये वाजपेयी थे। इनका जन्म सं० १८५५ में मुअज्जमाबाद (जिला फ़तहपुर) में हुआ था। इनके पिता मनीरामजी भी अच्छे कवि थे। ये कुछ दिनों तक दरभंगे की ओर, फिर ६ वर्ष तक जोधपुर-नरेश महाराज मानसिंह के यहाँ रहे। अंत में ये पटियालानरेश महाराज कर्मसिंह के यहाँ गए और जीवन भर पटियाले में ही रहे। इनका देहांत संवत् १९३२ में हुआ अतः ये महाराज नरेंद्रसिंह के समय तक वर्तमान थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने अपना प्रसिद्ध वीरकाव्य "हम्मीरहठ" बनाया। इसके अतिरिक्त इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

विवेक-विलास, रसिकविनोद, हरिभक्ति-विलास, नखसिख, वृंदावनशतक, गुहपंचाशिका, ताजक ज्योतिष, माधवी वसंत।

यद्यपि शृंगाररस की कविता करने में भी ये बहुत ही प्रवीण थे पर इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिये "हम्मीरहठ" ही पर्याप्त है। उत्साह की उमंग की व्यंजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है वैसे ढंग से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीररस के वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सूदन आदि के समान शब्दों की तड़ातड़ और भड़ाभड़ के फेर में न पड़कर उग्रोत्साह-व्यंजक उक्तियों का

ही अधिक सहारा इस कवि ने लिया है, जो वीररस की जान है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वर्णनों के अनावश्यक विस्तार को, जिसमें वस्तुओं की बड़ी लंबी-चौड़ी सूची भरी जाती है, स्थान नहीं दिया गया है। भाषा भी पूर्ण व्यवस्थित, च्युतसंस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाहमयी है। सारांश यह कि वीररस-वर्णन की अत्यंत श्रेष्ठ प्रणाली का अनुसरण चंद्रशेखरजी ने किया है।

रही प्रसंग-विधान की बात। इस विषय में कवि ने नई उद्भावनाएँ न करके पूर्ववर्ती कवियों का ही सर्वथा अनुसरण किया है। एक रूपवती और निपुण स्त्री के साथ महिमा मंगोल का अलाउद्दीन के दरबार से भागना, अलाउद्दीन का उसे हम्मीर से वापस माँगना, हम्मीर का उसे अपनी शरण में लेने के कारण उपेक्षापूर्वक इनकार करना, ये सब बातें जोधराज क्या उसके पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश के कवियों की ही कल्पना है, जो वीरगाथा-काल की रूढ़ि के अनुसार की गई थी। गढ़ के घेरे के समय गढ़पति की निश्चितता और निर्भीकता व्यंजित करने के लिये पुराने कवि गढ़ के भीतर नाच-रंग का होना दिखाया करते थे। जायसी ने अपनी पद्मावती में अलाउद्दीन के द्वारा चित्तौरगढ़ के घेरे जाने पर राजा रतनसेन का गढ़ के भीतर नाच कराना और शत्रु के फेंके हुए तीर से नर्त्तकी का घायल होकर मरना वर्णित किया है। ठीक उसी प्रकार का वर्णन "हम्मीरहठ" में रखा गया है। यह चंद्रशेखरजी की अपनी उद्भावना नहीं; एक बँधी हुई परिपाटी का अनुसरण है। नर्त्तकी के मारे जाने पर हम्मीरदेव का यह कह उठना कि "हठ करि मंड्यो युद्ध वृथा ही" केवल उनके तात्कालिक शोक के आधिक्य की व्यंजना मात्र करता है। उसे करुण प्रलाप मात्र समझना चाहिए। इसी दृष्टि से इस प्रकार के करुण प्रलाप राम ऐसे सत्यसंध और वीरव्रती नायकों

से भी कराए गए हैं। इनके द्वारा उनके चरित्र में कुछ भी लांछन लगता हुआ नहीं माना जाता।

एक त्रुटि हम्मीरहठ की अवश्य खटकती है। सब अच्छे कवियों ने प्रतिनायक के प्रताप और पराक्रम की प्रशंसा द्वारा उससे भिड़नेवाले या उसे जीतनेवाले नायक के प्रताप और पराक्रम की व्यंजना की है। राम का प्रतिनायक रावण कैसा था? इंद्र, मरुत्, यम, सूर्य्य आदि सब देवताओं से सेवा लेनेवाला; पर हम्मीरहठ में अलाउद्दीन एक चुहिया के कोने में दौड़ने से डर के मारे उछल भागता है और पुकार मचाता है।

चंद्रशेखरजी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कहीं नहीं हुई, सर्वत्र रस में सहायक ही है। युद्ध, मृगया आदि के वर्णन तथा संवाद आदि सब बड़ी मर्मज्ञता से रखे गए हैं। जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पदविन्यास है। जहाँ शृंगार का प्रसंग है वहाँ यही प्रतीत होता है कि किसी सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि की रचना पढ़ रहे हैं। तात्पर्य यह है कि "हम्मीरहठ" हिंदी-साहित्य का एक रत्न है। "तिरिया तेल, हम्मीर हठ चढ़ै न दूजी बार" वाक्य ऐसे ही ग्रंथ में शोभा देता है। नीचे कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै, काम रति प्रीति बिनासै॥
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन बरु होय, मेरु मंदर गिरि हल्लै॥
सुरतरु सुखाय, लोमस मरै, मीर! संक सब परिहरौ।
मुख-बचन बीर हम्मीर को बोलि न यह कबहूँ टरौ॥

आलम-नेवाज सिरताज पातसाहन के,
गाज ते दराज कोप-नजर तिहारी है।
जाके डर डिगत अडोल गढ़धारी, डग-
मगत पहार औ डुलति महि सारी है॥
रंक जैसो रहत ससंकित सुरेस भयो,
देस देसपति में अतंक अति भारी है।
भारी गढ़धारी, सदा जंग की तयारी,
धाक मानै ना तिहारी या हमीर हठधारी है॥

——

भागे मीरजादे पीरजादे औ अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै।
भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं, परैं
गोलन पै गोल, सूर सहमि सकाय कै॥
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित बितुंड पै बिराजि बिलखाय कै।
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि
चलैं भागि मृग महिष बराह बिललाय कै॥

——

थोरी थोरी बैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन बिभूषन बिराजत बिमल वर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं॥
प्यारे पातसाह के परम अनुराग-रँगी,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम-अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित चोरतीं॥

(४३) **बाबा दीनदयाल गिरि**—ये गोसाईं थे। इनका जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी संवत् १८५९ में काशी के गाय-घाट मुहल्ले में एक पाठक के कुल में हुआ था। जब ये ५ या ६ वर्ष के थे तभी इनके माता-पिता इन्हें महंत कुशागिरि को सौंप चल बसे। महंत कुशागिरि पंचक्रोशी के मार्ग में पड़नेवाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी थे। काशी में महंतजी के और भी कई मठ थे। वे विशेषतः गाय-घाट वाले मठ में रहा करते थे। बाबा दीनदयाल गिरि भी उनके चेले हो जाने पर प्रायः उसी मठ में रहते थे। जब महंत कुशागिरि के मरने पर बहुत सी जायदाद नीलाम हो गई तब ये देहली-विनायक के पास मौठली गाँववाले मठ में रहने लगे। बाबाजी संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। बाबू गोपालचंद्र (गिरिधरदास) से इनका बड़ा स्नेह था। इनका परलोकवास संवत् १९१५ में हुआ। ये एक अत्यंत सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिंदी के और किसी कवि की नहीं हुईं। यद्यपि इन अन्योक्तियों के भाव अधिकांश संस्कृत से लिए हुए हैं पर भाषाशैली की सर-सता और पदविन्यास की मनोहरता के विचार से वे स्वतंत्र काव्य के रूप में हैं। बाबाजी का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी सी परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। कहीं कहीं कुछ पूरबीपन या अव्यवस्थित वाक्य मिलते हैं, पर बहुत कम। इसी से इनकी अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिनी हुई हैं। इनका अन्योक्तिकल्प-द्रुम हिंदी-साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौंदर्यभावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने सरस

अन्योक्तियाँ कही ही हैं; अध्यात्मपक्ष में भी दो एक रहस्यमयी उक्तियाँ इनकी हैं।

बाबाजी को जैसा कोमल-व्यंजक पदविन्यास पर अधिकार था वैसा ही शब्द-चमत्कार आदि के विधान पर भी। यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत सी की है। जिस प्रकार ये अपनी भावुकता हमारे सामने रखते हैं उसी प्रकार चमत्कार-कौशल दिखाने में भी नहीं चूकते हैं। इससे जल्दी नहीं कहते बनता कि इनमें कला-पक्ष प्रधान है या हृदय-पक्ष। बड़ी अच्छी बात इनमें यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओं के भीतर इन्होंने चमत्कार-प्रवृत्ति का प्रवेश प्रायः नहीं होने दिया है। अन्योक्ति-कल्पद्रुम के आदि में कई श्लिष्ट पद्य आए हैं पर बीच में बहुत कम। इसी प्रकार अनुरागबाग में भी अधिकांश रचना शब्द-वैचित्र्य आदि से मुक्त है। यद्यपि अनुप्रासयुक्त सरस कोमल पदावली का बराबर व्यवहार हुआ है। पर जहाँ चमत्कार का प्रधान उद्देश्य रखकर ये बैठे हैं वहाँ श्लेष, यमक, अंतर्लापिका, बहिर्लापिका सब कुछ मौजूद है। सारांश यह कि ये एक बहु-रंगी कवि थे। रचना की विविध प्रणालियों पर इनका पूर्ण अधिकार था।

इनकी लिखी इतनी पुस्तकों का पता है—

अन्योक्ति-कल्पद्रुम (सं० १९१२), अनुराग-बाग (सं० १८८८), वैराग्य-दिनेश (सं० १९०६), विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टांत-तरंगिणी (सं० १८७९)।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल संवत् १८७९ से १९१२ तक माना जा सकता है। 'अनुराग-बाग' में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बड़े ही ललित कवित्तों में वर्णन हुआ है। मालिनी छंद का भी बड़ा मधुर प्रयोग हुआ है। 'दृष्टांत-

तरंगिणी' में नीति-संबंधी दोहे हैं। 'विश्वनाथ-नवरत्न' शिव की स्तुति है। 'वैराग्य-दिनेश' में एक ओर तो ऋतुओं आदि की शोभा का वर्णन है और दूसरी ओर ज्ञान-वैराग्य आदि का। इनकी कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

केतो सोम कला करौ, करौ सुधा को दान।
नहीं चंद्रमणि जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चंद! तुमही चित चेतौ।
कूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ॥

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तौ ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरष सत जौ जल दैहै।
गरजै तरजै कहा? वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक! ह्याँ तू बरखै॥

चल चकई तेहि सर विषै जहँ नहिं रैन-बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अबोह, मोह-दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई॥

कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने
नूपुर-निनादनि सों कौन दिन बोलिहैं।

नीके मम ही के बुंद-बृंदन सुमोतिन को
गहि कै कृपा की अब चोंचन सों तोलिहैं ॥
नेम धरि छेम सों प्रमुद होय दीनद्याल,
प्रेम-कोकनद बीच कब धौं कलोलिहैं ।
चरन तिहारे जदुबंस-राजहंस ! कब
मेरे मन-मानस में मंद मंद डोलिहैं ?

———

चरन-कमल राजैं, मंजु मंजीर बाजैं ।
गमन लखि लजावैं हंसऊ नाहिं पावैं ॥
सुखद कदम-छाहीं क्रीड़तें कुंज माहीं ।
लखि लखि हरि सोभा चित्त काको न लोभा ?

———

बहु छुद्रन के मिलन तें हानि बली की नाहिं ।
जूथ जंबुकन तें नहीं केहरि कहुँ नसि जाहिं ॥
पराधीनता दुख महा, सुखी जगत स्वाधीन ।
सुखी रमत सुक बन-विषै, कनक पींजरे दीन ॥

(४४) **पजनेस**—ये पन्ना के रहनेवाले थे। इनका कुछ विशेष वृत्तांत प्राप्त नहीं। कविता-काल इनका संवत् १९०० के आसपास माना जा सकता है। कोई पुस्तक तो इनकी नहीं मिलती पर इनकी बहुत सी फुटकल कविता संग्रह-ग्रंथों में मिलती और लोगों के मुँह से सुनी जाती है। इनका स्थान ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवियों में है। ठाकुर शिवसिंहजी ने 'मधुरप्रिया' और 'नखशिख' नाम की इनकी दो पुस्तकों का उल्लेख किया है, पर वे मिलती नहीं। भारतजीवन प्रेस ने इनकी फुटकल कविताओं का एक संग्रह "पजनेस प्रकाश" के नाम से प्रकाशित किया है जिसमें १२७ कवित्त-सवैया हैं।

इनकी कविताओं को देखने से पता चलता है कि ये फ़ारसी भी जानते थे। एक सवैया में इन्होंने फारसी के शब्द और वाक्य भरे हैं। इनकी रचना शृंगाररस की ही है, पर उसमें कठोर वर्णों (जैसे ट, ठ, ड) का व्यवहार यत्र-तत्र बराबर मिलता है। ये 'प्रतिकूल-वर्णत्व' की परवा कम करते थे। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोमल अनुप्रासयुक्त ललित भाषा का व्यवहार इनमें नहीं है। पद-विन्यास इनका अच्छा है। इनके फुटकल कवित्त अधिकतर अंग-वर्णन के मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि इन्होंने कोई नखशिख लिखा होगा। शब्द-चमत्कार पर इनका ध्यान विशेष रहता था जिससे कहीं कहीं कुछ भद्दापन आ जाता था। कुछ नमूने लीजिए—

छहरै छबीली छटा छूटि छितिमंडल पै,
उमग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज-मंजुल-मुखी के गात,
उपमाधिकाति कल कुंदन तबक सी॥
फैली दीप दीप दीप-दीपति दिपति जाकी,
दीपमालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताब लखि मुख माहताब जब
निकसी सिताब आफताब की भभक सी॥

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फे फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अज़दस्त अलाबल जुल्फ बसे॥
मजमूए, न काफ़ शिगाफ़ रुए सम क्यामत चश्म से खूँ बरसे।
मिज़गाँ सुरमा तहरीर दुताँ नुक़ते, बिन बे, किन ते, किन से॥

(४५) **गिरिधरदास**—ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे और ब्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे। इनका

नाम तो बाबू गोपालचंद्र था पर कविता में अपना उपनाम ये 'गिरिधरदास', 'गिरिधर', 'गिरिधारन' रखते थे। भारतेंदु ने इनके संबंध में लिखा है कि "जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस"। इनका जन्म पौष कृष्ण १५ संवत् १८९० को हुआ। इनके पिता काले हर्षचंद, जो काशी के एक बड़े प्रतिष्ठित रईस थे, इन्हें ग्यारह वर्ष के छोड़कर ही परलोक सिधारे। इन्होंने अपने निज के परिश्रम से संस्कृत और हिंदी में बड़ी स्थिर योग्यता प्राप्त की और पुस्तकों का एक बहुत बड़ा अनमोल संग्रह किया। पुस्तकालय का नाम इन्होंने "सरस्वती-भवन" रखा जिसका मूल्य स्वर्गीय डाक्टर राजेंद्र-लाल मित्र एक लाख रुपया तक दिलवाते थे। इनके यहाँ उस समय के विद्वानों और कवियों की मंडली बराबर जमी रहती थी और इनका समय अधिकतर काव्य-चर्चा में ही जाता था। इनका परलोकवास संवत् १९१७ में हुआ।

भारतेंदुजी ने इनके लिखे ४० ग्रंथों का उल्लेख किया है जिनमें से बहुतों का पता नहीं है। भारतेंदुजी के दौहित्र हिंदी के उत्कृष्ट लेखक श्रीयुत बाबू ब्रजरत्नदासजी ने अपनी देखी हुई इन अठारह पुस्तकों के नाम इस प्रकार दिए हैं—

जरासंधवध महाकाव्य, भारतीभूषण (अलंकार), भाषा-व्याकरण (पिंगल-संबंधी), रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन, मत्स्यकथा-मृत, बाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुराम-कथामृत, रामकथामृत, बलरामकथामृत (कृष्णचरित्र ४७०१ पदों में), बुद्धकथामृत, कल्किकथामृत, नहुष नाटक, गर्गसंहिता (कृष्णचरित का दोहे चौपाई में बड़ा ग्रंथ), एकादशी-माहात्म्य।

इनके अतिरिक्त भारतेंदुजी के एक नोट के आधार पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इन २१ और पुस्तकों का उल्लेख किया है—

वाल्मीकि-रामायण (सातों कांड पद्यानुवाद), छंदोर्णव, नीति, अद्भुतरामायण, लक्ष्मीनखशिख, वार्तासंस्कृत, ककारादि सहस्रनाम, गयायात्रा, गयाष्टक, द्वादशदलकमल, कीर्तन, संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, भगवत-स्तोत्र, श्रीरामस्तोत्र, श्रीराधास्तोत्र, रामाष्टक, कालियकालाष्टक।

इन्होंने दो ढँग की रचनाएँ की हैं। गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाएँ तो सरल और साधारण पद्यों में कही हैं, पर काव्यकौशल की दृष्टि से जो रचनाएँ की हैं—जैसे जरासंधवध, भारतीभूषण, रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन—वे यमक और अनुप्रास आदि से इतनी लदी हुई हैं कि बहुत स्थलों पर दुरूह हो गई हैं। सबसे अधिक इन्होंने यमक और अनुप्रास का चमत्कार दिखाया है। अनुप्रास और यमक का ऐसा विधान जैसा जरासंधवध में है और कहीं नहीं मिलेगा। जरासंधवध अपूर्ण है, केवल ११ सर्गों तक लिखा गया है, पर अपने ढँग का अनूठा है। जो कविताएँ देखी गई हैं उनसे यही धारणा होती है कि इनका झुकाव चमत्कार की ओर अधिक था। रसात्मकता इनकी रचनाओं में वैसी नहीं पाई जाती। २७ वर्ष की ही आयु पाकर इतनी अधिक पुस्तकें लिख डालना पद्यरचना का अद्भुत अभ्यास सूचित करता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

(जरासंधवध से)

चल्यो दरद जेहि फरद रच्यो बिधि मित्र-दरद-हर।
सरद सरोरुह बदन जाचकन-बरद मरद बर॥
लसत सिंह सम दुरद नरद दिसि-दुरद-अरद-कर।
निरखि होत अरि सरद, हरद सम जरद-कांति-धर॥
कर करद करत बेपरद जब गरद मिलत बपु गाज को।
रन-जुआ-नरद वित नृप लस्यो करद मगध-महराज को॥

सब के सब केसव के सबके हित के गज सोहते सोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन हो फिरैं सैलन सैलहि सीस प्रहार हैं॥
'गिरिधारन' धारन सों पदकंज लै धारन लै बसु धारन फार हैं।
अरि बारन बारन बारन पै सुर-बारन बारन बारन वार हैं॥

——

(भारतीभूषण से)

असंगति—सिंधु-जनित गर हर पियो, मरे असुर समुदाय।
नैन-बान नैनन लग्यो, भयो करेजे घाय॥

——

(रसरत्नाकर से)

जाहि विवाहि दियो पितु मातु नैं पावक साखि सबै जग जानी।
साहब से 'गिरिधारन जू' भगवान समान कहैं मुनि ज्ञानी॥
तू जो कहै वह दच्छिन है, तो हमैं कहा बाम हैं, बाम अजानी।
भागन सों पति ऐसो मिलै सबहीन को दच्छिन जो सुखदानी॥

——

(ग्रीष्मवर्णन से)

जगह जड़ाऊ जामे जड़े हैं जवाहिरात,
जगमग जोति जाकी जग में जमति है।
जामे जदुजानि जान प्यारी जातरूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है॥
'गिरिधरदास' जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजा हू जीव में जकति है।
जगत के जीवन के जिय को चुराए जोय,
जोए जोषिता को जेठ-जरनि जरति है॥

(४६) द्विजदेव (महाराज मानसिंह)—ये अयोध्या के महाराज थे और बड़ी ही सरस कविता करते थे। ऋतुओं के वर्णन इनके बहुत ही मनोहर हैं। इनके भतीजे भुवनेशजी

(श्री त्रिलोकीनाथजी, जिनसे अयोध्यानरेश ददुआ साहब से राज्य के लिये अदालत हुई थी) ने द्विजदेवजी की दो पुस्तकें बताई हैं, शृंगारबत्तीसी और शृंगारलतिका। 'शृंगार-लतिका' का एक बहुत ही विशाल और सटीक संस्करण महारानी अयोध्या की ओर से हाल में प्रकाशित हुआ है। इसके टीकाकार हैं भूतपूर्व अयोध्या-नरेश महाराज प्रताप नारायण सिंह। 'शृंगार-बत्तीसी' भी एक बार छपी थी। द्विजदेव के कवित्त काव्यप्रेमियों में वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे पद्माकर के। व्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परंपरा में इन्हें अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। जिस प्रकार लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं उसी प्रकार समूची शृंगार-परंपरा में ये। इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई !

इनमें बड़ा भारी गुण है भाषा की स्वच्छता। अनुप्रास आदि शब्द-चमत्कारों के लिये इन्होंने भाषा भद्दी कहीं नहीं होने दी है। ऋतु-वर्णनों में इनके हृदय का उल्लास उमड़ा पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतुवर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ झलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिये मानो आपसे आप आगे बढ़ता था। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तानि वितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं।
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, वसंत ! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

———

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा ?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकीगन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज-बैरिन कुसंग इन
अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई॥
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे श्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं में चल पलन दगा दई॥

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पाँति रही पगि।
ताहि समैं तहँ आए गोपाल, तिन्हैं लखि औरौ गयो हियरो ठगि॥
पै द्विजदेव न जानि परयो धौं कहा तेहि काल परे अँसुवा जगि।
तू जो कही, सखि ! लोनो सरूप सो मो अँखियान कों लोनी गई लगि॥

बाँके संकहीने राते कंज-छबि छीने माते,
झुकि झुकि झूमि झूमि काहू को कछू गनैं न।
द्विजदेव की सौं ऐसी बनक बनाय बहु
भाँतिन बगारे चित चाहन चहूँघा चैन॥

पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे,
बार बार तातें तुम्हें बूझती कछूक बैन।
एहो ब्रजराज! मेरो प्रेमधन लूटिबे को
बीरा खाय आए किते आपके अनोखे नैन?

——

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जायहैं।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि कूर
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछितायहैं॥
आवत बसंत के न ऐहैं जौ पै स्याम तौ पै
बावरी! बलाय सों, हमारेऊ उपाय है।
पीहैं पहिलेई तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहै॥

——

घहरि घहरि घन सघन चहूँघा घेरि,
छहरि छहरि विष-बूँद बरसावै ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दावँ,
एरे पातकी पपीहा! तू पिया की धुनि गावै ना॥
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ, एरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजोई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धावै ना॥

——

आधुनिक काल

(संवत् १९००—१९८०)

गद्य-खंड

गद्य का विकास

आधुनिक काल के पूर्व गद्य की अवस्था

(ब्रजभाषा गद्य)

आधुनिक काल के पूर्व हिंदी गद्य का अस्तित्व किस परिमाण और किस रूप में था, संक्षेप में इसका विचार कर लेना चाहिए। अब तक साहित्य की भाषा ब्रजभाषा ही रही है, इसे सूचित करने की आवश्यकता नहीं। अतः गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी सी मिलती है वह ब्रजभाषा ही में। हिंदी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से संबंध रखनेवाले कई गोरखपंथी ग्रंथ मिले हैं जिनका निर्माण-काल संवत् १४०७ के आसपास है। किसी किसी पुस्तक में निर्माणकाल दिया हुआ है। एक पुस्तक गद्य में भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। इसके गद्य को हम संवत् १४०० के आस पास के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना मान सकते हैं। थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानंद, आनंदस्वरूप हैं सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ ? आत्मजोति निश्चल है अंतहकरन जिनके अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।"

इसे हम निश्चयपूर्वक ब्रजभाषा का पुराना रूप मान सकते हैं। साथ ही यह भी ध्यान होता है कि यह किसी संस्कृत लेख का "कथंभूती" अनुवाद न हो। चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना।

इसके उपरांत फिर हमें भक्तिकाल में कृष्णभक्ति-शाखा के भीतर गद्य-ग्रंथ मिलते हैं। श्रीवल्लभाचार्य्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथजी ने 'शृंगाररस-मंडन' नामक एक ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखा। उनकी भाषा का स्वरूप देखिए—

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरण विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मंद हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई॥"

यह गद्य अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है। पर इसके पीछे दो और सांप्रदायिक ग्रंथ लिखे गए जो बड़े भी हैं और जिनकी भाषा भी व्यवस्थित और चलती है। वल्लभ संप्रदाय में इनका अच्छा प्रचार है। इनके नाम हैं—"चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता"। इनमें से प्रथम, आचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्यजी के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथजी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथजी की लिखी कही जाती है, पर गोकुलनाथजी के किसी शिष्य की लिखी जान पड़ती है, क्योंकि इसमें गोकुलनाथजी का कई जगह बड़े भक्ति-

भाव से उल्लेख है। इसमें वैष्णव भक्तों और आचार्य्यजी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई हैं। इसका रचना-काल विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' तो और भी पीछे औरंगजेब के समय के लगभग की लिखी प्रतीत होती है। इन वार्त्ताओं की कथाएँ बोलचाल की ब्रजभाषा में लिखी गई हैं जिसमें कहीं कहीं बहुत प्रचलित अरबी फारसी शब्द भी निस्संकोच रखे गए हैं। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण के लिये यह उद्धृत अंश पर्य्याप्त होगा—

"सो श्री नंदगाम में रहतो हतो सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही 'जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबे को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्त्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो'।"

नाभादासजी ने भी संवत् १६६० के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक ब्रजभाषा-गद्य में लिखी जिसमें भगवान् राम की दिनचर्य्या का वर्णन है। भाषा इस ढंग की है—

"तब श्री महाराज-कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्ध-समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

संवत् १६८० के लगभग वैकुंठ मणि शुक्ल ने, जो ओरछा के महाराज जसवंतसिंह के यहाँ थे, व्रजभाषा गद्य में 'अगहन-माहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' नाम की दो छोटी छोटी पुस्तकें लिखीं। द्वितीय के संबंध में वे लिखते हैं—

"'सब देवतन की कृपा तें बैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चंद्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जयरूप ग्रंथ बैसाख-महातम भाषा करत भए।—एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए।"

व्रजभाषा गद्य में लिखा एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है जिसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं। समय संवत् १७६० के उपरांत है। भाषा व्यवस्थित है—

"हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महादुख के रूप जम-किंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े बड़े ग्रध्र देखे। पंथ में पापकर्मी कौं जमदूत चलाइ कै मुद्गर अरु लोह के दंड कर मार देत हैं। आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम रोम खरो होत है।"

सूरति मिश्र ने (संवत् १७६७) संस्कृत से कथा लेकर बैताल-पचीसी लिखी, जिसको आगे चलकर लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिंदुस्तानी में किया। जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से लाला हीरालाल ने संवत् १८५२ में "आईन अकबरी की भाषा वचनिका" नामकी एक बड़ी पुस्तक लिखी। भाषा इसकी बोलचाल की है जिसमें अरबी-फ़ारसी के कुछ बहुत चलते शब्द भी हैं। नमूना यह है—

"अब शेख अबलफजल ग्रंथ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादस्याह की तारीफ़ लिखने को कसत करै है

अरु कहै है—याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याके पराक्रम अरु भाँति भाँति के दसतूर वा मनसूबा दुनिया में प्रगट भए, ता को संखेप लिखत हौं।"

इसी प्रकार की व्रजभाषा-गद्य की कुछ पुस्तकें इधर-उधर पाई जाती हैं जिनसे गद्य का कोई विकास प्रकट नहीं होता। साहित्य की रचना पद्य में ही होती रही। गद्य का भी विकास यदि होता आता तो विक्रम की इस शताब्दी के आरंभ में भाषा-संबंधिनी बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती। जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिये खड़ी बोली ले ली गई उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। कुछ समय सोच-विचार और वाद-विवाद में जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी व्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी।

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण व्रजभाषा-गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। उपर्युक्त "वैष्णव वार्ताओं" में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चलकर नहीं। काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी। ये टीकाएँ संस्कृत की "इत्यमरः" और "कथं भूतम्"वाली टीकाओं की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि

मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की लिखी "शृंगार-शतक" की एक टीका की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"उन्मत्तप्रेमसंरंभादालभंते —यदंगनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥"

"अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्य करन चाहति है ता कार्य्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातुं। अंतराउ कीबे कहँ। कातर। काइरु है। काइरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री कर्‌यो चाहैं सु अवस्य करहिं। ताको अंतराउ ब्रह्मा पहँ न कर्‌यो जाइ और की कितीक बात"।

आगे बढ़कर संवत् १८७२ की लिखी जानकीप्रसाद वाली रामचंद्रिका की प्रसिद्ध टीका लीजिए तो उसकी भाषा की भी यही दशा है—

"राघव-शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो॥"

"सबल कहें अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहें किरण जा के ऐसे जे सूर्य्य हैं तिन सहित मानो कलिंदगिरि शृंग तें हंस कहें हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है। हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रंग नग-जटित मुकुट हैं"।

इसी ढँग की सारी टीकाओं की भाषा समझिए। सरदार कवि अभी हाल में हुए हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की उनकी टीकाओं की भाषा और भी अनगढ़ और असंबद्ध है। सारांश यह है कि जिस समय गद्य के लिये खड़ी बोली उठ खड़ी हुई उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था; उसका कोई साहित्य नहीं खड़ा हुआ था। इसी से खड़ी बोली के ग्रहण में कोई संकोच नहीं हुआ।

खड़ी बोली का गद्य

देश के भिन्न भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट-समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही व्रजभाषा के साथ साथ खालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगजेब के समय से फारसी-मिश्रित खड़ी बोली या रेख़ता में शायरी भी शुरू हो गई और उसका प्रचार फ़ारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू-साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

मोगल-साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पछाहीं शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली थी और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठी थीं। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू-शायर पूरब की ओर आने लगे, उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ, फैजाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली भी लगी चलती थी। यह सिद्ध बात है कि उपजाऊ और सुखी प्रदेशों के लोग व्यापार में उद्योगशील नहीं होते। अत: धीरे धीरे पूरब के शहरों में भी इन पच्छिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खडी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वा-

भाविक भाषा थी; मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं। यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछाँह से आई हुई जातियों के घरों में बोली जाती है। अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदी-गद्य की भाषा अरबी-फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परंपरागत साहित्य की—जो संवत् १९०० के पूर्व तक पद्यमय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रांतों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।

पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य में भी कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था, यह दिखाया जा चुका है।

भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय तक अपभ्रंश-काव्यों की जो परंपरा चलती रही उसके भीतर खड़ी बोली के प्राचीन रूप की भी झलक अनेक पद्यों में मिलती है। जैसे—

भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि ! महारा कंतु।

——

अड़विहि पत्ती, नइहि जलु, तो वि न बूहा हत्थ।

——

सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ। देवक लेखिअ केण मिटाआ ?

उसके उपरांत भक्तिकाल के आरंभ में निर्गुण धारा के संत

कवि किस प्रकार खड़ी बोली का व्यवहार अपनी 'सधुक्कड़ी' भाषा में किया करते थे, इसका उल्लेख भक्तिकाल के भीतर हो चुका है। कबीरदास के ये वचन लीजिए—

> कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा-नीर।
>
> ———
>
> कबीर कहता जात हूँ, सुनता है सब कोइ।
> राम कहे भला होयगा, नहिं तर भला न होइ॥
>
> ———
>
> आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
> गुरु के सबद रम रम रहूँगा।

अकबर के समय में **गंग कवि** ने "चंद-छंद बरनन की महिमा" नामक एक गद्य-पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपति जी अकबरसाह जी आमखास में तखत ऊपर बिराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।

× × × ×

इतना सुनके पातसाहिजी श्रीअकबरसाहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

इस अवतरण से स्पष्ट पता लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न भिन्न प्रदेशों में शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं

कही जा सकती; यह हिंदी खड़ी बोली है। यद्यपि पहले से साहित्य-भाषा के रूप में स्वीकृत न होने के कारण इसमें अधिक रचना नहीं पाई जाती, पर यह बात नहीं है कि इसमें ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे। दिल्ली राजधानी होने के कारण जब से शिष्ट-समाज के बीच इसका व्यवहार बढ़ा तभी से इधर-उधर कुछ पुस्तकें इस भाषा के गद्य में लिखी जाने लगीं।

विक्रम संवत् १७९८ में **रामप्रसाद 'निरंजनी'** ने 'भाषा योगवासिष्ठ' नाम का गद्य ग्रंथ बहुत साफ-सुथरी खड़ी बोली में लिखा। ये पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रंथ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ी बोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था। अब तक पाई गई पुस्तकों में यह 'योगवासिष्ठ' ही सब से पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक मान सकते हैं। 'योगवासिष्ठ' से दो उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) "प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनंद के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है, जिस आनंद से सब जीव जीते हैं। अगस्तजी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हो, मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं, सम-

झाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से प्राप्त होता है। कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अंतः करण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

(ख) "हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट-अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। × × × मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब तुम कर्त्ता हुए भी निर्लेप रहोगे। और हर्ष शोक आदि विकारों से जब तुम अलग रहोगे तब वीतराग, भय क्रोध से रहित, रहोगे। × × × जिसने आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थित हो तैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्व को देखो तब विगत-ज्वर होगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म-मरण के बंधन में न आवोगे।"

कैसी शृंखलाबद्ध साधु और व्यवस्थित भाषा है!

इसके पीछे संवत् १८१८ में बसवा (मध्यप्रदेश) निवासी **पं० दौलतराम** ने हरिषेणाचार्य्य कृत जैन 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद किया जो ७०० पृष्ठों से ऊपर का एक बड़ा ग्रंथ है। भाषा इसकी उपर्युक्त 'योग-वासिष्ठ' के समान परिमार्जित नहीं है, पर इस बात का पूरा पता देती है कि फारसी-उर्दू से कोई संपर्क न रखनेवाली अधिकांश शिष्ट जनता के बीच खड़ी बोली किस स्वाभाविक रूप में प्रचलित थी। मध्यप्रदेश पर फारसी या उर्दू की तालीम कभी नहीं लादी गई थी और जैन-समाज, जिसके लिए यह ग्रंथ लिखा गया, बराबर व्यापार से संबंध रखनेवाला समाज रहा है। खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया उससे सर्वथा स्वतंत्र वह अपने प्रकृत रूप में

भी दो ढाई सौ वर्ष से लिखने-पढ़ने के काम में आ रही है, यह बात 'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' अच्छी तरह प्रमाणित कर रहे हैं। अतः यह कहने की गुंजाइश अब जरा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अँगरेजों की प्रेरणा से चली। 'पद्मपुराण' की भाषा का स्वरूप यह है—

"जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुंदर है, जहाँ पुण्याधिकारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपभोग करै हैं और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

आगे चलकर संवत् १८३० और १८४० के बीच राजस्थान के किसी लेखक ने "मंडोवर का वर्णन" लिखा था जिसकी भाषा साहित्य की नहीं, साधारण बोलचाल की है, जैसे—

"अवल में यहाँ मांडव्य रिसी का आश्रम था। इस सबब से इस जगे का नाम मांडव्याश्रम हुवा। इस लफ्ज़ का बिगड़ कर मंडोवर हुवा है।"

ऊपर जो कहा गया कि खड़ी बोली का ग्रहण देश के परंपरागत साहित्य में नहीं हुआ था, उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन में साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो, उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति-परंपरा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ी बोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आसपास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ या मुकरियाँ कहीं। हाँ, फारसी पद्य में खड़ी बोली को ढालने का खुसरो का प्रयत्न प्रथम कहा जा सकता है।

खड़ी बोली का रूप-रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिंदी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की खास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमानी दर-बारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में ही इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अँगरेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलानेवाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान् होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।

रीतिकाल के समाप्त होते होते अँगरेजी राज्य देश में पूर्ण-रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। अतः अँगरेजों के लिये यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।

अँगरेज यद्यपि विदेशी थे पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं वह न तो देश की स्वाभाविक

भाषा है न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसी लिये जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिंदी (शुद्ध खड़ी बोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं और न हिंदी में। जिस समय फोर्ट विलियम कालेज की ओर से उर्दू और हिंदी गद्य की पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिंदी खड़ी बोली में गद्य की कई पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं।

'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' का उल्लेख हो चुका है। उसके उपरांत जब अँगरेजों की ओर से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके दो एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुख की ज्ञानोपदेशवाली पुस्तक और इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थीं। अतः यह कहना कि अँगरेजों की प्रेरणा से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों में फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई उसी समय से लोगों का ध्यान उसमें गद्य लिखने की ओर गया। तब तक हिंदी और उर्दू दोनों का साहित्य पद्यमय ही था। हिंदी-कविता में परंपरागत काव्यभाषा ब्रजभाषा का व्यवहार चला आता था और उर्दू-कविता में खड़ी बोली के अरबी-फारसी-मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप में भी चारों ओर फैल गई तब उसकी व्यापकता और भी बढ़ गई और हिंदी-गद्य के लिये उसके ग्रहण में सफलता की संभावना दिखाई पड़ी।

इसी लिये जब संवत् १८६० में फोर्ट विलियम कालेज (कलकत्ता) के हिंदी-उर्दू-अध्यापक जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य-पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनों के लिये अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतंत्र हिंदी खड़ी बोली का अस्तित्व सामान्य शिष्ट भाषा के रूप में पाया। फोर्ट विलियम कालेज के आश्रय में लल्लूलालजी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अतः खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ानेवाले चार महानुभाव हुए हैं—मुंशी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारों लेखक संवत् १८६० के आसपास हुए।

(१) मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' दिल्ली के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १८०३ और मृत्यु १८८१ में हुई। संवत् १८५० के लगभग ये कंपनी की अधीनता में चुनार (जिला मिर्जापुर) में एक अच्छे पद पर थे। इन्होंने उर्दू और फारसी में बहुत सी किताबें लिखी हैं और काफी शायरी की है। अपनी "मुंतख़बुत्तवारीख़" में अपने संबंध में इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि ६५ वर्ष की अवस्था में ये नौकरी छोड़कर प्रयाग चले गए और अपनी शेष आयु वहीं हरिभजन में बिताई। उक्त पुस्तक संवत् १८७५ में समाप्त हुई जिसके ६ वर्ष उपरांत इनका परलोकवास हुआ। मुंशीजी ने विष्णुपुराण से कोई उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। कुछ दूर तक सफाई के साथ चलनेवाला गद्य जैसा 'योगवासिष्ठ' का था वैसा ही मुंशीजी की इस पुस्तक में दिखाई पड़ा। उसका थोड़ा सा अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धन-द्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

मुंशीजी ने यह गद्य न तो किसी अँगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्भक्त आदमी थे। अपने समय में उन्होंने हिंदुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रांतों में भी—प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अह्लेजबान थे पर उन्होंने अपने हिंदी-गद्य में कथा-वाचकों, पंडितों और साधु-संतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित खड़ी बोली का रूप रखा जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था। इसी संस्कृतमिश्रित हिंदी को उर्दूवाले 'भाखा' कहते थे, जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—

"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।"

सारांश यह कि मुंशीजी ने हिंदुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली। इन प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"स्वभाव **करके** वे दैत्य कहलाए"। "बहुत **आघा** चूक हुई"। "उन्हीं लोगों से **बन आवै** है"। "जो बात सत्य **होय**"।

काशी पूरब में है पर यहाँ के पंडित सैकड़ों वर्ष से 'होयगा' 'आवता है' 'इस करके' आदि बोलते चले आते हैं। ये सब बातें उर्दू से स्वतंत्र खड़ी बोली के प्रचार की सूचना देती हैं।

(२) इंशाअल्लाखाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशाअल्लाखाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे जहाँ वे शाही हकीम हो गए थे। मोगल-सम्राट् की अवस्था बहुत गिर जाने पर हकीम साहब मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ चले गए थे। मुर्शिदाबाद ही में इंशा का जन्म हुआ। जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला मारे गए और बंगाल में अंधेर मचा तब इंशा, जो पढ़-लिखकर अच्छे विद्वान और प्रतिभाशाली कवि हो चुके थे, दिल्ली चले आए और शाहआलम दूसरे के दरबार में रहने लगे। वहाँ जब तक रहे अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से अपने विरोधी बड़े-बड़े नामी शायरों को ये बराबर नीचा दिखाते रहे। जब गुलाम-कादिर बादशाह को अंधा करके शाही खजाना लूटकर चल दिया तब इंशा का निर्वाह दिल्ली में कठिन हो गया और वे लखनऊ चले आए। जब संवत् १८५५ में नवाब सआदत अलीखाँ गद्दी पर बैठे तब ये इनके दरबार में आने जाने लगे। बहुत दिनों तक इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही पर अंत में एक दिल्लगी की बात पर इनका वेतन आदि सब बंद हो गया और इनके

जीवन का अंतिम भाग बड़े कष्ट में बीता। संवत् १८७५ में इनकी मृत्यु हुई।

इंशा ने "उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और १८६० के बीच लिखी होगी। कहानी लिखने का कारण इंशा साहब यों लिखते हैं—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। × × × × अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए...... और लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस, जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे—आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँव किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिंदी लिखने का था जिसमें हिंदी को छोड़ और किसी बोली का पुट न रहे। उद्धृत अंश में 'भाखापन' शब्द ध्यान देने योग्य है। मुसलमान लोग 'भाखा' शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिंदी भाषा के लिये करते थे जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे—चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृत-मिश्रित हिंदी को ही उर्दू फारसीवाले 'भाखा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं। जिस प्रकार वे अपनी अरबी-फारसी मिली हिंदी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को 'भाखा'। भाषा का शास्त्रीय

दृष्टि से विचार न करनेवाले या उर्दू की ही तालीम खास तौर पर पानेवाले कई नए पुराने हिंदी लेखक इस 'भाखा' शब्द के चक्कर में पड़कर ब्रजभाषा को हिंदी कहने में संकोच करते हैं। "खड़ीबोली-पद्य" का झंडा लेकर घूमनेवाले स्वर्गीय बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूमकर कहा करते थे कि अभी हिंदी में कविता हुई कहाँ, "सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है, हिंदी नहीं"। संभव है इस सड़े-गले खयाल को लिए अब भी कुछ लोग पड़े हों।

इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है—

बाहर की बोली = अरबी, फारसी, तुरकी। गँवारी = ब्रज-भाषा, अवधी आदि। भाखापन = संस्कृत के शब्दों का मेल।

इस बिलगाव से, आशा है, ऊपर लिखी बात स्पष्ट हो गई होगी। इंशा ने "भाखापन" और "मुअल्लापन" दोनों को दूर रखने का प्रयत्न किया, पर दूसरी बला किसी न किसी सूरत में कुछ लगी रह गई। फारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं कहीं, विशेषतः बड़े वाक्यों में, आ ही गया है; पर बहुत कम। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया"।

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को"।

"यह चिट्ठी जो पीकभरी कुँवर तक जा पहुँची"।

आरंभ काल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली मटकीली, मुहावरेदार और चलती है। पहली बात यह है कि खड़ी बोली उर्दू-कविता में पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दू वालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे। दूसरी बात यह है कि इंशा रंगीन

और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन-कौशल दिखाया चाहते थे।* मुंशी सदासुखलाल भी खास दिल्ली के थे और उर्दू-साहित्य का अभ्यास भी पूरा रखते थे, पर वे धर्मभाव से जान बूझकर अपनी भाषा गंभीर और संयत रखना चाहते थे। सानुप्रास विराम भी इंशा के गद्य में बहुत स्थलों पर मिलते हैं—जैसे,

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई **होने लगी,** रानी केतकी सावन भादों के रूप **रोने लगी** और दोनों के जी में यह आ गई—यह कैसी चाहत जिसमें लहू **बरसने लगा** और अच्छी बातों को जी **तरसने लगा**।"

इंशा के समय तक वर्त्तमान कृदंत या विशेषण और विशेष्य के बीच का समानाधिकरण कुछ बना हुआ था, जो उनके गद्य में जगह जगह पाया जाता है; जैसे—

आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसें हैं॥

× × × ×

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

इन विचित्रताओं के होते हुए भी इंशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्णन भी सर्वथा भारतीय रखे हैं। इनकी चलती चटपटी भाषा का नमूना देखिए—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी

---

* अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस ढँग से किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफ़िल में आते हैं।

जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवाकर छिनवा लूँगी"।

(३) लल्लूलालजी आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १८२० में और मृत्यु संवत १८८२ में हुई। संस्कृत के विशेष जानकार तो ये नहीं जान पड़ते पर भाषा-कविता का अभ्यास इन्हें था। उर्दू भी कुछ जानते थे। संवत् १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक जान गिलक्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ी बोली-गद्य में "प्रेम-सागर" लिखा जिसमें भागवत दशम स्कंध की कथा वर्णन की गई है। इंशा के समान इन्होंने केवल ठेठ हिंदी लिखने का संकल्प तो नहीं किया था पर विदेशी शब्दों के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि ये उर्दू न जानते होते तो अरबी-फारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते जितने हुए। बहुतेरे अरबी-फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हें केवल संस्कृत हिंदी जाननेवाले के लिये पहचानना भी कठिन था। मुझे एक पंडितजी का स्मरण है जो 'लाल' शब्द तो बराबर बोलते थे पर 'कलेजा' और 'बैंगन' शब्दों को म्लेच्छ भाषा के समझ बचाते थे। लल्लूलालजी अनजान में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं जो फारसी या तुरकी के हैं। जैसे, 'बैरख' शब्द तुरकी का 'बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा है। प्रेमसागर में यह शब्द आया है। देखिए—

"शिवजी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा इस बैरख को ले जाय।" पर ऐसे शब्द दो ही चार जगह आए हैं।

यद्यपि मुंशी सदासुखलाल ने भी अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृत-मिश्रित साधु भाषा लिखने का प्रयत्न किया है पर लल्लूलाल की भाषा से उसमें बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है। मुंशीजी की भाषा साफ सुथरी खड़ी बोली है पर लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की-सी ब्रज-रंजित खड़ी बोली है। 'सम्मुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', 'लीजौ' ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ी बोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अंतर इतना ही है कि गंग ने इधर उधर फारसी-अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलालजी ने ऐसे शब्द बचाए हैं। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर में पूरी है। विरामों पर तुकबंदी के अतिरिक्त वर्णनों में वाक्य भी बड़े बड़े आए हैं और अनुप्रास भी यत्र-तत्र हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलालजी का काव्याभास-गद्य भक्तों की कथावार्त्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य। प्रेम-सागर से दो नमूने नीचे दिए जाते हैं—

"श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी, जीव जंतुओं की दशा विचार, चारों ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमक थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूँदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी थी।

"*इतना कह महादेवजी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर* जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनंद में मग्न हो डमरू बजाय बजाय, तांडव नाच नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।

× × × ×

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छबि-छीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

लल्लूलाल ने उर्दू, खड़ी बोली हिंदी और व्रजभाषा तीनों में गद्य की पुस्तकें लिखीं। ये संस्कृत नहीं जानते थे। व्रज-भाषा में लिखी हुई कथाओं और कहानियों को उर्दू और हिंदी गद्य में लिखने के लिये इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होंने सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी, शकुंतला नाटक, माधो-नल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहले की चारों पुस्तकें बिल्कुल उर्दू में हैं। इनके अतिरिक्त सं० १८६९ में इन्होंने "राजनीति" के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ (जो पद्य में लिखी जा चुकी थीं) व्रजभाषा-गद्य में लिखीं। माधवविलास और सभाबिलास नामक व्रजभाषा पद्य के संग्रहग्रंथ भी इन्होंने प्रकाशित किए थे। इनकी 'लालचंद्रिका' नाम की बिहारी सतसई की टीका भी प्रसिद्ध है। इन्होंने अपना एक निज का प्रेस कल-कत्ते में (पटलडाँगे में) खोला था जिसे ये सं० १८८१ में, फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी से पेंशन लेने पर, आगरे लेते गए। आगरे में प्रेस जमाकर ये एक बार फिर कलकत्ते गए

जहाँ इनकी मृत्यु हुई। अपने प्रेस का नाम इन्होंने "संस्कृत-प्रेस" रखा था, जिसमें अपनी पुस्तकों के अतिरिक्त ये रामायण आदि पुरानी पोथियाँ भी छापा करते थे। इनके प्रेस की छपी पुस्तकों की लोग बहुत कदर करते थे।

(४) सदल मिश्र—ये बिहार के रहनेवाले थे। फोर्ट विलियम कालेज में ये भी काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की उसी प्रकार इन्होंने भी। इनका "नासिकेतोपाख्यान" भी उसी समय लिखा गया जिस समय 'प्रेमसागर'। पर दोनों की भाषा में बहुत अंतर है। लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो व्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परंपरागत काव्यभाषा की पदावली का स्थान स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर इनकी भाषा भी साफ सुथरी नहीं है। व्रजभाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं। "फूलन्ह के बिछौने", "चहुँदिस", "सुनि", "सोनन्ह के थंभ" आदि प्रयोग व्रजभाषा के हैं। "इहाँ", "मतारी", "बरते थे", "जुड़ाई", "बाजने लगा", "जौन" आदि पूरबी शब्द हैं। भाषा के नमूने के लिये "नासिकेतोपाख्यान" से थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जाता है—

"इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों की पीड़ा

देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते हैं वो मातापिता की हित बात को नहीं सुनते, सब से बैर करते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

गद्य की एक साथ परंपरा चलानेवाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिंदी का पूरा पूरा आभास मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है। मुंशी सदासुख ने लेखनी भी चारों में पहले उठाई अतः गद्य का प्रवर्त्तन करनेवालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य का प्रवर्त्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। इधर उधर दो चार पुस्तकें अनगढ़ भाषा में लिखी गई हों तो लिखी गई हों पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्थित भाषा में लिखी कोई पुस्तक संवत् १९१५ के पूर्व की नहीं मिलती। संवत् १८८१ में किसी ने "गोरा बादल री बात" का, जिसे राजस्थानी पद्यों में जटमल ने संवत् १६८० में लिखा था, खड़ी बोली के गद्य में अनुवाद किया। अनुवाद का थोड़ा सा अंश देखिए—

"गोरा बादल की कथा गुरु के बस, सरस्वती के मेहरबानगी से, पूरन भई। तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलः से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस हे—बीररस व सिंगाररस हे, सो कथा मोरछड़ो नांवँ गाँव का रहनेवाला कबेसर। उस गाँव के लोग भोहोत सुखी हे। घर घर में आनंद होता है, कोई घर में फकीर दीखता नहीं"।

संवत् १८६० और १९१५ के बीच का काल गद्य-रचना की दृष्टि से प्रायः शून्य ही मिलता है। संवत् १९१४ के बलवे के पीछे ही हिंदी-गद्य-साहित्य की परंपरा अच्छी तरह चली।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी-गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म-प्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियों का प्रधान अड्डा था। विलियम केरे (William Carey) तथा और कई अँगरेज़ पादरियों के उद्योग से इंजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिंदी अनुवाद स्वयं केरे साहब ने किया। संवत् १८६६ में उन्होंने "नए धर्म-नियम" का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया और संवत् १८७५ में समग्र ईसाई-धर्म-पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इन ईसाई अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिलकुल दूर रखा। इससे यही सूचित होता है कि फारसी-अरबी-मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण कहती सुनती आती थी उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को आवश्यक दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत-मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग एक फैशन समझते हैं उससे साधारण जनसमुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है और है। जिन अँगरेज़ों को उत्तर भारत में रहकर केवल मुंशियों और खानसामों की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिंदुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण

को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते सुनाते पाया उसी को ग्रहण किया।

ईसाइयों ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा में फारसी और अरबी के शब्द जहाँ तक हो सका है नहीं लिए हैं और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधड़क रखे गए हैं। उनकी भाषा सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली है। उसमें जो कुछ विलक्षणता सी दिखाई पड़ती है वह मूल विदेशी भाषा की वाक्यरचना और शैली के कारण। प्रेमसागर के समान ईसाई धर्मपुस्तक में भी 'करनेवाले' के स्थान पर 'करनहारे', 'तक' के स्थान पर 'लौं', 'कमरबंद' के स्थान पर 'पटुका' प्रयुक्त हुए हैं। पर लल्लूलाल के इतना ब्रजभाषापन नहीं आने पाया है। 'आय' 'जाय' का व्यवहार न होकर 'आके' 'जाके' व्यवहृत हुए हैं। सारांश यह कि ईसाई मतप्रचारकों ने विशुद्ध हिंदी का व्यवहार किया है। एक नमूना नीचे दिया जाता है—

"तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कहके उसे बर्जने लगा कि मुझे आपके हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं! यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा लेके तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिये स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ।"

इसके आगे ईसाइयों की पुस्तकें और पैंफलेट बराबर निकलते रहे। उक्त "सिरामपुर प्रेस" से संवत् १८९३ में "दाऊद के गीतें" नाम की पुस्तक छपी जिसकी भाषा में कुछ फारसी

अरबी के बहुत चलते शब्द भी रखे मिलते हैं। पर इसके पीछे अनेक नगरों में बालकों की शिक्षा के लिये ईसाइयों के छोटे-मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें भी निकले लगीं। इन पुस्तकों की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी। आगरा, मिर्जापुर, मुँगेर आदि उस समय ईसाइयों के प्रचार के मुख्य केंद्र थे।

अँगरेजी की शिक्षा के लिये कई थानों पर स्कूल और कालेज खुल चुके थे जिनमें अँगरेजी के साथ हिंदी, उर्दू की पढ़ाई भी कुछ चलती थी। अतः शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकों की माँग संवत् १९०० के पहले ही पैदा हो गई थी। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये संवत् १८९० के लगभग आगरे में पादरियों की एक "स्कूल-बुक-सोसाइटी" स्थापित हुई थी जिसने संवत १८९४ में इँगलैंड के एक इतिहास का और संवत् १८९६ में मार्शमैन साहब के "प्राचीन इतिहास" का अनुवाद "कथासार" के नाम से प्रकाशित किया। "कथासार" के लेखक या अनुवादक पंडित रतनलाल थे। इसके संपादक पादरी मूर साहब (J. J. Moore) ने अपने छोटे से अँगरेजी वक्तव्य में लिखा था कि यदि सर्वसाधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग "वर्तमान इतिहास" भी प्रकाशित किया जायगा। भाषा इस पुस्तक की विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते हैं। भाषा का नमूना यह है—

"परंतु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इसलिये प्रजा की सहायता से

पिसिसट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"

आगरे की उक्त सोसाइटी के लिये संवत् १८९७ में पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोलसार' और संवत् १९०४ में पंडित बद्रीलाल शर्मा ने "रसायनप्रकाश" लिखा। कलकत्ते में भी ऐसी ही एक स्कूल-बुक-सोसाइटी थी जिसने "पदार्थविद्यासार" (संवत् १९०३) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें निकाली थीं। इसी प्रकार कुछ रीडरें भी मिशनरियों के छापेखानों से निकली थीं—जैसे "आजमगढ़ रीडर" जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से संवत् १८९७ में प्रकाशित हुई थी।

बलवे के कुछ पहले ही मिर्जापुर में ईसाइयों का एक "आर-फ़ेन प्रेस" खुला था जिससे शिक्षा-संबंधिनी कई पुस्तकें शेरिंग साहब के संपादन में निकली थीं, जैसे—भूचरित्रदर्पण, भूगोल, विद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतुप्रबंध, विद्यासागर, विद्वान् संग्रह। ये पुस्तकें संवत् १९१२ और १९१९ के बीच की हैं। तब से मिशन सोसाइटियों के द्वारा बराबर विशुद्ध हिंदी में पुस्तकें और पैंफलेट आदि छपते आ रहे हैं जिनमें कुछ खंडन मंडन, उपदेश और भजन आदि रहा करते हैं। भजन रचनेवाले कई अच्छे ईसाई कवि हो गए हैं जिनमें दो एक अँगरेज भी थे। "आसी" और "जान" के भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाए जाते हैं। सारांश यह कि हिंदी-गद्य के प्रसार में ईसाइयों का बहुत कुछ योग रहा। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें तो पहले पहल उन्हीं ने तैयार कीं। इन बातों के लिये हिंदी-प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ईसाइयों के प्रचार-कार्य्य का प्रभाव हिंदुओं की जन-संख्या पर ही पड़ रहा था। अतः हिंदुओं के शिक्षित वर्ग के बीच स्वधर्मरक्षा की आकुलता दिखाई पड़ने लगी। ईसाई उपदेशक हिंदू-धर्म की स्थूल और बाहरी बातों को लेकर ही अपना खंडन-मंडन चलाते आ रहे थे। यह देखकर बंगाल में राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदांत का ब्रह्मज्ञान लेकर उसका प्रचार करने खड़े हुए। नूतन शिक्षा के प्रभाव से पढ़े-लिखे लोगों में से बहुतों के मन में मूर्त्तिपूजा, तीर्थाटन, जाति-पाँति, छूआ-छूत आदि के प्रति अश्रद्धा हो रही थी। अतः राममोहन राय ने इन बातों को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना का प्रवर्त्तन करने के लिये 'ब्रह्म-समाज' की नींव डाली। संवत् १८७२ में उन्होंने वेदांत-सूत्रों के भाष्य का हिंदी-अनुवाद करके प्रकाशित कराया था। संवत् १८८६ में उन्होंने "बंगदूत" नाम का एक संवाद पत्र भी हिंदी में निकाला। राजा साहब की भाषा में एक-आध जगह कुछ बँगलापन जरूर मिलता है, पर उसका रूप अधिकांश में वही है जो शास्त्रज्ञ विद्वानों के व्यवहार में आता था। नमूना देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मणधर्म-परायण श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययन-हीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययन-हीन मनुष्यों को स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं"।

कई नगरों में, जिनमें कलकत्ता मुख्य था, अब छापेखाने हो गए थे। बंगाल से कुछ अँगरेजी और कुछ बँगला के पत्र भी निकलने लगे थे जिनके पढ़नेवाले भी हो गए थे। इस परिस्थिति में पं० जुगुलकिशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे,

संवत् १८८३ में "उदंत-मार्त्तंड" नाम का एक संवादपत्र निकाला जिसे हिंदी का पहला समाचार पत्र समझना चाहिए जैसा कि उसके इस लेख से प्रकट होता है—

"यह उदंत-मार्त्तंड अब पहिले पहल हिंदुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया, पर अँगरेजी ओ पारसी ओ बँगले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जान्ने ओ पढ़नेवालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिंदुस्तानी लोग देख कर आप पढ़ ओ समझ लेयँ ओ पराई अपेक्षा न करें ओ अपने भाषे की उपज न छोड़ें इसलिए......श्रीमान् गवरनर जेनेरेल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित्त लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठाटा। जो कोई प्रशस्त लोग इस खबर के कागज के लेने की इच्छा करें तो अमड़ा तला की गली ३७ अंक मार्त्तंड-छापाघर में अपना नाम ओ ठिकाना भेजने ही से सतवारे के सतवारे यहाँ के रहनेवाले घर बैठे ओ बाहिर के रहनेवाले डाक पर कागज पाया करेंगे।"

यह पत्र एक ही वर्ष चलकर सहायता के अभाव से बंद हो गया। इसमें 'खड़ी बोली' का 'मध्यदेशीय भाषा' के नाम से उल्लेख किया गया है। भाषा का स्वरूप दिखाने के लिये कुछ और उद्धरण दिए जाते हैं—

(१) एक यशी वकील वकालत का काम करते करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को वह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया ओ प्रसन्न होकर बोला—हे महाराज! आपने जो फलाने का पुराना ओ संगीन मोकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछता करके बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मोकद्दमे से हमारे बाप बड़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गए ओ हमने

भी उसको बना रखा औ अब तक भली भाँति अपना दिन काटा औ वही मोकद्दमा तुमको सौंप कर समझा था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसे खो बैठे।

(२) १६ नवंबर को अवधबिहारी बादशाह के आवने की तोपें छूटीं। उस दिन तीसरे पहर को ष्टर्लिंग साहिब औ हेल साहिब औ मेजर फिंडल लार्ड साहिब की ओर से अवध बिहारी की छावनी में जा करके बड़े साहिब का सलाम कहा और भोर होके लार्ड साहिब के साथ हाजिरी करने का नेवता किया। फिर अवधबिहारी बादशाह के जाने के लिये कानपुर के तले गंगा में नावों की पुलबंदी हुई और बादशाह बड़े ठाट से गंगा पार हो गवरनर जेनरेल बहादुर के सन्निध गए।

रीति-काल के समाप्त होते होते अँगरेज़ी राज्य देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। इस राजनीतिक घटना के साथ ही साथ देशवासियों की शिक्षाविधि में भी परिवर्त्तन हो चला। अँगरेज़ सरकार ने अँगरेज़ी की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की। संवत् १८५४ में ही ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास अँगरेज़ी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा गया था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राममोहन राय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के उद्योग से अँगरेज़ी की पढ़ाई के लिये कलकत्ते में हिंदू कालेज की स्थापना हुई जिसमें से लोग अँगरेज़ी पढ़ पढ़ कर निकलने और सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। देशी भाषा पढ़कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों को न था। अँगरेज़ी के सिवाय यदि किसी भाषा पर ध्यान जाता था तो संस्कृत या अरबी पर। संस्कृत की पाठशालाओं और अरबी के मदरसों को कंपनी की सरकार से थोड़ी बहुत सहायता मिलती आ रही थी। पर अँगरेज़ी के शौक़ के सामने इन पुरानी संस्थाओं की ओर से लोग उदासीन

होने लगे। इनको जो सहायता मिलती थी धीरे धीरे वह भी बंद हो गई। कुछ लोगों ने इन प्राचीन भाषाओं की शिक्षा का पक्ष ग्रहण किया था पर मेकाले ने अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा का इतने ज़ोरों के साथ समर्थन किया और पूरबी साहित्य के प्रति ऐसी उपेक्षा प्रकट की कि अंत में संवत् १८९२ (मार्च ७ सन् १८३५) में कंपनी की सरकार ने अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया और धीरे धीरे अँगरेज़ी के स्कूल खुलने लगे।

अँगरेज़ी-शिक्षा की व्यवस्था हो जाने पर अँगरेज़ सरकार का ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। मोगलों के समय में अदालती कार्रवाइयाँ और दफ्तर के सारे काम फारसी भाषा में होते थे। जब अँगरेज़ों का आधिपत्य हुआ तब उन्होंने भी दफ्तरों में वही परंपरा जारी रखी।

दफ्तरों की भाषा फारसी रहने तो दी गई, पर उस भाषा और लिपि से जनता के अपरिचित रहने के कारण लोगों को जो कठिनता होती थी उसे कुछ दूर करने के लिये संवत् १८६० में, एक नया कानून जारी होने पर, कंपनी सरकार की ओर से यह आज्ञा निकाली गई—

"किसी को इस बात का उज़ुर नहीं होए कि ऊपर के दफे का लीखा हुकुम सभसे वाकीफ़ नहीं है, हरी एक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है कि इस आईन के पावने पर एक एक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी व नागरी भाखा वो अच्छर में लीखाय कै ❀❀❀ कचहरी में लटकावही। ❀❀❀ अदालत के जज साहेब लोग के कचहरी में भी तमामी आदमी के बुझने के वास्ते लटकावही (अँगरेज़ी सन् १८०३ साल, ३१ आईन २० दफा)"।

फारसी के अदालती भाषा होने के कारण जनता को जो कठिनाइयाँ होती थीं उनका अनुभव अधिकाधिक होने लगा। अत: सरकार ने संवत १८९३ (सन् १८३६ ई०) में 'इश्तहार-नामे' निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करें। हमारे संयुक्त प्रदेश के सदर बोर्ड की तरफ से जो 'इश्तहारनाम:' हिंदी में निकला था उसकी नकल नीचे दी जाती है—

इश्तहारनाम: बोर्ड सदर

पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, और जब कोई अपनी अर्ज़ी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाख़िल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सब को चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि सन् १२४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और पारसी कै नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिंदी बोली में उस पर हुक्म लिखा जायगा। मिती २९ जूलाई सन् १८३६ ई०।

इस इश्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली 'हिंदी' ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पाई। मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी रहने न पाए, उर्दू चलाई जाय। उनका चक्र बराबर चलता रहा यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् संवत् १८९४ (सन् १८३७ ई०) में उर्दू हमारे प्रांत के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई।

सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फारसीमय रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया। जीविका और मान-मर्य्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया। देश-भाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। हिंदी की काव्यपरंपरा यद्यपि राजदरबारों के आश्रय में चली चलती थी पर उसके पढ़नेवालों की संख्या भी घटती जा रही थी। नवशिक्षित लोगों का लगाव उसके साथ कम होता जा रहा था। ऐसे प्रतिकूल समय में साधारण जनता के साथ साथ उर्दू-पढ़े-लिखे लोगों की भी जो थोड़ी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की ओर बनी हुई थी वह धर्मभाव से। तुलसी-कृत रामायण की चौपाइयाँ और सूरदासजी के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव "भाखा" से भी बनाए हुए थे। अन्यथा अपने परंपरागत साहित्य से नवशिक्षित लोगों का अधिकांश कालचक्र के प्रभाव से विमुख हो रहा था। शृंगार-रस की भाषा-कविता का अनुशीलन भी गाने बजाने आदि के शौक की तरह इधर उधर बना हुआ था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त लिखते हैं—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। ......हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

संवत् १९०२ में यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में नहीं आए थे पर विद्याव्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिंदी की ओर उनका ध्यान था। अतः इधर उधर दूसरी भाषाओं में समाचारपत्र निकलते देख उन्होंने उक्त संवत् में उद्योग करके काशी से "बनारस अखबार" निकलवाया। पर अखबार पढ़ने-

वाले पहले-पहल नवशिक्षितों में ही मिल सकते थे जिनकी लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। अतः इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रखी गई, यद्यपि अक्षर देवनागरी के थे। यह पत्र बहुत ही घटिया कागज़ पर लीथो में छपता था। भाषा इसकी यद्यपि गहरी उर्दू होती थी पर हिंदी की कुछ सूरत पैदा करने के लिये बीच बीच में 'धर्मात्मा', 'परमेश्वर', 'दया' ऐसे कुछ शब्द भी रख दिए जाते थे। इसमें राजा साहब भी कभी कभी कुछ लिख दिया करते थे। इस पत्र की भाषा का अंदाजा नीचे उद्धृत अंश से लग सकता है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उसका हाल कई दफ़ा जाहिर हो चुका है।......देखकर लोग उस पाठशाले के क़िते के मकानों की ख़ूबियाँ अकसर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि जमा से ज़ियादा लगा होगा और हर तरह से लायक़ तारीफ़ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

इस भाषा को लोग हिंदी कैसे समझ सकते थे? अतः काशी से ही एक दूसरा पत्र "सुधाकर" बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से संवत् १९०७ में निकला। कहते हैं कि काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी सुधाकरजी का नामकरण इसी पत्र के नाम पर हुआ था। जिस समय उनके चाचा के हाथ में डाकिए ने यह पत्र दिया था ठीक उसी समय भीतर से उनके पास सुधाकरजी के उत्पन्न होने की खबर पहुँची थी। इस पत्र की भाषा बहुत कुछ सुथरी हुई तथा ठीक हिंदी थी, पर यह पत्र कुछ दिन चला नहीं। इसी समय के लगभग अर्थात् संवत् १९०९ में आगरे से किसी मुंशी सदासुखलाल के प्रबंध और संपादन में "बुद्धिप्रकाश" निकला जो कई वर्ष तक चलता

रहा। "बुद्धिप्रकाश" की भाषा उस समय को देखते हुए बहुत अच्छी होती थी। नमूना देखिए—

"कलकत्ते के समाचार

इस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रगट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा-तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिये उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और 'हरी बोल, हरी बोल' कहकर उसका जीव लेते हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना-पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचावें और सरल सरल विद्या उन्हें सिखावें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम की २०वीं शताब्दी के आरंभ के पहले से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य की परंपरा हिंदी साहित्य में अच्छी तरह चल पड़ी, उसमें पुस्तकें छपने लगीं, अखबार निकलने लगे। पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी रही। अब अँगरेज़ सरकार का ध्यान देशी भाषाओं की शिक्षा की ओर गया और उसकी व्यवस्था की बात सोची जाने लगी। हिंदी को अदालतों से निकलवाने में मुसलमानों को सफलता हो चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न में लगे कि हिंदी को शिक्षा-क्रम में भी स्थान न मिले,

उसकी पढ़ाई का भी प्रबंध न होने पाए। अतः सर्वसाधारण की शिक्षा के लिये सरकार की ओर से जब जगह जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिंदी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक रखा जाय तब प्रभावशाली मुसलमानों की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया। यहाँ तक कि तंग आकर सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और उसने संवत् १९०५ (सन् १८४८) में यह सूचना निकाली—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिये आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ़्तरी ज़बान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी, जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।"

हिंदी के विरोध की यह चेष्टा बराबर बढ़ती गई। संवत् १९११ के पीछे जब शिक्षा का पक्का प्रबंध होने लगा तब यहाँ तक कोशिश की गई कि वर्नाक्युलर स्कूलों में हिंदी की शिक्षा जारी ही न होने पाए। विरोध के नेता थे सर सैयद अहमद साहब जिनका अँगरेज़ों के बीच बड़ा मान था। वे हिंदी को एक "गँवारी बोली" बताकर अँगरेज़ों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार चेष्टा करते आ रहे थे। इस प्रांत के हिंदुओं में राजा शिवप्रसाद अँगरेज़ों के उसी ढंग के कृपापात्र थे जिस ढंग के सर सैयद अहमद। अतः हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें खड़ा होना पड़ा और वे बराबर इस संबंध में यत्नशील रहे। इससे हिंदी-उर्दू का झगड़ा बीसों वर्ष तक—भारतेंदु के समय तक—चलता रहा।

गार्साँ द तासी एक फरासीसी विद्वान् थे जो पैरिस में हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उन्होंने संवत् १८९६ में

'हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास' लिखा था जिसमें उर्दू के कवियों के साथ हिंदी के भी कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख था। संवत् १९०९ (५ दिसंबर सन् १८५२) के अपने व्याख्यान में उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनों भाषाओं की युगपद् सत्ता इन शब्दों में स्वीकार की थी—

"उत्तर के मुसलमानों की भाषा यानी हिंदुस्तानी उर्दू पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब संयुक्त प्रांत) की सरकारी भाषा नियत की गई है। यद्यपि हिंदी भी उर्दू के साथ साथ उसी तरह बनी है जिस तरह वह फ़ारसी के साथ थी। बात यह है कि मुसलमान बादशाह सदा से एक हिंदी सेक्रेटरी, जो हिंदी-नवीस कहलाता था और एक फ़ारसी सेक्रेटरी, जिसको फ़ारसी-नवीस कहते थे, रखा करते थे, जिसमें उनकी आज्ञाएँ दोनों भाषाओं में लिखी जायँ। इस प्रकार अँगरेज़ सरकार पश्चिमोत्तर-प्रदेश में हिंदू जनता के लाभ के लिये प्रायः सरकारी क़ानूनों का नागरी अक्षरों में हिंदी-अनुवाद भी उर्दू क़ानूनी पुस्तकों के साथ साथ देती है"।

तासी के व्याख्यानों से पता लगता है कि उर्दू के अदालती भाषा नियत हो जाने पर कुछ दिन सीधी भाषा और नागरी अक्षरों में भी क़ानूनों और सरकारी आज्ञाओं के हिंदी-अनुवाद छपते रहे। जान पड़ता है कि उर्दू के पक्षपातियों का ज़ोर जब बढ़ा तब उनका छपना एक दम बंद हो गया। जैसा कि अभी कह आए हैं राजा शिवप्रसाद और भारतेंदु के समय तक हिंदी-उर्दू का झगड़ा चलता रहा। गार्साँ द तासी ने भी फ्रांस में बैठे बैठे इस झगड़े में योग दिया। वे अरबी-फारसी के अभ्यासी और हिंदुस्तानी या उर्दू के अध्यापक थे। उस समय के अधिकांश और यूरोपियनों के समान उनका भी मज़हबी संस्कार प्रबल था। यहाँ जब हिंदी-उर्दू का सवाल उठा तब सर सैयद अहमद, जो अँगरेज़ों से मेल जोल रखने की विद्या में एक ही

थे, हिंदी-विरोध में और बल लाने के लिये मज़हबी नुसखा भी काम में लाए। अँगरेज़ों को सुझाया गया कि हिंदी हिंदुओं की ज़बान है जो 'बुतपरस्त' हैं और उर्दू मुसलमानों की जिनके साथ अँगरेज़ों का मज़हबी रिश्ता है—दोनों 'सामी' या पैगंबरी मत को माननेवाले हैं।

जिस गार्सां द तासी ने संवत् १९०९ के आसपास हिंदी और उर्दू दोनों का रहना आवश्यक समझा था और कभी कहा था कि—

"यद्यपि मैं ख़ुद उर्दू का बड़ा भारी पक्षपाती हूँ, लेकिन मेरे विचार में हिंदी को विभाषा या बोली कहना उचित नहीं"।

वही गार्सां द तासी आगे चलकर, मज़हबी कट्टरपन की प्रेरणा से, सर सैयद अहमद की भरपेट तारीफ़ करके हिंदी के संबंध में फरमाते हैं—

"इस वक्त हिंदी की हैसियत भी एक बोली (dialect) की सी रह गई है, जो हर गाँव में अलग अलग ढंग से बोली जाती है।"

हिंदी-उर्दू का झगड़ा उठने पर आपने मज़हबी रिश्ते के ख़याल से उर्दू का पक्ष ग्रहण किया और कहा—

"हिंदी में हिंदू-धर्म का आभास है—वह हिंदू-धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है, इसलिये इसलामी तहज़ीब में ईसाई या मसीही तहज़ीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं"।

संवत् १९२७ के अपने व्याख्यान में गार्सां द तासी ने साफ़ खोल कर कहा—

"मैं सैयद अहमद खाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान् की तारीफ़ में और ज़्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा का भी अस्वीकार नहीं करते; पर हिंदू लोग मूर्त्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

परंपरा से चली आती हुई देश की भाषा का विरोध और उर्दू का समर्थन कैसे कैसे भावों की प्रेरणा से किया जाता रहा है, यह दिखाने के लिये इतना बहुत है। विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश भर में प्रचलित अक्षरों और वर्णमाला को छोड़ना असंभव था वैसे ही परंपरा से चले आते हुए हिंदी-साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा-विधान में देश की असली भाषा हिंदी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य-साहित्य तो प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींच-तान आरंभ हुई। इसी खींच-तान के समय में राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए।

प्रकरण २

गद्य-साहित्य का आविर्भाव

किस प्रकार हिंदी के नाम से नागरी अक्षरों में उर्दू ही लिखी जाने लगी थी, इसकी चर्चा 'बनारस अख़बार' के संबंध में कर आए हैं। संवत् १९१३ में अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय और दूसरे विभागों के समान शिक्षा-विभाग में भी मुसलमानों का ज़ोर था जिनके मन में "भाखा-पन" का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिये "भाखा", संस्कृत से लगाव रखनेवाली हिंदी, न सीखनी पड़े। अतः उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की भी पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालती कामों में उर्दू ही काम में लाई जाती है तब एक और ज़बान का बोझ डालने से क्या लाभ? 'भाखा' में हिंदुओं की कथा-वार्ता आदि कहते सुन वे हिंदी को हिंदुओं की मज़हबी ज़बान कहने लगे थे। उनमें से कुछ लोग हिंदी को "गँवारी बोली" भी कहा करते थे। इस परिस्थिति में राजा शिवप्रसाद को हिंदी की रक्षा के लिये बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। हिंदी का सवाल जब आता तब मुसलमान उसे 'मुश्किल ज़बान' कहकर विरोध करते। अतः राजा साहब के लिये उस समय यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिंदी का आश्रय लिया जाय जिसमें कुछ फारसी-अरबी के चलते शब्द भी आएँ। उस

समय साहित्य के कोर्स के लिये पुस्तकें नहीं थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तकें तैयार करने में लग ही गए, पंडित श्रीलाल और पंडित वंशीधर आदि अपने कई मित्रों को भी उन्होंने पुस्तकें लिखने में लगाया। राजा साहब ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं—जैसे, राजा भोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों को कोड़ा, इत्यादि। संवत् १९०९ और १९१९ के बीच शिक्षा-संबंधी अनेक पुस्तकें हिंदी में निकलीं जिनमें से कुछ का उल्लेख किया जाता है—

पं० वंशीधर ने, जो आगरा नार्मल स्कूल के मुदर्रिस थे, हिंदी-उर्दू का एक पत्र निकाला था जिसके हिंदी कालम का नाम "भारत-खंडामृत" और उर्दू कालम का नाम "आबेहयात" था। उनकी लिखी पुस्तकों के नाम ये हैं—

(१) पुष्पवाटिका (गुलिस्ताँ के एक अंश का अनुवाद सं० १९०९)

(२) भारतवर्षीय इतिहास (सं० १९१३)

(३) जीविका-परिपाटी (अर्थशास्त्र की पुस्तक सं० १९१३)

(४) जगत वृत्तांत (सं० १९१५)

पं० श्रीलाल ने संवत् १९०९ में 'पत्रमालिका' बनाई। गार्साँ द तासी ने इन्हें कई एक पुस्तकों का लेखक कहा है।

बिहारीलाल ने गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का हिंदी-अनुवाद सं० १९१९ में किया।

पं० बद्रीलाल ने डाक्टर बैलंटाइन के परामर्श के अनुसार सं० १९१९ में 'हितोपदेश' का अनुवाद किया जिसमें बहुत सी कथाएँ छाँट दी गई थीं। उसी वर्ष 'सिद्धांत-संग्रह' (न्याय-शास्त्र) और 'उपदेश पुष्पवती' नाम की दो और पुस्तकें निकली थीं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ में राजा साहब ने जो पुस्तकें लिखीं वे बहुत ही चलती सरल हिंदी में थीं, उनमें वह उर्दूपन नहीं भरा था जो उनकी पिछली किताबों (इतिहास-तिमिरनाशक आदि) में दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये "राजा भोज का सपना" से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"वह कौन सा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया।"

अपने "मानवधर्मसार" की भाषा उन्होंने अधिक संस्कृत-गर्भित रखी है। इसका पता इस उद्धृत अंश से लगेगा—

"मनुस्मृति हिंदुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिंदू अप्रामाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनुजी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिये औषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्मशास्त्राचार्यों में मनुजी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्योंकि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदों का तात्पर्य लिखा है। × × × × × खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिंदू कहला के अपने मानव-धर्मशास्त्र को न जानें और सारे कार्य उसके विरुद्ध करें।"

"मानवधर्मसार" की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं। प्रारंभ काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे जिसमें सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबी-

फारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में, जो साहित्य की पाठ्य-पुस्तक थी, उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अँगरेज अधिकारियों का रुख देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे। जो हो; संवत् १९१७ के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। "इतिहासतिमिरनाशक" भाग २ की अँगरेजी भूमिका में, जो सन् १८६४ की लिखी है, राजा साहब ने साफ लिखा है कि "मैंने 'बैताल-पचीसी' की भाषा का अनुकरण किया है"—

"I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our household words, from our Hindi books and use in their stead Sanskrit words quite out of place and fashion or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population × × × I have adopted, to a certain extent, the language of the Baital Pachisi."

लल्लूलालजी के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि "बैताल-पचीसी" की भाषा बिल्कुल उर्दू है। राजा साहब ने अपने इस उर्दू वाले पिछले सिद्धांत का "भाषा का इतिहास" नामक जिस लेख में निरूपण किया है, वही उनकी उस समय की भाषा

का एक ख़ास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फ़हम और ख़ास-पसंद हों अर्थात् जिनको ज़ियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिम फ़ाज़िल, पंडित, विद्वान् की बोल-चाल में छोड़े नहीं गए हैं, और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिएँ और न संस्कृत की टकसाल क़ायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ; जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या कोई और ख़ास ज़रूरत साबित हो जाय।"

भाषा-संबंधी जिस सिद्धांत का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक है, पाठक आप समझ सकते हैं। 'आम-फ़हम' 'ख़ास-पसंद' 'इल्मी ज़रूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं हैं। फारसी के 'आलिम-फ़ाज़िल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हों पर संस्कृत हिंदी के 'पंडित विद्वान्' तो ऐसे शब्दों से कोसों दूर हैं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति-परंपरा से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप-रंग, आचार व्यवहार आदि का योग रहता है उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों के थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हज़ारों

वर्ष से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूप-रंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था। यह प्रकृति-विरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगों को होगी, पर असली हिंदी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मणसिंह ही आगे बढ़े। उन्होंने संवत् १९१८ में "प्रजाहितैषी" नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और १९१९ में "अभिज्ञान-शाकुंतल" का अनुवाद बहुत ही सरस और विशुद्ध हिंदी में प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँख खुली। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी—

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?"

यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिए हुए है। रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मणसिंहजी ने भाषा के संबंध में अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी, पारसी के शब्द भरे हों।"

अब भारत की देशभाषाओं के अध्ययन की ओर इँगलैंड के लोगों का भी ध्यान अच्छी तरह जा चुका था। उनमें जो अध्ययनशील और विवेकी थे, जो अखंड भारतीय साहित्य-परंपरा और भाषा-परंपरा से अभिज्ञ हो गए थे, उनपर अच्छी तरह प्रकट हो गया था कि उत्तरीय भारत की असली स्वाभाविक भाषा का स्वरूप क्या है। ऐसे अँगरेज विद्वानों में **फ्रेडरिक पिन्काट** का स्मरण हिंदी-प्रेमियों को सदा बनाए रखना चाहिए। इनका जन्म संवत् १८९३ में इँगलैंड में हुआ। उन्होंने प्रेस के कामों का बहुत अच्छा अनुभव प्राप्त किया और अंत में लंडन की प्रसिद्ध ऐलन ऐंड कंपनी (W. H. Allen & Co., 13 Waterloo Place, Pall Mall S. W.) के विशाल छापेखाने के मैनेजर हुए। वहीं वे अपने जीवन के अंतिम दिनों के कुछ पहले तक शांतिपूर्वक रहकर भारतीय साहित्य और भारतीय जनहित के लिये बराबर उद्योग करते रहे।

संस्कृत की चर्चा पिन्काट साहब लड़कपन से ही सुनते आते थे, इससे उन्होंने बहुत परिश्रम के साथ उसका अध्ययन किया। इसके उपरांत उन्होंने हिंदी और उर्दू का अभ्यास किया। इँगलैंड में बैठे ही बैठे उन्होंने इन दोनों भाषाओं पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया कि इनमें लेख और पुस्तकें लिखने और अपने प्रेस में छपाने लगे। यद्यपि उन्होंने उर्दू का भी अच्छा अभ्यास किया था, पर उन्हें इस बात का अच्छी तरह निश्चय हो गया था कि यहाँ की परंपरागत प्रकृत भाषा हिंदी है, अतः जीवन भर ये उसी की सेवा और हित-साधना में तत्पर रहे। उनके हिंदी लेखों, कविताओं और पुस्तकों की चर्चा आगे चल कर भारतेंदु-काल के भीतर की जायगी।

संवत् १९४७ में उन्होंने उपर्युक्त ऐलन कंपनी से संबंध तोड़ा और गिलबर्ट ऐंड रिविंगटन (Gilbert aud Rivington,

Clerkenwell, London) नामक विख्यात व्यवसाय-कार्यालय में पूर्वीय मंत्री (Oriental adviser and expert) नियुक्त हुए। उक्त कंपनी की ओर से एक व्यापारी पत्र "आईनः सौदागरी" उर्दू में निकलता था जिसका संपादन पिन्काट साहब करते थे। उन्होंने उसमें कुछ पृष्ठ हिंदी के लिये भी रखे। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी के लेख वे ही लिखते थे। लेखों के अतिरिक्त हिंदुस्तान में प्रकाशित होनेवाले हिंदी-समाचारपत्रों (जैसे, हिंदोस्तान, आर्य्यदर्पण, भारतमित्र) से उद्धरण भी उस पत्र के हिंदी-विभाग में रहते थे।

भारत का हित वे सच्चे हृदय से चाहते थे। राजा लक्ष्मण सिंह, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, कार्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि हिंदी-लेखकों से उनका बराबर हिंदी में पत्र-व्यवहार रहता था। उस समय के प्रत्येक हिंदी-लेखक के घर में पिन्काट साहब के दो-चार पत्र मिलेंगे। हिंदी के लेखकों और ग्रंथकारों का परिचय इँगलैंडवालों को वहाँ के पत्रों में लेख लिखकर वे बराबर दिया करते थे। संवत् १९५७ (नवंबर सन् १८९५) में वे रीआ घास (जिसके रेशों से अच्छे कपड़े बनते थे) की खेती का प्रचार करने हिंदुस्तान में आए, पर साल भर से कुछ ऊपर ही यहाँ रह पाए थे कि लखनऊ में उनका देहांत (७ फरवरी १८९६) हो गया। उनका शरीर भारत की मिट्टी में ही मिला।

संवत् १९१९ में जब राजा लक्ष्मणसिंह ने 'शकुंतला नाटक' लिखा तब उसकी भाषा देख वे बहुत ही प्रसन्न हुए और उसका एक बहुत सुंदर परिचय उन्होंने लिखा। बात यह थी कि यहाँ के निवासियों पर विदेशी प्रकृति और रूप-रंग की भाषा का लादा जाना वे बहुत अनुचित समझते थे। अपना यह विचार उन्होंने अपने उस अँगरेजी लेख में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है

जो उन्होंने बा० अयोध्याप्रसाद खत्री के "खड़ी बोली का पद्य" की भूमिका के रूप में लिखा था। देखिए, उसमें वे क्या कहते हैं—

"फारसी-मिश्रित हिंदी (अर्थात् उर्दू या हिंदुस्तानी) के अदालती भाषा बनाए जाने के कारण उसकी बड़ी उन्नति हुई। इससे साहित्य की एक नई भाषा ही खड़ी हो गई। पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी, जिनकी यह भाषा कही जाती है, इसे एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिये विवश किए जाते हैं।"

पहले कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठ्यपुस्तक "गुटका" में भाषा का आदर्श हिंदी ही रखा। उक्त गुटका में उन्होंने 'राजा भोज का सपना', 'रानी केतकी की कहानी' के साथ ही साथ राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुंतला नाटक" का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् १९२४ में प्रकाशित हुआ था।

संवत १९१९ और १९२४ के बीच कई संवादपत्र हिंदी में निकले। 'प्रजाहितैषी' का उल्लेख हो चुका है। संवत १९२० में 'लोकमित्र' नाम का एक पत्र ईसाई धर्म प्रचार के लिये आगरे (सिकंदरे) से निकलता था जिसकी भाषा शुद्ध हिंदी होती थी। लखनऊ से जो "अवध अखबार" (उर्दू) निकलने लगा था उसके कुछ भाग में हिंदी के लेख भी रहते थे।

जिस प्रकार इधर संयुक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद शिक्षा-विभाग में रहकर हिंदी की किसी न किसी रूप में रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय महाशय कर रहे थे। संवत १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न भिन्न विषयों की बहुत सी हिंदी-पुस्तकें तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं। ये पुस्तकें बहुत दिनों तक वहाँ कोर्स में रहीं। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का प्रचार करनेवालों में ये मुख्य थे।

शिक्षा-प्रचार के साथ साथ समाज-सुधार आदि के उद्योग में भी ये बराबर रहा करते थे। ईसाइयों के प्रभाव को रोकने के लिये किस प्रकार बंगाल में ब्रह्म-समाज की स्थापना हुई थी और राजा राममोहन राय ने हिंदी के द्वारा भी उसके प्रचार की व्यवस्था की थी, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। नवीनचंद्र ने ब्रह्म-समाज के सिद्धांतों के प्रचार के उद्देश्य से समय समय पर कई पत्रिकाएँ भी निकालीं। संवत् १९२४ (मार्च सन् १८६७) में उनकी 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' निकली जिसमें शिक्षा-संबंधी तथा साधारण ज्ञान-विज्ञानपूर्ण लेख भी रहा करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा-विभाग द्वारा जिस हिंदी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए वह शुद्ध हिंदी-गद्य था। हिंदी को उर्दू के झमेले में पड़ने से ये सदा बचाते रहे।

हिंदी की रक्षा के लिये उन्हें उर्दू के पक्ष-पातियों से उसी प्रकार लड़ना पड़ता था जिस प्रकार यहाँ राजा शिवप्रसाद को। विद्या की उन्नति के लिये लाहौर में 'अंजुमन लाहौर' नाम की एक सभा स्थापित थी। संवत् १९२३ के उसके एक अधिवेशन में किसी सैयद हादी हुसैन खाँ ने एक व्याख्यान दे कर उर्दू को ही देश में प्रचलित होने के योग्य कहा। उस सभा की दूसरी बैठक में नवीन बाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का पूरा खंडन करते हुए कहा—

"उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी-फ़ारसी के शब्द भर दिए हैं। पद्य या छंदोबद्ध रचना के भी उर्दू उपयुक्त नहीं। हिंदुओं का यह कर्तव्य है कि वे अपनी परंपरागत भाषा की उन्नति करते चलें। उर्दू में आशिकी कविता के अतिरिक्त किसी गंभीर विषय को व्यक्त करने की शक्ति ही नहीं है।"

नवीन बाबू के इस व्याख्यान की खबर पाकर इसलामी तहज़ीब के पुराने हामी, हिंदी के पक्के दुश्मन गार्सां द तासी फ्रांस में बैठे बैठे बहुत झल्लाए और अपने एक प्रवचन में उन्होंने बड़े जोश के साथ हिंदी का विरोध और उर्दू का पक्ष-मंडन किया तथा नवीन बाबू को कट्टर हिंदू कहा। अब यह फरासीसी हिंदी से इतना चिढ़ने लगा था कि उसके मूल पर ही उसने कुठार चलाना चाहा और बीम्स साहब (M. Beames) का हवाला देते हुए कह डाला कि हिंदी तो एक तूरानी भाषा थी जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी; आर्यों ने आकर उसका नाश किया, और जो बचे-खुचे शब्द रह गए उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला। इसी प्रकार जब जहाँ कहीं हिंदी का नाम लिया जाता तब तासी बड़े बुरे ढंग से विरोध में कुछ न कुछ इसी तरह की बातें कहता।

सर सैयद अहमद का अँगरेज़ अधिकारियों पर कितना प्रभाव था, यह पहले कहा जा चुका है। संवत् १९२५ में इस प्रांत के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष हैवेल (M. S. Havell) साहब ने अपनी यह राय ज़ाहिर की कि—

"यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी 'बोली' में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

इस राय को गार्सां द तासी ने बड़ी खुशी के साथ अपने प्रवचन में शामिल किया। इसी प्रकार इलाहाबाद इंस्टिट्यूट (Allahabad Institute) के एक अधिवेशन में (सं० १९२५) जब यह विवाद हुआ था कि 'देसी ज़बान' हिंदी को मानें या उर्दू को, तब हिंदी के पक्ष में कई वक्ता उठकर बोले थे। उन्होंने कहा था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का फल यह हुआ है कि अधिकांश जनता—विशेषतः गाँवों की—जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित

है, बहुत कष्ट उठाती है, इससे हिंदी का जारी होना बहुत आवश्यक है। बोलनेवालों में से किसी किसी ने कहा कि केवल अक्षर *नागरी* के रहें और कुछ लोगों ने कहा कि भाषा भी बदल कर सीधी सादी की जाय। इस पर भी गार्सां द तासी ने हिंदी के पक्ष में बोलनेवालों का उपहास किया था।

उसी काल में इंडियन डेली न्यूज़ (Indian Daily News) के एक लेख में हिंदी प्रचलित किए जाने की आवश्यकता दिखाई गई थी। उसका भी जवाब देने तासी साहब खड़े हुए थे। 'अवध-अख़बार' में जब एक बार हिंदी के पक्ष में लेख छपा था तब भी उन्होंने उसके संपादक की राय का ज़िक्र करते हुए हिंदी को एक 'भद्दी बोली' कहा था जिसके अक्षर भी देखने में सुडौल नहीं लगते।

शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये मत-मतांतर-संबंधी आंदोलन देश के पच्छिमी भागों में भी चल पड़े। पैगंबरी एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगों को खिंचते देख स्वामी दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् १९२० से उन्होंने अनेक नगरों में घूम घूम कर व्याख्यान देना आरंभ किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश में बहुत दूर तक प्रचलित साधु हिंदी भाषा में ही होते थे। स्वामीजी ने अपना "सत्यार्थ-प्रकाश" तो हिंदी या आर्य्यभाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत और हिंदी दोनों में किए। स्वामीजी के अनुयायी हिंदी को "आर्य्यभाषा" कहते थे। स्वामीजी ने संवत् १९३२ में आर्य्यसमाज की स्थापना की और सब आर्य्य-समाजियों के लिये हिंदी या आर्य्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। युक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्य्य-समाज के प्रभाव से हिंदी-गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली में लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क से

पंजाबवालों की लिखने-पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। आज जो पंजाब में हिंदी की पूरी चर्चा सुनाई देती है, इन्हीं की बदौलत है।

संवत् १९२० के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई। जलंधर के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानों के प्रभाव से कपूरथला-नरेश महाराज रणधीरसिंह ईसाई मत की ओर झुक रहे थे। पंडित श्रद्धारामजी तुरंत संवत् १९२० में कपूरथले पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रमधर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पंजाब के सब छोटे-बड़े स्थानों में घूम-कर पंडित श्रद्धारामजी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। उनकी कथाएँ सुनने के लिये बहुत दूर दूर से लोग आते और सहस्रों आदमियों की भीड़ लगती थी। उनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और उनकी भाषा बहुत जोरदार होती थी। स्थान स्थान पर उन्होंने धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। उन्होंने पंजाबी और उर्दू में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं, पर अपनी मुख्य पुस्तकें हिंदी में ही लिखी हैं। अपना सिद्धांत-ग्रंथ "सत्यामृतप्रवाह" उन्होंने बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा है। वे बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेद-शास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातों का विरोध वे बराबर करते रहे। यद्यपि वे बहुत सी ऐसी बातें कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंधविश्वासियों को खटक जाती थीं और कुछ लोग उन्हें नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक वे जीवित रहे, सारे पंजाब के हिंदू उन्हें धर्म का स्तंभ समझते रहे।

पंडित श्रद्धारामजी कुछ पद्यरचना भी करते थे। हिंदी-गद्य में तो उन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिंदी भाषा के प्रचार में

बराबर लगे रहे। संवत् १९२४ में उन्होंने "आत्म-चिकित्सा" नाम की एक अध्यात्म-संबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् १९२८ में हिंदी में अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे 'तत्त्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश-संग्रह' (व्याख्यानों का संग्रह), 'शतोपदेश' (दोहे) इत्यादि धर्म-संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने अपना एक बड़ा जीवनचरित (१४०० पृष्ठ के लगभग) लिखा था जो कहीं खो गया। "भाग्यवती" नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १९३४ में उन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

अपने समय के वे एक सच्चे हिंदी-हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। संवत् १९३८ में उनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि "भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जायगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था।

राजा शिवप्रसाद "आम फ़हम" और "ख़ास पसंद" भाषा का उपदेश ही देते रहे, उधर हिंदी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात में धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिंदी गद्य की भाषा किस दिशा की ओर स्वभावतः जाना चाहती है, इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओं का साहित्य चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अतः गद्य के नवीन विकास में उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था? जब कि बँगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिंदी-गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता? सामान्य संबंध-सूत्र को त्यागकर दूसरी

देश-भाषाओं से अपना नाता हिंदी कैसे तोड़ सकती थी ? उनकी सगी बहिन होकर एक अजनबी के रूप में उनके साथ वह कैसे चल सकती थी ? जब कि यूनानी और लैटिन के शब्द योरप की भिन्न भिन्न मूलों से निकली हुई देश-भाषाओं के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य्य-भाषाओं के बीच उस मूल भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंध-सूत्र के रूप में चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

कुछ अँगरेज़ विद्वान् संस्कृतगर्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिये किसी अँगरेज़ी वाक्य में उसी मात्रा में लैटिन के शब्द भर कर पेश करते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि अँगरेज़ी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है; पर हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं—उसी के प्राकृत रूपों से निकली हैं। इन आर्य्यभाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत-साहित्य की परंपरा का विस्तार कह सकते हैं। देश-भाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की इस धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी ?

राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।

आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा का प्रवर्त्तन

प्रथम उत्थान

(संवत् १९२५—१९५०)

सामान्य परिचय

भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी-गद्य के प्रवर्त्तक माने गए। मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्य-विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी, पर आगरे की बोल-चाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट-सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु हरिश्चद्र ने पद्य की ब्रज-भाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर काव्य-भाषा में भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफ़ाई लाए।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाज-हित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढँग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच बीच में कुछ शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य-निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंग देश में नए ढँग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिंदी-साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाले हरिश्चंद्र ही हुए।

उर्दू के कारण अब तक हिंदी-गद्य की भाषा का स्वरूप ही झंझट में पड़ा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप में था। जब भारतेंदु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाए तब हिंदी बोलनेवाली जनता को गद्य के लिये खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव-काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर जब साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की

व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं। भारतेंदु के प्रभाव से उनके अल्प जीवन-काल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल तैयार हो गया जिसके भीतर पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं। इन लेखकों की शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेंदु में ही हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की दूसरी। भावावेश के कथनों में वाक्य प्रायः बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोलचाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित अरबी-फारसी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। जहाँ किसी ऐसे प्रकृतिस्थ भाव की व्यंजना होती है जो चिंतन का अवकाश भी बीच बीच में छोड़ता है, वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर होती है; वाक्य भी कुछ लंबे होते हैं, पर उनका अन्वय जटिल नहीं होता। तथ्य-निरूपण या सिद्धांत-कथन के भीतर संस्कृत शब्दों का कुछ अधिक मेल दिखाई पड़ता है। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की है। वस्तु-वर्णन या दृश्य-वर्णन में विषयानुकूल मधुर या कठोर वर्णवाले संस्कृत शब्दों की योजना की, जो प्रायः समस्त और सानुप्रास होती है, चाल सी चली आई है। भारतेंदु में यह प्रवृत्ति हम सामान्यतः नहीं पाते।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अतः उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छंद गति से, बोलचाल की चपलता और भावभंगी लिए चलती है। हास्य-विनोद की उमंग में वह कभी कभी मर्य्यादा का अतिक्रमण करती, पूरबी कहावतों और मुहावरों की बौछार छोड़ती भी चलती है। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के लेखों में गद्य-काव्य के पुराने ढंग

की झलक, रंगीन इबारत की चमक-दमक बहुत कुछ मिलती है। बहुत से वाक्य-खंडों की लड़ियों से गुथे हुए उनके वाक्य अत्यंत लंबे होते थे—इतने लंबे कि उनका अन्वय कठिन होता था। पद-विन्यास में, तथा कहीं कहीं वाक्य के बीच विराम-स्थलों पर भी, अनुप्रास देख इंशा और लल्लूलाल का स्मरण होता है। इस दृष्टि से देखें तो 'प्रेमघन' में पुरानी परंपरा का निर्वाह अधिक दिखाई पड़ता है।

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी होती थी जैसी खरी खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है वे विशेष मनोरंजक हैं। नूतन और पुरातन का वह संघर्ष-काल था इससे भट्टजी को चिढ़ने की पर्याप्त सामग्री मिल जाया करती थी। समय के प्रतिकूल पुराने बद्धमूल विचारों को उखाड़ने और परिस्थिति के अनुकूल नए विचारों को जमाने में उनकी लेखनी सदा तत्पर रहती थी। भाषा उनकी चरपरी, तीखी और चमत्कारपूर्ण होती थी।

ठाकुर जगमोहनसिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती जुलती है पर उसमें लंबे लंबे वाक्यों की वह जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंगस्थलियों को मार्मिक ढंग से हृदय में जमानेवाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।

हरिश्चंद्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी। संस्कृत के ऐसे ही शब्दों और रूपों का व्यवहार वे करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं। जिन शब्दों या उनके जिन रूपों से केवल संस्कृताभ्यासी ही परिचित होते हैं और जो भाषा के प्रवाह के साथ ठीक चलते नहीं, उनका प्रयोग वे बहुत औचट में पड़कर ही करते थे।

उनकी लिखावट में न 'उड्डीयमान' और 'अवसाद' ऐसे शब्द मिलते हैं, न 'औदार्य्य', 'सौकर्य्य', और 'मौर्ख्य' ऐसे रूप।

भारतेंदु के समय में ही देश के कोने कोने में हिंदी-लेखक तैयार हुए जो उनके निधन के उपरांत भी बराबर साहित्य-सेवा में लगे रहे। अपने अपने विषय-क्षेत्र के अनुकूल रूप हिंदी को देने में सबका हाथ रहा। धर्म-संबंधी विषयों पर लिखने-वालों (जैसे, पं० अंबिकादत्त व्यास) ने शास्त्रीय विषयों को व्यक्त करने में, संवादपत्रों ने राजनीतिक बातों को सफाई के साथ सामने रखने में हिंदी को लगाया। सारांश यह कि उस काल में हिंदी का शुद्ध साहित्योपयोगी रूप ही नहीं, व्यवहारोपयोगी रूप भी निखरा।

यहाँ तक तो भाषा और शैली की बात हुई। अब लेखकों का दृष्टि-क्षेत्र और उनका मानसिक अवस्थान लीजिए। हरिश्चंद्र तथा उनके सम-सामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिंदःदिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी या बहुत पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह भाषा पर अधिकार रखनेवाले पर झंझटों से दबे हुए स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमें वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग नहीं पाई जाती जो हरिश्चंद्र-मंडल के लेखकों में दिखाई पड़ती है। शिक्षित समाज में संचरित भावों को भारतेंदु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप में ग्रहण किया।

सबसे बड़ी बात स्मरण रखने की यह है कि उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा पूरा बना था। भिन्न भिन्न ऋतुओं में पड़ने-वाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते थे, परंपरा से चले आते हुए आमोद-प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता

लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता। काल की गति वे देखते थे, सुधार के मार्ग भी उन्हें सूझते थे, पर पश्चिम की एक एक बात के अभिनय को ही वे उन्नति का पर्य्याय नहीं समझते थे। प्राचीन और नवीन के संधि-स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु।

विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य की परंपरा का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ। भारतेंदु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनंदरघुनंदन नाटक' को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चंद्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर नाटक' का बँगला से सुंदर हिंदी में अनुवाद करके संवत् १९२५ में प्रकाशित किया। उसके पहले वे 'प्रवास नाटक' लिख रहे थे, पर वह पूरा न हुआ। उन्होंने आगे चलकर भी अधिकतर नाटक ही लिखे। पं० प्रतापनारायण और बदरीनारायण चौधरी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेंदु के समय में धूम से चली हुई नाटकों की यह परंपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई। बा० रामकृष्ण वर्मा वंगभाषा के नाटकों का—जैसे वीर नारी, पद्मावती, कृष्णकुमारी—अनुवाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। इस उदासीनता का कारण उपन्यासों की ओर दिन दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनय शालाओं का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रचार होता

है। नाटक दृश्य काव्य हैं। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलंबित रहता है। उस समय नाटक खेलनेवाली जो व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं वे उर्दू छोड़ हिंदी नाटक खेलने को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिंदी-प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था ?

भारतेंदुजी, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी उद्योग करके अभिनय का प्रबंध किया करते थे और कभी कभी स्वयं भी पार्ट लेते थे। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल नाटक' का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेंदुजी ने पार्ट लिया था। यह अभिनय देखने काशी-नरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह भी पधारे थे और इसका विवरण ८ मई १८६८ के इंडियन मेल (Indian Mail) में प्रकाशित हुआ था। प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से अभिनय के लिये मूँछ मुँड़ाने की आज्ञा माँगना प्रसिद्ध ही है।

'काश्मीरकुसुम' (राजतरंगिणी का कुछ अंश) और 'बादशाहदर्पण' लिखकर इतिहास की पुस्तकों की ओर और जयदेव का जीवनवृत्त लिखकर जीवनचरित की पुस्तकों की ओर भी हरिश्चंद्र ध्यान ले गए पर उस समय इन विषयों की ओर लेखकों की प्रवृत्ति न दिखाई पड़ी।

पुस्तक-रचना के अतिरिक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित अनेक प्रकार के फुटकल लेख और निबंध अनेक विषयों पर मिलते हैं, जैसे, राजनीति, समाजदशा, देशदशा, ऋतु-छटा, पर्व-त्योहार, जीवनचरित, ऐतिहासिक प्रसंग, जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषय (जैसे, आत्म-निर्भरता, मनोयोग, कल्पना)। लेखों और निबंधों की अनेकरूपता को देखते उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। समाजदशा और देशदशा-संबंधी लेख कुछ विचारात्मक पर अधिकांश में भावा-

त्मक मिलेंगे। जीवन-चरितों और ऐतिहासिक प्रसंगों में इतिवृत्त के साथ भाव-व्यंजना भी गुंफित पाई जायगी। ऋतु-छटा और पर्व-त्योहारों पर अलंकृत भाषा में वर्णनात्मक प्रबंध सामने आते हैं। जगत् और जीवन से संबंध रखनेवाले सामान्य विषयों के निरूपण में विरल विचार-खंड कुछ उक्ति-वैचित्र्य के साथ बिखरे मिलेंगे। पर शैली की व्यक्तिगत विशेषताएँ थोड़ी बहुत सब लेखकों में पाई जायँगी।

जैसा कि कहा जा चुका है हास्य-विनोद की प्रवृत्ति इस काल के प्रायः सब लेखकों में थी। प्राचीन और नवीन के संघर्ष के कारण उन्हें हास्य के आलंबन दोनों पक्षों में मिलते थे। जिस प्रकार बात बात में बाप-दादों की दुहाई देनेवाले, धर्म के आडंबर की आड़ में दुराचार छिपानेवाले पुराने खूसट उनके विनोद के लक्ष्य थे, उसी प्रकार पच्छिमी चाल-ढाल की ओर मुँह के बल गिरनेवाले फैशन के ग़ुलाम भी।

नाटकों और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंगभाषा की देखा-देखी नए ढंग के उपन्यासों की ओर भी ध्यान जा चुका था। अँगरेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिंदू' और पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' नामक छोटे छोटे उपन्यास लिखे। उस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए। हरिश्चंद्र ने ही अपने पिछले जीवन में बंगभाषा के एक उपन्यास के अनुवाद में हाथ लगाया था, पर पूरा न कर सके थे। पर उनके समय में ही प्रताप-नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी ने कई उपन्यासों के

अनुवाद किए। तदनंतर बा० गदाधरसिंह ने वंग-विजेता और दुर्गेशनंदिनी का अनुवाद किया। संस्कृत की कादंबरी की कथा भी उन्होंने बँगला के आधार पर लिखी। पीछे तो बा० राधाकृष्णदास, बा० कार्तिकप्रसाद खत्री, बा० रामकृष्ण वर्मा आदि ने बँगला के उपन्यासों के अनुवाद की जो परंपरा चलाई वह बहुत दिनों तक चलती रही। इन उपन्यासों में देश के सर्व-सामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।

प्रथम उत्थान के अंत होते होते तो अनूदित उपन्यासों का ताँता बँध गया। पर पिछले अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था। अधिकांश अनुवादक प्रायः भाषा को ठीक हिंदी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं कहीं तो बँगला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे—जैसे, "काँदना", "सिहरना", "धू धू करके आग जलना", "छल छल आँसू गिरना" इत्यादि। इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।

हिंदी-गद्य की सर्वतोमुखी गति का अनुमान इसी से हो सकता है कि पचीसों पत्र-पत्रिकाएँ हरिश्चंद्र के ही जीवन-काल में निकलीं जिनके नाम नीचे दिए जाते हैं—

१ अलमोड़ा अखबार (संवत् १९२८ ; संपादक पं० सदानंद सलवाल)

२ हिंदी-दीप्ति-प्रकाश (कलकत्ता ; १९२९; सं० कार्त्तिक-प्रसाद खत्री)

३ बिहार-बंधु (१९२९; केशवराम भट्ट)

४ सदादर्श (दिल्ली १९३१; ला० श्रीनिवास दास)

५ काशी-पत्रिका (१९३३; बा० कलेश्वरप्रसाद बी० ए०, शिक्षा-संबंधी मासिक)

६ भारत-बंधु (१९३३; तोताराम; अलीगढ़)।

७ भारत-मित्र (कलकत्ता सं० १९३४; रुद्रदत्त)

८ मित्र-विलास (लाहौर १९३४; कन्हैयालाल)

९ हिंदी-प्रदीप (प्रयाग १९३४; पं० बालकृष्ण भट्ट; मासिक)

१० आर्य-दर्पण (शाहजहाँपुर १९३४; मुं० बख्तावर सिंह)

११ सार-सुधानिधि (कलकत्ता १९३५; सदानंद मिश्र)

१२ उचितवक्ता (कलकत्ता १९३५; दुर्गाप्रसाद मिश्र)

१३ सज्जन-कीर्ति-सुधाकर (उदयपुर १९३६; वंशीधर)

१४ भारत-सुदशाप्रवर्त्तक (फर्रुखाबाद १९३६; गणेशप्रसाद)

१५ आनंद-कादंबिनी (मिरजापुर १९३८; उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी; मासिक)

१६ देश-हितैषी (अजमेर १९३९)

१७ दिनकर-प्रकाश (लखनऊ १९४०; रामदास वर्मा)

१८ धर्म-दिवाकर (कलकत्ता १९४०; देवीसहाय)

१९ प्रयाग-समाचार (१९४०; देवकीनंदन त्रिपाठी)

२० ब्राह्मण (कानपुर १९४०; प्रतापनारायण मिश्र)।

२१ शुभचिंतक (जबलपुर १९४०; सीताराम)

२२ सदाचार-मार्त्तंड (जयपुर १९४०; लालचंद शास्त्री)

२३ हिंदोस्थान (इँगलैंड १९४०; राजा रामपालसिंह, दैनिक)

२४ पीयूष-प्रवाह (काशी १९४१; अंबिकादत्त व्यास)

२५ भारत-जीवन (काशी १९४१; रामकृष्ण वर्मा)

२६ भारतेंदु (वृंदावन १९४१; राधाचरण गोस्वामी)

२७ कविकुलकंज-दिवाकर (बस्ती १९४१; रामनाथ शुक्ल)

इनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ तो थोड़े ही दिन चलकर बंद हो गईं, पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहित-

साधन और हिंदी की सेवा की हैं, जैसे—विहारबंधु, भारतमित्र, भारतजीवन, उचितवक्ता, दैनिक हिंदोस्थान, आर्य्यदर्पण, ब्राह्मण, हिंदीप्रदीप। 'मित्र-विलास' सनातनधर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब में हिंदी-प्रचार का बहुत कुछ कार्य किया था। 'ब्राह्मण', 'हिंदी-प्रदीप' और 'आनंद-कादंबिनी' साहित्यिक पत्र थे जिनमें बहुत सुंदर मौलिक गद्य-प्रबंध और कविताएँ निकला करती थीं। इन पत्र-पत्रिकाओं को बराबर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। 'हिंदी-प्रदीप' को कई बार बंद होना पड़ा था। 'ब्राह्मण' संपादक पं० प्रतापनारायण मिश्र को ग्राहकों से चंदा माँगते माँगते थक कर कभी कभी पत्र में इस प्रकार याचना करनी पड़ती थी—

आठ मास बीते, जजमान!
अब तौ करौ दच्छिना-दान॥

बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री ने हिंदी संवादपत्रों के प्रचार के लिये बहुत उद्योग किया था। उन्होंने संवत् १९२८ में "हिंदी-दीप्ति-प्रकाश" नाम का एक संवादपत्र और "प्रेम-विलासिनी" नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिंदी-संवादपत्र पढ़नेवाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिये बाबू कार्त्तिकप्रसाद ने बहुत दौड़धूप की थी। लोगों के घर जा जाकर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोड़े दिन चलकर बंद हो गया। संवत् १९३४ तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था। अतः संवत् १९३४ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र, पंडित सदानंद मिश्र और बाबू जगन्नाथ खन्ना के उद्योग से कलकत्ते में "भारतमित्र कमेटी" बनी और "भारतमित्र" पत्र बड़ी धूमधाम से निकला जो बहुत दिनों तक हिंदी-संवादपत्रों में एक ऊँचा स्थान ग्रहण किए रहा। प्रारंभ काल में जब पंडित

छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तब भारतेंदुजी भी कभी कभी इसमें लेख दिया करते थे।

उसी संवत् में लाहौर से "मित्र-विलास" नामक पत्र पंडित गोपीनाथ के उत्साह से निकला। इसके पहले पंजाब में कोई हिंदी का पत्र न था। केवल "ज्ञानप्रदायिनी" नाम की एक पत्रिका उर्दू-हिंदी में बाबू नवीनचंद्र द्वारा निकलती थी जिसमें शिक्षा और सुधार-संबंधी लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मोमत की बातें रहा करती थीं। उसके पीछे जो "हिंदू-बांधव" निकला उसमें भी उर्दू और हिंदी दोनों रहती थीं। केवल हिंदी का एक भी पत्र न था। 'कवि-वचन-सुधा' की मनोहर लेखशैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही पंडित गोपीनाथ ने 'मित्र-विलास' निकाला था, जिसकी भाषा बहुत सुष्ठु और ओजस्विनी होती थी। भारतेंदु के गोलोकवास पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में इस पत्र ने शोक-प्रकाश किया था और उनके नाम का संवत् चलाने का आंदोलन उठाया था।

इसके उपरांत संवत् १९३५ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के संपादन में "उचितवक्ता" और पंडित सदानंद मिश्र के संपादन में "सारसुधानिधि" ये दो पत्र कलकत्ते से निकले। इन दोनों महाशयों ने बड़े समय पर हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्त्ति में योग दिया था। पीछे कालाकाँकर के मनस्वी और देशभक्त राजा रामपालसिंहजी अपनी मातृभाषा की सेवा के लिये खड़े हुए और संवत् १९४० में उन्होंने 'हिंदोस्थान' नामक पत्र इँगलैंड से निकाला जिसमें हिंदी और अँगरेजी दोनों रहती थीं। भारतेंदु के गोलोकवास के पीछे संवत १९४२ में यह हिंदी-दैनिक के रूप में निकला और बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके संपादकों में देशपूज्य पंडित मदनमोहन मालवीय, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त ऐसे लोग रह चुके हैं।

बाबू हरिश्चंद्र के जीवनकाल में ही अर्थात् मार्च सन् १८८४ ई० में बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ने काशी से "भारत-जीवन" पत्र निकाला। इस पत्र का नामकरण भारतेंदुजी ने ही किया था।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म काशी के एक संपन्न वैश्य-कुल में भाद्र शुक्ल ५ सं० १९०७ को और मृत्यु ३५ वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ को हुई।

संवत् १९२२ में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथजी गए। उसी यात्रा में उनका परिचय बंग देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बँगला में नए ढंग के सामाजिक, देश-देशांतर-संबंधी, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया। संवत् १९२५ में उन्होंने 'विद्या-सुंदर नाटक' बँगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इस अनुवाद में ही उन्होंने हिंदी-गद्य के बहुत ही सुडौल रूप का आभास दिया। इसी वर्ष उन्होंने "कविवचनसुधा" नाम की एक पत्रिका निकाली जिसमें पहले पुराने कवियों की कविताएँ छपा करती थीं पर पीछे गद्य-लेख भी रहने लगे। संवत् १९३० में उन्होंने "हरिश्चंद्र मैगज़ीन" नाम की मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के उपरांत "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" हो गया। हिंदीगद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी "चंद्रिका" में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने "कालचक्र" नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिंदी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०"।

इस "हरिश्चंद्री हिंदी" के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे। 'चंद्रिका' में भारतेंदुजी आप तो लिखते ही थे, बहुत से और लेखक भी उन्होंने उत्साह दे देकर तैयार कर लिए थे। स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी बाबू हरिश्चंद्र के संपादन-कौशल की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। बड़ी तेज़ी के साथ वे चंद्रिका के लिये लेख और नोट लिखते और मैटर को बड़े ढंग से सजाते थे। हिंदी गद्य-साहित्य के इस आरंभ-काल में ध्यान देने की बात यह है कि उस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक थे उनमें विदग्धता और मौलिकता थी और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचाननेवाले थे। बँगला, मराठी, उर्दू, अँगरेज़ी के अनुवाद का वह तूफ़ान जो पचीस तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही संकट में पड़ गया था, उस समय नहीं था। उस समय ऐसे लेखक न थे जो बँगला की पदावली और वाक्य ज्यों के त्यों रखते हों या अँगरेज़ी वाक्यों और मुहावरों का शब्द प्रति शब्द अनुवाद करके हिंदी लिखने का दावा करते हों। उस समय की हिंदी में न 'दिक् दिक् अशांति' थी, न 'काँदना सिहरना और छल छल अश्रुपात'; न 'जीवन-होड़' और 'कवि का संदेश' था, न "भाग लेना और स्वार्थ लेना"।

मैगज़ीन में प्रकाशित हरिश्चंद्र का "पाँचवें पैगंबर", मुंशी ज्वालाप्रसाद का "कलिराज की सभा", बाबू तोताराम का "अद्भुत अपूर्व स्वप्न", बा० कार्त्तिकप्रसाद का "रेल का विकट खेल" आदि लेख बहुत दिनों तक लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। संवत् १९३१ में भारतेंदुजी ने स्त्रीशिक्षा के लिये "बालाबोधिनी" निकाली थी। इस प्रकार उन्होंने तीन पत्रिकाएँ निकालीं। इसके पहले ही संवत् १९३० में उन्होंने अपना पहला मौलिक

नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का प्रहसन लिखा, जिसमें धर्म और उपासना के नाम से समाज में प्रचलित अनेक अनाचारों का जघन्य रूप दिखाते हुए उन्होंने राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य करके खुशामदियों और केवल अपनी मानवृद्धि की फ़िक्र में रहनेवालों पर भी छींटे छोड़े। भारत के प्रेम में मतवाले, देशहित की चिंता में व्यग्र, हरिश्चंद्रजी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझे जाते थे।

गद्य-रचना के अंतर्गत भारतेंदु का ध्यान पहले नाटकों की ओर ही गया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि हिंदी में मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे गए थे--महाराज विश्वनाथ सिंह का "आनंद-रघुनंदन-नाटक" और बाबू गोपालचंद का "नहुष नाटक"। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों ब्रजभाषा में थे। भारतेंदु-प्रणीत नाटक ये हैं—

(मौलिक)

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विषमौषधम, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेम-जोगिनी, सती-प्रताप (अधूरा)।

(अनुवाद)

विद्यासुंदर, पाखंड-विडंबन, धनंजय-विजय, कर्पूरमंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र, भारतजननी।

'सत्य हरिश्चंद्र' मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बँगला-नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है। कहते हैं कि 'भारत-जननी' उनके एक मित्र का किया हुआ बंगभाषा में लिखित 'भारतमाता' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते सुधारते सारा फिर से लिख डाला।

भारतेंदु के नाटकों में सब से पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि उन्होंने सामग्री जीवन के कई क्षेत्रों से ली है। 'चंद्रावली' में प्रेम का आदर्श है। 'नीलदेवी' पंजाब के एक हिंदू राजा पर मुसलमानों की चढ़ाई का ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखा गया है। 'भारत दुर्दशा' में देश-दशा बहुत ही मनोरंजक ढंग से सामने लाई गई है। 'विषस्य विषमौषधम्' देशी रजवाड़ों की कुचक्रपूर्ण परिस्थिति दिखाने के लिये रचा गया है। 'प्रेमजोगिनी' में भारतेंदु ने वर्त्तमान पाषंडमय धार्मिक और सामाजिक जीवन के बीच अपनी परिस्थिति का चित्रण किया है, यही उसकी विशेषता है।

नाटकों की रचना-शैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारगी छोड़ वे अँगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। पताका-स्थानक आदि का प्रयोग भी वे कहीं कहीं कर देते थे।

यद्यपि सब से अधिक रचना उन्होंने नाटकों ही की की, पर हिंदी-साहित्य के सर्वतोमुख विकास की ओर भी वे बराबर दत्तचित्त रहे। 'काश्मीरकुसुम', 'बादशाहदर्पण' आदि लिखकर उन्होंने इतिहास-रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे, पर चल बसे। वे सिद्ध वाणी के अत्यंत सरसहृदय कवि थे। इससे एक ओर तो उनकी लेखनी से शृंगार-रस के ऐसे रसपूर्ण और मार्मिक कवित्त-सवैए निकले कि उनके जीवन-काल में ही चारों ओर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेश-प्रेम से भरी हुई उनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र सा फूँकने लगीं।

अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीका-धारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्रीशिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्त्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।

हरिश्चंद्र के जीवन-काल में ही लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था। उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित अंबिकादत्त व्यास, पंडित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों ने हिंदी-साहित्य के इस नूतन विकास में योग दिया था। भारतेंदु का अस्त तो संवत् १९४१ में ही हो गया पर उनका यह मंडल बहुत दिनों तक साहित्य-निर्माण करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों की लेखनी से निकलते रहे। जो मौलिकता इन लेखकों में थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों में न दिखाई पड़ी। भारतेंदुजी में

हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की शैली दूसरी। भावावेश की भाषा में प्रायः वाक्य बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोल-चाल की होती है जिसमें बहुत प्रचलित साधारण फ़ारसी-अरबी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। 'चंद्रावली नाटिका' से उद्धृत यह अंश देखिए—

"झूठे, झूठे, झूठे! झूठे ही नहीं विश्वासघातक। क्यों इतना छाती ठोंक और हाथ उठा उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते।......भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया? बखेड़िए! और इतने बड़े कारख़ाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, पर वाह रे शुद्ध बेहयाई—पूरी निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं लाज की हवा भी नहीं जाती। हाय एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यों लड़ लड़कर सिर फोड़ते? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुक्मी बेहया हो।"

जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना है और चिंतन के लिये कुछ अवकाश है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े हैं, पर अन्वय जटिल नहीं है, जैसे 'प्रेमयोगिनी' में सूत्रधार के इस भाषण में—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्त्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिंदी का एक मात्र जनक, भाषा-नाटकों का एक मात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र

ही दुखी हो ? (नेत्र में जल भरकर) हा सज्जनशिरोमणे ! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना। × × × मित्र ! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या ? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो ? स्मरण रक्खो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे।"

तथ्य-निरूपण या वस्तु-वर्णन के समय कभी कभी उनकी भाषा में संस्कृत-पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है। इसका सब से बढ़ा-चढ़ा उदाहरण 'नीलदेवी' के वक्तव्य में मिलता है। देखिए—

"आज बड़ा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग द्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अँगरेज़ीरमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध-वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है"।

पर यह भारतेंदु की असली भाषा नहीं। उनकी असली भाषा का रूप पहले दो अवतरणों में ही समझना चाहिए। भाषा चाहे जिस ढंग की हो उनके वाक्यों का अन्वय सरल होता है, उसमें जटिलता नहीं होती। उनके लेखों में भावों की मार्मिकता पाई जाती है, वाग्वैचित्र्य या चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अपने समय के सब लेखकों में भारतेंदु की भाषा साफ सुथरी और व्यवस्थित होती थी।

उसमें शब्दों के रूप भी एक प्रणाली पर मिलते हैं और वाक्य भी सुसंबद्ध पाए जाते हैं। 'प्रेमघन' आदि और लेखकों की भाषा में हम क्रमशः उन्नति और सुधार पाते हैं। सं० १९३८ की 'आनंदकादंबिनी' का कोई लेख लेकर १० वर्ष पश्चात् के किसी लेख से मिलान किया जाय तो बहुत अंतर दिखाई पड़ेगा। भारतेंदु के लेखों में इतना अंतर नहीं पाया जाता। 'इच्छा किया', 'आज्ञा किया' ऐसे व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र के पिता उन्नाव से आकर कानपुर में बस गए थे जहाँ प्रतापनारायणजी का जन्म सं० १९१३ में और मृत्यु सं० १९५१ में हुई। ये इतने मन-मौजी थे कि आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की कम परवा करते थे। कभी लावनी-बाजों में जाकर शामिल हो जाते थे, कभी मेलों और तमाशों में बंद इक्के पर बैठे जाते दिखाई देते थे।

प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि लेखन-कला में भारतेंदु को ही आदर्श मानते थे पर उनकी शैली में भारतेंदु की शैली से बहुत कुछ विभिन्नता भी लक्षित होती है। प्रतापनारायणजी में विनोद-प्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी में व्यंग्यपूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः रहती है। इसके लिये वे पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी कभी बेधड़क रख दिया करते थे। कैसा ही विषय हो, वे उसमें विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। अपना 'ब्राह्मण' पत्र उन्होंने विविध विषयों पर गद्यप्रबंध लिखने के लिये ही निकाला था। लेख हर तरह के निकलते थे। देशदशा, समाज-सुधार, नागरी-हिंदी-प्रचार, साधारण मनोरंजन आदि सब विषयों पर मिश्रजी की लेखनी चलती थी। शीर्षकों के नामों से ही विषयों की अनेकरूपता का पता चलेगा जैसे,

"घूरे क लत्ता बिनै, कनातन क डौल बाँधै", "समझदार की मौत है", "बात", "मनोयोग", "वृद्ध", "भौं"। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य-विनोद की ओर ही अधिक रहती थी, पर जब कभी कुछ गंभीर विषयों पर वे लिखते थे तब संयत और साधु भाषा का व्यवहार करते थे। दोनों प्रकार की लिखावटों के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

"समझदार की मौत है

सच है "सब तें भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगतगति"। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंत-मेत में धरम-मूरत, धरम-औतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों तो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै? आफ़त तो बेचारे ज़िंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल; जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाणवाणीषु विशालबुद्धिस्तथान्यभाषा-रसलोलुपोहम्"। अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छाती का पीपल हो रही है; अब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।

मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सब में मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता के साथ होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य्य भी हों किंतु भले प्रकार पूर्ण रीति से संपादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनंद लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर-रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है।

यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है।"

प्रतापनारायणजी ने फुटकल गद्यप्रबंधों के अतिरिक्त कई नाटक भी लिखे। 'कलिकौतुक रूपक' में पाखंडियों और दुराचारियों का चित्र खींचकर उनसे सावधान रहने का संकेत किया गया है। 'संगीत शाकुंतल' लावनी के ढंग पर गाने योग्य खड़ी बोली में पद्यबद्ध शकुंतला नाटक है। भारतेंदु के अनुकरण पर मिश्रजी ने 'भारतदुर्दशा' नाम का नाटक भी लिखा था। 'हठी हम्मीर' रणथंभौर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का वृत्त लेकर लिखा गया है। 'गोसंकट नाटक' और 'कलि-प्रभाव नाटक' के अतिरिक्त 'जुआरी खुआरी' नामक उनका एक प्रहसन भी है।

पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म प्रयाग में सं० १९०१ में और परलोकवास सं० १९७१ में हुआ। वे प्रयाग के 'कायस्थ-पाठशाला-कालेज' में संस्कृत के अध्यापक थे।

उन्होंने संवत् १९३३ में अपना "हिंदी-प्रदीप" गद्य-साहित्य का ढर्रा निकालने के लिये ही निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे छोटे गद्यप्रबंध वे अपने पत्र में तीस-बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे। उनके लिखने का ढँग पंडित प्रतापनारायण के ढँग से मिलता जुलता है। मिश्र जी के समान भट्टजी भी स्थान स्थान पर कहावतों का प्रयोग करते थे, पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर कुछ अधिक रहा है। व्यंग्य और वक्रता उनके लेखों में भी भरी रहती है और वाक्य भी कुछ बड़े बड़े होते हैं। ठीक खड़ी बोली के आदर्श का निर्वाह भट्टजी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं। "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" वे प्रायः लिख

जाते थे। उनके लिखने के ढँग से यह जान पड़ता है कि वे अँगरेज़ी पढ़े-लिखे नवशिक्षित लोगों को हिंदी की ओर आकर्षित करने के लिये लिख रहे हैं। स्थान स्थान पर ब्रैकेट में घिरे "Education," "Society," "National vigour and strength," "Standard," "Character" इत्यादि अँगरेज़ी शब्द पाए जाते हैं। इसी प्रकार फ़ारसी-अरबी के लफ़्ज़ ही नहीं बड़े बड़े फ़िकरे तक भट्टजी अपनी मौज में आकर रखा करते थे। इस प्रकार उनकी शैली में एक निरालापन झलकता है। प्रतापनारायण के हास्यविनोद से भट्टजी के हास्यविनोद में यह विशेषता है कि वह कुछ चिड़चिड़ाहट लिए रहता था। पदविन्यास भी कभी कभी उनका बहुत ही चोखा और अनूठा होता था।

अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध भट्टजी ने लिखे हैं, पर सब छोटे छोटे। वे बराबर कहा करते थे कि न जाने कैसे लोग बड़े बड़े लेख लिख डालते हैं। मुहावरों की सूझ उनकी बहुत अच्छी थी। "आँख", "कान", "नाक" आदि शीर्षक देकर उन्होंने कई लेखों में बड़े ढँग के साथ मुहावरों की झड़ी बाँध दी है। एक बार वे मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा "भैया! आँख में क्या हुआ है?" उत्तर मिला "आँख आई है।" वे चट बोल उठे "भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।" अनेक विषयों पर गद्य-प्रबंध लिखने के अतिरिक्त "हिंदी-प्रदीप" द्वारा भट्टजी संस्कृत-साहित्य और संस्कृत के कवियों का परिचय भी अपने पाठकों को समय समय पर कराते रहे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अँगरेज़ी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था। भट्टजी की लिखावट के दो नमूने देखिए—

"कल्पना

× × × यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गये। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे पर मन की मन-भावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गये। व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।

आत्म-निर्भरता

इधर पचास साठ वर्षों से अँगरेज़ी राज्य के अमनचैन का फ़ायदा पाय हमारे देशवाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहिले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन-संख्या अवश्य घटनी चाहिए। × × × × आत्म-निर्भरता में दृढ़, अपने क़ूवते-बाज़ू पर भरोसा रखनेवाला, पुष्टवीर्य्य, पुष्ट-बल, भाग्यवान एक संतान अच्छा। 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रग रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के?"

निबंधों के अतिरिक्त भट्टजी ने कई छोटे-मोटे नाटक भी लिखे हैं जो क्रमशः उनके हिंदी-प्रदीप में छपे हैं, जैसे—कलिराज की सभा, रेल का विकट खेल, बाल-विवाह नाटक, चंद्रसेन नाटक। उन्होंने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक बंगभाषा के दो नाटकों के अनुवाद भी निकाले थे।

सं० १९४३ में भट्टजी ने लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगता-स्वयंवर' नाटक की 'सच्ची समालोचना' भी, और पत्रों में उसकी

प्रशंसा ही प्रशंसा देख कर, की थी। उसी वर्ष उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी ने बहुत ही विस्तृत समालोचना अपनी पत्रिका में निकाली थी। इस दृष्टि से सम्यक् आलोचना का हिंदी में सूत्रपात करनेवाले इन्हीं दो लेखकों को समझना चाहिए।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी का जन्म मिरजापुर के एक अभिजात ब्राह्मण-वंश में भाद्र कृष्ण ६ सं० १९१२ को और मृत्यु फाल्गुन शुक्ल १४ सं० १९७९ को हुई। उनकी हर एक बात से रईसी टपकती थी। बातचीत का ढंग उनका बहुत ही निराला और अनूठा था। कभी कभी बहुत ही सुंदर वक्रता-पूर्ण वाक्य उनके मुँह से निकलते थे। लेखन-कला के उनके सिद्धांत के कारण उनके लेखों में यह विशेषता नहीं पाई जाती। वे भारतेंदु के घनिष्ठ मित्रों में थे और वेश भी उन्हीं का-सा रखते थे

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले—लेखक थे और कभी कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लंबे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। वे कोई लेख लिखकर जब तक कई बार उसका परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे! भारतेंदु के वे घनिष्ठ मित्र थे पर लिखने में उनके "उतावलेपन" की शिकायत अकसर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमंग में जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देखकर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुंदर हो जाता। एक बार

उन्होंने मुझसे कांग्रेस के दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। मैंने जब लिखकर दिया तब उसके किसी वाक्य को पढ़कर वे कहने लगे कि इसे यों कर दीजिए—"दोनों दलों की दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा।" भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ के आडंबर के रूप में नहीं होता था। उनके लेख अर्थगर्भित और सूक्ष्म-विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिंदी का था।

चौधरी साहब ने कई नाटक लिखे हैं। 'भारत-सौभाग्य' कांग्रेस के अवसर पर खेले जाने के लिये सन् १८८८ में लिखा गया था। यह नाटक विलक्षण है। पात्र इतने अधिक और इतने प्रकार के हैं कि अभिनय दुस्साध्य ही समझिए। भाषा भी रंग-विरंगी है—पात्रों के अनुरूप उर्दू, मारवाड़ी, बैसवाड़ी, भोजपुरी, पंजाबी, मराठी, बंगाली सब कुछ मिलेगी। नाटक की कथावस्तु है बद-एक़बाल-हिंद की प्रेरणा से सन् १८५७ का ग़दर, अँगरेजों के अधिकार की पुनःप्रतिष्ठा और नेशनल कांग्रेस की स्थापना। नाटक के आरंभ के दृश्यों में लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा का भारत से प्रस्थान भारतेंदु के "पै धन-बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी" से अधिक काव्योचित और मार्मिक है।

'प्रयाग-रामागमन' नाटक में राम का भरद्वाज आश्रम में पहुँच कर आतिथ्य ग्रहण है। इसमें सीता की भाषा ब्रज रखी गई है। 'वारांगना-रहस्य महानाटक (अथवा वेश्याविनोद महाफाटक)' दुर्व्यसन-ग्रस्त समाज का चित्र खींचने के लिये उन्होंने सं० १९४३ से ही उठाया और थोड़ा थोड़ा करके समय समय पर अपनी 'आनंद-कादंबिनी' में निकालते रहे, पर पूरा न कर सके। इसमें जगह जगह शृंगाररस के श्लोक, कवित्त-सवैये, गज़ल, शेर इत्यादि रखे गए हैं।

विनोदपूर्ण प्रहसन तो अनेक प्रकार के ये अपनी पत्रिका में बराबर निकालते रहे।

सच पूछिए तो "आनंद-कादंबिनी" प्रेमघनजी ने अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को अंकित करने के लिये निकाली थी। और लोगों के लेख उसमें नहीं के बराबर रहा करते थे। इस पर भारतेंदुजी ने उनसे एक बार कहा था कि "जनाब! यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही हरकाम फरमाया करते हैं, बल्कि अखबार है कि जिसमें अनेक जन-लिखित लेख होना आवश्यक है; और यह भी जरूरत नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।" अपनी पत्रिका में किस शैली की भाषा लेकर चौधरी साहब मैदान में आए इसे दिखाने के लिये हम उसके प्रारंभ काल संवत् १९३८ की एक संख्या से कुछ अंश नीचे देते हैं—

"परिपूर्ण पावस

जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा; भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानो मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई। सुंदर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएँ लिपट लिपट मानो मुग्ध मयंकमुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं। इनसे युक्त पर्वतों के शृंगों के नीचे सुंदरी-दरी-समूह से स्वच्छ श्वेत जल-प्रवाह ने मानो पारा की धारा और बिल्लौर की दार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी-भरी भूमि के, कि जो मारे हरेपन के श्यामता की झलक दे अलक की शोभा लाई है, बीचोबीच माँग सी काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुंबुल अर्थात् हंसराज की जटाओं का फैलना बिथरी हुई लटों के लावण्य का लाना है।"

कादंबिनी में समाचार तक कभी कभी बड़ी रंगीन भाषा में लिखे जाते थे। संवत् १९४२ की संख्या का एक "स्थानिक संवाद" देखिए—

"दिव्यदेवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिर-काल पर्य्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है"।

पीछे जो उनका साप्ताहिक पत्र "नागरीनीरद" निकला उसके शीषक भी वर्षा के खासे रूपक हुए; जैसे, "संपादकीय-सम्मति-समीर", "प्रेरित-कलापि-कलरव", "हास्य-हरितांकुर", "वृत्तांत-बलाकावलि", "काव्यामृत-वर्षा", "विज्ञापन-बीर-बहूटियाँ", "नियम-निर्घोष"।

समालोचना का सूत्रपात हिंदी में एक प्रकार से भट्टजी और चौधरी साहब ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। बाबू गदाधरसिंह ने "वंगविजेता" का जो अनुवाद किया था उसकी आलोचना कादंबिनी में पाँच पृष्ठों में हुई थी। लाला श्रीनिवासदास के "संयोगता स्वयंवर" की बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना चौधरीजी ने कादंबिनी के २१ पृष्ठों में निकाली थी। उसका कुछ अंश नमूने के लिये नीचे दिया जाता है—

"यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने के पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है, क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से

जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते।

× × × ×

नाट्य-रचना के बहुतेरे दोष 'हिंदी-प्रदीप' ने अपनी 'सच्ची समा-लोचना' में दिखलाए हैं। अतएव उसमें हम विस्तार नहीं देते; हम केवल यहाँ अलग अलग उन दोषों को दिखलाना चाहते हैं जो प्रधान और विशेष हैं। तो जानना चाहिए कि यदि यह संयोगता स्वयंवर पर नाटक लिखा गया तो इसमें कोई दृश्य स्वयंवर का न रखना मानो इस कविता का नाश कर डालना है, क्योंकि यही इसमें वर्णनीय विषय है।

× × × ×

नाटक के प्रबंध का कुछ कहना ही नहीं, एक गँवार भी जानता होगा कि स्थान-परिवर्त्तन के कारण गर्भांक की आवश्यकता होती है, अर्थात् स्थान के बदलने में परदा बदला जाता है और इसी पर्दे के बदलने को दूसरा गर्भांक मानते हैं, सो आपने एक ही गर्भांक में तीन स्थान बदल डाले।

× × × ×

गर्जे कि इस सफ़हे की कुल स्पीचें 'मरचेंट आफ़ वेनिस' से ली गईं। पहिले तो मैं यह पूछता हूँ कि विवाह में मुद्रिका परिवर्त्तन की रीति इस देश की नहीं, बल्कि यूरोप की (है)। मैंने माना कि आप शकुंतला को दुष्यंत के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे, पर वो तो परि-वर्त्तन न था किंतु महाराज ने अपना स्मारक चिह्न दिया था।"

लाला श्रीनिवासदास के पिता लाला मंगलीलाल मथुरा के प्रसिद्ध सेठ लक्ष्मीचंद के मुनीम तथा मैनेजर थे जो दिल्ली में रहा करते थे। वहीं श्रीनिवासदास का जन्म संवत् १९०८ में और मृत्यु सं० १९४४ में हुई।

भारतेंदु के सम-सामयिक लेखकों में उनका भी एक विशेष स्थान था। उन्होंने कई नाटक लिखे हैं। "प्रह्लाद-चरित्र" ११ दृश्यों का एक बड़ा नाटक है, पर उसके संवाद आदि रोचक नहीं, भाषा भी अच्छी नहीं। "तप्ता-संवरण नाटक" सन् १८७४ के 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में छपा था, पीछे सन् १८८३ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इसमें तप्ता और संवरण की पौराणिक प्रेम-कथा है। संवरण ने तप्ता के ध्यान में लीन रहने के कारण गौतम मुनि को प्रणाम नहीं किया। इस पर उन्होंने शाप दिया कि जिसके ध्यान में तुम मग्न हो वह तुम्हें भूल जाय। फिर सदय होकर शाप का यह परिहार उन्होंने बताया कि अंग-स्पर्श होते ही उसे तुम्हारा स्मरण हो जायगा।

लालाजी के "रणधीर और प्रेम मोहिनी" नाटक की उस समय अधिक चर्चा हुई थी। पहले पहल यह नाटक सं० १९३४ में प्रकाशित हुआ था और इसके साथ एक भूमिका थी जिसमें नाटकों के संबंध में कई बातें अँगरेजी नाटकों पर दृष्टि रख कर लिखी गई थीं। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि यह नाटक उन्होंने अँगरेजी नाटकों के ढंग पर लिखा था। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाम ही "रोमियो ऐंड जुलियट" की ओर ध्यान ले जाता है। कथा-वस्तु भी इसकी सामान्य प्रथानुसार पौराणिक या ऐतिहासिक न होकर कल्पित है। पर यह वस्तु-कल्पना मध्ययुग के राजकुमार-राजकुमारियों के क्षेत्र के भीतर ही हुई है—पाटन का राजकुमार है और सूरत की राजकुमारी। पर दृश्यों में देश-कालानुसार सामाजिक परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया है। कुछ दृश्य तो आजकल का समाज सामने लाते हैं, कुछ मध्ययुग का और कुछ उस प्राचीन काल का जब स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी। पात्रों के अनुरूप भाषा रखने के प्रयत्न में मुंशीजी की भाषा इतनी

घोर उर्दू कर दी गई है कि केवल हिंदी-पढ़ा व्यक्ति एक पंक्ति भी नहीं समझ सकता। कहाँ स्वयंवर, कहाँ ये मुंशी जी !

जैसा ऊपर कहा गया है, यह नाटक अँगरेजी नाटकों के ढंग पर लिखा गया है। इसमें प्रस्तावना नहीं रखी गई है। दूसरी बात यह कि यह दुःखांत है। भारतीय रूपक-क्षेत्र में दुःखांत नाटकों का चलन न था। इसकी अधिक चर्चा का एक कारण यह भी था।

लालाजी का "संयोगता-स्वयंवर" नाटक सबसे पीछे का है। यह पृथ्वीराज द्वारा संयोगता-हरण का प्रचलित प्रवाद लेकर लिखा गया है।

श्रीनिवासदास ने "परीक्षागुरु" नाम का एक शिक्षाप्रद उपन्यास भी लिखा। वे खड़ी बोली की बोलचाल के शब्द और मुहावरे अच्छे लाते थे। उपर्युक्त चारों लेखकों में प्रतिभाशालियों का मनमौजीपन था, पर लाला श्रीनिवासदास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा-नीचा समझनेवाले पुरुष थे। अतः उनकी भाषा संयत और साफ सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी। 'परीक्षा-गुरु' से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभ कामों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है ?" पंडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

"जैसे अन्न प्राणाधार है परंतु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है" लाला ब्रजकिशोर कहने लगे "देखिए, परोपकार की इच्छा अत्यंत उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फिजूलखर्ची समझी जायगी और अपने कुटुंब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्र में भक्ति होने से लोक परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियों को

समान रखनेवाली है, परंतु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धिवृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में मन अत्यंत लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषंगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा वैसा रंग तुरंत लग जाया करेगा।"

ऊपर के उद्धरण में अँगरेजी उपन्यासों के ढँग पर भाषण के बीच में या अंत में "अमुक ने कहा", "अमुक कहने लगे" ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिंदी के उपन्यासों में नहीं हुआ।

भारतेंदुजी के मित्रों में, कई बातों में उन्हीं की-सी तबीयत रखनेवाले, विजयराघवगढ़ (मध्य प्रदेश) के राजकुमार **ठाकुर जगमोहनसिंहजी** थे। उनका जन्म श्रावण शुक्ल १४ सं० १९१४ को और मृत्यु सं० १९५६ (मार्च सन् १८९९) में हुई। वे शिक्षा के लिए कुछ दिन काशी में रखे गए थे जहाँ उनका भारतेंदु के साथ मेल-जोल हुआ। वे संस्कृत-साहित्य और अँगरेजी के अच्छे जानकार तथा हिंदी के एक प्रेम-पथिक कवि और माधुर्य्य-पूर्ण गद्य-लेखक थे। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध-भाव-मयी प्रकृति के रूप-माधुर्य्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, उनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी-कवि या लेखक में नहीं पाई जाती। अब तक जिन लेखकों की चर्चा हुई उनके हृदय में इस भूखंड की रूपमाधुरी के प्रति कोई सच्चा प्रेम-संस्कार न था। परंपरा-पालन के लिये चाहे प्रकृति का वर्णन उन्होंने किया हो पर वहाँ उनका हृदय नहीं मिलता। अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य-जीवन के माधुर्य्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने "श्यामा-स्वप्न" में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चंद्र, पंडित

प्रताप नारायण आदि कवियों और लेखकों की दृष्टि और हृदय की पहुँच मानव क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहनसिंहजी ने नरक्षेत्र के सौंदर्य्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारतभूमि की प्यारी रूप-रेखा को मन में बसानेवाले वे पहले हिंदी लेखक थे, यहाँ पर बस इतना ही कहकर हम उनके "श्यामास्वप्न" का एक दृश्य-खंड नीचे देते हैं—

"नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल नाम से प्रसिद्ध है—

> याही मग ह्वै कै गए दंडकवन श्री राम।
> तासों पावन देस वह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ?......जहाँ की निर्झरिणी—जिनके तीर वानीर से भिरे, मदकल-कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती हैं। × × × × जहाँ के शल्लकी-वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुलकी लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।

ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य-जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।

इसी नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है। इसके नाम ही को सुनकर तुम जानोगे कि यह कैसा सुंदर ग्राम है। × × × × इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आम के आराम पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × × पुराने टूटे-फूटे देवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गवँई की शोभा बताते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानों कुहिरा गिरता हो। × × × × ऐसा सुंदर ग्राम, जिसमें श्याम-सुंदर स्वयं विराजमान हैं, मेरा जन्म-स्थान था।''

कवियों के पुराने प्यार की बोली में देश की दृश्यावलि को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होंने किया ही है, साथ ही भाव की प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप को अंकित करनेवाली एक प्रकार की प्रलापशैली भी इन्होंने निकाली जिसमें रूपविधान का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्दविधान का। क्या अच्छा होता यदि इस शैली का हिंदी में स्वतंत्र रूप से विकास होता। तब तो बंग-साहित्य में प्रचलित इस शैली का शब्दप्रधान रूप, जो हिंदी पर कुछ काल से चढ़ाई कर रहा है और अब काव्यक्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी कभी विषय-निरूपक निबंधों तक का अर्थग्रास करने दौड़ता है, शायद जगह न पाता।

बाबू तोताराम—ये जाति के कायस्थ थे। इनका जन्म सं० १९०४ में और मृत्यु दिसंबर १९०२ में हुई। बी० ए० पास करके ये हेडमास्टर हुए पर अंत में नौकरी छोड़कर अलीगढ़ में प्रेस खोलकर 'भारतबंधु' पत्र निकालने लगे। हिंदी का हर एक प्रकार से हितसाधन करने के लिये जब भारतेंदुजी खड़े हुए थे

उस समय उनका साथ देनेवालों में ये भी थे। इन्होंने "भाषा-संवर्द्धिनी" नाम की एक सभा स्थापित की थी। ये हरिश्चंद्र-चंद्रिका के लेखकों में से थे। उसमें 'कीर्त्तिकेतु' नामका इनका एक नाटक भी निकला था। ये जब तक रहे, हिंदी के प्रचार और उन्नति में लगे रहे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखकर अपनी सभा के सहायतार्थ अर्पित की थीं—जैसे 'केटोकृतांत नाटक' (अँगरेजी का अनुवाद), स्त्रीसुबोधिनी। भाषा इनकी साधारण अर्थात् विशेषता-रहित है। इनके 'कीर्त्तिकेतु' नाटक का एक भाषण देखिए—

"यह कौन नहीं जानता? परंतु इस नीच संसार के आगे कीर्ति-केतु बिचारे की क्या चलती है? जो पराधीन होने ही से प्रसन्न रहता है और सिसुमार की सरन जा गिरने का जिसे चाव है, हमारा पिता अत्रिपुर में बैठा हुआ वृथा रमावती नगरी की नाम मात्र प्रतिष्ठा बनाए है। नवपुर की निबल सेना और एक रीति थोथी सभा, जो निष्फल युद्धों से शेष रह गई है, वह उसके संग है। हे ईश्वर!"

भारतेंदु के साथ हिंदी की उन्नति में योग देनेवालों में नीचे लिखे महानुभाव भी विशेष उल्लेख योग्य हैं—

पं० केशवराम भट्ट महाराष्ट्र ब्राह्मण थे जिनके पूर्वज बिहार में बस गए थे। उनका जन्म सं० १९११ और मृत्यु सं० १९६१ में हुई। उनका संबंध शिक्षा-विभाग से था। कुछ स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने 'सज्जाद-सुंबुल' और 'शमशाद-सौसन' नामक दो नाटक भी लिखे जिनकी भाषा उर्दू ही समझिए। इन दोनों नाटकों की विशेषता यह है कि ये वर्त्तमान जीवन को लेकर लिखे गए हैं। इनमें हिंदू, मुसलमान, अँगरेज, लुटेरे, लफंगे, मुकदमेबाज, मारपीट करनेवाले, रुपया हजम करनेवाले इत्यादि अनेक ढंग के पात्र आए हैं। सं० १९२९ में उन्होंने 'विहारबंधु' निकाला था और १९३१ में 'विहारबंधु प्रेस' खोला था।

पं० राधाचरण गोस्वामी का जन्म वृंदावन में सं० १९१५ में हुआ और मृत्यु सं० १९८२ (दिसंबर सन १९२५) में हुई। ये संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् थे। 'हरिश्चंद्र मैगज़िन' को देखते देखते इनमें देशभक्ति और समाज-सुधार के भाव जगे थे। साहित्य-सेवा के विचार से इन्होंने 'भारतेंदु' नाम का एक पत्र कुछ दिनों तक वृंदावन से निकाला था। अनेक सभा-समाजों में सम्मिलित होने और समाज-सुधार का उत्साह रखने के कारण ये कुछ ब्रह्म-समाज की ओर आकर्षित हुए थे और उसके पक्ष में 'हिंदू बांधव' में कई लेख भी लिखे थे। भाषा इनकी गठी हुई होती थी।

इन्होंने कई बहुत ही अच्छे मौलिक नाटक लिखे हैं जैसे, सुदामा-नाटक, सती चंद्रावली, अमरसिंह राठौर, तन-मन-धन श्री गोसाईंजी के अर्पण। इनमें से 'सती चंद्रावली' और 'अमरसिंह राठौर' बड़े नाटक हैं। 'सती चंद्रावली' की कथा-वस्तु औरंगजेब के समय हिंदुओं पर होनेवाले अत्याचारों का चित्र खींचने के लिये बड़ी निपुणता के साथ कल्पित की गई है। अमरसिंह राठौर ऐतिहासिक है। नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने 'विरजा', 'जावित्री' और 'मृण्मयी' नामक उपन्यासों के अनुवाद भी बंगभाषा से किए हैं।

पंडित अंबिकादत्त व्यास का जन्म सं० १९१५ और मृत्यु सं० १९५७ में हुई। ये संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान्, हिंदी के अच्छे कवि और सनातन धर्म के बड़े उत्साही उपदेशक थे। इनके धर्म-संबंधी व्याख्यानों की धूम रहा करती थी। "अवतार-मीमांसा" आदि धर्म-संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने बिहारी के दोहों के भाव को विस्तृत करने के लिये "बिहारी-बिहार" नाम का एक बड़ा काव्य-ग्रंथ लिखा। गद्य-रचना का भी विवेचन इन्होंने अच्छा किया है। पुरानी चाल की कविता

(जैसे, पावस-पचासा) के अतिरिक्त इन्होंने 'गद्यकाव्य मीमांसा' आदि अनेक गद्य की पुस्तकें भी लिखीं। 'इन्होंने', 'उन्होंने' के स्थान पर ये 'इनने', 'उनने' लिखते थे।

ब्रजभाषा की अच्छी कविता ये बाल्यावस्था से ही करते थे जिससे बहुत शीघ्र रचना करने का इन्हें अभ्यास हुआ। कृष्ण-लीला को लेकर इन्होंने ब्रजभाषा में एक 'ललिता नाटिका' लिखी थी। भारतेंदु के कहने से इन्होंने 'गो-संकट नाटक' लिखा जिसमें हिंदुओं के बीच असंतोष फैलने पर अकबर द्वारा गोवध बंद किए जाने की कथा-वस्तु रखी गई है।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या—इन्होंने गिरती दशा में "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" को सँभाला था और उसमें अपना नाम भी जोड़ा था। इनके रंग ढँग से लोग इन्हें इतिहास का अच्छा जानकार और विद्वान् समझते थे। कविराजा श्यामलदानजी ने जब अपने "पृथ्वीराज-चरित्र" ग्रंथ में "पृथ्वीराजरासो" को जाली ठहराया था तब इन्होंने "रासो-संरक्षा" लिखकर उसको असल सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

पंडित भीमसेन शर्मा—ये पहले स्वामी दयानंदजी के दहने हाथ थे। संवत् १९४० और १९४२ के बीच इन्होंने धर्म संबंधी कई पुस्तकें हिंदी में लिखीं और कई संस्कृत ग्रंथों के हिंदी भाष्य भी निकाले। इन्होंने "आर्य-सिद्धांत" नामक एक मासिक पत्र भी निकाला था। भाषा के संबंध में इनका विलक्षण मत था। "संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति" नाम का एक लेख लिखकर इन्होंने अरबी-फारसी शब्दों को भी संस्कृत बना डालने की राय बड़े जोर शोर से दी थी—जैसे दुश्मन को "दुःशमन", सिफ़ारिश को "क्षिप्राशिष", चश्मा को "चक्ष्मा", शिकायत को "शिक्षायत्न" इत्यादि।

काशीनाथ खत्री—इनका जन्म सं० १९०६ में आगरे के माईथान मुहल्ले में और परलोकवास सिरसा (जिला, इलाहाबाद) में, जहाँ ये पहले अध्यापक रह चुके थे और अंतिम दिनों में आकर बस गए थे, सं० १९४८ (९ जनवरी १८९१) में हुआ। कुछ दिन गवर्नमेण्ट वर्नाक्यूलर रिपोर्टर का काम कर के पीछे ये लाट साहब के दफ़र के पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त हो गए थे। ये मातृभाषा के सच्चे सेवक थे। नीति, कर्त्तव्यपालन, स्वदेश-हित ऐसे विषयों पर ही लेख और पुस्तकें लिखने की ओर इनकी रुचि थी। शुद्ध साहित्य-कोटि में आनेवाली रचनाएँ इनकी बहुत कम हैं। ये तीन पुस्तकें उल्लेख-योग्य हैं— (१) ग्राम-पाठशाला और निकृष्ट नौकरी नाटक, (२) तीन इतिहासिक (?) रूपक और (३) बाल-विधवा संताप नाटक।

तीन ऐतिहासिक रूपकों में पहला तो है "सिंधुदेश की राजकुमारियाँ' जो सिंध में अरबों की चढ़ाईवाली घटना लेकर लिखा गया; दूसरा है 'गुन्नौर की रानी' जिसमें भूपाल के मुसलमानी राज्य के संस्थापक द्वारा पराजित गुन्नौर के हिंदू राजा की विधवा रानी का वृत्त है; तीसरा है 'लव जी का स्वप्न' जो रघुवंश की एक कथा के आधार पर है।

काशीनाथ खत्री वास्तव में एक अत्यंत अभ्यस्त अनुवादक थे। इन्होंने कई अँगरेज़ी पुस्तकों, लेखों और व्याख्यानों के अनुवाद प्रस्तुत किए, जैसे—शेक्सपियर के मनोहर नाटकों के आख्यानों (लैंब कृत) का अनुवाद; नीत्युपदेश (ब्लैकी के Self culture का अनुवाद); इंडियन नेशनल कांग्रेस (ह्यूम के व्याख्यान का अनुवाद); देश की दरिद्रता और अँगरेज़ी राजनीति (दादाभाई नौरोजी के व्याख्यान का अनुवाद); भारत त्रिकालिक दशा (कर्नल अलकाट के व्याख्यान का अनुवाद) इत्यादि। अनुवादों के अतिरिक्त इन्होंने 'भारतवर्ष की विख्यात

स्त्रियों के चरित्र', 'यूरोपियन धर्मशीला स्त्रियों के चरित्र', 'मातृ-भाषा की उन्नति किस विधि करना योग्य है' इत्यादि अनेक छोटी छोटी पुस्तकें और लेख लिखे।

राधाकृष्णदास भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १९२२ और मृत्यु सं० १९६४ में हुई। इन्होंने भारतेंदु का अधूरा छोड़ा हुआ नाटक 'सती प्रताप' पूरा किया था। इन्होंने पहले पहल 'दुःखिनी बाला' नामक एक छोटा सा रूपक लिखा था जो 'हरिश्चंद्र चंद्रिका और मोहन चंद्रिका' में प्रकाशित हुआ था। इसमें जन्मपत्री-मिलान, बालविवाह, अपव्यय आदि कुरीतियों का दुष्परिणाम दिखाया गया है। इनका दूसरा नाटक है 'महारानी पद्मावती अथवा मेवाड़ कमलिनी' जिसकी रचना चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की चढ़ाई के समय की पद्मिनी-वाली घटना को लेकर हुई है। इनका सब से उत्कृष्ट और बड़ा नाटक 'महाराणा प्रताप' (या राजस्थान केसरी) है जो सं० १९५४ में समाप्त हुआ था। यह नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ और इसका अभिनय कई बार कई जगह हुआ।

भारतीय प्रथा के अनुसार इसके सब पात्र भी आदर्श के साँचों में ढले हुए हैं। कथोपकथन यद्यपि चमत्कारपूर्ण नहीं, पर पात्र और अवसर के सर्वथा उपयुक्त हैं; उनमें कहीं कहीं ओज भी पूरा है। वस्तु-योजना बहुत ही व्यवस्थित है। इस नाटक में अकबर का हिंदुओं के प्रति सद्भाव उसकी कूटनीति के रूप में प्रदर्शित है। यह बात चाहे कुछ लोगों को पसंद न हो।

नाटकों के अतिरिक्त इन्होंने 'निस्सहाय हिंदू' नामक एक छोटा सा उपन्यास भी लिखा था। बँगला के कई उपन्यासों के अनुवाद इन्होंने किए हैं—जैसे, स्वर्णलता, मरता क्या न करता।

कार्त्तिकप्रसाद खत्री—(जन्म सं० १९०८, मृत्यु १९६१) ये आसाम, बंगाल आदि कई स्थानों में रहे। हिंदी का प्रेम

इनमें इतना अधिक था कि २० वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने कलकत्ते से हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ निकालने का उद्योग किया था। "रेल का विकट खेल" नामका एक नाटक १५ अप्रैल सन् १८७४ ई० की संख्या से 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में छपने लगा था, पर पूरा न हुआ। 'इला', 'प्रमीला', 'जया', 'मधुमालती' इत्यादि अनेक बँगला उपन्यासों के इनके किए हुए अनुवाद काशी के 'भारत जीवन' प्रेस से निकले।

फ्रेडरिक पिन्काट का उल्लेख पहले हो चुका है और यह कहा जा चुका है कि वे इँग्लैंड में बैठे बैठे हिंदी में लेख और पुस्तकें लिखते और हिंदी-लेखकों के साथ पत्र-व्यवहार भी हिंदी में ही करते थे। उन्होंने दो पुस्तकें हिंदी में लिखी हैं—

१ बालदीपक ४ भाग (नागरी और कैथी अक्षरों में), २ विक्टोरिया-चरित्र।

ये दोनों पुस्तकें खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, में छपी थीं। 'बालदीपक' बिहार के स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। उसके एक पाठ का कुछ अंश भाषा के नमूने के लिये दिया जाता है—

"हे लड़को! तुमको चाहिए कि अपनी पोथी को बहुत सँभाल कर रक्खो। मैली न होने पावे, बिगड़े नहीं, और जब उसे खोलो चौकसाई से खोलो कि उसका पन्ना अँगुली के तले दबकर फट न जावे"।

'विक्टोरिया-चरित्र' १३६ पृष्ठों की पुस्तक है। इसकी भाषा उनके पत्रों की भाषा की अपेक्षा अधिक मुहावरेदार है।

उनके विचार उनके लंबे लंबे पत्रों में मिलते हैं। बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री को सं० १९४३ के लगभग अपने एक पत्र में वे लिखते हैं—

"आपका सुखद पत्र मुझे मिला और उससे मुझको परम आनन्द हुआ।

आपकी समझ में हिंदी भाषा का प्रचलित होना उत्तर-पश्चिम-वासियों के लिए सबसे भारी बात है। मैं भी संपूर्ण रूप से जानता हूँ कि जब तक किसी देश में निज भाषा और अक्षर सरकारी और व्यवहार-संबंधी कामों में नहीं प्रवृत्त होते हैं तब तक उस देश का परम सौभाग्य हो नहीं सकता। इसलिये मैंने बार बार हिंदी भाषा के प्रचलित करने का उद्योग किया है।

देखो, अस्सी बरस हुए बंगाली भाषा निरी अपभ्रंश भाषा थी। पहले पहल थोड़ी थोड़ी संस्कृत बातें उसमें मिली थीं। परंतु अब क्रम करके सँवारने से निपट अच्छी भाषा हो गई। इसी तरह चाहिए कि इन दिनों में पंडित लोग हिंदी भाषा में थोड़ी थोड़ी संस्कृत बातें मिलावें। इस पर भी स्मरण कीजिए कि उत्तर-पश्चिम में हज़ार बरस तक फ़ारसी बोलनेवाले लोग राज करते थे। इसी कारण उस देश के लोग बहुत फ़ारसी बातों को जानते हैं। उन फ़ारसी बातों को भाषा से निकाल देना असंभव है। इसलिये उनको निकाल देने का उद्योग मूर्खता का काम है।"

हिंदुस्तानी पुलिस की करतूतों को सुनकर आपने बा० कार्त्तिकप्रसाद को लिखा था—

"कुछ दिन हुए कि मेरे एक हिंदुस्तानी दोस्त ने हिंदुस्तान के पुलिस के ज़ुल्म की ऐसी तसवीर खींची कि मैं हैरान हो गया। मैंने एक चिट्ठी लाहौर नगर के 'ट्रीब्यून' नामी समाचार पत्र को लिखी। उस चिट्ठी के छपते ही मेरे पास बहुत से लोगों ने चिट्ठियाँ भेजीं जिनसे प्रकाशित हुआ कि पुलिस का ज़ुल्म उससे भी ज़्यादा है जितना मैंने सुना था। अब मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि जब तक हिंदुस्तान की पुलिस वैसी ही न हो जावे जैसे कि हमारे इँगलिस्तान में है, मैं इस बात का पीछा न छोड़ूँगा।"

भारतेंदु हरिश्चंद्र को एक चिट्ठी पिन्काट साहब ने व्रजभाषा-पद्य में लिखी थी जो नीचे दी जाती है—

"बैस-बंस-अवतंस, श्रीबाबू हरिचंद जू।
छीर नीर कलहंस, टुक उत्तर लिखि देव मोहिं ॥

पर उपकार में उदार अवनी में एक, भाषत अनेक यह राजा हरिचंद है। विभव बड़ाई वपु वसन विलास लखि कहत यहाँ के लोग बाबू हरिचंद है। चंद वैसे अमिय अनंदकर आरत को, कहत कविंद यह भारत का चंद है। कैसे अब देखें, को बतावै, कहाँ पावैं ? हाय, कैसे वहाँ आवें, हम कोई मतिमंद हैं ॥

श्रीयुत सकल-कविंद-कुल-नुत बाबू हरिचंद।
भारत-हृदय-सतार-नभ उदय रहो जनु चंद ॥"

प्रचार-कार्य

भारतेंदु के समय से साहित्य-निर्माण का कार्य्य तो धूम-धाम से चल पड़ा पर उस साहित्य के सम्यक् प्रचार में कई प्रकार की बाधाएँ थीं। अदालतों की भाषा बहुत पहले से उर्दू चली आ रही थी इससे अधिकतर बालकों को अँगरेजी के साथ या अकेले उर्दू की ही शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर सरकारी नौकरियों के योग्य बनाना ही समझा जाता रहा है। इससे चारों ओर उर्दू पढ़े-लिखे लोग ही दिखाई पड़ते थे। ऐसी अवस्था में साहित्य-निर्माण के साथ हिंदी के प्रचार का उद्योग भी बराबर चलता रहा। स्वयं बाबू हरिश्चंद्र को हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता समझाने के लिये बहुत से नगरों में व्याख्यान देने के लिये जाना पड़ता था। उन्होंने इस संबंध में कई पैंफलेट भी लिखे। हिंदी-प्रचार के लिये बलिया में बड़ी भारी सभा हुई थी जिसमें भारतेंदु का बड़ा मार्मिक व्याख्यान हुआ था। वे जहाँ जाते अपना यह मूल मंत्र अवश्य सुनाते थे—

निज भाषा-उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल ॥

इसी प्रकार पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान" का राग अलापते फिरते थे। कई स्थानों पर हिंदी-प्रचार के लिये सभाएँ स्थापित हुईं। बाबू तोताराम द्वारा स्थापित अलीगढ़ की "भाषा संवर्द्धिनी" सभा का उल्लेख हो चुका है। ऐसी ही एक सभा सन् १८८४ में "हिंदी-उद्धारणी प्रतिनिधि मध्य-सभा" के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित हुई थी। सरकारी दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिये बाबू हरिश्चंद्र ने कई बार उद्योग किया था। सफलता न प्राप्त होने पर भी इस प्रकार का उद्योग बराबर चलता रहा। जब लेखकों की दूसरी पीढ़ी तैयार हुई तब उसे अपनी बहुत कुछ शक्ति प्रचार के काम में भी लगानी पड़ी।

भारतेंदु के अस्त होने के उपरांत ज्यों ज्यों हिंदी-गद्य-साहित्य की वृद्धि होती गई त्यों त्यों प्रचार की आवश्यकता भी अधिक दिखाई पड़ती गई। अदालती भाषा उर्दू होने से नव-शिक्षितों की अधिक संख्या उर्दू पढ़नेवालों की थी जिससे हिंदी-पुस्तकों के प्रकाशन का उत्साह बढ़ने नहीं पाता था। इस साहित्य-संकट के अतिरिक्त नागरी का प्रवेश सरकारी दफ्तरों में न होने से जनता का घोर संकट भी सामने था। अतः संवत् १९५० में कई उत्साही छात्रों के उद्योग से, जिनमें बाबू श्याम-सुंदरदास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमारसिंह मुख्य थे, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्त्ति बाबू श्याम-सुंदरदासजी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे ही आदि से अंत तक इसके प्राण-स्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगों में तत्पर करते रहे। इसके प्रथम सभा-

पति भारतेंदुजी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास हुए। इसके सहायकों में भारतेंदु के सहयोगियों में से कई सज्जन थे, जैसे—रायबहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए०, खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीनसिंह, 'भारतजीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा, बाबू गदाधरसिंह, बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री इत्यादि। इस सभा के उद्देश्य दो हुए—नागरी अक्षरों का प्रचार और हिंदी-साहित्य की समृद्धि।

उक्त दो उद्देश्यों में से यद्यपि प्रथम का प्रत्यक्ष संबंध हिंदी-साहित्य के इतिहास से नहीं जान पड़ता, पर परोक्ष संबंध अवश्य है। पहले कह आए हैं कि सरकारी दफ्तरों आदि में नागरी का प्रवेश न होने से नवशिक्षितों में हिंदी पढ़नेवालों की पर्याप्त संख्या नहीं थी। इससे नूतन साहित्य के निर्माण और प्रकाशन में पूरा उत्साह नहीं बना रहने पाता था। पुस्तकों का प्रचार होते न देख प्रकाशक भी हतोत्साह हो जाते थे और लेखक भी। ऐसी परिस्थिति में नागरीप्रचार के आंदोलन का साहित्य की वृद्धि के साथ भी संबंध मान हम संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

बाबू हरिश्चंद्र किस प्रकार नागरी और हिंदी के संबंध में अपनी चंद्रिका में लेख छापा करते और जगह जगह घूमकर वक्तृता दिया करते थे, यह हम पहले कह आए हैं। वे जब बलिया के हिंदी-प्रेमी कलक्टर के निमंत्रण पर वहाँ गए थे तब कई दिनों तक बड़ी धूम रही। हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता पर उनका बहुत अच्छा व्याख्यान तो हुआ ही था, साथ ही 'सत्यहरिश्चंद्र', 'अंधेरनगरी' और 'देवाक्षरचरित्र' के अभिनय भी हुए थे। "देवाक्षरचरित्र" पंडित रविदत्त शुक्ल का लिखा हुआ एक प्रहसन था जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बड़े ही विनोदपूर्ण दृश्य दिखाए गए थे।

भारतेंदु के अस्त होने के कुछ पहले ही नागरी-प्रचार का झंडा पंडित गौरीदत्तजी ने उठाया। ये मेरठ के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे और मुदर्रिसी करते थे। अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर इन्होंने अपनी सारी जायदाद नागरी-प्रचार के लिये लिखकर रजिस्टरी करा दी और आप संन्यासी होकर 'नागरी-प्रचार' का झंडा हाथ में लिए चारों ओर घूमने लगे। इनके व्याख्यानों के प्रभाव से न जाने कितने देवनागरी-स्कूल मेरठ के आस पास खुले। शिक्षा-संबंधिनी कई पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। प्रसिद्ध "गौरी-नागरी-कोश" इन्हीं का है। जहाँ कहीं कोई मेला तमाशा होता वहाँ पंडित गौरीदत्तजी लड़कों की खासी भीड़ पीछे लगाए नागरी का झंडा हाथ में लिए दिखाई देते थे। मिलने पर 'प्रणाम', 'जयराम' आदि के स्थान पर लोग इनसे "जय नागरी की" कहा करते थे। इन्होंने संवत् १९५१ में दफ्तरों में नागरी जारी करने के लिये एक मेमोरियल भी भेजा था।

नागरी-प्रचारिणी सभा अपनी स्थापना के कुछ ही दिनों पीछे दबाई हुई नागरी के उद्धार के उद्योग में लग गई। संवत् १९५२ में जब इस प्रदेश के छोटे लाट सर एंटनी (पीछे लार्ड) मैकडानल काशी में आए तब सभा ने एक आवेदन-पत्र उनको दिया और सरकारी दफ्तरों से नागरी को दूर रखने से जनता को जो कठिनाइयाँ हो रही थीं और शिक्षा के सम्यक् प्रचार में जो बाधाएँ पड़ रही थीं, उन्हें सामने रखा। जब उन्होंने इस विषय पर पूरा विचार करने का वचन दिया तब से बराबर सभा व्याख्यानों और परचों द्वारा जनता के उत्साह को जाग्रत करती रही। न जाने कितने स्थानों पर डेपुटेशन भेजे गए और हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। भिन्न भिन्न नगरों में सभा की शाखाएँ स्थापित

हुई। संवत १९५५ में एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन—जिसमें अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायणसिंह, माँडा के राजा रामप्रसादसिंह, आवागढ़ के राजा बलवंतसिंह, डाक्टर सुंदर लाल और पंडित मदनमोहन मालवीय ऐसे मान्य और प्रतिष्ठित लोग थे—लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया।

उक्त मेमोरियल की सफलता के लिये कितना भीषण उद्योग प्रांत भर में किया गया था, यह बहुत लोगों को स्मरण होगा। सभा की ओर से न जाने कितने सज्जन सब नगरों में जनता के हस्ताक्षर लेने के लिये भेजे गए जिन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। इस आंदोलन के प्रधान नायक देशपूज्य श्रीमान् पंडित मदनमोहन मालवीयजी थे। उन्होंने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नाम की एक बड़ी अँगरेजी पुस्तक, जिसमें नागरी को दूर रखने के दुष्परिणामों की बड़ी ही विस्तृत और अनुसंधान-पूर्ण मीमांसा थी, लिखकर प्रकाशित की। अंत में संवत् १९५७ में भारतेंदु के समय से ही चले आते हुए इस उद्योग का फल प्रकट हुआ और कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

सभा के साहित्यिक आयोजनों के भीतर हम बराबर हिंदी-प्रेमियों की सामान्य आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों का परिचय पाते आ रहे हैं। पहले ही वर्ष "नागरीदास का जीवनचरित्र" नामक जो लेख पढ़ा गया वह कवियों के विषय में बढ़ती हुई लोकजिज्ञासा का पता देता है। हिंदी के पुराने कवियों का कुछ इतिवृत्त-संग्रह पहले पहल संवत् १८९६ में गार्साँ द तासी ने अपने "हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास" में किया, फिर सं० १९४० में ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने "शिवसिंह-सरोज" में किया। उसके पीछे प्रसिद्ध भाषावेत्ता डाक्टर (अब सर) ग्रियर्सन ने संवत

१९४६ में Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan प्रकाशित किया। कवियों का वृत्त भी साहित्य का एक अंग है। अतः सभा ने आगे चलकर हिंदी पुस्तकों की खोज का काम भी अपने हाथ में लिया जिससे बहुत से गुप्त और अप्रकाशित रत्नों के मिलने की पूरी आशा के साथ साथ कवियों का बहुत कुछ वृत्तांत प्रकट होने की भी पूरी संभावना थी। संवत् १९५६ में सभा को गवर्मेंट से ४००) वार्षिक सहायता इस काम के लिये प्राप्त हुई और खोज धूमधाम से आरंभ हुई। यह वार्षिक सहायता ज्यों ज्यों बढ़ती गई त्यों त्यों काम भी अधिक विस्तृत रूप में होता गया। इसी खोज का फल है कि आज कई सौ ऐसे कवियों की कृतियों का परिचय हमें प्राप्त है जिनका पहले पता न था। कुछ कवियों के संबंध में बहुत सी बातों की नई जानकारी भी हुई। "सभा की ग्रंथमाला" में कई पुराने कवियों के अच्छे अच्छे अप्रकाशित ग्रंथ छपे। सारांश यह कि इस खोज के द्वारा हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने की खासी सामग्री उपस्थित हुई जिसकी सहायता से दो एक अच्छे कविवृत्त-संग्रह भी हिंदी में निकले।

हिंदी भाषा के द्वारा ही सब प्रकार के वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा की व्यवस्था का विचार भी लोगों के चित्त में अब उठ रहा था। पर बड़ी भारी कठिनता पारिभाषिक शब्दों के संबंध में थी। इससे अनेक विद्वानों के सहयोग और परामर्श से संवत् १९६३ में सभा ने "वैज्ञानिक कोश" प्रकाशित किया। भिन्न भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखाकर प्रकाशित करने का काम तो तब से अब तक बराबर चल ही रहा है। स्थापना के तीन वर्ष पीछे ही सभा ने अपनी पत्रिका (ना० प्र० पत्रिका) निकाली जिसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक सब प्रकार के लेख आरंभ ही से निकलने लगे थे और जो आज भी

साहित्य से संबंध रखनेवाले अनुसंधान और पर्य्यालोचन का उद्देश्य रखकर चल रही है। 'छत्रप्रकाश', 'सुजान-चरित्र', 'जंगनामा', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो' आदि पुराने ऐतिहासिक काव्यों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त तुलसी, जायसी, भूषण, देव ऐसे प्रसिद्ध कवियों की ग्रंथावलियों के भी बहुत सुंदर संस्करण सभा ने निकाले हैं। "मनोरंजन पुस्तक-माला" में ५० से ऊपर भिन्न भिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकें निकल चुकी हैं। हिंदी का सब से बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण तथा कोश (हिंदी शब्दसागर) इस सभा के चिर-स्थायी कार्य्यों में गिने जायँगे।

इस सभा ने अपने ३५ वर्ष के जीवन में हिंदी-साहित्य के "वर्तमान काल" की तीनों अवस्थाएँ देखी हैं। जिस समय यह स्थापित हुई थी उस समय भारतेंदु द्वारा प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान की ही परंपरा चली आ रही थी। वह प्रचार-काल था। नागरी अक्षरों और हिंदी-साहित्य के प्रचार के मार्ग में बड़ी बड़ी बाधाएँ थीं। 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' की प्रारंभिक संख्याओं को यदि हम निकालकर देखें तो उनमें अनेक विषयों के लेखों के अतिरिक्त कहीं कहीं ऐसी कविताएँ भी मिल जायँगी जैसी श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'नागरी तेरी यह दशा !"

नूतन हिंदी-साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हँसता खेलता सामने आया था, भारतेंदु के सहयोगी लेखकों का वह मंडल किस जोश और जिंदःदिली के साथ और कैसी चहल-पहल के बीच अपना काम कर गया, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। सभा की स्थापना के पीछे घर सँभालने की चिंता और व्यग्रता के से कुछ चिह्न हिंदी-सेवक-मंडल के बीच दिखाई पड़ने लगे थे। भारतेंदुजी के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ न कुछ लिखते तो जा रहे थे, पर उनमें वह तत्परता और वह उत्साह नहीं रह गया

था। बाबू हरिश्चंद्र के गोलोकवास के कुछ आगे-पीछे जिन लोगों ने साहित्य-सेवा ग्रहण की थी वे ही अब प्रौढ़ता प्राप्त करके काल की गति परखते हुए अपने कार्य में तत्पर दिखाई देते थे। उनके अतिरिक्त कुछ नए लोग भी मैदान में धीरे धीरे उतर रहे थे। यह नवीन हिंदी साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरंभ में 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।

प्रकरण ३

गद्य-साहित्य का प्रसार

द्वितीय उत्थान

१९५०—१९७५

सामान्य परिचय

इस उत्थान का आरंभ हम संवत् १९५० से मान सकते हैं। इसमें हम कुछ ऐसी चिंताओं और आकांक्षाओं का आभास पाते हैं जिनका समय भारतेंदु के सामने नहीं आया था। भारतेंदु-मंडल मनोरंजक साहित्य-निर्माण द्वारा हिंदी-गद्य-साहित्य की स्वतंत्र सत्ता का भाव ही प्रतिष्ठित करने में अधिकतर लगा रहा। अब यह भाव पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था और शिक्षित समाज को अपने इस नए गद्य-साहित्य का बहुत कुछ परिचय भी हो गया था। प्रथम उत्थान के भीतर बहुत बड़ी शिकायत यह रहा करती थी कि अँगरेजी की ऊँची शिक्षा पाए हुए बड़े बड़े डिग्रीधारी लोग हिंदी-साहित्य के नूतन निर्माण में योग नहीं देते और अपनी मातृभाषा से उदासीन रहते हैं। द्वितीय उत्थान में यह शिकायत बहुत कुछ कम हुई। उच्च-शिक्षा-प्राप्त लोग धीरे धीरे आने लगे—पर अधिकतर यह कहते हुए कि "मुझे तो हिंदी आती नहीं"। इधर से जवाब मिलता था "तो क्या हुआ ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए।" अतः

बहुत से लोगों ने हिंदी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। उनकी भाषा में जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दर गुजर कर दिए जाते थे। जब वे कुछ काम कर चुकते थे—दो चार चीजें लिख चुकते थे—तब तो पूरे लेखक हो जाते थे। फिर उन्हें हिंदी आने न आने की परवा क्यों होने लगी ?

इस काल-खंड के बीच हिंदी लेखकों की तारीफ में प्रायः यही कहा-सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, वे अरबी-फारसी के पूरे विद्वान् हैं, ये अँगरेजी के अच्छे पंडित हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिंदी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं होता था कि हिंदी भी कोई जानने की चीज है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिंदी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों में फारसीदानी, अँगरेजीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना जरूरी समझने लगे थे।

भाषा बिगड़ने का एक और सामान दूसरी ओर खड़ा हो गया था। हिंदी के पाठकों का अब वैसा अकाल नहीं था—विशेषतः उपन्यास पढ़नेवालों का। बँगला-उपन्यासों के अनुवाद धड़ाधड़ निकलने लगे थे। बहुत से लोग हिंदी लिखना सीखने के लिये केवल संस्कृत शब्दों की जानकारी ही आवश्यक समझते थे जो बँगला की पुस्तकों से प्राप्त हो जाती थी। यह जानकारी थोड़ी बहुत होते ही वे बँगला से अनुवाद भी कर लेते थे और हिंदी के लेख भी लिखने लगते थे। अतः एक ओर तो अँगरेजीदानों की ओर से "स्वार्थ लेना", "जीवन होड़", "कवि का संदेश", "दृष्टिकोण" आदि आने लगे; दूसरी ओर बंगभाषाश्रित लोगों की ओर से 'सिहरना', 'काँदना', 'वसंत रोग' आदि। इतना अवश्य था कि पिछले कैंड़े के लोगों की लिखावट उतनी अजनबी नहीं लगती थी जितनी पहले कैंड़ेवालों की। बंगभाषा

फिर भी अपने देश की और हिंदी से मिलती जुलती भाषा थी। उसके अभ्यास से प्रसंग या स्थल के अनुरूप बहुत ही सुंदर और उपयुक्त संस्कृत शब्द मिलते थे। अतः बंगभाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुंदर संस्कृत पद-विन्यास की परंपरा हिंदी में आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।

पर "अँगरेजी में विचार करनेवाले" जब आपटे का अँगरेजी-संस्कृत कोश लेकर अपने विचारों का शाब्दिक अनुवाद करने बैठते थे तब तो हिंदी बेचारी कोसों दूर जा खड़ी होती थी। वे हिंदी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिंदी भाषा नहीं लिखते थे। उनके बहुत से वाक्यों का तात्पर्य अँगरेजी भाषा की भावभंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे, केवल हिंदी या संस्कृत जाननेवाले नहीं।

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदुजी और उनके सहयोगी लेखकों की दृष्टि व्याकरण के नियमों पर अच्छी तरह जमी नहीं थी। वे "इच्छा किया", "आशा किया" ऐसे प्रयोग भी कर जाते थे और वाक्यविन्यास की सफाई पर भी उतना ध्यान नहीं रखते थे। पर उनकी भाषा हिंदी ही होती थी, मुहावरे के खिलाफ प्रायः नहीं जाती थी। पर द्वितीय उत्थान के भीतर बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि दोनों साथ साथ दिखाई पड़ती रहीं। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर तो थोड़े ही दिनों में कोपदृष्टि पड़ी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिये हमारा हिंदी-साहित्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्त्तक द्विवेदीजी ही थे। 'सरस्वती' के संपादक

के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। यद्यपि कुछ हठी और अनाड़ी लेखक अपनी भूलों और गलतियों का समर्थन तरह तरह की बातें बना कर करते रहे, पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिये शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।

व्याकरण की ओर इस प्रकार ध्यान जाने पर कुछ दिनों व्याकरण-संबंधिनी बातों की चर्चा भी पत्रों में अच्छी चली। विभक्तियाँ शब्दों से मिलाकर लिखी जानी चाहिएँ या अलग, इसी प्रश्न को लेकर कुछ काल तक खंडन-मंडन के लेख जोर-शोर से निकले। इस आंदोलन के नायक हुए थे—पंडित गोविंद-नारायणजी मिश्र, जिन्होंने "विभक्ति-विचार" नाम की एक छोटी सी पुस्तक द्वारा हिंदी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ बता कर लोगों को उन्हें मिलाकर लिखने की सलाह दी थी।

इस द्वितीय उत्थान में जैसे अधिक प्रकार के विषय लेखकों की विस्तृत दृष्टि के भीतर आए वैसे ही शैली की अनेकरूपता का अधिक विकास भी हुआ। ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी जिनकी शैली में कुछ उनकी निज की विशिष्टता रहती थी, जिनकी लिखावट को परख कर लोग कह सकते थे कि यह उन्हीं की है। साथ ही वाक्य-विन्यास में अधिक सफ़ाई और व्यवस्था आई। विराम-चिह्नों का आवश्यक प्रयोग होने लगा। अँगरेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा से परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखनेवाले कुछ लेखकों की कृपा से हिंदी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यंजन-प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ।

सघन और गुंफित विचारसूत्रों को व्यक्त करनेवाली तथा सूक्ष्म और गूढ़ भावों को झलकानेवाली भाषा हिंदी-साहित्य को कुछ कुछ प्राप्त होने लगी। उसी के अनुरूप हमारे साहित्य का डौल भी बहुत कुछ ऊँचा हुआ। बँगला के उत्कृष्ट सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लगातार आते रहने से रुचि परिष्कृत होती रही, जिससे कुछ दिनों की तिलस्म ऐयारी और जासूसी के उपरांत उच्च कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचना का दिन भी ईश्वर ने दिखाया।

नाटक के क्षेत्र में वैसी उन्नति नहीं दिखाई पड़ी। बाबू राधाकृष्णदास के "महाराणा प्रताप" (या राजस्थान केसरी) की कुछ दिन धूम रही और उसका अभिनय भी बहुत बार हुआ। राय देवीप्रसादजी पूर्ण ने "चंद्रकला भानुकुमार" नामक एक बहुत बड़े डीलडौल का नाटक लिखा पर वह साहित्य के विविध अंगों से पूर्ण होने पर भी वस्तु-वैचित्र्य के अभाव तथा भाषणों की कृत्रिमता आदि के कारण उतना प्रसिद्ध न हो सका। बँगला के नाटकों के कुछ अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा के बाद भी होते रहे पर उतनी अधिकता से नहीं जितनी अधिकता से उपन्यासों के। इससे नाटक की गति बहुत मंद रही। हिंदी-प्रेमियों के उत्साह से स्थापित प्रयाग और काशी की नाटक-मंडलियों (जैसे, भारतेंदु नाटक-मंडली) के लिये रंगशाला के अनुकूल दो एक छोटे मोटे नाटक अवश्य लिखे गए पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके। प्रयाग में पंडित माधव शुक्लजी और काशी में पंडित दुगवेकरजी अपनी रचनाओं और अनूठे अभिनयों द्वारा बहुत दिनों तक दृश्य काव्य की रुचि जगाए रहे। इसके उपरांत बँगला में श्री द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों की धूम हुई और उनके अनुवाद हिंदी में धड़ाधड़ हुए। इसी प्रकार रवींद्र बाबू के कुछ नाटक भी हिंदी

रूप में लाए गए। द्वितीय उत्थान के अंत में दृश्य काव्य की अवस्था यही रही।

निबंधों की ओर यद्यपि बहुत कम ध्यान दिया गया और उसकी परंपरा ऐसी न चली कि हम ५-७ उच्च कोटि के निबंध-लेखकों को उसी प्रकार झट से छाँटकर बता सकें जिस प्रकार अँगरेजी साहित्य में बता दिए जाते हैं, फिर भी बीच बीच में अच्छे और उच्च कोटि के निबंध मासिक-पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते रहे। इस द्वितीय उत्थान में साहित्य के एक एक अंग को लेकर जैसी विशिष्टता लेखकों में आ जानी चाहिए थी वैसी विशिष्टता न आ पाई। किसी विषय में अपनी सबसे अधिक शक्ति देख उसे अपना कर बैठने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई दी। बहुत से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबार-नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करने लगते और कभी इतिहास और पुरातत्त्व की बातें लेकर सामने आते। ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करनेवाले गूढ़, गंभीर निबंध-लेखक कहाँ से तैयार होते? फिर भी भिन्न भिन्न शैलियाँ प्रदर्शित करने-वाले कई अच्छे लेखक इस बीच में बताए जा सकते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जो कुछ लिखा है वह महत्त्व का है।

समालोचना का आरंभ यद्यपि भारतेंदु के जीवनकाल में ही कुछ न कुछ हो गया था पर उसका कुछ अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ा। श्रीयुत पंडित महावीर-प्रसादजी द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। फिर मिश्रबंधुओं और पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने अपने ढँग पर कुछ पुराने कवियों के संबंध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुणदोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता,

इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होनेवाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।

साहित्यिक मूल्य रखनेवाले तीन जीवनचरित महत्त्व के निकले पंडित माधवप्रसाद मिश्र की "विशुद्ध चरितावली" (स्वामी विशुद्धानंद का जीवनचरित) तथा बाबू शिवनंदन सहाय लिखित "बाबू हरिश्चंद्र का जीवनचरित", "गोस्वामी तुलसीदासजी का जीवनचरित" और चैतन्य महाप्रभु का जीवनचरित।

द्वितीय उत्थान के भीतर गद्य-साहित्य का निर्माण इतने परिमाण में और इतने रूपों में हो गया कि हम उसका निरूपण कुछ विभाग करके कर सकते हैं। सुभीते के लिये हम चार विभाग करते हैं—नाटक, उपन्यास-कहानियाँ, निबंध और समालोचना।

नाटक

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारतेंदु के पीछे नाटकों की ओर प्रवृत्ति बहुत कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक दिखाई न पड़े। अनुवादों की परंपरा अलबत चलती रही।

बंगभाषा के अनुवाद—बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा वीरनारी, कृष्णकुमारी और पद्मावती नाटकों के अनुवाद का उल्लेख पहले हो चुका है। सं० १९५० के पीछे गहमर (जि० गाजीपुर) के बाबू गोपालराम ने 'वनवीर', 'बभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्याविनोद' और रवींद्र बाबू के 'चित्रांगदा' का अनुवाद किया।

द्वितीय उत्थान के अंतिम भाग में पं० रूपनारायण पांडे ने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरोदप्रसाद विद्या-विनोद के 'खानजहाँ', रवींद्र बाबू के 'अचलायतन' तथा द्विजेंद्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहाँ', 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि कई नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। अनुवादों की भाषा अच्छी खासी हिंदी है और मूल के भावों को ठीक ठीक व्यक्त करती है। इन नाटकों के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि इनमें बंगवासियों की आवेशशील प्रकृति का आरोप अनेक पात्रों में पाया

जाता है जिससे बहुत से इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तियों के क्षोभपूर्ण लंबे भाषण उनके अनुरूप नहीं जान पड़ते। प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर लिखे हुए नाटकों में उस काल की संस्कृति और परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन नहीं प्रकट होता।

अँगरेजी के अनुवाद—जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ एम०ए० ने सं० १९५० के कुछ आगे पीछे शेक्सपियर के इन तीन नाटकों के अनुवाद किए—रोमियो जुलियट ('प्रेमलीला' के नाम से), ऐज यू लाइक इट और वेनिस का बैपारी। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी के छोटे भाई पं० मथुराप्रसाद चौधरी ने सं० १९५० में 'मैकबेथ' का बहुत अच्छा अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से प्रकाशित किया। इसके उपरांत सं० १९६७ के लगभग 'हैमलेट' का एक अनुवाद 'जयंत' के नाम से निकला जो वास्तव में मराठी अनुवाद का हिंदी अनुवाद था।

संस्कृत के अनुवाद—संस्कृत के नाटकों के अनुवाद के लिये राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० सदा आदर के साथ स्मरण किए जायँगे। भारतेंदु की मृत्यु से दो वर्ष पहले ही उन्होंने संस्कृत काव्यों के अनुवाद में लग्गा लगाया और सं० १९४० में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी छंदों में प्रकाशित किया। इसके उपरांत वे बराबर किसी न किसी काव्य, नाटक का अनुवाद करते रहे। सं० १९४४ में उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। फिर तो धीरे धीरे उन्होंने मृच्छकटिक, महावीरचरित, उत्तर-रामचरित, मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र का भी अनुवाद कर डाला। यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिंदी बहुत सीधी सादी, सरल और आडंबर-शून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढँग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पाई है।

भारतेंदु के समय में वे काशी के कींस-कालेज-स्कूल के सेकंड मास्टर थे। पीछे डिपटी कलक्टर हुए और अंत में शांति-पूर्वक प्रयाग में आ रहे जहाँ २ जनवरी १९३७ को उनका साकेतवास हुआ।

संस्कृत के अनेक पुराण-ग्रंथों के अनुवादक, रामचरित-मानस, बिहारी सतसई के टीकाकार, सनातन धर्म के प्रसिद्ध व्याख्याता मुरादाबाद के पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'वेणीसंहार' और 'अभिज्ञान शाकुंतल' के हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत किए। संस्कृत की 'रत्नावली नाटिका' हरिश्चन्द्र को बहुत पसंद थी और उसके कुछ अंश का अनुवाद भी उन्होंने किया था, पर पूरा न कर सके थे। भारत-मित्र के प्रसिद्ध संपादक, हिंदी के बहुत ही सिद्ध-हस्त लेखक बा० बालमुकुंद गुप्त ने उक्त नाटिका का पूरा अनुवाद अत्यंत सफलतापूर्वक किया।

संवत् १९७० में पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' का और पीछे 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कविरत्नजी के ये दोनों अनुवाद बहुत ही सरस हुए जिनमें मूल के भावों की रक्षा का भी पूरा ध्यान रखा गया है। पद्य अधिकतर ब्रजभाषा के सवैयों में हैं जो पढ़ने में बहुत मधुर हैं। इन पद्यों में खटकनेवाली केवल दो बातें कहीं कहीं मिलती हैं। पहली बात तो यह है कि ब्रजभाषा-साहित्य में स्वीकृत शब्दों के अतिरिक्त वे कुछ स्थलों पर ऐसे शब्द भी लाए हैं जो एक भूभाग तक ही (चाहे वह ब्रजमंडल के अंतर्गत ही क्यों न हो) परिमित हैं। शिष्ट साहित्य में ब्रजमंडल के भीतर बोले जानेवाले सब शब्द नहीं ग्रहण किए हैं। ब्रजभाषा देश की सामान्य काव्यभाषा रही है। अतः काव्यों में उसके वे ही शब्द लिए गए हैं जो बहुत दूर तक बोले जाते हैं और थोड़े बहुत सब स्थानों में समझ लिए जाते हैं। उदाहरण के लिये 'सिदौसी'

शब्द लीजिए जो खास मथुरा-वृंदावन में बोला जाता है, पर साहित्य में नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि, कहीं कहीं श्लोकों का पूरा भाव लाने के प्रयत्न में भाषा दुरूह और अव्यवस्थित हो गई है।

मौलिक नाटक—काशी-निवासी पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रथम उत्थान के अंत में दो नाटक लिखे थे—'चौपट-चपेट' और 'मयंक मंजरी'। इनमें से प्रथम तो एक प्रहसन था जिसमें चरित्रहीन और छलकपट से भरी स्त्रियों तथा लुच्चों लफंगों आदि के बीभत्स और अश्लील चित्र अंकित किए गए थे। दूसरा पाँच अंकों का नाटक था जो शृंगार रस की दृष्टि से सं० १९४८ में लिखा गया था। यह भी साहित्य में कोई विशेष स्थान न प्राप्त कर सका और लोक-विस्मृत हो गया। हिंदी के विख्यात कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की प्रवृत्ति इस द्वितीय उत्थान के आरंभ में नाटक लिखने की ओर भी हुई थी और उन्होंने 'रुक्मिणी-परिणय' और 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' नाम के दो नाटक लिखे थे। ये दोनों नाटक उपाध्यायजी ने हाथ आजमाने के लिये लिखे थे। आगे उन्होंने इस ओर कोई प्रयत्न नहीं किया।

पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संस्कृत नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त 'सीता-वनवास' नामका एक नाटक लिखा भी था जिसमें भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' की कुछ झलक थी। उनके भाई पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने तीन अच्छे रूपक लिखे। 'प्रभास-मिलन' व्रज के नंद, यशोदा, गोप-गोपियों आदि की प्रभास-क्षेत्र में वसुदेव, कृष्ण, बलराम आदि से भेंट होने का मार्मिक प्रसंग लेकर बड़ी सहृदयता के साथ रचा गया। 'मीराबाई नाटक' भक्ति-भाव जगानेवाला उत्तम नाटक है। 'लज्जा बाबू' समाज का एक छोटा सा खंड-चित्र दिखानेवाला अच्छा प्रहसन है।

भारतेंदु का बृहत् जीवनचरित लिखनेवाले बा० शिवनंदन सहाय का 'सुदामा नाटक' भी उल्लेख-योग्य है।

इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथा-वस्तु के लिये लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। वर्त्त-मान सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विविध उलझे हुए पक्षों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करके उनके मार्मिक या अनूठे चित्र खड़ा करनेवाली उद्भावना उनमें नहीं पाई जाती। इस द्वितीय उत्थान के बीच कल्पित कथा-वस्तु लेकर लिखा जानेवाला बहुत बड़ा मौलिक नाटक कानपुर के प्रसिद्ध कवि राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का 'चंद्रकला-भानुकुमार' है। पर वह भी इतिहास के मध्ययुग के राजकुमारों और राजकुमारियों का जीवन सामने लाता है।

"पूर्णजी" ब्रजभाषा के एक बड़े ही सिद्धहस्त कवि थे, साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने इस नाटक को शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से ही लिखा था, अभिनय के उद्देश्य से नहीं। वस्तु-विन्यास में कुतूहल उत्पन्न करनेवाला जो वैचित्र्य होता है उसके न रहने से कम ही लोगों के हाथ में यह नाटक पड़ा। ललित और अलंकृत भाषण के बीच बीच में मधुर पद्य पढ़ने की उत्कंठा रखनेवाले पाठकों ही ने अधिकतर इसे पढ़ा।

उपन्यास

इस द्वितीय उत्थान में आलस्य का जैसा त्याग उपन्यासकारों में देखा गया वैसा किसी और वर्ग के हिंदी-लेखकों में नहीं। अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक धड़ाधड़ निकले—किस प्रकार के, यह आगे प्रकट किया जायगा। पहले अनुवादों की बात खतम कर देनी चाहिए।

अनुवाद—सं० १९५१ तक बा० रामकृष्ण वर्मा उर्दू और अँगरेजी से भी कुछ अनुवाद कर चुके थे, जैसे—'ठगवृत्तांत-माला' (सं० १९४६), पुलिस वृत्तांतमाला (१९४७), अकबर (१९४८), अमलावृत्तांतमाला (१९५१)। 'चित्तौरचातकी' का बंगभाषा से अनुवाद उन्होंने सं० १९५२ में किया। यह पुस्तक चित्तौर के राजवंश की मर्य्यादा के विरुद्ध समझी गई और इसके विरोध में यहाँ तक आंदोलन हुआ कि सब कापियाँ गंगा में फेंक दी गईं। फिर बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (१९५२) और 'प्रमीला' (१९५३) का अनुवाद किया। 'जया' और 'मधुमालती' के अनुवाद दो एक बरस पीछे निकले।

भारतेंदु-प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान के अनुवादकों में भारतेंदुकाल की हिंदी की विशेषता बनी रही। उपर्युक्त तीनों लेखकों की भाषा बहुत ही साधु और संयत रही। यद्यपि उसमें चटपटापन न था पर हिंदीपन पूरा पूरा था। फारसी-अरबी के शब्द बहुत ही कम दिखाई देते हैं, साथ ही संस्कृत के शब्द भी ऐसे ही आए हैं जो हिंदी के परंपरागत रूप में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं उत्पन्न करते। सारांश यह कि उन्होंने 'शूरता', 'चपलता', 'लघुता', 'मूर्खता', 'सहायता', 'दीर्घता', 'मृदुता' ऐसी संस्कृत का सहारा लिया है; 'शौर्य्य', 'चापल्य', 'लाघव', 'मौर्ख्य', 'साहाय्य', 'दैर्घ्य' और 'मार्दव' ऐसी संस्कृत का नहीं।

द्वितीय उत्थान के आरंभ में हमें बाबू गोपालराम (गहमर) बंगभाषा के गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद में तत्पर मिलते हैं। उनके कुछ उपन्यास तो इस उत्थान (सं० १९५७) के पूर्व लिखे गए—जैसे चतुर चंचला (१९५०), भानमती (१९५१), नए बाबू (१९५१)—और बहुत से इसके आरंभ में, जैसे 'बड़ा भाई' (१९५७), देवरानी जेठानी (१९५८), दो बहिन (१९५९), तीन पतोहू (१९६१) और सास-पतोहू। भाषा उनकी चटपटी

और वक्रतापूर्ण है। ये गुण लाने के लिये कहीं कहीं उन्होंने पूरबी शब्दों और मुहावरों का भी बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढंग बहुत ही मनोरंजक है। इसी काल के आरंभ में गाजीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल के भी कुछ अनुवाद निकले जिनमें मुख्य "दीपनिर्वाण" नामक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें पृथ्वीराज के समय का चित्र है।

इस उत्थान के भीतर बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चंडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारुचंद्र इत्यादि बंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए, रवींद्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यास हिंदी रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अंत में आविर्भूत होनेवाले हिंदी के मौलिक उपन्यास-कारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवाद-विधान में योग देनेवालों में पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा और पंडित रूप-नारायण पांडेय विशेष उल्लेख योग्य हैं। बंगभाषा के अतिरिक्त उर्दू, मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों के अनुवाद हिंदी में हुए पर बँगला की अपेक्षा बहुत कम। काशी के बा० गंगाप्रसाद गुप्त ने 'पूना में हलचल', आदि कई उपन्यास उर्दू से अनुवाद करके निकाले। मराठी से अनूदित उपन्यासों में बा० रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' बहुत उत्कृष्ट है।

अँगरेजी के दो ही चार उपन्यासों के अनुवाद देखने में आए—जैसे, रेनल्ड्स कृत 'लैला' और 'लंडन रहस्य'। अँगरेजी के प्रसिद्ध उपन्यास 'टाम काका की कुटिया' का भी अनुवाद हुआ।

अनुवादों की चर्चा यहीं समाप्त कर अब हम मौलिक उपन्यासों को लेते हैं।

पहले मौलिक उपन्यास-लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्व-साधारण में धूम हुई, काशी के **बाबू देवकीनंदन खत्री** थे। द्वितीय उत्थान-काल के पहले ही ये नरेंद्रमोहिनी, कुसुम-कुमारी, वीरेंद्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्त काल के आरंभ में तो 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबें नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गए। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा; रससंचार, भाव-विभूति या चरित्रचित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते। पर हिंदी-साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिये सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने उत्पन्न किए उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं। चंद्रकांता पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दू-जीवी लोगों ने हिंदी सीखी। चंद्रकांता पढ़ चुकने पर वे "चंद्रकांता की किस्म की कोई किताब" ढूँढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू शुरू में 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गए। 'चंद्रकांता' पढ़कर वे हिंदी की और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।

बाबू देवकीनंदन के प्रभाव से "तिलस्म" और "ऐयारी" के उपन्यासों की हिंदी में बहुत दिनों तक भरमार रही और शायद अभी तक यह शौक बिल्कुल ठंढा नहीं हुआ है। बाबू देवकीनंदन के तिलस्मी रास्ते पर चलनेवालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेख योग्य हैं।

बाबू देवकीनंदन के संबंध में इतना और कह देना जरूरी है कि उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह समझना, कि उन्होंने राजा शिवप्रसाद वाली उस पिछली 'आम-फ़हम' भाषा का बिलकुल अनुसरण किया जो एक दम उर्दू की ओर झुक गई थी, ठीक नहीं। कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिखकर "हिंदुस्तानी" लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हलकी रचनाओं में काम दे सकती है।

उपन्यासों का ढेर लगा देनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार **पंडित किशोरीलाल गोस्वामी** (जन्म सं० १९२२—मृत्यु १९८९) हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्य-कोटि में आती हैं। इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूप-रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है। गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक थे। संवत् १९५५ में उन्होंने "उपन्यास" मासिक पत्र निकाला और इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिखकर प्रकाशित किए। अतः साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए। इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामीजी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी में रम गए। यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की

वासनाएँ प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के संबंध में अधिक हुई थी।

एक और बात जरा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मजाक। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ। उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। इस शौक के कुछ आगे पीछे उन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवनचरित लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ के ३ अंकों में (भाग १ संख्या २, ३, ४) निकला। उर्दू जबान और शेर-सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। ग़लत या ग़लत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दरजे से गिरा देते हैं। ख़ैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया। 'मल्लिका देवी या बंग-सरोजिनी' में संस्कृतप्राय समास-बहुला भाषा काम में लाई गई है। इन दोनों प्रकार की लिखावटों को देखकर कोई विदेशी चकपकाकर पूछ सकता है कि "क्या दोनों हिंदी हैं?" "हम यह भी कर सकते हैं, वह भी कर सकते हैं" इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखकों को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगों की भाषा को बहुत कुछ डाँवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।

गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसंधान नहीं सूचित होता। कहीं कहीं तो कालदोष तुरंत ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के कुछ उपन्यासों के नाम ये हैं—तारा, चपला, तरुण-तपस्विनी, रजिया बेगम,

लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी, हीराबाई, लखनऊ की कब्र इत्यादि इत्यादि।

प्रसिद्ध कवि और गद्यलेखक पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिंदी में लिखे—ठेठ हिंदी का ठाट (सं० १९५६) और अधखिला फूल (१९६४)। पर ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गईं, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उनकी सबसे पहले लिखी पुस्तक "वेनिस का बाँका" में जैसे भाषा संस्कृतपन की सीमा पर पहुँची हुई थी वैसे ही इन दोनों पुस्तकों में ठेठपन की हद दिखाई देती है। इन तीनों पुस्तकों को सामने रखने पर पहला खयाल यही पैदा होता है कि उपाध्यायजी क्लिष्ट संस्कृतप्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिंदी भी। अधिकतर इसी भाषा-वैचित्र्य पर खयाल जमकर रह जाता है। उपाध्यायजी के साथ पंडित लज्जाराम मेहता का भी स्मरण आता है जो अखबार-नवीसी के बीच बीच में पुरानी हिंदू-मर्य्यादा, हिंदूधर्म और हिंदू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता और समीचीनता दिखाने के लिये छोटे बड़े उपन्यास भी लिखा करते थे। उपन्यासों में मुख्य ये हैं—'धूर्त रसिकलाल' (सं० १९५६), हिंदू गृहस्थ, आदर्श दंपति (१९६१), बिगड़े का सुधार (१९६४) और आदर्श हिंदू (१९७२)। ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्यायजी कवि हैं और मेहताजी पुराने अखबार-नवीस।

काव्य-कोटि में आनेवाले भावप्रधान उपन्यास, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्र-चित्रण या घटना-वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिंदी में न देख, और बंगभाषा में काफी देख, बाबू ब्रजनंदन सहाय बी० ए० ने दो उपन्यास इस ढँग के प्रस्तुत किए—"सौंदर्य्योपासक" और "राधाकांत" (सं० १९६९)।

छोटी कहानियाँ

जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा-कहानी कहना और सुनना भी। कहानियों का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों में चला आ रहा है। सब जगह उनका समावेश शिष्ट साहित्य के भीतर भी हुआ है। घटना-प्रधान और मार्मिक, उनके ये दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी। बृहत्कथा, बैताल-पचीसी, सिंहासन बत्तीसी इत्यादि घटनाचक्र में रमानेवाली कथाओं की पुरानी पोथियाँ हैं। कादंबरी, माधवानल काम-कंदला, सीत-बसंत इत्यादि वृत्त-वैचित्र्य-पूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमानेवाले भाव-प्रधान आख्यान हैं। इन दोनों कोटि की कहानियों में एक बड़ा भारी भेद तो यह दिखाई देगा कि प्रथम में इतिवृत्त का प्रवाह मात्र अपेक्षित होता है; पर दूसरी कोटि की कहानियों में भिन्न भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है।

आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों के स्वरूप का विकास इसी भेद के आधार पर क्रमशः हुआ है। इस स्वरूप के विकास के लिये कुछ बातें नाटकों की ली गईं, जैसे—कथोप-कथन, घटनाओं का विन्यास-वैचित्र्य, बाह्य और आभ्यंतर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भाव-व्यंजना। इति-वृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही; वह तो बना ही रहेगा। उसमें अंतर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा-कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था जिसमें घटनाएँ पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं। पर योरप में जो नए ढंग के कथानक नावेल के नाम से चले और बंगभाषा में आकर 'उपन्यास' कहलाए

(मराठी में वे 'कादंबरी' कहलाने लगे) वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरंभ में रख कर चल सकते हैं और उनमें घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जाकर इधर उधर और शृंखलाओं से गुंफित होती चलती है और अंत में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यही वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा-कहानियों से अलग करती है।

उपर्युक्त दृष्टि से यदि हम देखें तो इंशा की रानी केतकी की बड़ी कहानी न आधुनिक उपन्यास के अंतर्गत आएगी, न राजा शिवप्रसाद का 'राजा भोज का सपना' या 'वीरसिंह का वृत्तांत' आधुनिक छोटी कहानी के अंतर्गत।

अँगरेजी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती हैं वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थी। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भाव-व्यंजक खंड-चित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियों का आभास लेकर प्रकट होनेवाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे। 'सरस्वती' के प्रथम वर्ष (सं० १९५७) में ही पं० किशोरीलाल गोस्वामी की "इंदुमती" नाम की कहानी छपी जो मौलिक जान पड़ती है। इसके उपरांत तो उसमें कहानियाँ बराबर निकलती रहीं पर वे अधिकतर बंगभाषा से अनूदित या छाया लेकर लिखी होती थीं। बंगभाषा से अनुवाद करनेवालों में इंडियन प्रेस के मैनेजर बा० गिरिजाकुमार घोष, जो हिंदी-कहानियों में अपना नाम 'लाला पार्वतीनंदन' देते थे, विशेष उल्लेख योग्य हैं। उसके उपरांत 'बंगमहिला' का स्थान है जो मिरजापुर-निवासी प्रतिष्ठित बंगाली सज्जन

बा० रामप्रसन्न घोष की पुत्री और बा० पूर्णचन्द्र की धर्मपत्नी थीं। उन्होंने बहुत सी कहानियों का बँगला से अनुवाद तो किया ही, हिंदी में कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं जिनमें से एक थी "दुलाईवाली" जो सं० १९६४ की 'सरस्वती' (भाग ८, संख्या ५) में प्रकाशित हुई।

कहानियों का आरंभ कहाँ से मानना चाहिए, यह देखने के लिये 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ मौलिक कहानियों के नाम वर्षक्रम से नीचे दिए जाते हैं—

इंदुमती (किशोरीलाल गोस्वामी)	सं० १९५७
गुलबहार (,, ,,)	सं० १९५९
प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवानदास, मिरजापुर)	१९५९
ग्यारह वर्ष का समय (रामचंद्र शुक्ल)	१९६०
पंडित और पंडितानी (गिरिजादत्त वाजपेयी)	१९६०
दुलाईवाली (बंग-महिला)	१९६४

इनमें से यदि मार्मिकता की दृष्टि से भाव-प्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं—'इंदुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'दुलाईवाली'। यदि 'इंदुमती' किसी बँगला कहानी की छाया नहीं है तो हिंदी की यही पहली मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरांत 'ग्यारह वर्ष का समय', फिर 'दुलाईवाली' का नंबर आता है।

ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और वे इस काल के भीतर की प्रायः सब मासिक पत्रिकाओं में बीच बीच में निकलती रहीं। सं० १९६८ में कल्पना और भावुकता के कोश बा० जयशंकर 'प्रसाद' की 'ग्राम' नाम की कहानी उनके मासिक पत्र 'इन्दु' में निकली। उसके उपरांत तो उन्होंने 'आकाशदीप', 'बिसाती', 'प्रतिध्वनि', 'स्वर्ग के खँडहर', 'चित्र-मंदिर' इत्यादि अनेक कहानियाँ लिखीं जो तृतीय उत्थान के भीतर आती हैं। हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी०

श्रीवास्तव की पहली कहानी भी 'इंदु' में सं० १९६८ में ही निकली थी। इसी समय के आस पास आज कल के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० विश्वंभरनाथ शर्म्मा 'कौशिक' ने भी कहानी लिखना आरंभ किया। उनकी पहली कहानी 'रक्षा-बंधन' सन् १९१३ की 'सरस्वती' में छपी। सूर्य्यपुरा के राजा राधिकारमण-प्रसाद सिंह जी हिंदी के एक अत्यंत भावुक और भाषा की शक्तियों पर अद्भुत अधिकार रखनेवाले पुराने लेखक हैं। उनकी एक अत्यंत भावुकतापूर्ण कहानी "कानों में कँगना" सं० १९७० में 'इंदु' में निकली थी। उसके पीछे आपने 'बिजली' आदि कुछ और सुंदर कहानियाँ भी लिखीं। पं० ज्वालादत्त शर्म्मा ने सं० १९७१ से कहानी लिखना आरंभ किया और उनकी पहली कहानी सन् १९१४ की 'सरस्वती' में निकली। चतुरसेन शास्त्री भी उसी वर्ष कहानी लिखने की ओर झुके।

संस्कृत के प्रकांड प्रतिभाशाली विद्वान् हिंदी के अनन्य आराधक श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी की अद्वितीय कहानी "उसने कहा था" सं० १९७२ अर्थात् सन् १९१५ की 'सरस्वती' में छपी थी। इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्य्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती हैं; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता, वेदना की बीभत्स विवृति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।

हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद जी की छोटी कहानियाँ भी सं० १९७३ से ही निकलने लगीं। इस प्रकार द्वितीय

उत्थान-काल के अंतिम भाग में ही आधुनिक कहानियों का आरंभ हम पाते हैं जिनका पूर्ण विकास तृतीय उत्थान में हुआ।

निबंध

यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसी लिये गद्यशैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं। निबंध या गद्यविधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुंदर मेल भी करते हैं। लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे, विचारात्मक निबंधों में व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबंधों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के भीतर वह 'प्रलाप शैली' आएगी जिसका बँगला की देखा-देखी कुछ दिनों से हिंदी में भी चलन बढ़ रहा है। शैलियों के अनुसार गुण-दोष भी भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं।

आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिये विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझकर जगह जगह से तोड़ दी जाय, भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य स्वरूप से कोई संबंध ही न रखे अथवा भाषा से सरकसवालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के-से आसन कराए जायँ जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

संसार की हर एक बात और सब बातों से संबद्ध है। अपने अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत्र एक दूसरे से नथे हुए, पत्तों के भीतर की नसों के समान, चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं। तत्त्व-चिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिये उपयोगी कुछ संबंध-सूत्रों को पकड़कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ-संबंधी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-संबंध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।

तत्त्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-संबंध-सूत्र पकड़े हुए, करुण स्थलों की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार कुछ बातों के संबंध में लोगों की बँधी हुई धारणाओं के विपरीत चलने में जिस लेखक को आनंद मिलेगा वह उन बातों के ऐसे पक्षों पर वैचित्र्य के साथ विचरेगा जो उन धारणाओं को व्यर्थ या अपूर्ण सिद्ध करते दिखाई देंगे।

उदाहरण के लिये आलसियों और लोभियों को लीजिए, जिन्हें दुनिया बुरा कहती चली आ रही है। कोई लेखक अपने निबंध में उनके अनेक गुणों को विनोदपूर्वक सामने रखता हुआ उनकी प्रशंसा का वैचित्र्यपूर्ण आनंद ले और दे सकता है। इसी प्रकार वस्तु के नाना सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि गड़ानेवाला लेखक किसी छोटी से छोटी, तुच्छ से तुच्छ, बात को भी गंभीर विषय का सा रूप देकर, पांडित्यपूर्ण भाषा की पूरी नकल करता हुआ सामने रख सकता है। पर सब अवस्थाओं में कोई बात अवश्य चाहिए।

इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभि-व्यंजन-प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ-संबंधों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी तरह तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।

भारतेंदुजी के समय से ही निबंधों की परंपरा हमारी भाषा में चल पड़ी थी जो उनके सहयोगी लेखकों में कुछ दिनों तक जारी रही। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, स्थायी विषयों पर निबंध लिखने की परंपरा बहुत जल्दी बंद हो गई। उसके साथ ही वर्णनात्मक निबंध-पद्धति पर सामयिक घटनाओं, देश और समाज की जीवनचर्य्या, ऋतुचर्य्या आदि का चित्रण भी बहुत कम हो गया। इस द्वितीय उत्थान के भीतर उत्तरोत्तर उच्च कोटि के स्थायी गद्य-साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था, न हुआ। अधिकांश लेखक ऐसे ही कामों में लगे जिनमें बुद्धि को श्रम कम पड़े। फल यह हुआ कि विश्वविद्यालयों में हिंदी की ऊँची शिक्षा का विधान हो जाने पर उच्च कोटि के गद्य की पुस्तकों की कमी का अनुभव चारों ओर हुआ।

भारतेंदु के सहयोगी लेखक स्थायी विषयों के साथ साथ समाज की जीवन-चर्य्या, ऋतु-चर्य्या, पर्व-त्योहार आदि पर भी साहित्यिक निबंध लिखते आ रहे थे। उनके लेखों में देश की परंपरागत भावनाओं और उमंगों का प्रतिबिंब रहा करता था। होली, विजया-दशमी, दीपावली, रामलीला इत्यादि पर उनके लिखे प्रबंधों में जनता के जीवन का रंग पूरा पूरा रहता था। इसके लिये वे वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों विधानों का बड़ा सुंदर मेल करते थे। यह सामाजिक सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखकों में वैसी न रही।

इस उत्थानकाल के आरंभ में ही निबंध का रास्ता दिखानेवाले दो अनुवादग्रंथ प्रकाशित हुए "बेकन-विचाररत्नावली" (अँगरेजी के बहुत पुराने क्या पहले निबंध-लेखक लार्ड बेकन के कुछ निबंधों का अनुवाद) और "निबंधमालादर्श" (चिपलूणकर के मराठी निबंधों का अनुवाद)। पहली पुस्तक पंडित महावीर-प्रसादजी द्विवेदी की थी और दूसरी पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की। उस समय यह आशा हुई थी कि इन अनुवादों के पीछे ये दोनों महाशय शायद उसी प्रकार के मौलिक निबंध लिखने में हाथ लगाएँ। पर ऐसा न हुआ। मासिक पत्रिकाएँ इस द्वितीय उत्थानकाल के भीतर बहुत सी निकलीं पर उनमें अधिकतर लेख "बातों के संग्रह" के रूप में ही रहते थे; लेखकों के अंतःप्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं। इस काल के भीतर जिनकी कुछ कृतियाँ निबंध-कोटि में आ सकती हैं उनका संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर (जि० रायबरेली) में वैशाख शुक्ल ४ सं० १९२७ को और देहावसान पौष कृष्ण ३० सं० १९९५ को हुआ।

द्विवेदीजी ने सन १९०३ में "सरस्वती" के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय उन्होंने लिखने में ही लगाया। लिखने की सफलता वे इस बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय भी ऐसे सरल रूप में रख दिया जाय कि साधारण समझवाले पाठक भी उसे बहुत कुछ समझ जायँ। कई उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए नए विचारों की उद्भावना-वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में दो ही चार लेख जैसे, 'कवि और कविता', 'प्रतिभा' आदि आ सकते हैं। पर ये लेखनकला या सूक्ष्म विचार की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं, जैसे

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बड़े बड़े काम हुए हैं। × × × × कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। × × × संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचारों की वह गूढ़-गुंफित

परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचारपद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हो। द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक़्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक एक सीधी बात कुछ हेर-फेर—कहीं कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पाँच छः तरह से पाँच छः वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर समझाने बुझाने के काम में लाया जाता है। उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को क़ायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है।

इस बात के उनके दो लेख "क्या हिंदी नाम की कोई भाषा ही नहीं" (सरस्वती सन् १९१३) और "आर्य्यसमाज का कोप" (सरस्वती १९१४) अच्छे उदाहरण हैं। उनके कुछ अंश नीचे दिए जाते हैं—

(१) आप कहते हैं कि प्राचीन भाषा मर चुकी और उसे मरे तीन सौ वर्ष हुए। इस पर प्रार्थना है कि न वह कभी मरी और न उसके मरने के कोई लक्षण ही दिखाई देते हैं। यदि आप कभी आगरा, मथुरा, फ़रुखाबाद, मैनपुरी और इटावे तशरीफ ले जायँ तो कृपा करके वहाँ के एक आध अपर प्राइमरी और मिडिल स्कूल का मुआइना न सही तो मुलाहज़ा अवश्य ही करें। ऐसा करने से आपको मालूम हो जाएगा कि जिसे आप मुर्दा समझ रहे हैं, वह अब तक इन जिलों में बोली जाती है। अगर आपकी इस

'भाखा' नामक भाषा को मरे तीन सौ वर्ष हुए तो कृपा करके यह बताइए कि श्रीमान् ही के सधर्मी काजिम अली आदि कवियों ने किस भाषा में कविता की है। १७०० ईसवी से लेकर ऐसे अनेक मुसलमान कवि हो चुके हैं जिन्होंने 'भाखा' में बड़े बड़े ग्रंथ बनाए हैं। हिंदू-कवियों की आप खबर न रखते तो कोई विशेष आक्षेप की बात न थी।

× × × ×

आनरेबल असगरअलीखाँ की पाँचवीं उक्ति यह है कि उर्दू या हिंदुस्तानी ही यहाँ की सार्वदेशिक भाषा है। आपके इस कथन की सचाई की जाँच सहज ही में हो सकती है। ऊपर हाली साहब के दीवान और दूसरे साहित्य-सम्मेलन के सभापति के भाषण से जो अवतरण दिए गए हैं उन्हें खाँ साहब बारी बारी से एक बंगाली, एक मदरासी, एक गुजराती और एक महाराष्ट्र को, जो इस प्रांत के निवासी न हों, दिखावें और उनसे यह कहें कि इनका मतलब हमें समझा दीजिए। बस तत्काल ही आपको मालूम हो जायगा कि दो में से कौन भाषा अन्य प्रांतवासी अधिक समझते हैं।

श्रीयुत असगरअलीखाँ के इस कथन से कि "Urdu or Hindustani is the lingua franca of the country" एक भेद की बात खुल गई। वह यह कि आप लोगों की राय में यह हिंदुस्तानी और कुछ नहीं, उर्दू ही का एक दूसरा नाम है। अतएव समझना चाहिए कि जब हिंदुस्तानी भाषा के प्रयोग पर जोर दिया जाता है तब "हिंदुस्तानी" नाम की आड़ में उर्दू ही का पक्ष लिया जाता है और बेचारी हिंदी के बहिष्कार की चेष्टा की जाती है।

(२) जिस समाज के विद्यार्थी बच्चों तक को अपने दोषों पर धूल डालकर दूसरों को धमकाने और बिना पूछे ही उन्हें "नेक

सलाह" देने का अधिकार है उसके बड़ों और विद्वानों के पराक्रम की सीमा कौन निर्दिष्ट कर सकेगा ?

× × × ×

हमारे पास इससे भी बढ़कर कुतूहलजनक पत्र आए हैं। बनावटी या सच्चा नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड हमें उर्दू में भेजा है। उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनंतर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया है कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा हमारा सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। भाई सिंह ! दुःख मत करो। आर्य्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो —

" कर कुठार, आगे यह सीसा "

पं० माधवप्रसाद मिश्र का जन्म पंजाब के हिसार जिले में भिवानी के पास कूँगड़ नामक ग्राम में भाद्र शुक्ल १३ संवत् १९२८ को और परलोकवास उसी ग्राम में प्लेग से चैत्र कृष्ण ४ सं० १९६४ को हुआ। ये बड़े तेजस्वी, सनातनधर्म के कट्टर समर्थक, भारतीय संस्कृति की रक्षा के सतत अभिलाषी विद्वान् थे। इनकी लेखनी में बड़ी शक्ति थी। जो कुछ ये लिखते थे बड़े जोश के साथ लिखते थे, इससे इनकी शैली बहुत प्रगल्भ होती थी। गौड़ होने के कारण मारवाड़ियों से इनका विशेष लगाव था और उनके समाज का सुधार ये हृदय से चाहते थे, इसी से "वैश्योपकारक" पत्र का संपादन-भार कुछ दिन इन्होंने अपने ऊपर लिया था। जिस वर्ष "सरस्वती" निकली (सं० १९५७) उसी वर्ष प्रसिद्ध उपन्यासकार बा० देवकीनंदन खत्री की सहायता से काशी से इन्होंने "सुदर्शन" नामक एक मासिकपत्र निकलवाया जो सवा दो वर्ष चलकर बंद हो गया। इसके संपादन-काल में इन्होंने साहित्य-संबंधी

बहुत से लेख, समीक्षाएँ और निबंध लिखे। जोश में आने पर ये बड़े शक्तिशाली लेख लिखते थे। 'समालोचक'-संपादक पं० चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी जी ने इसी से एक बार लिखा था कि—

"मिश्र जी बिना किसी अभिनिवेश के लिख नहीं सकते। यदि हमें उनसे लेख पाने हैं तो सदा एक न एक टंटा उनसे छेड़ ही रक्खा करें"।

इसमें संदेह नहीं कि जहाँ किसी ने कहीं कोई ऐसी बात लिखी जो इन्हें सनातनधर्म के संस्कारों के विरुद्ध अथवा प्राचीन ग्रंथकारों और कवियों के गौरव को कम करनेवाली लगी कि इनकी लेखनी चल पड़ती थी। पाश्चात्य संस्कृताभ्यासी विद्वान् जो कुछ कच्चा-पक्का मत यहाँ के वेद, पुराण, साहित्य आदि के संबंध में प्रकट किया करते थे वे इन्हें खल जाते थे और उनका विरोध ये डट कर करते थे। उस विरोध में तर्क, आवेश और भावुकता सब का एक अद्भुत मिश्रण रहता था। 'वेबर का भ्रम' इसी झोंक में लिखा गया था। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'नैषध-चरित-चर्चा' में नैषध के कई एक बड़ी दूर की सूझवाले अत्युक्तिपूर्ण पद्यों को अस्वाभाविक और सुरुचि-विरुद्ध कह दिया। फिर क्या था, ये एकबारगी फिर पड़े और उनकी बातों का अपने ढंग पर उत्तर देते हुए लगे हाथों पं० श्रीधर पाठक के 'गुनवंत हेमंत' नाम की एक कविता की, जिसकी द्विवेदीजी ने बड़ी प्रशंसा की थी, नीरसता और इतिवृत्तात्मकता भी दिखाई। यह विवाद कुछ दिन चला था।

मिश्रजी का स्वदेश-प्रेम भी बहुत गंभीर था। ये संस्कृत के और पंडितों के समान देशदशा के अनुभव से दूर रहनेवाले व्यक्ति न थे। राजनीतिक आंदोलनों के साथ इनका हृदय बराबर रहता था। जब देशपूज्य मालवीयजी ने छात्रों को राजनीतिक आन्दोलनों से दूर रहने की सलाह दी थी तब इन्होंने

एक अत्यंत क्षोभ-पूर्ण "खुली चिट्ठी" उनके नाम छापी थी। देशदशा की इस तीव्र अनुभूति के कारण इन्हें श्रीधर पाठक की कविताओं में एक बात बहुत खटकी। पाठकजी ने जहाँ ऋतु-शोभा या देशछटा का वर्णन किया है वहाँ केवल सुख, आनंद और प्रफुल्लता के पक्ष पर ही उनकी दृष्टि पड़ी है, देश के असंख्य दीन-दुखियों के पेट की ज्वाला और कंकालवत् शरीर पर नहीं।

मिश्रजी ने स्वामी विशुद्धानंदजी के बड़े जीवन-चरित के अतिरिक्त और भी बीसों व्यक्तियों के छोटे छोटे जीवनचरित लिखे जिनमें कुछ संस्कृत के पुराने ढाँचे के विद्वान् तथा सनातन-धर्म के सहायक सेठ साहूकार आदि हैं। 'सुदर्शन' में इनके लेख प्रायः सब विषयों पर निकलते थे, जैसे—पर्व-त्योहार, उत्सव, तीर्थस्थान, यात्रा, राजनीति इत्यादि। पर्व-त्योहारों तथा भिन्न भिन्न ऋतुओं में पड़नेवाले उत्सवों पर निबंध लिखने की जो परंपरा भारतेंदु के सहयोगियों ने चलाई थी वह इस द्वितीय उत्थान में आकर इन्हीं पर समाप्त हो गई। हाँ, संवाद-पत्रों के होली, दीवाली के अंकों में उसका आभास बना रहा। लोक-सामान्य स्थायी विषयों पर मिश्रजी के केवल दो लेख मिलते हैं—'धृति' और 'क्षमा'।

द्वितीय उत्थान के आरंभकाल में इस प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्ज्वल आभा हिंदी-साहित्य-गगन में कुछ समय के लिये दिखाई पड़ी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई। पंडित माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुंदर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चली चलती थी। इनके गद्य के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

(क) "आर्य्य-वंश के धर्म, कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था, अब कहाँ है ? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि सब भगवान् महाकाल के पेट में समा गया। × × × जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्शी जल था वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल वारिधारा बह रही है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी यह भूभाग प्रकाशित हो जाता है। × × × × भारतवर्ष की सुखशांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। × × × पर जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है, वह कब तक सुरक्षित रहेगा ?"

(ख) अब रही आपके जानने की बात; सो जहाँ तक आप जानते हैं वहाँ तक तो सब सफाई है। आप जहाँ तक जानते हैं, महाकवि श्रीहर्ष के काव्य में 'सर्वत्र गाँठै ही गाँठै' हैं और पं० श्रीधरजी की कविता 'सर्वतो भाव से प्रशंसित' है। आप जहाँ तक जानते हैं, आप संस्कृत, हिंदी, बँगला आदि इस देश की सब भाषाएँ जानते हैं और हम वेबर साहब की करतूत से भी अनभिज्ञ हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, श्रीहर्ष 'लाल बुझक्कड़ को भी मात करता है' और वेबर साहब याज्ञवल्क्य के समान ठहरता है। आप जहाँ तक जानते हैं, हमारे तत्त्वदर्शी पंडितों ने कुछ न लिखा और अँगरेजों ने इतना लिखा कि भारतवासी उनके ऋणी हैं। आप जहाँ तक जानते हैं, नैषध की प्रशंसा तो सब पक्षपाती पंडितों ने की है और निंदा दुराग्रह-रहित पुरुषों ने की है। आप जहाँ तक जानते हैं डाक्टर बूलर,

हाल आदि साहबों ने जो कुछ लिखा है युक्ति पूर्वक लिखा है और मिश्र राधाकृष्ण ने युक्तिशून्य। आप जहाँ तक जानते हैं, प्रफ़ेसर वेबर की पुस्तकों का अभी तक अनुवाद नहीं हुआ और वेबर साहब का ज्ञान हमें 'नैषध-चरित-चर्चा' से हुआ है।

(ग) लोग केवल घर ही के नष्ट होने पर 'मिट्टी हो गया' नहीं कहते हैं और और जगह भी इसका प्रयोग करते हैं। किसी का बड़ा भारी श्रम जब विफल हो जाय तब कहेंगे कि 'सब मिट्टी हो गया'। किसी का धन खो जाय, मान-मर्य्यादा भंग हो जाय, प्रभुता और क्षमता चली जाय तो कहेंगे 'सब मिट्टी हो गया'। इससे जाना गया कि नष्ट होना ही मिट्टी होना है। किंतु मिट्टी को इतना बदनाम क्यों किया जाता है? अकेली मिट्टी ही इस दुर्नाम को क्यों धारण करती है? क्या सचमुच मिट्टी इतनी निकृष्ट है? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, हम निकृष्ट नहीं हैं? भगवती वसुंधरे! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है।

अच्छा, मा! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुंधरा' किसने रक्खा? यह नाम तो उस समय का है। यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कात्यायन आदि सुसंतानों का दिया हुआ है। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा से और कितनी श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे।

उपन्यासों से कुछ छुट्टी पाकर **बाबू गोपालराम** गहमर निवासी पत्र-पत्रिकाओं में कभी कभी लेख और निबंध भी दिया करते थे। उनके लेखों और निबंधों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक होती थी। विलक्षण रूप खड़ा करना उनके निबंधों की विशेषता है। किसी अनुभूत बात का चरम दृश्य दिखानेवाले ऐसे विलक्षण और कुतूहलजनक चित्रों के बीच से वे पाठक को ले चलते हैं कि उसे एक तमाशा

देखने का-सा आनंद आता है। उनके "ऋद्धि और सिद्धि" नामक निबंध का थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है –

'अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग़ है। यदि यह हाथ में है तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो तो वज्र मूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी० एल० की उपाधि देकर अपने तईं धन्य समझेगा। × × × बरहे पर चलनेवाला नट हाथ में बाँस लिए हुए बरहे पर दौड़ते समय, 'हाय पैसा, हाय पैसा' करके चिल्लाया करता है। दुनिया के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर 'हाय पैसा, हाय पैसा' करती हुई सूर्य्य की परिक्रमा कर रही है।

कालमाहात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्य्यशाली भगवान् ने तो अब स्वर्ग से उतरकर दरिद्र के घर शरण ली है और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। × × × अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है। इस ब्रह्म वस्तु के बिना विश्व-संसार का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैशबाक्स में प्रवेश करके संसार को चलाया करते हैं। × × × साधकों के हित के लिये अर्थनीति-शास्त्र में इसकी उपासना की विधि लिखी है। × × × × बच्चों की पहली पोथी में लिखा है—"बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कहकर जोर से दूसरे का धन हड़प कर लेने से क्या कहलाता है, यह उसमें नहीं लिखा है। "मेरी राय में यही कर्म्म-योग का मार्ग है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि उद्धृत अंश में बंगभाषा के प्रसिद्ध ग्रंथकार बंकिमचंद्र की शैली का पूरा आभास है।

बा० बालमुकुंद गुप्त का जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुरयानी गाँव में सं० १९२२ में और मृत्यु सं० १९६४ में हुई। ये अपने समय के सब से अनुभवी और कुशल संपादक थे। पहले इन्होंने दो उर्दू पत्रों का संपादन किया था,

पर शीघ्र ही कलकत्ते के प्रसिद्ध संवादपत्र 'वंगवासी' के संपादक हो गए। 'वंगवासी' को छोड़ते ही ये 'भारतमित्र' के प्रधान संपादक बनाए गए। ये बहुत ही चलते पुरजे और विनोद-शील लेखक थे अतः कभी कभी छेड़छाड़ भी कर बैठते थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जब 'सरस्वती' (भाग ६ संख्या ११) के अपने प्रसिद्ध 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में 'अन-स्थिरता' शब्द का प्रयोग कर दिया तब इन्हें छेड़छाड़ का मौक़ा मिल गया और इन्होंने 'आत्माराम' के नाम से द्विवेदीजी के कुछ प्रयोगों की आलोचना करते हुए एक लेखमाला निकाली जिसमें चुहलबाजी का पुट पूरा था। द्विवेदीजी ऐसे गंभीर प्रकृति के व्यक्ति को भी युक्तिपूर्ण उत्तर के अतिरिक्त इनकी विनोदपूर्ण विगर्हणा के लिये "सरगौ नरक ठेकाना नाहिं" शीर्षक देकर बहुत फबता हुआ आल्हा 'कल्लू अल्हइत' के नाम से लिखना पड़ा।

पत्र-संपादन-काल में इन्होंने कई विषयों पर अच्छे निबंध भी लिखे जिनका एक संग्रह गुप्त-निबंधावली के नाम से छप चुका है। इनके 'रत्नावली नाटिका' के सुंदर अनुवाद का उल्लेख हो चुका है।

गुप्तजी ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति को लेकर कई मनोरंजक प्रबंध लिखे हैं जिनमें "शिवशंभु का चिट्ठा" बहुत प्रसिद्ध है। गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोद-पूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिंदी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेटकर रखते थे कि उनका आभास बीच बीच में ही मिलता था। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के

भीतर विचार और भाव लुके-छिपे से रहते थे। यह उनकी लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी। "शिवशंभु का चिट्ठा" से थोड़ा-सा अंश नमूने के लिये दिया जाता है—

"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अंधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं; साथ ही तड़-तड़ धड़-धड़ होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे; कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बमभोला' कहकर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लंबी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनंद में निमग्न रहे। × × × × हाथ-पाँव सुख में; पर विचार के घोड़ों को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिंदों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुरती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गए होंगे। पर वह चील कहाँ गई होगी? × × × × हा! शिवशंभु को इन पक्षियों की चिंता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते।"

यद्यपि **पं० गोविंदनारायण मिश्र** हिंदी के बहुत पुराने लेखकों में थे पर उस पुराने समय में वे अपने फुफेरे भाई पंडित सदानंद मिश्र के 'सारसुधा-निधि' पत्र में कुछ सामयिक और

कुछ साहित्यिक लेख ही लिखा करते थे जो पुस्तकाकार छप-
कर स्थायी साहित्य में परिगणित न हो सके। अपनी गद्य-
शैली का निर्दिष्ट रूप इस द्वितीय उत्थान के भीतर ही उन्होंने
पूर्णतया प्रकाशित किया। इनकी लेखशैली का पता इनके
सम्मेलन के भाषण और "कवि और चित्रकार" नामक लेख
से लगता है। गद्य के संबंध में इनकी धारणा प्राचीनों के
"गद्य काव्य" की सी थी। लिखते समय बाण और दंडी
इनके ध्यान में रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि
संस्कृत-साहित्य में गद्य का वैसा विकास नहीं हुआ। बाण
और दंडी का गद्य काव्य-अलंकार की छटा दिखानेवाला गद्य
था; विचारों को उत्तेजना देनेवाला, भाषा की शक्ति का प्रसार
करनेवाला गद्य नहीं। विचारपद्धति को उन्नत करनेवाले गद्य का
अच्छा और उपयोगी विकास योरपीय भाषाओं में ही हुआ।
गद्यकाव्य की पुरानी रूढ़ि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का
प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

पंडित गोविंदनारायण मिश्र के गद्य को समास-अनुप्रास
में गुँथे शब्दगुच्छों का एक अटाला समझिए। जहाँ वे कुछ
विचार उपस्थित करते हैं वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई
पड़ती है। शब्दावलि दोनों प्रकार की रहती है—संस्कृत की
भी और ब्रजभाषा-काव्य की भी। एक ओर 'प्रगल्भप्रतिभा-
स्रोत से समुत्पन्न शब्द-कल्पना-कलित अभिनव भावमाधुरी' है
तो दूसरी ओर 'तम-तोम सटकाती मुकाती पूरनचंद की सकल-
मन-भाई छिटकी जुन्हाई' है। यद्यपि यह गद्य एक क्रीड़ा-कौतुक
मात्र है पर इसकी भी थोड़ी सी झलक देख लेनी चाहिए—

(सधारण गद्य का नमूना)

"परंतु मंदमति अरसिकों के अयोग्य, मलिन अथवा कुशाग्रबुद्धि
चतुरों के स्वच्छ मलहीन मन को भी यथोचित शिक्षा से उपयुक्त बना

लिए बिना उनपर कवि की परम रसीली उक्ति छवि-छबीली का अलंकृत नख-सिख लौं स्वच्छ सर्वांग-सुंदर अनुरूप यथार्थ प्रतिबिंब कभी न पड़ेगा। × × × स्वच्छ दर्पण पर ही अनुरूप, यथार्थ, सुस्पष्ट प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है। उससे साम्हना होते ही अपनी ही प्रतिबिंबित प्रतिकृति मानों समता की स्पर्द्धा में आ, उसी समय साम्हना करने आमने-सामने आ खड़ी होती है।"

(काव्यमय गद्य का नमूना)

"सरद पूनो के समुदित पूरनचंद की छिटकी जुन्हाई सकल-मन-भाई के भी मुँह मसि मल, पूजनीय अलौकिक पदनखचंद्रिका की चमक के आगे तेजहीन मलीन और कलंकित कर दरसाती, लजाती, सरस-सुधा-धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोह-जड़ता-प्रगाढ़-तम-तोम सटकाती, मुकाती, निज भक्तजन-मनवांछित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारों मुक्त हाथों से मुक्ती लुटाती × × × × मुक्ता-हारी नीर-छीर-विचार-सुचतुर-कवि-कोविद-राजराजहिय-सिंहासन-निवासिनी मंदहासिनी, त्रिलोक-प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली परम प्रभावशाली सुजन-मन-मोहनी नवरस-भरी सरस सुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।"

भारतेंदु के सहयोगी लेखक प्राय: 'उचित', 'उत्पन्न', 'उच्चरित', 'नव' आदि से ही संतोष करते थे पर मिश्रजी ऐसे लेखकों ने बिना किसी जरूरत के उपसर्गों का पुछल्ला जोड़ जनता के इन जाने-बूझे शब्दों को भी—'समुचित', 'समुत्पन्न' 'समुच्चरित', 'अभिनव' करके—अजनबी बना दिया। 'मृदुता', 'कुटिलता', 'सुकरता', 'समीपता, 'ऋजुता' आदि के स्थान पर 'मार्दव' 'कौटिल्य', 'सौकर्य्य', 'सामीप्य', 'आर्जव' आदि ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे।

बाबू श्यामसुंदरदासजी नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापनकाल से लेकर बराबर हिंदी भाषा, कवियों की खोज तथा इतिहास आदि के संबंध में लेख लिखते आए हैं। आप जैसे हिंदी के अच्छे लेखक हैं वैसे ही बहुत अच्छे वक्ता भी। आपकी भाषा इस विशेषता के लिये बहुत दिनों से प्रसिद्ध है कि उसमें अरबी-फारसी के विदेशी शब्द नहीं आते। आधुनिक सभ्यता के विधानों के बीच की लिखा-पढ़ी के ढँग पर हिंदी को ले चलने में आपकी लेखनी ने बहुत कुछ योग दिया है।

बाबू साहब ने बड़ा भारी काम लेखकों के लिये सामग्री प्रस्तुत करने का किया है। हिंदी पुस्तकों की खोज के विधान द्वारा आपने साहित्य का इतिहास, कवियों के चरित और उन पर प्रबंध आदि लिखने का बहुत सा मसाला इकट्ठा करके रख दिया। इसी प्रकार आधुनिक हिंदी के नए पुराने लेखकों के संक्षिप्त जीवन-वृत्त 'हिंदी-कोविद-रत्नमाला' के दो भागों में आपने संगृहीत किए हैं। शिक्षोपयोगी तीन पुस्तकें—भाषा-विज्ञान, हिंदी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन—भी आपने लिखी या संकलित की हैं।

हास्य-विनोद-पूर्ण लेख लिखनेवालों में कलकत्ते के **पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी** का नाम भी बराबर लिया जाता है। पर उनके अधिकांश लेख भाषण मात्र हैं, स्थायी विषयों पर लिखे हुए निबंध नहीं।

पं० चंद्रधर गुलेरी का जन्म जयपुर में एक विख्यात पंडित घराने में २५ आषाढ़ संवत १९४० में हुआ था। इनके पूर्वज काँगड़े के गुलेर नामक स्थान से जयपुर आए थे। पं० चंद्रधरजी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् और अँगरेजी की उच्च-शिक्षा से संपन्न व्यक्ति थे। जीवन के अंतिम वर्षों के पहले ये

बराबर अजमेर के मेयो कालेज में अध्यापक रहे। पीछे काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय के ओरियंटल कालेज के प्रिंसिपल होकर आए। पर हिंदी के दुर्भाग्य से थोड़े ही दिनों में सं० १९७७ में इनका परलोकवास हो गया। ये जैसे धुरंधर पंडित थे वैसे ही सरल और विनोदशील प्रकृति के थे।

गुलेरीजी ने 'सरस्वती' के कुछ ही महीने पीछे अपनी थोड़ी अवस्था में ही जयपुर से 'समालोचक' नामक एक मासिक पत्र अपने संपादकत्व में निकलवाया था। उक्त पत्र द्वारा गुलेरीजी एक बहुत ही अनूठी लेख-शैली लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे। ऐसा गंभीर और पांडित्य-पूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथा-प्रसंगों की ओर विनोदपूर्ण संकेत करती हुई इनकी वाणी चलती थी। इसी प्रसंग-गर्भत्व (Allusiveness) के कारण इनकी चुटकियों का आनंद अनेक विषयों की जानकारी रखनेवाले पाठकों को ही विशेष मिलता था। इनके व्याकरण ऐसे रूखे विषय के लेख भी मज़ाक से खाली नहीं होते थे।

यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरीजी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनन्द उन्हीं को मिल सकता है जो बहुज्ञ या कम से कम बहुश्रुत हैं। इनके "कछुआ धरम" और "मारेसि मोहिं कुठाऊँ" नामक लेखों से उद्धरण दिए जाते हैं—

(१) मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत् कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या और कहीं उठकर चला जाय। मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक-कथा सुनने के पाप से बचने के दो ही उपाय

बताए हैं। या तो कान ढक कर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर या मुक्का तान कर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करनेवाले का जबड़ा तोड़ दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे।

पुराने से पुराने आर्य्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे; आर्य्य सप्त-सिंधुओं को आर्यावर्त्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि, यज्ञपात्र और अरणि रखने के लिये तीन गाड़ियाँ बनाईं। उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घी से आँज दिया। ऊखल मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ' मूँजवत् हिंदूकुश के एक मित्र दर्रे ख़ैबर में होकर सिंधु की एक घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अंभारि, बभारि, हस्त, सुहस्त, कृशान, शंड, मर्क मारते चले आते थे। वज्र की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबे डग भरनेवाले विष्णु ने पीछे फिरकर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य बधाय' (सजातानां मध्यमेष्ठ्याय) देवताओं को आहुति देने लगे। जहाँ जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ वहाँ यूप खड़े हो गए। यहाँ की सुजला, सुफला, शस्य श्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं।

पर ईरान के अँगूरों और गुलों का, मूँजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राज़ी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपती करोड़पती कहलाते हैं वैसे तब "शतगु", "सहस्रगु" कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचंद अपने "नवग्वाः", "दशग्वाः" पितरों से शरमाते न थे,

आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचनेवाले पेशावरियों की तरह कोई कोई 'सरहदी' यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमाप्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी, जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुँजड़िनों से हुआ करती है। ये कहते कि गौ की एक कला में सोम बेच दो। वह कहता, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चढ़ी बालवधू के लिये कहा था कि 'याही में बेटा और याही में बेटी' वैसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है, यह होता है वह होता है। पर काबुली काहे को मानता? उसके पास सोम की "मनोपली" थी और इनका बिना लिए सरता नहीं। अन्त में गौ का एक पाद, अर्ध होते होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखोंवाली एक बरस की बछिया में सोम राजा ख़रीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते।

अच्छा, अब उसी पंचनद में 'वाहीक' आकर बसे। अश्वघोष की फड़कती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मावर्त्त, ब्रह्मर्षि देश और आर्यावर्त्त की महिमा हो गई; और वह पुराना देश—न तत्र दिवसं वसेत्। बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते मारते तो थे ही, वे धरम भी कर देते थे। बस, समुद्र-यात्रा बंद! कहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ नाव में जानेवाले द्विज का प्रायश्चित्त करा कर भी संग्रह बंद! वही कछुआ धर्म! ढाल के अंदर बैठे रहो।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है, दुःख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। संसार में त्रिविध दुःख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिये उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट' उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने

सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पक कर उपाय खोजा। किसी न किसी तरह कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी। लगीं प्रार्थनाएँ होने—

"मा देहि, राम ! जननी जठरे निवासम्"।

और यह उस देश में जहाँ सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़ कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें।

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। सुरपुर में अफ़वाह पहुँची। बस,इंद्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानो अमरावती ने आँखें बंद कर लीं। यह कछुआ धरम का भाई शुतुरमुर्ग धरम है।

(२) हमारे यहाँ पूँजी शब्दों की है। जिससे हमें काम पड़ा, चाहे और बातों में हम ठगे गए, पर हमारी शब्दों की गाँठ नहीं कतरी गई। × × × यही नहीं, जो आया उससे हमने कुछ ले लिया।

पहले हमें काम असुरों से पड़ा, असीरियावालों से। उनके यहाँ 'असुर' शब्द बड़ी शान का था। 'असुर' माने प्राणवाला, जबरदस्त। हमारे इंद्र की भी यह उपाधि हुई, पीछे चाहे शब्द का अर्थ बुरा हो गया। × × × पारस के पारसियों से काम पड़ा तो वे अपने सूबेदारों की उपाधि 'क्षत्रप', 'क्षेत्रपावन' या 'महाक्षत्रप' हमारे यहाँ रख गए और गुस्तास्प, विस्तास्प के वज़न के कृशाश्व, श्यावाश्व, बृहदश्व आदि ऋषियों और राजाओं के नाम दे गए। यूनानी यवनों से काम पड़ा तो वे, यवन की स्त्री यवनी तो नहीं, पर यवन की लिपि 'यवनानी' शब्द हमारे व्याकरण को भेंट कर

गए। साथ ही मेष, वृष, मिथुन आदि भी यहाँ पहुँच गए। पुराने ग्रंथकार तो शुद्ध यूनानी नाम आर, तार, जितुम आदि ही काम में लाते थे। वराहमिहिर की स्त्री खना चाहे यवनी रही हो, या न रही हो, उसने आदर से कहा है कि म्लेच्छ यवन भी ज्योतिःशास्त्र जानने से ऋषियों की तरह पूजे जाते हैं। अब चाहे 'वेल्यूपेबल सिस्टम' भी वेद में निकाला जाय, पर पुराने हिंदू कृतघ्न और गुरुमार न थे। × × × यवन राजाओं की उपाधि 'सोटर' त्रातार का रूप लेकर हमारे राजाओं के यहाँ आ लगी। × × × शकों के हमले हुए तो 'शाकपार्थिव' वैयाकरणों के हाथ लगा और शक संवत् या शाका सर्वसाधारण के। हूण वंक्षु (Oxus) नदी के किनारे पर से यहाँ चढ़ आए तो कवियों को नारंगी की उपमा मिली कि ताजे मुड़े हुए हूण की ठुड्डी की सी नारंगी।

× × × ×

बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है, आर्यसमाज ने मर्मस्थल पर वह मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया। गैरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, पर इन्होंने तो अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं कि "मारेसि मोहिं कुठाउँ"। अच्छे अच्छे पद तो यों सफाई से ले लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया।

हम अपने आपको 'आर्य' नहीं कहते, हिंदू कहते हैं। × × × और तो क्या 'नमस्ते' का वैदिक फिकरा हाथ से गया। चाहे 'जय रामजी' कह लो चाहे 'जय श्रीकृष्ण', नमस्ते मत कह बैठना। ओंकार बड़ा मांगलिक शब्द है। कहते हैं कि पहले यह ब्रह्मा का कंठ फाड़कर निकला था।

इस द्वितीय उत्थान के भीतर हम दो ऐसे निबंध-लेखकों का नाम लेते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जिनके लेखों में भाषा की एक नई गति-विधि तथा आधुनिक जगत् की विचार-धारा से उद्दीप्त नूतन भाव-भंगी के दर्शन होते हैं। 'सरस्वती' के पुराने पाठकों में से बहुतों को अध्यापक पूर्णसिंह के लेखों का स्मरण होगा। उनके तीन चार निबंध ही उक्त पत्रिका में निकले, उनमें विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से मिश्रित करनेवाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिंदी-गद्य-साहित्य में एक नई चीज थी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति, 'लाक्षणिकता' में देखी जाती है। भाषा और भाव की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी। योरप के जीवन-क्षेत्र की अशांति से उत्पन्न आध्यात्मिकता की, किसानों और मजदूरों की महत्त्व-भावना की जो लहरें उठीं उनमें वे बहुत दूर तक बहे। उनके निबंध भावात्मक कोटि में ही आएँगे यद्यपि उनकी तह में क्षीण विचारधारा स्पष्ट लक्षित होती है। इस समय उनके तीन निबंध हमारे सामने हैं "आचरण की सभ्यता", "मजदूरी और प्रेम" और "सच्ची वीरता"। यहाँ हम उनके निबंधों से कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

'आचरण की सभ्यता' से

"पश्चिमी ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य जाति ने पहन रखा है, युरोप को कदापि प्राप्त न होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिये युरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूरबी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ जहाँ युरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरता से भरा मालूम होता है—

वहीं दूसरी ओर युरोप के जीवन का वह भाग जहाँ विद्या और ज्ञान का सूर्य चमक रहा है, इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जायँगे।

× × × आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। × × × जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मौमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंककर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तो हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होनेवाला उनका कौन सा शिव था।"

'मज़दूरी और प्रेम' से

"जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-संन्यासी हल कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि अनंत काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।"

इस कोटि के दूसरे लेखक हैं बाबू गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी०। उन्होंने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध थोड़े बहुत लिखे हैं—जैसे, 'कर्त्तव्य-संबंधी रोग, निदान और चिकित्सा', 'समाज और कर्त्तव्यपालन', 'फिर निराशा क्यों'। 'फिर निराशा क्यों' एक छोटी सी पुस्तक है जिसमें कई विषयों पर बहुत छोटे छोटे आभासपूर्ण निबंध हैं। इन्हीं में से एक कुरूपता भी है जिसका थोड़ा सा अंश नीचे दिया जाता है—

"सौंदर्य्य की उपासना करना उचित है सही, पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निंद्य है? नहीं, सौंदर्य्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुंदर पदार्थ अपनी सुंदरता पर चाहे जितना मान करे, किंतु असुंदर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुंदर कहलाता है। अंधों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

× × × ×

सत्ता-सागर में दोनों की स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों? रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए हुए बैठे हैं। सुंदर वस्तु को भी हम इसी कारण सुंदर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं। आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य्य-पूर्ण हो जाने पर सुंदर और असुंदर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान् नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे संसार में अपने आपको ही देखेंगे तब हमको कुरूपवान् भी रूपवान् दिखाई देगा।"

अब निबंध का प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है। खेद है कि समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखनेवाले, जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परंपरा कसी हो, अधिक लेखक हमें न मिले।

समालोचना

समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुण-दोष-विवेचन ही समझा जाता रहा है। संस्कृत-साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य्य या साहित्य-मीमांसक कोई नया लक्षण-ग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य-रचनाओं को

वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था उन्हें दोषों के उदाहरणों में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी वह उन्हीं उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था।* इसके अतिरिक्त जो दूसरा उद्देश्य समालोचना का होता है—अर्थात् कवियों की अलग अलग विशेषताओं का दिग्दर्शन—उसकी पूर्ति किसी कवि की स्तुति में दो एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ कहकर ही लोग संतोष मान लिया करते थे, जैसे—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिः मधुरसांद्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

—

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

किसी कवि या पुस्तक के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी। योरप में इसकी चाल खूब चली। वहाँ समालोचना काव्य-सिद्धांत-निरूपण से स्वतंत्र एक विषय ही हो गया। केवल गुण-दोष दिखानेवाले लेखों या पुस्तकों की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं

* साहित्य-दर्पणकार ने शृंगार रस के उदाहरण में "शून्यं वासगृहं विलोक्य" यह श्लोक उद्धृत किया। रस-गंगाधरकार ने इस श्लोक में अनेक दोष दिखलाए और उदाहरण में अपना बनाया श्लोक भिड़ाया। हिंदी-कवियों में श्रीपति ने दोषों के उदाहरण में केशवदास के पद्य रक्खे हैं।

का दिग्दर्शन करानेवाली, उसकी विचारधारा में डूबकर उसकी अंतर्वृत्तियों की छानबीन करनेवाली पुस्तक, जिसमें गुणदोष-कथन भी आ जाता था, स्थायी साहित्य में स्थान पाती थी। समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते हैं—निर्णयात्मक (Judicial Method) और व्याख्यात्मक (Inductive Criticism)*। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कहीं प्रशंसा होती है, कहीं निंदा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। यह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप में काव्य-वस्तु ही तक परिमित रहती है अर्थात् उसी के अंग-प्रत्यंग की विशेषताओं को ढूँढ़ निकालने और भावों की व्यवच्छेदात्मक व्याख्या करने में तत्पर रहती है। पर इस व्याख्यात्मक समालोचना के अंतर्गत बहुत सी बाहरी बातों का भी विचार होता है—जैसे, सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक परिस्थिति आदि का प्रभाव। ऐसी समीक्षा को 'ऐतिहासिक समीक्षा' (Historical Criticism) कहते हैं। इसका उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या संबंध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परंपरा में क्या स्थान है। वाह्य पद्धति के अंतर्गत ही कवि के जीवनक्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अंतर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसंधान भी है, जिसे "मनोवैज्ञानिक आलोचना" (Psychological Criticism) कहते

---

* Methods and Materials of Literary Criticism.—Gayley & Scott.

हैं। इनके अतिरिक्त दर्शन, विज्ञान आदि की दृष्टि से समालोचना की और भी कई पद्धतियाँ हैं और हो सकती हैं। इस प्रकार समालोचना के स्वरूप का विकास योरप में हुआ।

केवल निर्णयात्मक समालोचना की चाल बहुत कुछ उठ गई है। अपनी भली बुरी रुचि के अनुसार कवियों की श्रेणी बाँधना, उन्हें नंबर देना, अब एक बेहूद: बात समझी जाती है* ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिंदी-साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण-दोष-दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसका सूत्रपात बाबू हरिश्चंद्र के समय में ही हुआ। लेख के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी ने अपनी "आनंदकादंबिनी" में शुरू की। लाला श्रीनिवासदास के संयोगिता स्वयंवर" नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना, जिसमें दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था, उक्त पत्रिका में निकली थी। पर किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने के लिये कोई पुस्तक भारतेंदु के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की "हिंदी-कालिदास की आलोचना" थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरंभ में ही निकली। इसमें लाला सीताराम बी० ए० के अनुवाद किए हुए नाटकों के भाषा तथा भाव-संबंधी दोष बड़े विस्तार से दिखाए गए हैं। यह अनुवादों की समालोचना थी अत: भाषा की त्रुटियों और मूल भाव के विपर्य्यय आदि के आगे जा ही

---

* The ranking of writers in order of merit has become obsolete.—The New Criticism by J. E. Spingarn (1911).

नहीं सकती थी। दूसरी बात यह कि इसमें दोषों का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं ढूँढ़े गए।

इसके उपरांत द्विवेदीजी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर दूसरे ढंग की—अर्थात् विशेषता-परिचायक—समीक्षाएँ भी निकालीं। इस प्रकार की पुस्तकों में "विक्रमांकदेव-चरितचर्चा" और "नैषधचरित-चर्चा" मुख्य हैं। इनमें कुछ तो पंडित-मंडली में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद है (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!) और कुछ भिन्न भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह। इस प्रकार की पुस्तकों से संस्कृत न जाननेवाले हिंदी-पाठकों को दो तरह की जानकारी हासिल होती है—संस्कृत के किसी कवि की कविता किस ढंग की है, और वह पंडितों और विद्वानों के बीच कैसी समझी जाती है। द्विवेदीजी की तीसरी पुस्तक "कालिदास की निरंकुशता" में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिंदीवालों के या संस्कृतवालों के फायदे के लिये लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए; स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।

यद्यपि द्विवेदीजी ने हिंदी के बड़े बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिंदी-साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदीजी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक साव-

धान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।

कवियों का बड़ा भारी इतिवृत्त-संग्रह (मिश्रबंधु-विनोद) तैयार करने के पहले मिश्रबंधुओं ने "हिंदी-नवरत्न" नामक समालोचनात्मक ग्रंथ निकाला था जिसमें सबसे बढ़कर नई बात यह थी कि 'देव' हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं। हिंदी के पुराने कवियों को समालोचना के लिये सामने लाकर मिश्र-बंधुओं ने बेशक बड़ा जरूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है। रीतिकाल के भीतर यह सूचित किया जा चुका है कि हिंदी में साहित्य-शास्त्र का वैसा निरूपण नहीं हुआ जैसा संस्कृत में हुआ है। हिंदी के रीति-ग्रंथों के अभ्यास से लक्षणा, व्यंजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक् धारणा नहीं हो सकती। कविता की समालोचना के लिये यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की जरूरत नहीं। इसके अतिरिक्त उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिये विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वीक्षण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है। "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यों को लेकर यह राय जाहिर करना कि "तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते; पर सूर ने दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निंदा भी की है," साहित्यमर्मज्ञों के निकट क्या समझा जायगा?

"सूरदास प्रभु वै अति खोटे", "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न काले कलूटे कृतघ्न। पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रतिभाव

व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद-मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष यहाँ विप्रलंभ शृंगार में रतिभाव का ही व्यंजक है*। इसी प्रकार कुछ 'दैन्य' भाव की उक्तियों को लेकर तुलसीदास जी खुशामदी कहे गए हैं। 'देव' को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिये बिहारी में बिना दोष के दोष ढूँढ़े गए हैं। 'संक्रोन' को 'संक्रान्ति' का (संक्रमण तक ध्यान कैसे जा सकता था?) अपभ्रंश समझ आप लोगों ने उसे बहुत बिगाड़ा हुआ शब्द माना है। 'रोज' शब्द 'रुलाई' के अर्थ में कबीर, जायसी आदि पुराने कवियों में न जाने कितनी जगह आया है और आगरे आदि के आस पास अब तक बोला जाता है; पर वह भी 'रोजा' समझा गया है। इसी प्रकार की बे-सिर-पैर की बातों से पुस्तक भरी है। कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरूपण की आशा से जो इसे खोलेगा, वह निराश ही होगा।

इसके उपरांत पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य-परंपरा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्य्यासप्तशती' और 'गाथासप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा पूरा मेल दिखाकर शर्म्माजी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परंपरा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्घाटन भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। हिंदी के दूसरे कवियों के मिलते-जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्म्माजी ने तारतम्यिक आलोचना का

---

* देखिए "भ्रमरगीतसार" की भूमिका।

शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्म्माजी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिये बिहारी पर किए गए थे। हो सकता है कि शर्म्माजी ने भी बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया है वह एक अनूठे ढंग से किया है। उनके पक्ष-पात का भी साहित्यिक मूल्य है।

यहाँ पर यह बात सूचित कर देना आवश्यक है कि शर्म्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है। दूसरे शृंगारी कवियों से अलग करनेवाली बिहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अंतःप्रवृत्तियों के उद्घाटन का—जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है—प्रयत्न इसमें नहीं हुआ है। एक खटकनेवाली बात है, बिना जरूरत के जगह जगह चुहलबाजी और शाबाशी का महफ़िली तर्ज़।

शर्म्माजी की पुस्तक से दो बातें हुईं। एक तो "देव बड़े कि बिहारी" यह भद्दा झगड़ा सामने आया; दूसरे "तुलनात्मक समालोचना" के पीछे लोग बेतरह पड़े।

"देव और बिहारी" के झगड़े को लेकर पहली पुस्तक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल० बी० की मैदान में आई। इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई हैं, वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई हैं, 'नवरत्न' की तरह योंही नहीं कही गई हैं। यह पुरानी परिपाटी की साहित्य-समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने के योग्य है। मिश्रबंधुओं की अपेक्षा पंडित कृष्णबिहारीजी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते हैं। "देव और बिहारी" के उत्तर में लाला भग-वानदीनजी ने "बिहारी और देव" नाम की पुस्तक निकाली

जिसमें उन्होंने मिश्र-बंधुओं के भद्दे आक्षेपों का उचित शब्दों में जवाब देकर पंडित कृष्णबिहारीजी की बातों पर भी पूरा विचार किया। अच्छा हुआ कि 'छोटे बड़े' के इस भद्दे झगड़े की ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं हुए।

अब "तुलनात्मक समालोचना" की बात लीजिए। उसकी ओर लोगों का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतों ने 'तुलना' को ही समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पत्रिकाओं में तथा इधर उधर भी लगे भिन्न भिन्न कवियों के पद्यों को लेकर मिलान करने। यहाँ तक कि जिन दो पद्यों में वास्तव में कोई भावसाम्य नहीं, उनमें भी बादरायण संबंध स्थापित करके लोग इस "तुलनात्मक समालोचना" के मैदान में उतरने का शौक जाहिर करने लगे। इसका असर कुछ समालोचकों पर भी पड़ा। पंडित कृष्णबिहारी मिश्रजी ने जो "मतिराम-ग्रंथावली" निकाली, उसकी भूमिका का आवश्यकता से अधिक अंश उन्होंने इस 'तुलनात्मक आलोचना' को ही अर्पित कर दिया; और बातों के लिये बहुत कम जगह रक्खी।

द्वितीय उत्थान के भीतर 'समालोचना' की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई, पर उसका स्वरूप प्राय: रूढ़िगत (Conventional) ही रहा। कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अंत:प्रकृति की छानबीन करनेवाली उच्चकोटि की समालोचना का प्रारंभ तृतीय उत्थान में जाकर हुआ।

———

गद्य-साहित्य की वर्त्तमान गति

तृतीय उत्थान

(संवत् १९७५ से)

इस तृतीय उत्थान में हम वर्त्तमान काल में पहुँचते हैं जो अभी चल रहा है। इसमें आकर हिंदी गद्य-साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के भीतर अनेक नये रास्ते खुले जिनमें से कई एक पर विलायती गलियों के नाम की तख्तियाँ भी लगीं। हमारे गद्य-साहित्य का यह काल अभी हमारे सामने है। इसके भीतर रहने के कारण इसके संबंध में हम या हमारे सहयोगी जो कुछ कहेंगे वह इस काल का अपने संबंध में अपना निर्णय होगा। सच पूछिए तो वर्त्तमान काल, जो अभी चल रहा है, हमसे इतना दूर पीछे नहीं छूटा है कि इतिहास के भीतर आ सके। इससे यहाँ आकर हम अपने गद्य-साहित्य के विविध अङ्गों का संक्षिप्त विवरण ही इस दृष्टि से दे सकते हैं कि उनके भीतर की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियाँ लक्षित हो जायँ।

सब से पहले ध्यान लेखकों और ग्रंथकारों की दिन दिन बढ़ती संख्या पर जाता है। इन बीस इक्कीस वर्षों के बीच हिंदी-साहित्य का मैदान काम करनेवालों से पूरा पूरा भर गया, जिससे उसके कई अंगों की बहुत अच्छी पूर्ति हुई, पर साथ ही बहुत-सी फालतू चीजें भी इधर उधर बिखरीं। जैसे भाषा का पूरा अभ्यास और उस पर अच्छा अधिकार रखनेवाले,

प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक ठीक परखनेवाले अनेक लेखकों द्वारा हमारा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ हो चला, वैसे ही केवल पाश्चात्य साहित्य के किसी कोने में आँख खोलनेवाले और योरप की हर एक नई-पुरानी बात को 'आधुनिकता' कहकर चिल्लानेवाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अनधिकार चर्चा—बहुत-सी अनाड़ीपन की बातें—भी फैल चलीं। इस दूसरे ढाँचे के लोग योरप की सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिस्थितियों के अनुसार समय समय पर उठे हुए नाना वादों और प्रवादों को लेकर और उनकी उक्तियों के टेढ़े-सीधे अनुवाद की उद्धरणी करके ही अपने को हमारे वास्तविक साहित्य-निर्माताओं से दस हाथ आगे बता चले।

इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रुका तो नहीं, पर व्यर्थ की भीड़-भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबंध, क्या समालोचना, क्या काव्य-स्वरूप-मीमांसा, सब के क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मंत्रों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है। इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अपने जन्म-स्थान में अब नहीं सुनाई पड़ते। हँसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी 'मध्य-युग की प्रवृत्ति', 'क्लासिकल,' 'रोमांटिक' इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी आलोचना द्वारा 'नये युग की वाणी' का संचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा, अँगरेजी भी नहीं जानते। उपन्यास के क्षेत्र में देखिए तो एक ओर प्रेमचंद ऐसे प्रतिभाशाली उपन्यासकार हिंदी की कीर्ति का देश-भर में प्रसार कर रहे हैं; दूसरी ओर कोई उनकी भर-पेट निंदा करके टाल्सटॉय का 'पापी के प्रति घृणा नहीं दया' वाला सिद्धांत लेकर दौड़ता है। एक दूसरा आता है जो दयावाले सिद्धांत के विरुद्ध योरप का साम्यवादी सिद्धांत ला भिड़ाता है और कहता

है कि गरीबों का रक्त चूसकर उन्हें अपराधी बनाना और फिर बड़ा बनकर दया दिखाना तो उच्च वर्ग के लोगों की मनोवृत्ति है। वह बड़े जोश के साथ सूचित करता है कि इस मनोवृत्ति का समर्थन करनेवाला साहित्य हमें नहीं चाहिए; हमें तो ऐसा साहित्य चाहिए जो पद-दलित अकिंचनों में रोष, विद्रोह और आत्म-गौरव का संचार करे और उच्च वर्ग के लोगों में नैराश्य, लज्जा और ग्लानि का।

एक ओर स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी अपने नाटकों द्वारा यह साफ झलका देते हैं कि प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर चलनेवाले नाटकों की रचना के लिये काल-विशेष के भीतर के तथ्य बटोरनेवाला कैसा विस्तृत अध्ययन और उन तथ्यों द्वारा अनुमित सामाजिक स्थिति के सजीव ब्यौरे सामने खड़ा करनेवाली कैसी सूक्ष्म कल्पना चाहिए; दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे नाटकों के प्रति उपेक्षा का-सा भाव दिखाते हुए बर्नर्ड शा आदि का नाम लेते हैं और कहते हैं कि आधुनिक युग 'समस्या नाटकों' का है। यह ठीक है कि विज्ञान की साधना-द्वारा संसार के वर्त्तमान युग का बहुत-सा रूप योरप का खड़ा किया हुआ है। पर इसका क्या यह मतलब है कि युग का सारा रूप-विधान योरप ही करे और हम आराम से जीवन के सब क्षेत्रों में उसी के दिए हुए रूपों को ले लेकर रूपवान् बनते चलें? क्या अपने स्वतंत्र स्वरूप-विकास की हमारी शक्ति सब दिन के लिये मारी गई?

हमारा यह तात्पर्य नहीं कि योरप के साहित्य-क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहाँ न हो। यदि हमें वर्त्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहाँ के अनेक 'वादों' और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए। उन वादों की चर्चा अच्छी तरह हो, उन पर पूरा विचार हो और उनके भीतर जो थोड़ा-

बहुत सत्य छिपा हो उसका ध्यान अपने साहित्य के विकास में रखा जाय। पर उनमें से कभी इसको, कभी उसको, यह कहते हुए सामने रखना कि वर्त्तमान विश्व-साहित्य का स्वरूप यही है जिससे हिंदी-साहित्य अभी बहुत दूर है, अनाड़ीपन ही नहीं जंगलीपन भी है।

आज कल भाषा की भी बुरी दशा है। बहुत-से लोग शुद्ध भाषा लिखने का अभ्यास होने के पहले ही बड़े बड़े पोथे लिखने लगते हैं जिनमें व्याकरण की भद्दी भूलें तो रहती ही हैं, कहीं कहीं वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं रहता। यह बात और किसी भाषा के साहित्य में शायद ही देखने को मिले। व्याकरण की भूलों तक ही बात नहीं है। अपनी भाषा की प्रकृति की पहचान न रहने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले हैं। वे अँगरेजी के शब्द, वाक्य और मुहावरे तक ज्यों-के-त्यों उठाकर रख देते हैं; यह नहीं देखने जाते कि भाषा हिंदी हुई या और कुछ। नीचे के अवतरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

(१) उनके हृदय में अवश्य ही **एक ललित कोना** होगा जहाँ रतन ने स्थान पा लिया होगा। (कुंडलीचक्र उपन्यास)

(२) वह उन लोगों में से न था जो **घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों**। (वही)

(३) क्या संभव नहीं है कि भारत के बड़े बड़े **स्वार्थ** कुछ लोगों की नामावली उपस्थित करें। (आज, २८ अक्टूबर, १९३९)

उपन्यास-कहानी

इस तृतीय उत्थान में हमारा उपन्यास-कहानी साहित्य ही सबसे अधिक समृद्ध हुआ। नूतन विकास लेकर आनेवाले प्रेमचंद जी जो कर गए वह तो हमारे साहित्य की एक निधि

ही है, उनके अतिरिक्त पं० विश्वंभरनाथ कौशिक, बाबू प्रताप-नारायण श्रीवास्तव, श्री जैनेंद्रकुमार ऐसे सामाजिक उपन्यास-कार तथा बा० वृंदावनलाल वर्मा ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास-कार उपन्यास-भंडार की बहुत सुंदर पूर्ति करते जा रहे हैं। सामाजिक उपन्यासों में देश में चलनेवाले राष्ट्रीय तथा आर्थिक आंदोलनों का भी आभास बहुत कुछ रहता है। तअल्लुकेदारों के अत्याचार, भूखे किसानों की दारुण दशा के बड़े चटकीले चित्र उनमें प्रायः पाए जाते हैं। इस संबंध में हमारा केवल यही कहना है कि हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राज-नीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तु-स्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि अँगरेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करनेवालों (किसानों और जमींदारों दोनों) की और नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि राजकर्मचारियों का इतना बड़ा चक्र ग्रामवासियों के सिर पर ही चला करता है, व्यापारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई है। व्यापारश्रेणियों को यह सुभीता विदेशी व्यापार को फलता-फूलता रखने के लिये दिया गया था, जिससे उनकी दशा उन्नत होती आई और भूमि से संबंध रखनेवाले सब वर्गों की—क्या जमींदार, क्या किसान, क्या मजदूर—गिरती गई।

जमींदारों के अंतर्गत हमें ९८ प्रतिशत साधारण जमींदारों को लेना चाहिए, २ प्रतिशत बड़े बड़े तअल्लुकेदारों को नहीं। किसान और जमींदार एक ओर तो सरकार की भूमि-कर-संबंधी नीति से पिसते आ रहे हैं, दूसरी ओर उन्हें भूखों मारनेवाले नगरों के व्यापारी हैं जो इतने घोर श्रम से पैदा की हुई भूमि की

उपज का भाव अपने लाभ की दृष्टि से घटाते-बढ़ाते रहते हैं। भाव किसानों, जमींदारों के हाथ में नहीं। किसानों से बीस सेर के भाव से अन्न लेकर व्यापारी सात-आठ सेर के भाव से बेंचा करते हैं। नगरों के मजदूर तक पान-बीड़ी के साथ सिनेमा देखते हैं, गावँ के जमींदार और किसान कष्ट से किसी प्रकार दिन काटते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ा कर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए, सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।

वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खान-पान के व्यवहार तक में जो भद्दी नकल होने लगी है—गर्मी के दिनों में भी सूट-बूट कसकर टेबुलों पर जो प्रीति-भोज होने लगा है—उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या किसी जन-समाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचररूप में सामने लाना और कभी कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।

लोक की सामयिक परिस्थितियों तक ही न रहकर जीवन के नित्य स्वरूप की विषमताएँ और उलझनें सामने रखनेवाले उपन्यास भी योरप में लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। जीवन में कुछ बातों का जो मूल्य चिरकाल से निर्धारित चला आ रहा है—जैसे पाप और पुण्य का—उसकी मीमांसा में भी

उपन्यास प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार उपन्यासों का लक्ष्य वहाँ क्रमशः ऊँचा होता गया जिससे जीवन के नित्य स्वरूप का चिंतन और अनुभव करनेवाले बड़े बड़े कवि इधर उपन्यास के क्षेत्र में भी काम करते दिखाई देते हैं। बड़े हर्ष की बात है कि हमारे हिंदी-साहित्य में भी बा० भगवतीचरण वर्मा ने 'चित्रलेखा' नाम का इस ढंग का एक सुंदर उपन्यास प्रस्तुत किया है।

द्वितीय उत्थान के भीतर बँगला से अनूदित अथवा उनके आदर्श पर लिखे गए उपन्यासों में देश की सामान्य जनता के गार्हस्थ्य और पारिवारिक जीवन के बड़े मार्मिक और सच्चे चित्र रहा करते थे। प्रेमचंदजी के उपन्यासों में भी निम्न और मध्यम श्रेणी के गृहस्थों के जीवन का बहुत सच्चा स्वरूप बराबर मिलता रहा। पर इधर बहुत-से ऐसे उपन्यास सामने आ रहे हैं जो देश के सामान्य भारतीय जीवन से हट कर बिल्कुल योरपीय रहन-सहन के साँचे में ढले हुए एक बहुत छोटे-से वर्ग का जीवन-चित्र ही यहाँ से वहाँ तक अंकित करते हैं। उनमें मिस्टर, मिसेज, मिस, प्रोफेसर, होस्टल, क्लब, ड्राइंगरूम, टेनिस, मैच, सिनेमा, मोटर पर हवाखोरी, कॉलेज की छात्रा-वस्था के बीच के प्रणय-व्यवहार इत्यादि ही सामने आते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी शिक्षा के दिन दिन बढ़ते हुए प्रचार से देश के आधुनिक जीवन का यह भी एक पक्ष हो गया है पर यह सामान्य पक्ष नहीं है। भारतीय रहन-सहन, खान-पान, रीति-व्यवहार प्रायः सारी जनता के बीच बने हुए हैं। देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करना हम अच्छा नहीं समझते।

यहाँ तक तो सामाजिक उपन्यासों की बात हुई। ऐति-हासिक उपन्यास बहुत कम देखने में आ रहे हैं। एक प्रकार

से तो यह अच्छा है। जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग अलग विशेष रूप से अध्ययन करनेवाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करनेवाले लेखक तैयार न हों तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना ठीक नहीं। द्वितीय उत्थान के भीतर जो कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए या बंग भाषा से अनुवाद करके लाए गए, उनमें देश-काल की परिस्थिति का अध्ययन नहीं पाया जाता। अब किसी ऐतिहासिक उपन्यास में यदि बाबर के सामने हुक्का रखा जायगा, गुप्त-काल में गुलाबी और फीरोजी रंग की साड़ियाँ, इत्र, मेज पर सजे गुलदस्ते, झाड़-फानूस लाए जाएँगे, सभा के बीच खड़े होकर व्याख्यान दिए जाएँगे, और उन पर करतल-ध्वनि होगी; बात बात में 'धन्यवाद', 'सहानुभूति' ऐसे शब्द तथा 'सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना' ऐसे फिकरे पाए जायँगे तो काफी हँसनेवाले और नाक-भौं सुकोड़नेवाले मिलेंगे। इससे इस जमीन पर बहुत समझ-बूझकर पैर रखना होगा।

ऐतिहासिक उपन्यास किस ढंग से लिखना चाहिए, यह प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्रीराखालदास बंद्योपाध्याय ने अपने 'करुणा', 'शशांक' और 'धर्मपाल' नामक उपन्यासों द्वारा अच्छी तरह दिखा दिया। प्रथम दो के अनुवाद हिंदी में हो गए हैं। खेद है कि इस समीचीन पद्धति पर प्राचीन हिंदू साम्राज्य-काल के भीतर की कथा-वस्तु लेकर मौलिक उपन्यास न लिखे गए। नाटक के क्षेत्र में अलबत्त स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी ने इस पद्धति पर कई सुंदर ऐतिहासिक नाटक लिखे। इसी पद्धति पर उपन्यास लिखने का अनुरोध हमने उनसे कई बार किया था जिसके अनुसार शुंगकाल (पुष्यमित्र, अग्निमित्र का समय)

का चित्र उपस्थित करनेवाला एक बड़ा मनोहर उपन्यास लिखने में उन्होंने हाथ भी लगाया था, पर हमारे साहित्य के दुर्भाग्य से उसे अधूरा छोड़कर ही वे चल बसे।

वर्तमान काल में ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में केवल बा० वृंदावनलाल वर्मा दिखाई दे रहे हैं। उन्होंने भारतीय इतिहास के मध्ययुग के प्रारंभ में बुंदेलखंड की स्थिति लेकर 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' नामक दो बड़े सुंदर उपन्यास लिखे हैं। विराटा की पद्मिनी की कल्पना तो अत्यंत रमणीय है।

उपन्यासों के भीतर लंबे लंबे दृश्य-वर्णनों तथा धाराप्रवाह भावव्यंजनापूर्ण भाषण की जो प्रथा पहले थी वह योरप में बहुत-कुछ छाँट दी गई, अर्थात् वहाँ उपन्यासों से काव्य का रंग बहुत कुछ हटा दिया गया। यह बात वहाँ नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में 'यथातथ्यवाद' की प्रवृत्ति के साथ साथ हुई। इससे उपन्यास-कला की अपनी निज की विशिष्टता निखर कर झलकी, इसमें कोई संदेह नहीं। वह विशिष्टता यह है कि घटनाएँ और पात्रों के क्रिया-कलाप ही भावों को बहुत-कुछ व्यक्त कर दें, पात्रों के प्रगल्भ भाषण की उतनी अपेक्षा न रहे। पात्रों के थोड़े-से मार्मिक शब्द ही हृदय पर पड़नेवाले प्रभाव को पूर्ण कर दें। इस तृतीय उत्थान का आरंभ होते होते हमारे हिंदी-साहित्य में उपन्यास का यह पूर्ण विकसित और परिष्कृत स्वरूप लेकर स्वर्गीय प्रेमचंदजी आए। द्वितोय उत्थान के मौलिक उपन्यासकारों में शील-वैचित्र्य की उद्भावना नहीं के बराबर थी। प्रेमचंदजी के ही कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलने लगीं जिन्हें सामने पाकर अधिकांश लोगों को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषतावाले व्यक्ति हमने कहीं-न-कहीं देखे हैं। ऐसी व्यक्तिगत विशेषता ही सच्ची विशेषता है, जिसे झूठी विशेषता और वर्गगत विशेषता दोनों से

अलग समझना चाहिए। मनुष्य-प्रकृति की व्यक्तिगत विशेषताओं का संगठन भी प्रकृति के और विधानों के समान कुछ ढर्रों पर होता है; अतः ये विशेषताएँ बहुतों को लखाई पड़ती रहती हैं, चाहे वे उन्हें शब्दों में व्यक्त न कर सकें। प्रेमचंद की-सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलनेवाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी।

अंतःप्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्‌घाटन का कौशल भी प्रेमचंदजी के दो-एक उपन्यासों में, विशेषतः 'ग़बन' में देखने में आया। सत् और असत्, भला और बुरा, दो सर्वथा भिन्न वर्ग करके पात्र निर्माण करने की अस्वाभाविक प्रथा भी इस तृतीय उत्थान में बहुत कुछ कम हुई है, पर मनोवृत्ति की अस्थिरता का वह चित्रण अभी बहुत कम दिखाई पड़ा है जिसके अनुसार कुछ परिस्थितियों में मनुष्य अपने शील-स्वभाव के सर्वथा विरुद्ध आचरण कर जाता है।

उपन्यासों से भी प्रचुर विकास हिंदी में छोटी कहानियों का हुआ है। कहानियाँ बहुत तरह की लिखी गईं; उनके अनेक प्रकार के रूप-रंग प्रकट हुए। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिए हैं। हैं भी ये ढाँचे बड़े सुंदर। हम समझते हैं कि हमें ढाँचों ही तक रहना चाहिए। पश्चिम में भिन्न भिन्न दृष्टियों से किए हुए उनके वर्गीकरण, उनके संबंध में निरूपित तरह तरह के सिद्धांत भी हम समेटते चलें, इसकी कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। उपन्यासों और छोटी कहानियों का हमारे वर्तमान हिंदी-साहित्य में इतनी अनेकरूपता के साथ विकास हुआ है कि उनके संबंध में हम अपने कुछ स्वतंत्र सिद्धांत स्थिर कर सकते हैं, अपने ढंग पर उनके भेद-उपभेद निरूपित कर सकते हैं। इसकी आवश्यकता समझने के लिये एक उदाहरण

लीजिए। छोटी कहानियों के जो आदर्श और सिद्धांत अँगरेजी की अधिकतर पुस्तकों में दिए गए हैं, उनके अनुसार छोटी कहानियों में शील या चरित्र-विकास का अवकाश नहीं रहता। पर प्रेमचंदजी की एक कहानी है 'बड़े भाई साहब' जिसमें चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जिस संग्रह के भीतर यह कहानी है, उसकी भूमिका में प्रेमचंदजी ने कहानी में चरित्र-विकास को बड़ा भारी कौशल कहा है। छोटी कहानियों के जो छोटे-मोटे संग्रह निकलते हैं उनमें भूमिका के रूप में अँगरेजी पुस्तकों से लेकर कुछ सिद्धांत प्रायः रख दिए जाते हैं। यह देखकर दुःख होता है, विशेष करके तब, जब उन सिद्धांतों से सर्वथा स्वतंत्र कई सुंदर कहानियाँ उन संग्रहों के भीतर ही मिल जाती हैं।

उपन्यास और नाटक दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति किस प्रकार योरप में हुई है और दृश्य-वर्णन, प्रगल्भ भाव-व्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि किस प्रकार हटाए जाने लगे हैं, इसका उल्लेख अभी कर आए हैं। उसके अनुसार इस तृतीय उत्थान में हमारे उपन्यासों के ढाँचों में भी कुछ परिवर्त्तन हुआ। परिच्छेदों के आरंभ में लंबे लंबे काव्यमय दृश्य-वर्णन, जो पहले रहा करते थे, बहुत कम हो गए; पात्रों के भाषण का ढंग भी कुछ अधिक स्वाभाविक और व्यावहारिक हुआ। उपन्यास को काव्य के निकट रखनेवाला पुराना ढाँचा एकबारगी छोड़ नहीं दिया गया है। छोड़ा क्यों जाय? उसके भीतर हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबंधों (जैसे, कादंबरी, हर्षचरित) के स्वरूप की परंपरा छिपी हुई है। योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे पीछे रक्खें। अब यह आदत छोड़नी चाहिए कि कहीं हार्डी का कोई

उपन्यास पढ़ा और उसमें अवसाद या 'दुःखवाद' की गंभीर छाया देखी तो चट बोल उठे कि अभी हिंदी के उपन्यासों को यहाँ तक पहुँचने में बहुत देर है। बौद्धों के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हार्डी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिए।

योरप में नाटक और उपन्यास से काव्यत्व निकाल बाहर करने का जो प्रयत्न हुआ है, उसका कुछ कारण है। वहाँ जब फ्रांस और इटली के कलावादियों द्वारा काव्य भी बेल-बूटे की नक्काशी की तरह जीवन से सर्वथा पृथक् कहा जाने लगा, तब जीवन को ही लेकर चलनेवाले नाटक और उपन्यास का उससे सर्वथा पृथक् समझा जाना स्वाभाविक ही था। पर इस अत्यंत पार्थक्य का आधार प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा विविध परिस्थितियों की उद्भावना को। उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियाँ सामने लाते हैं जो काव्य-धारा के लिये प्रकृत मार्ग खोलती हैं।

उपन्यासों और कहानियों के सामाजिक और ऐतिहासिक ये दो भेद तो बहुत प्रत्यक्ष हैं। ढाँचों के अनुसार जो तीन मुख्य भेद—कथा के रूप में, आत्मकथा के रूप में और चिट्ठी-पत्री के रूप में—किए गए हैं उनमें से अधिकतर उदाहरण तो प्रथम के ही सर्वत्र हुआ करते हैं। द्वितीय के उदाहरण भी अब हिंदी में काफी हैं, जैसे, 'दिल की आग' (जी० पी० श्रीवास्तव)। तृतीय के उदाहरण हिंदी में बहुत कम पाए जाते हैं, जैसे, चंद हसीनों के खतूल। इस ढाँचे में उतनी सजीवता भी नहीं।

कथा-वस्तु के स्वरूप और लक्ष्य के अनुसार हिंदी के अपने वर्तमान उपन्यासों में हमें ये भेद दिखाई पड़ते हैं—

(१) घटना-वैचित्र्य-प्रधान अर्थात् केवल कुतूहलजनक, जैसे, जासूसी और वैज्ञानिक आविष्कारों का चमत्कार दिखानेवाले। इनमें साहित्य का गुण अत्यंत अल्प होता है—केवल इतना ही होता है कि ये आश्चर्य और कुतूहल जगाते हैं।

(२) मनुष्य के अनेक पारस्परिक संबंधों की मार्मिकता पर प्रधान लक्ष्य रखनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'सेवा-सदन', 'निर्मला', 'गोदान'; श्री विश्वंभरनाथ कौशिक का 'माँ', 'भिखारिणी'; श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव का 'विदा', 'विकास', 'विजय'; चतुरसेन शास्त्री का 'परख', 'हृदय की प्यास'।

(३) समाज के भिन्न भिन्न वर्गों की परस्पर स्थिति और उनके संस्कार चित्रित करनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि'; प्रसादजी का 'कंकाल', 'तितली'।

(४) अंतर्वृत्ति अथवा शील-वैचित्र्य और उसका विकास-क्रम अंकित करनेवाले, जैसे, प्रेमचंदजी का 'ग़बन'; श्री जैनेंद्रकुमार का 'तपोभूमि', 'सुनीता'।

(५) भिन्न भिन्न जातियों और मतानुयायियों के बीच मनुष्यता के व्यापक संबंध पर ज़ोर देनेवाले। जैसे, राजा राधिकारमणप्रसादसिंहजी का 'राम-रहीम'।

(६) समाज के पाषंड-पूर्ण कुत्सित पक्षों का उद्घाटन और चित्रण करनेवाले, जैसे, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'बुधुवा की बेटी'।

(७) बाह्य और आभ्यंतर प्रकृति की रमणीयता का समन्वित रूप में चित्रण करनेवाले, सुंदर और अलंकृत पद-विन्यास-युक्त उपन्यास, जैसे, स्वर्गीय श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' का 'मंगल प्रभात'।

अनुसंधान और विचार करने पर इसी प्रकार और दृष्टियों से भी कुछ भेद किए जा सकते हैं। सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के जो आंदोलन देश में चल रहे हैं उनका आभास भी

बहुत से उपन्यासों में मिलता है। प्रवीण उपन्यासकार उनका समावेश और बहुत सी बातों के बीच कौशल के साथ करते हैं। प्रेमचंदजी के उपन्यासों और कहानियों में भी ऐसे आंदोलनों के आभास प्रायः मिलते हैं। पर उनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज-सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है वहाँ उपन्यासकार का रूप छिप गया है और प्रचारक (Propagandist) का रूप ऊपर आ गया है।

छोटी कहानियाँ

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ है और उसमें वर्त्तमान कवियों का भी पूरा योग रहा है। उनके इतने रूप-रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब के सब अब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते। न तो सब में विस्तार के किसी नियम का पालन मिलेगा, न चरित्र-विकास का अनवकाश। एक संवेदना या मनोभाव का सिद्धांत भी कहीं कहीं ठीक न घटेगा। उसके स्थान पर हमें मार्मिक परिस्थिति की एकता मिलेगी, जिसके भीतर कई ऐसी संवेदनाओं का योग रहेगा जो सारी परिस्थिति को बहुत ही मार्मिक रूप देगा। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'उन्मादिनी' का जिस परिस्थिति में पर्य्यवसान होता है उसमें पूरन का सत्त्वोद्रेक, सौदामिनी का अपत्यस्नेह और कालीशंकर की स्तब्धता तीनों का योग है। जो कहानियाँ कोई मार्मिक परिस्थिति लक्ष्य में रख कर चलेंगी उनमें बाह्य प्रकृति के भिन्न भिन्न रूप-रंगों के सहित और परिस्थितियों का विशद चित्रण भी बराबर मिलेगा। घटनाएँ और कथोपकथन बहुत अल्प रहेंगे। 'हृदयेश' जी की कहानियाँ प्रायः इसी ढंग की हैं। 'उन्मादिनी' में घटना गतिशील नहीं।

'शांति-निकेतन' में घटना और कथोपकथन दोनों कुछ नहीं। यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमें मानना पड़ेगा। पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण इसमें नहीं है, न सही।

वस्तु-विन्यास के ढंग में भी इधर अधिक वैचित्र्य आया है। घटनाओं में काल के पूर्वापर क्रम का विपर्य्यय कहीं कहीं इस तरह का मिलेगा कि समझने के लिये कुछ देर रुकना पड़ेगा। कहानियों में 'परिच्छेद' न लिखकर केवल १, २, ३ आदि संख्याएँ देकर विभाग करने की चाल है। अब कभी कभी एक ही नंबर के भीतर चलते हुए वृत्त के बीच थोड़ी सी जगह छोड़ कर किसी पूर्वकाल की परिस्थिति पाठकों के सामने एकबारगी रख दी जाती है। कहीं कहीं चलते हुए वृत्त के बीच में परिस्थिति का नाटकीय ढंग का एक छोटा सा चित्र भी आ जाता है। इस प्रकार के चित्रों में चारों ओर सुनाई पड़ते हुए शब्दों का संघात भी सामने रक्खा जाता है, जैसे, बाजार की सड़क का यह कोलाहल—

"मोटरों, ताँगों और इक्कों के आने-जाने का मिलित स्वर। चमचमाती हुई कार का म्युज़िकल हार्न।......बचना भैये।...... हटना, राजा बाबू।......अक्खा ! तिवारीजी हैं, नमस्कार !........ हटना भा-आई।......आदाब अर्ज़ दारोग़ा जी"।

('पुष्करिणी' में 'चोर' नाम की कहानी—भगवतीप्रसाद बाजपेयी)

हिंदी में जो कहानियाँ लिखी गई हैं, स्थूल दृष्टि से देखने पर, वे इन प्रणालियों पर चली दिखाई पड़ती हैं—

(१) सादे ढंग से केवल कुछ अत्यंत व्यंजक घटनाएँ और थोड़ी बातचीत सामने लाकर क्षिप्र गति से किसी एक गंभीर संवेदना या मनोभाव में पर्य्यवसित होनेवाली, जिसका बहुत ही अच्छा नमूना है स्वर्गीय गुलेरीजी की प्रसिद्ध कहानी

'उसने कहा था'। पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी' और 'पेंसिल स्केच' नाम की कहानियाँ भी इसी ढंग की हैं। ऐसी कहानियों में परिस्थिति की मार्मिकता अपने वर्णन या व्याख्या द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न लेखक नहीं करता, उसका अनुभव वह पाठक पर छोड़ देता है।

(२) परिस्थितियों के विशद और मार्मिक—कभी कभी रमणीय और अलंकृत—वर्णनों और व्याख्याओं के साथ मंद मधुर गति से चलकर किसी एक मार्मिक परिस्थिति में पर्यवसित होनेवाली। उदाहरण—स्व० चंडीप्रसाद हृदयेश की 'उन्मादिनी', 'शांति-निकेतन'। ऐसी कहानियों में परिस्थिति के अंतर्गत प्रकृति का चित्रण भी प्राय: रहता है।

(३) उक्त दोनों के बीच की पद्धति ग्रहण करके चलनेवाली, जिसमें घटनाओं की व्यंजकता और पाठकों की अनुभूति पर पूरा भरोसा न करके लेखक भी कुछ मार्मिक व्याख्या करता चलता है; उ०—प्रेमचंदजी की कहानियाँ। पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पं० ज्वालादत्त शर्मा, श्री जैनेंद्रकुमार, पं० विनोदशंकर व्यास, श्री सुदर्शन, पं० जनार्दनप्रसाद झा द्विज इत्यादि अधिकांश लेखकों की कहानियाँ अधिकतर इसी पद्धति पर चली हैं।

(४) घटना और संवाद दोनों में गूढ़ व्यंजना और रमणीय कल्पना के सुंदर समन्वय के साथ चलनेवाली। उ०—प्रसादजी तथा राय कृष्णदासजी की कहानियाँ।

(५) किसी तथ्य का प्रतीक खड़ा करनेवाली लाक्षणिक कहानी, जैसे पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'भुनगा'।

वस्तु-समष्टि के स्वरूप की दृष्टि से भी बहुत से वर्ग किए जा सकते हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं—

(१) सामान्यतः जीवन के किसी स्वरूप की मार्मिकता सामने लानेवाली। अधिकतर कहानियाँ इस वर्ग के अंतर्गत आएँगी।

(२) भिन्न भिन्न वर्गों के संस्कार का स्वरूप सामने रखनेवाली। उ०—प्रेमचंदजी की 'शतरंज के खिलाड़ी' और श्री ऋषभचरण जैन की 'दान' नाम की कहानी।

(३) किसी मधुर या मार्मिक प्रसंग-कल्पना के सहारे किसी ऐतिहासिक काल का खंड-चित्र दिखानेवाली। उ०—राय कृष्णदासजी की 'गहूला' और जयशंकर प्रसादजी का 'आकाशदीप'।

(४) देश की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था से पीड़ित जनसमुदाय की दुर्दशा सामने लानेवाली, जैसे श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'निंदिया लागी', 'हृद्गति' तथा श्री जैनेंद्रकुमार की 'अपना अपना भाग्य' नाम की कहानी।

(५) राजनीतिक आंदोलन में सम्मिलित नव-युवकों के स्वदेशप्रेम, त्याग, साहस और जीवनोत्सर्ग का चित्र खड़ा करनेवाली, जैसे, पं० बेचन शर्म्मा उग्र की 'उसकी माँ' नाम की कहानी।

(६) समाज के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के बीच धर्म, समाज-सुधार, व्यापार-व्यवसाय, सरकारी काम, नई सभ्यता आदि की ओट में होनेवाले पाषंड-पूर्ण पापाचार के चटकीले चित्र सामने लानेवाली कहानियाँ, जैसी 'उग्रजी' की हैं। 'उग्र' की भाषा बड़ी अनूठी चपलता और आकर्षक वैचित्र्य के साथ चलती है। उस ढंग की भाषा उन्हीं के उपन्यासों और 'चाँदनी' ऐसी कहानियों में ही मिल सकती है।

(७) सभ्यता और संस्कृति की किसी व्यवस्था के विकास का आदिम रूप झलकानेवाली, जैसे, राय कृष्णदासजी का

'अंतःपुर का आरंभ', विंदु ब्रह्मचारी की 'चँबेली की कली', श्री जैनेंद्र कुमार का 'बाहुबली'।

(८) अतीत के किसी पौराणिक या ऐतिहासिक काल-खंड के बीच अत्यंत मार्मिक और रमणीय प्रसंग का अवस्थान करनेवाली, जैसे, श्री विंदु ब्रह्मचारी और श्रीमंत समंत (पं० बालकराम विनायक) की कहानियाँ।

ये कहानियाँ 'कथामुखी' नाम की मासिक पत्रिका (अयोध्या संवत् १९७७-७८) में निकली थीं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—वनभागिनी, कृत्तिका, हेरम्या और बाहुमान्, कनकप्रभा, श्वेतद्वीप का तोता क्या पढ़ता था, चँबेली की कली। इनमें से कुछ कहानियों में एशिया के भिन्न भिन्न भागों में (ईरान, तुर्किस्तान, अर्मेनिया, चीन, सुमात्रा, जावा इत्यादि में) भारतीय संस्कृति और प्रभाव का प्रसार (Greater India) दिखानेवाले प्रसंगों की अनूठी उद्भावना पाई जाती है, जैसे 'हेरम्या और बाहुमान्' में। ऐसी कहानियों में भिन्न भिन्न देशों की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन की त्रुटि अवश्य कहीं कहीं खटकती है, जैसे, 'हेरम्या और बाहुमान्' में आर्य्य पारसीक और सामी अरब सभ्यता का घपला है।

एशिया के भिन्न भिन्न भागों में भारतीय संस्कृति और प्रभाव की झलक जयशंकर प्रसादजी के 'आकाशदीप' में भी है।

(९) हास्य-विनोद द्वारा अनुरंजन करनेवाली। उ०—जी० पी० श्रीवास्तव, श्री अन्नपूर्णानंद और कांतानाथ पांडेय 'चोंच' की कहानियाँ।

इस श्रेणी की कहानियों का अच्छा विकास हिंदी में नहीं हो रहा है। अन्नपूर्णानंदजी का हास सुरुचि-पूर्ण है। 'चोंच' जी की कहानियाँ अतिरंजित होने पर भी व्यक्तियों के कुछ स्वाभाविक ढाँचे सामने लाती हैं। जी० पी० श्रीवास्तव की

कहानियों में शिष्ट और परिष्कृत हास की मात्रा कम पाई जाती है। समाज के चलते जीवन के किसी विकृत पक्ष को, या किसी वर्ग के व्यक्तियों की बेढंगी विशेषताओं को हँसने-हँसाने योग्य बनाकर सामने लाना अभी बहुत कम दिखाई पड़ रहा है।

यह बात कहनी पड़ती है कि शिष्ट और परिष्कृत हास का जैसा सुंदर विकास पाश्चात्य साहित्य में हुआ है वैसा अपने यहाँ अभी नहीं देखने में आ रहा है। पर हास्य का जो स्वरूप हमें संस्कृत के नाटकों और फुटकल पद्यों में मिलता है, वह बहुत ही समीचीन, साहित्य-सम्मत और वैज्ञानिक है। संस्कृत के नाटकों में हास्य के आलंबन विदूषक के रूप में पेटू ब्राह्मण रहे हैं और फुटकल पद्यों में शिव ऐसे औढर देवता तथा उनका परिवार और समाज। कहीं कहीं खटमल ऐसे क्षुद्र जीव भी आ गए हैं। हिंदी में इनके अतिरिक्त कंजूसों पर विशेष कृपा हुई है। पर ये सब आलंबन जिस ढंग से सामने लाए गए हैं उसे देखने से स्पष्ट हो जायगा कि रस-सिद्धांत का पालन बड़ी सावधानी से हुआ है। रसों में हास्य रस का जो स्वरूप और जो स्थान है यदि वह बराबर दृष्टि में रहे तो अत्यंत उच्च और उत्कृष्ट श्रेणी के हास का प्रवर्त्तन हमारे साहित्य में हो सकता है।

हास्य के आलंबन से विनोद तो होता ही है, उसके प्रति कोई न कोई और भाव भी—जैसे, राग, द्वेष, घृणा, उपेक्षा, विरक्ति—साथ साथ लगा रहता है। हास्य-रस के जो भारतीय आलंबन ऊपर बताए गए हैं वे सब इस ढंग से सामने लाए गए हैं कि उनके प्रति द्वेष, घृणा इत्यादि न उत्पन्न होकर एक प्रकार का राग या प्रेम ही उत्पन्न होता है। यह व्यवस्था हमारे रस-सिद्धांत के अनुसार है। स्थायी भावों में आधे सुखात्मक हैं और आधे दुःखात्मक। हास्य आनंदात्मक भाव है। एक ही

आश्रय में, एक ही आलंबन के प्रति, आनंदात्मक और दुःखात्मक भावों की एक साथ स्थिति नहीं हो सकती। हास्य-रस में आश्रय के रूप में किसी पात्र की अपेक्षा नहीं होती, श्रोता या पाठक ही आश्रय रहता है। अतः रस की दृष्टि से हास्य में द्वेष और घृणा नामक दुःखात्मक भावों की गुंजाइश नहीं। हास्य के साथ जो दूसरा भाव आ सकता है वह संचारी के रूप में ही। द्वेष या घृणा का भाव जहाँ रहेगा वहाँ हास की प्रधानता नहीं रहेगी, वह 'उपहास' हो जाएगा। उसमें हास का सच्चा स्वरूप रहेगा ही नहीं। उसमें तो हास को द्वेष का व्यंजक या उसका आच्छादक मात्र समझना चाहिए।

जो बात हमारे यहाँ की रस-व्यवस्था के भीतर स्वतः सिद्ध है वही योरप में इधर आकर एक आधुनिक सिद्धांत के रूप में यों कही गई है कि 'उत्कृष्ट हास वही है जिसमें आलंबन के प्रति एक प्रकार का प्रेम-भाव उत्पन्न हो अर्थात् वह प्रिय लगे'। यहाँ तक तो बात बहुत ठीक रही। पर योरप में नूतन सिद्धांत-प्रवर्त्तक बनने के लिये उत्सुक रहनेवाले चुप कब रह सकते हैं। वे दो क़दम आगे बढ़कर आधुनिक 'मनुष्यता-वाद' या 'भूतदया-वाद' का स्वर ऊँचा करते हुए बोले "उत्कृष्ट हास वह है जिसमें आलंबन के प्रति दया या करुणा उत्पन्न हो।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह होली-मुहर्रम सर्वथा अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक और रस-विरुद्ध है। दया या करुणा दुःखात्मक भाव है, हास आनंदात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति बात ही बात है। यदि हास के साथ एक ही आश्रय में किसी और भाव का सामंजस्य हो सकता है तो प्रेम या भक्ति का ही। भगवान् शंकर के बौड़मपन का किस भक्तिपूर्ण विनोद के साथ वर्णन किया जाता है, वे किस प्रकार बनाए जाते हैं, यह हमारे यहाँ "रारि सी मची है त्रिपुरारि के तबेला में" देखा जा सकता है।

हास्य का स्वरूप बहुत ठीक सिद्धांत पर प्रतिष्ठित होने पर भी अभी तक उसका ऐसा विस्तृत विकास हमारे साहित्य में नहीं हुआ है जो जीवन के अनेक क्षेत्रों से—जैसे, राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, व्यावसायिक—आलंबन ले लेकर खड़ा करे।

——

नाटक

यद्यपि और देशों के समान यहाँ भी उपन्यासों और कहानियों के आगे नाटकों का प्रणयन बहुत कम हो गया है, फिर भी हमारा नाट्य-साहित्य बहुत कुछ आगे बढ़ा है। नाटकों के बाहरी रूप-रंग भी कई प्रकार के हुए हैं और अवयवों के विन्यास और आकार-प्रकार में भी वैचित्र्य आया है। ढाँचों में जो विशेषता योरप के वर्त्तमान नाटकों में प्रकट हुई है, वह हिंदी के भी कई नाटकों में इधर दिखाई पड़ने लगी है, जैसे अंक के आरंभ और बीच में भी समय, स्थान तथा पात्रों के रूप-रंग और वेश-भूषा का बहुत सूक्ष्म ब्योरे के साथ लंबा वर्णन। स्वगत भाषण की चाल भी अब उठ रही है। पात्रों के भाषण भी न अब बहुत लंबे होते हैं न लंबे लंबे वाक्यवाले। ये बातें सेठ गोविंददासजी तथा पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में पाई जायँगी। थिएटरों के कार्य्य-क्रम में दो अवकाशों के विचार से इधर तीन अंक रखने की प्रवृत्ति भी लक्षित हो रही है। दो एक व्यक्ति अँगरेजी में एक अंकवाले आधुनिक नाटक देख उन्हीं के ढँग के दो एक एकांकी नाटक लिखकर उन्हें बिल्कुल एक नई चीज कहते हुए सामने लाए। ऐसे लोगों को जान रखना चाहिए कि एक अंकवाले कई उप-रूपक हमारे यहाँ बहुत पहले से माने गए हैं।

यह तो स्पष्ट है कि आधुनिक काल के आरंभ से ही बँगला की देखा-देखी हमारे हिंदी नाटकों के ढाँचे पाश्चात्य होने लगे। नांदी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना हटाई जाने लगी। भारतेंदु ने ही 'नीलदेवी' और 'सती-प्रताप' में प्रस्तावना नहीं रक्खी है; हाँ, आरंभ में यशोगान या मंगलगान रख दिया है। भारतेंदु के पीछे तो यह भी हटता गया। भारतेंदु-काल से ही अंकों का अवस्थान अँगरेजी ढंग पर होने लगा। अंकों के बीच के स्थान-परिवर्त्तन या दृश्य-परिवर्त्तन को 'दृश्य' और कभी कभी 'गर्भांक' शब्द रखकर सूचित करने लगे, यद्यपि 'गर्भांक' शब्द का हमारे नाट्यशास्त्र में कुछ और ही अर्थ है। 'प्रसाद'जी ने अपने 'स्कंदगुप्त' आदि नाटकों में यह 'दृश्य' शब्द (जो अँगरेजी Scene का अनुवाद है) छोड़ दिया है और स्थान-परिवर्त्तन या पट-परिवर्त्तन के स्थलों पर कोई नाम नहीं रक्खा है। इसी प्रकार आजकल 'विष्कंभक' और 'प्रवेशक' का काम देनेवाले दृश्य तो रक्खे जाते हैं, पर ये नाम हटा दिए गए हैं। 'प्रस्तावना' के साथ 'उद्घातक', 'कथोद्घात' आदि का विन्यास-चमत्कार भी गया। पर ये युक्तियाँ सर्वथा अस्वाभाविक न थीं। एक बात बहुत अच्छी यह हुई है कि पुराने नाटकों में दरबारी विदूषक नाम का जो फालतू पात्र रहा करता था उसके स्थान पर कथा की गति से संबद्ध कोई पात्र ही हँसोड़ प्रकृति का बना दिया जाता है। आधुनिक नाटकों में प्रसादजी के 'स्कंदगुप्त' नाटक का मुद्गल ही एक ऐसा पात्र है जो पुराने विदूषक का स्थानापन्न कहा जा सकता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र में नाटक भी काव्य के ही अंतर्गत माना गया है अतः उसका लक्ष्य भी निर्दिष्ट शील-स्वभाव के पात्रों को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में डालकर उनके वचनों और चेष्टाओं द्वारा दर्शकों में रस-संचार कराना ही रहा है। पात्रों

के धीरोदात्त आदि बँधे हुए ढाँचे थे जिनमें ढले हुए सब पात्र सामने आते थे। इन ढाँचों के बाहर शील-वैचित्र्य दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता था। योरप में धीरे धीरे शील-वैचित्र्य-प्रदर्शन को प्रधानता प्राप्त होती गई; यहाँ तक कि किसी नाटक के संबंध में वस्तु-विधान और चरित्र-विधान की चर्चा का ही चलन हो गया। इधर 'यथातथ्यवाद' के प्रचार से वहाँ रहा-सहा काव्यत्व भी झूठी भावुकता कहकर हटाया जाने लगा। यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हमारे 'प्रसाद' और 'प्रेमी' ऐसे प्रतिभाशाली नाटककारों ने उक्त प्रवृत्ति का अनुसरण न करके रस-विधान और शील-वैचित्र्य दोनों का सुंदर सामंजस्य रक्खा है। 'स्कंदगुप्त नाटक' में जिस प्रकार देवसेना और शर्वनाग ऐसे गूढ़ चरित्र के पात्र हैं, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम, युद्धोत्साह, स्वदेश-भक्ति आदि भावों की मार्मिक और उत्कृष्ट व्यंजना भी है। हमारे यहाँ के पुराने बँधे ढाँचों के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उनका बंधन हटाकर वैचित्र्य के लिये मार्ग खोलना तो ठीक ही है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ ही रसात्मकता भी हम निकाल दें।

हिंदी-नाटकों के स्वतंत्र विकास के लिये ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहें, पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिये और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफाई के साथ करते चलें। अपने नाट्यशास्त्र के जटिल विधान को ज्यों का त्यों लेकर तो हम आज-कल चल नहीं सकते, पर उसका बहुत सा रूप-रंग अपने नाटकों में ला सकते हैं जिससे भारतीय परंपरा के प्रतिनिधि वे बने रह सकते हैं। रूपक और उपरूपक के जो बहुत से भेद किए गए हैं उनमें से कुछ को हम आजकल भी चला सकते हैं। उनके दिए हुए लक्षणों में वर्त्तमान रुचि

के अनुसार जो हेर-फेर चाहें कर लें। इसी प्रकार अभिनय की रोचकता बढ़ानेवाली जो युक्तियाँ हैं—जैसे, उद्घातक, कथोद्घात—उनमें से कई एक को, आवश्यक रूपांतर के साथ और स्थान का बंधन दूर करके, हम बनाए रख सकते हैं। संतोष की बात है कि 'प्रसाद' और 'प्रेमी'जी के नाटकों में इसके उदाहरण हमें मिलते हैं, जैसे, कथोद्घात के ढंग पर एक पात्र के मुँह से निकले हुए शब्द को लेकर दूसरे पात्र का यह प्रवेश—

शर्वनाग—देख, सामने सोने का संसार खड़ा है।

(रामा का प्रवेश)

रामा—पामर ! सोने की लंका राख हो गई। (स्कंदगुप्त)

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के नाटकों में भी यह मिलता है। 'शिवा-साधना' में देखिए—

जीजा०—हाँ ! यह एक बाधा है।

(सई बाई का बालक संभाजी को लिए हुए प्रवेश)

सई बाई—यह बाधा भी न रहेगी, माँजी !

प्राचीन नाट्यशास्त्र (भारतीय और यवन दोनों) में कुछ बातों का—जैसे, मृत्यु, बध, युद्ध—दिखाना वर्जित था। आजकल उस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं मानी जाती। प्रसादजी ने अपने नाटकों में बराबर मृत्यु, बध और आत्म-हत्या दिखाई है। प्राचीन भारत और यवनान में ये निषेध भिन्न भिन्न कारणों से थे। यवनान में तो बड़ा भारी कारण रंगशाला का स्वरूप था। पर भारत में अत्यंत क्षोभ तथा शिष्ट-रुचि की विरक्ति बचाने के लिये कुछ दृश्य वर्जित थे। मृत्यु और बध अत्यंत क्षोभकारक होने के कारण, भोजन परिष्कृत रुचि के विरुद्ध होने के कारण तथा रंगशाला की थोड़ीसी जगह के बीच दूर से पुकारना अस्वाभाविक और अशिष्ट लगने के कारण वर्जित थे। देश की परंपरागत सुरुचि की रक्षा के लिये कुछ

व्यापार तो हमें आजकल भी वर्जित रखने चाहिए, जैसे, चुंबन-आलिंगन। स्टेशन के प्लैटफार्म पर चुंबन-आलिंगन चाहे योरप की सभ्यता के भीतर हो, पर हमारी दृष्टि में जंगलीपन या पशुत्व है।

इस तृतीय उत्थान के बीच हमारे वर्त्तमान नाटक-क्षेत्र में दो नाटककार बहुत ऊँचे स्थान पर दिखाई पड़े—स्व० जयशंकर प्रसादजी और श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'। दोनों की दृष्टि ऐतिहासिक काल की ओर रही है। 'प्रसाद'जी ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिंदू-काल के भीतर चुना और 'प्रेमी'जी ने मुसलिम-काल के भीतर। 'प्रसाद' के नाटकों में 'स्कंदगुप्त' श्रेष्ठ है और 'प्रेमी' के नाटकों में 'रक्षा-बंधन'।

'प्रसाद' जी में प्राचीन काल की परिस्थितियों के स्वरूप की मधुर भावना के अतिरिक्त भाषा को रँगनेवाली चित्रमयी कल्पना और भावुकता की अधिकता भी विशेष परिमाण में पाई जाती है। इससे कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्त्तमान गद्य-काव्य के खंड हो गए हैं। बीच बीच में जो गान रक्खे गए हैं वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भाव-पद्धति के। वे तो वर्त्तमान काव्य की एक शाखा के प्रगीत मुक्तक (Lyrics) मात्र हैं। अपनी सबसे पिछली रचनाओं से ये त्रुटियाँ उन्होंने निकाल दी हैं। 'चंद्रगुप्त' और 'ध्रुव-स्वामिनी' इन दोषों से प्रायः मुक्त हैं। पर 'चंद्रगुप्त' में एक दूसरा बड़ा भारी दोष आ गया है। उसके भीतर सिकंदर के भारत पहुँचने के कुछ पहले से लेकर सिल्यूकस के पराजय तक के २५ वर्ष के दीर्घकाल की घटनाएँ लेकर कसी गई हैं जो एक नाटक के भीतर नहीं आनी चाहिए। जो पात्र युवक के रूप में नाटक के आरंभ में दिखाई पड़े, वे नाटक के अंत में भी उसी रूप में सामने आते हैं। यह दोष तो

इतिहास की ओर दृष्टि ले जाने पर दिखाई पड़ता है अर्थात बाहरी है। पर घटनाओं की अत्यंत सघनता का दोष रचना से संबंध रखता है। बहुत से भिन्न भिन्न पात्रों से संबद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है। पर इस नाटक में विन्यस्त वस्तु और पात्र इतिहास का ज्ञान रखनेवालों के लिये इतने आकर्षक हैं कि उक्त दोषों की ओर ध्यान कुछ देर में जाता है। 'मुद्रा-राक्षस' से इसमें कई बातों की विशेषता है। पहली बात तो यह कि इसमें चंद्रगुप्त केवल प्रयत्न के फल का भोक्ता कठ-पुतला भर नहीं, प्रयत्न में अपना क्षत्रिय-भाग सुंदरता के साथ पूरा करनेवाला है। नीति-प्रवर्त्तन का भाग चाणक्य पूरा करता है। दूसरी बात यह कि 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य का व्यक्तित्व—उसका हृदय—सामने नहीं आता। तेजस्विता, धीरता, प्रत्युत्पन्न बुद्धि और ब्राह्मणोचित त्याग आदि सामान्य गुणों के बीच केवल प्रतीकार की प्रबल वासना ही हृदय-पक्ष की ओर झलकती है। पर इस नाटक में चाणक्य के प्रयत्न का लक्ष्य भी ऊँचा किया गया है और उसका पूरा हृदय भी सामने रखा गया है।

नाटकों का प्रभाव पाठकों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलंबित रहता है। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के कथोपकथन 'प्रसाद' जी के कथोपकथनों से अधिक नाटकोपयुक्त हैं। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय-ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्म-व्यंजक अनूठापन भी। 'प्रसाद' जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करनेवाले कई पात्र आ जाते हैं। 'प्रेमी' जी के नाटकों में यह खटकनेवाली बात नहीं मिलती।

'प्रसाद' और 'प्रेमी' के नाटक यद्यपि ऐतिहासिक हैं, पर उनमें आधुनिक आदर्शों और भावनाओं का आभास इधर-

उधर बिखरा मिलता है। 'स्कंदगुप्त' और 'चंद्रगुप्त' दोनों में स्वदेश-प्रेम, विश्वप्रेम और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप-रंग बराबर झलकता है। आजकल के मजहबी दंगों का स्वरूप भी हम 'स्कंदगुप्त' में देख सकते हैं। 'प्रेमी' के 'शिवा साधना' नाटक के शिवाजी भी कहते हैं—"मेरे शेष जीवन की एक मात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक असहिष्णुता का अंत करना, राजनीतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की क्रांति करना"। हम समझते हैं कि ऐतिहासिक नाटक में किसी पात्र से आधुनिक भावनाओं की व्यंजना जिस काल का वह नाटक हो उस काल की भाषा-पद्धति और विचार-पद्धति के अनुसार करानी चाहिए; 'क्रांति' ऐसे शब्दों द्वारा नहीं। 'प्रेमी' जी के 'रक्षा-बंधन' में मेवाड़ की महारानी कर्मवती का हुमायूँ को भाई कहकर राखी भेजना और हुमायूँ का गुजरात के मुसलमान बादशाह बहादुरशाह के विरुद्ध एक हिंदू-राज्य की रक्षा के लिये पहुँचना, यह कथा-वस्तु ही हिंदू-मुसलिम भेद-भाव की शांति सूचित करती है। उसके ऊपर कट्टर सरदारों और मुल्लों की बात का विरोध करता हुआ हुमायूँ जिस उदार भाव की सुंदर व्यंजना करता है वह वर्त्तमान हिंदू-मुसलिम दुर्भाव की शांति का मार्ग दिखाता जान पड़ता है। इसी प्रकार 'प्रसाद' जी के 'ध्रुव-स्वामिनी' नामक बहुत छोटे से नाटक में एक संभ्रांत राजकुल की स्त्री का विवाह-संबंध-मोक्ष सामने लाया गया है, जो वर्त्तमान सामाजिक आंदोलन का एक अंग है।

वर्त्तमान राजनीति के अभिनयों का पूर्ण परिचय प्राप्त कर सेठ गोविंददासजी ने इधर साहित्य के अभिनय-क्षेत्र में भी प्रवेश किया है। उन्होंने तीन अच्छे नाटक लिखे हैं। "कर्त्तव्य"

में राम और कृष्ण दोनों के चरित्र नाटक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खंड करके रखे गए हैं। उद्देश्य है कर्त्तव्य के विकास की दो भूमियाँ दिखाना। नाटककार के विवेचनानुसार मर्य्यादा-पालन प्रथम भूमि है जो पूर्वार्ध में राम द्वारा पूर्णता को पहुँचती है। लोकहित की व्यापक दृष्टि से आवश्यकतानुसार नियम और मर्य्यादा का उल्लंघन उसके आगे की भूमि है, जो नाटक के उत्तरार्ध में श्रीकृष्ण ने अपने चरित्र द्वारा—जैसे, जरासंध के सामने लड़ाई का मैदान छोड़कर भागना—प्रदर्शित की है। वास्तव में पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो अलग अलग नाटक हैं, पर नाटककार ने अपने कौशल से कर्त्तव्य-विकास की सुंदर उद्भावना द्वारा दोनों के बीच पूर्वापर संबंध स्थापित कर दिया है। यह भी एक प्रकार का कौशल है। इसे 'फटक-नाटक' न समझना चाहिए। सेठजी का दूसरा नाटक 'हर्ष' ऐतिहासिक है जिसमें सम्राट हर्षवर्द्धन, माधवगुप्त, शशांक आदि पात्र आए हैं। इन दोनों नाटकों में प्राचीन वेशभूषा, वास्तुकला, इत्यादि का ध्यान रक्खा गया है। 'प्रकाश' नाटक में वर्त्तमान सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का चित्रण है। यद्यपि इन तीनों नाटकों के वस्तु-विन्यास और कथोपकथन में विशेष रूप से आकर्षित करनेवाला अनूठापन नहीं है, पर इनकी रचना बहुत ठिकाने की है।

पं० गोविंदवल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। उनका 'वरमाला' नाटक, जो मार्कंडेय पुराण की एक कथा लेकर निर्मित है, बड़ी निपुणता से लिखा गया है। मेवाड़ की पन्ना नामक धाय के अलौकिक त्याग का ऐतिहासिक वृत्त लेकर 'राजमुकुट' की रचना हुई है। 'अंगूर की बेटी' (जो फारसी शब्द का अनुवाद है) मद्य के दुष्परिणाम दिखानेवाला सामाजिक नाटक है।

कुछ हलके ढंग के नाटकों में, जिनसे बहुत साधारण पढ़े-लिखे लोगों का भी कुछ मनोरंजन हो सकता है, स्वर्गीय पं० बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', 'तुलसीदास' आदि उल्लेखयोग्य हैं। हास्यरस की कहानियाँ लिखनेवाले जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के फरासीसी नाटकों के हिंदुस्तानी अनुवादों के अतिरिक्त 'मरदानी औरत', 'गड़बड़झाला', 'नोक-झोंक', 'दुम-दार आदमी' इत्यादि बहुत से छोटे-मोटे प्रहसन भी लिखे हैं, पर वे परिष्कृत रुचि के लोगों को हँसाने में समर्थ नहीं। "उलट-फेर" नाटक औरों से अच्छे ढर्रे का कहा जाता है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों के द्वारा स्त्रियों की स्थिति आदि कुछ सामाजिक प्रश्न या 'समस्याएँ' तो सामने रक्खी ही हैं, योरप में प्रवर्त्तित 'यथातथ्यवाद' का वह खरा रूप भी दिखाने का प्रयत्न किया है जिसमें झूठी भावुकता और मार्मिकता से पीछा छुड़ा कर नर-प्रकृति अपने वास्तविक रूप में सामने लाई जाती है। ऐसे नाटकों का उद्देश्य होता है समाज अधिकतर जैसा है वैसा ही सामने रखना, उसके भीतर की नाना विषमताओं से उत्पन्न प्रश्नों का जीता-जागता रूप खड़ा करना तथा यदि संभव हो तो समाधान के स्वरूप का भी आभास देना। लोक के बीच कभी कभी जो उच्च भावों के कुछ दृष्टांत दिखाई पड़ जाया करते हैं उन पर कल्पना का झूठा रंग चढ़ा कर धोखे की टट्टियाँ खड़ी करना और बहुत सी फालतू भावुकता जगाना अब बंद होना चाहिए, यही उपर्युक्त 'यथा-तथ्यवाद' के अनुयायियों का कहना है। योरप में जब 'कला' और 'सौंदर्य' की बड़ी पुकार मची और कुछ कलाकार कवि और लेखक अपना यही काम समझने लगे कि जगत् के सुंदर पक्ष से सामग्री चुन-चुनकर एक काल्पनिक सौंदर्य-सृष्टि खड़ी करें और उसका मधुपान करके झूमा करें, तब इसकी

घोर प्रतिक्रिया वहाँ आवश्यक थी और यहाँ भी 'सौंदर्य्यवाद' और 'कलावाद' का हिंदी में खासा चलन होने के कारण अब आवश्यक हो गई है। जब कोई बात हद के बाहर जाकर जी उबाने और विरक्ति उत्पन्न करने लगती है तब साहित्य के क्षेत्र में प्रतिक्रिया अपेक्षित होती है। योरप के साहित्य-क्षेत्र में एकांग-दर्शिता इतनी बढ़ गई है कि किसी न किसी हद पर जाकर कोई न कोई वाद बराबर खड़ा होता रहता है और आगे बढ़ चलता है। उसके थोड़े ही दिनों पीछे बड़े वेग से उसकी प्रतिक्रिया होती है जिसकी धारा दूसरी हद की ओर बढ़ती है। अतः योरप के किसी 'वाद' को लेकर चिल्लानेवालों को यह समझ रखना चाहिए कि उसका बिलकुल उलटा वाद भी पीछे लगा आ रहा है।

प्रतिक्रिया के रूप में निकली हुई साहित्य की शाखाएँ प्रतिक्रिया का रोष ठंढा होने पर धीरे धीरे पलटकर मध्यम पथ पर आ जाती हैं। कुछ दिनों तक तो वे केवल चिढ़ाती सी जान पड़ती हैं, पीछे शांत भाव से सामंजस्य के साथ चलने लगती हैं। 'भावुकता' भी जीवन का एक अंग है। अतः साहित्य की किसी शाखा से हम उसे बिल्कुल हटा तो सकते नहीं। हाँ, यदि वह व्याधि के रूप में—फीलपाव की तरह—बढ़ने लगे, तो उसकी रोक-थाम आवश्यक है।

नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायणजी योरप से लाए हैं उसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है। उनके नाटकों में न चित्रमय और भावुकता से लदे भाषण हैं, न गीत या कविताएँ। खरी खरी बात कहने का जोश कहीं कहीं अवश्य है। इस प्रणाली पर उन्होंने कई नाटक लिखे हैं, जैसे, 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली', 'राक्षस का मंदिर', 'आधी रात'।

समाज के कुत्सित, बीभत्स और पाषंडपूर्ण अंशों के चटकीले दृश्य दिखाने के लिये पांडेय बेचनशर्म्मा 'उग्र' ने छोटे छोटे नाटकों या प्रहसनों से भी काम लिया है। 'चुंबन' और 'चार बेचारे' (संपादक, अध्यापक, सुधारक, प्रचारक) इसी लिये लिखे गए हैं। 'महात्मा ईसा' के फेर में तो वे नाहक पड़े।

पं० उदयशंकर भट्ट ने, जो पंजाब में बहुत अच्छी साहित्य-सेवा कर रहे हैं, 'तक्षशिला', 'राका', 'मानसी' आदि कई अच्छे काव्यों के अतिरिक्त, अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं। 'दाहर या सिंध-पतन' तथा 'विक्रमादित्य' ऐतिहासिक नाटक हैं। हाल में 'कमला' नाम का एक सामाजिक नाटक भी आपने लिखा है जिसमें किसान-आंदोलन तथा सामाजिक असामंजस्य का मार्मिक चित्रण है। 'दस हजार' नाम का एक एकांकी नाटक भी आपने इधर लिखा है।

भट्टजी की कला का पूर्ण विकास पौराणिक नाटकों में दिखाई पड़ता है। पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वे ऐसे ऐसे पात्र ढूँढ़ कर लाए हैं जिनके चारों ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बड़ी गहरी छाया डालती हुई सामने आती हैं—ऐसी विषमताएँ जो वर्त्तमान समाज को भी क्षुब्ध करती रहती हैं। 'अंबा' नाटक में भीष्म द्वारा हरी हुई अंबा की जंमांतर-व्यापिनी प्रतीकार-वासना के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष संबंध की वह विषमता भी सामने आती है जो आजकल के महिला-आंदोलनों की तह में वर्त्तमान है। 'मत्स्यगंधा' एक भाव-नाट्य या पद्यबद्ध नाटक है। उसमें जीवन का वह रूप सामने आता है जो ऊपर से सुख-पूर्ण दिखाई पड़ता है, पर जिसके भीतर भीतर न जाने कितनी उमंगों और मधुर कामनाओं के ध्वंस की विषाद-धारा यहाँ से वहाँ तक छिपी मिलती है। 'विश्वामित्र' भी इसी ढंग का एक सुंदर नाटक है। चौथा नाटक 'सगर-विजय' भी

उत्तम है। पौराणिक सामग्री का जैसा सुंदर उपयोग भट्टजी ने किया है, वैसा कम देखने में आता है। ऐतिहासिक नाटक-रचना में जो स्थान 'प्रसाद' और 'प्रेमी' का है, पौराणिक नाटक-रचना में वही स्थान भट्टजी का है।

श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' ने महाराणा प्रताप का राज्याभिषेक से लेकर अंत तक का वृत्त लेकर 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक की रचना की है। स्व० राधाकृष्णदासजी के 'प्रताप-नाटक' का आरंभ मानसिंह के अपमान से होता है जो नाट्यकला की दृष्टि से बहुत ही उपयुक्त है। परिस्थितियों को प्रधानता देने में भी 'मिलिंद'जी का चुनाव उतना अच्छा नहीं है। कुछ ऐतिहासिक त्रुटियाँ भी हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री ने उपन्यास और कहानियाँ तो लिखी ही हैं, नाटक की ओर भी हाथ बढ़ाया है। अपने "अमर राठौर" और 'उत्सर्ग' नामक ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने कथा-वस्तु को अपने अनुकूल गढ़ने में निपुणता अवश्य दिखाई है, पर अधिक ठोंक-पीट के कारण कहीं कहीं ऐतिहासिकता, और कहीं कहीं घटनाओं की महत्ता भी, झड़ गई है।

अँगरेज कवि शेली के ढंग पर श्री सुमित्रानंदन पंत ने कवि-कल्पना को दृश्य रूप देने के लिये 'ज्योत्स्ना' नाम से एक रूपक लिखा है। पर शेली का रूपक (Prometheus Unbound) तो आधिदैविक शासन से मुक्ति और जगत् के स्वातंत्र्य का एक समन्वित प्रसंग लेकर चला है और उसमें पृथ्वी, वायु आदि आधिभौतिक देवता अपने निज के रूप में आए हैं, किंतु 'ज्योत्स्ना' में बहुत दूर तक केवल सौंदर्य-चयन करनेवाली कल्पना मनुष्य के सुख-विलास की भावना के अनुकूल चमकती उषा, सुरभित समीर, चटकती कलियाँ, कलरव करते विहंग आदि को अभिनय के लिये मनुष्य के रंगमंच पर जुटाने में

प्रवृत्त है। उसके उपरांत आजकल की हवा में उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन हैं। सब मिला कर क्या है, यह नहीं कहा जा सकता।

श्री कैलासनाथ भटनागर का 'भीम-प्रतिज्ञा' भी विद्यार्थियों के योग्य अच्छा नाटक है।

एकांकी नाटक का उल्लेख आरंभ में हो चुका है और यह कहा जा चुका है कि किस प्रकार पहले-पहल दो एक व्यक्ति उसे भारतीय नाट्य-साहित्य में एक अश्रुतपूर्व वस्तु समझते हुए लेकर आए। अब इधर हिंदी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने भी कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं जिनका एक अच्छा संग्रह "आधुनिक एकांकी नाटक" के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें श्रीसुदर्शन, रामकुमार वर्म्मा, भुवनेश्वर, उपेंद्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्म्मा, धर्मप्रकाश आनंद, उदय-शंकर भट्ट के क्रमशः 'राजपूत की हार', 'दस मिनट', 'स्ट्राइक', 'लक्ष्मी का स्वागत', 'सबसे बड़ा आदमी', 'दीन' तथा 'दस हज़ार' नाम के नाटक संगृहीत हैं।

हिंदी के कुछ प्रसिद्ध कवियों और उपन्यासकारों ने भी—जैसे, बा० मैथिलीशरण गुप्त, श्री वियोगी हरि, माखनलाल चतु-र्वेदी, प्रेमचंद, विश्वंभरनाथ शर्म्मा कौशिक, सुदर्शन—नाटक की ओर हाथ बढ़ाया, पर उनका मुख्य स्थान कवियों और उपन्यासकारों के बीच ही रहा।

मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत के पुराने नाटकों में से भास के 'स्वप्न-वासवदत्ता' (अनुवादक—सत्यजीवन वर्म्मा), 'पंचरात्र', 'मध्यम व्यायोग', 'प्रतिज्ञा-यौगंधरायण' (अनु०—ब्रजजीवनदास); 'प्रतिमा' (अनु०—बलदेव शास्त्री) तथा दिङ्नाग के 'कुंदमाला' नाटक (अनु०—वागीश्वर विद्यालंकार) के अनुवाद भी हिंदी में हुए।

जर्मन कवि गेटे के प्रसिद्ध नाटक 'फाउस्ट' का अच्छा अनुवाद श्री भोलानाथ शर्म्मा एम० ए० ने किया है।

निबंध

विश्व-विद्यालयों के उच्च शिक्षा-क्रम के भीतर हिंदी-साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबंधों की—ऐसे निबंधों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े—जितनी ही अधिक आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे हैं। निबंध की जो स्थिति हमें द्वितीय उत्थान में दिखाई पड़ी प्रायः वही स्थिति इस वर्त्तमान काल में भी बनी हुई है। अर्थ-वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास जैसा कहानियों के भीतर प्रकट हुआ है, वैसा निबंध के क्षेत्र में नहीं देखने में आ रहा है, जो उसका बहुत उपयुक्त स्थान है।

यदि किसी रूप में गद्य की कोई नई गति-विधि दिखाई पड़ी तो काव्यात्मक गद्य-प्रबंधों के रूप में। पहले तो बंगभाषा के 'उद्भ्रांत प्रेम' (चंद्र-शेखर मुखोपाध्याय कृत) को देख कुछ लोग उसी प्रकार की रचना की ओर झुके; पीछे भावात्मक गद्य की कई शैलियों की ओर। 'उद्भ्रांत प्रेम' उस विक्षेप शैली पर लिखा गया था जिसमें भावावेश द्योतित करने के लिये भाषा बीच बीच में असंबद्ध अर्थात् उखड़ी हुई होती थी। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबंध—यदि उन्हें प्रबंध कह सकें—निकले, जिनमें भावाकुलता की झलक यहाँ से वहाँ तक रहती थी। पीछे श्री चतुरसेन शास्त्री के 'अंतस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावों की

भी प्रबल व्यंजना अलग-अलग प्रबंधों में की गई जिनमें कुछ दूर तक एक ढंग पर चलती धारा के बीच बीच में भाव का प्रबल उत्थान दिखाई पड़ता था। इस प्रकार इन प्रबंधों की भाषा तरंगवती धारा के रूप में चली थी अर्थात् उसमें 'धारा' और 'तरंग' दोनों का योग था। ये दोनों प्रकार के गद्य बंगाली थिएटरों की रंग-भूमि के भाषणों के से प्रतीत हुए।

पीछे रवींद्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए जिस भावात्मक गद्य का चलन हुआ वह विशेष अलंकृत होकर अन्योक्ति-पद्धति पर चला। ब्रह्म-समाज ने जिस प्रकार ईसाइयों के अनुकरण पर अपनी प्रार्थना का विशेष दिन रविवार रक्खा था, उसी प्रकार अपने भक्तिभाव की व्यंजना के लिये पुराने ईसाई-संतों की पद्धति भी ग्रहण की। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। ईसा की बारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में संत बरनार्ड (St. Bernard) नाम के जो प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं, उन्होंने दूल्हे रूप ईश्वर के हृदय के 'तीसरे कक्ष' में प्रवेश का इस प्रकार उल्लेख किया है—

"यद्यपि वे कई बार मेरे भीतर आए, पर मैंने न जाना कि वे कब आए। आ जाने पर कभी-कभी मुझे उनकी आहट मिली है; उनके विद्यमान होने का स्मरण भी मुझे है; वे आनेवाले हैं, इसका आभास भी मुझे कभी-कभी पहले से मिला है; पर वे कब भीतर आए और कब बाहर गए इसका पता मुझे कभी न चला।"

इसी प्रकार उस परोक्ष आलंबन को प्रियतम मान कर उसके साथ संयोग और वियोग की अनेक दशाओं की कल्पना इस पद्धति की विशेषता है। रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' की रचना इसी पद्धति पर हुई है। हिंदी में भी इस ढंग की रचनाएँ हुईं जिनमें राय कृष्णदासजी की 'साधना', 'प्रवाल' और 'छाया-पथ',

वियोगी हरि जी की 'भावना' और 'अंतर्नाद' विशेष उल्लेख योग्य हैं। हाल में श्री भँवरमल सिंघी ने 'वेदना' नाम की इसी ढंग की एक पुस्तक लिखी है जिसके भूमिका-लेखक हैं भाषातत्त्व के देश-प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।

यह तो हुई आध्यात्मिक या सांप्रदायिक क्षेत्र से गृहीत लाक्षणिक भावुकता, जो बहुत कुछ अभिनीत या अनुकृत होती है अर्थात् बहुत कम दशाओं में हृदय की स्वाभाविक पद्धति पर चलती है। कुछ भावात्मक प्रबंध लौकिक प्रेम को लेकर भी मासिक पत्रों में निकलते रहते हैं जिनमें चित्र-विधान कम और कसक, टीस, वेदना अधिक रहती है।

अतीत के नाना खंडों में जाकर रमनेवाली भावुकता का मनुष्य की प्रकृति में एक विशेष स्थान है। मनुष्य की इस प्रकृतिस्थ भावुकता का अनुभव हम आप भी करते हैं और दूसरों को भी करते हुए पाते हैं। अतः यह मानव-हृदय की एक सामान्य वृत्ति है। बड़े हर्ष की बात है कि अतीत के क्षेत्र में रमानेवाली अत्यंत मार्मिक और चित्रमयी भावना लेकर महाराजकुमार डाक्टर श्री रघुवीरसिंह जी (सीतामऊ, मालवा) हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में आए। उनकी भावना मुग़ल-सम्राटों के कुछ अवशिष्ट चिह्न सामने पाकर प्रत्यभिज्ञा के रूप में मुग़ल-साम्राज्य-काल के कभी मधुर, भव्य और जगमगाते दृश्यों के बीच, कभी पतन-काल के विषाद, नैराश्य और बेबसी की परिस्थितियों के बीच बड़ी तन्मयता के साथ रमी है। ताजमहल, दिल्ली का लाल किला, जहाँगीर और नूरजहाँ की कब्र इत्यादि पर उनके भावात्मक प्रबंधों की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।

गद्य-साहित्य में भावात्मक और काव्यात्मक गद्य का भी एक विशेष स्थान है, यह तो मानना ही पड़ेगा। अतः उपर्युक्त क्षेत्र

में उसका आविर्भाव और प्रसार अवश्य प्रसन्नता की बात है। पर दूसरे क्षेत्रों में भी, जहाँ गंभीर विचार और व्यापक दृष्टि अपेक्षित है, उसे घसीटे जाते देख दुःख होता है। जो चिंतन के गूढ़ विषय हैं उनको भी लेकर कल्पना की क्रीड़ा दिखाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। विचार-क्षेत्रों के ऊपर इस भावात्मक और कल्पनात्मक प्रणाली का धावा पहले पहल 'काव्य का स्वरूप' बतलानेवाले निबंधों में वंग-साहित्य के भीतर हुआ, जहाँ शेक्सपियर की यह उक्ति गूँज रही थी—

"सौंदर्य्य-मद में झूमती हुई कवि की दृष्टि स्वर्ग से भूलोक और भूलोक से स्वर्ग तक विचरती रहती है"।*

काव्य पर न जाने कितने ऐसे निबंध लिखे गए जिनमें सिवा इसके कि "कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है", "कविता हृदय-कानन में खिली हुई कुसुम-माला है", "कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूँज है", और कुछ भी न मिलेगा। यह कविता का ठीक ठीक स्वरूप बतलाना है कि उसकी विरुदावली बखानना? हमारे यहाँ के पुराने लोगों में भी 'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि' ऐसी ऐसी बहुत सी विरुदावलियाँ प्रचलित थीं, पर वे लक्षण या स्वरूप पूछने पर नहीं कही जाती थीं। कविता भावमयी, रसमयी और चित्र-मयी होती है, इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय, रसमय और चित्रमय हो। 'कविता' के ही निरूपण तक भावात्मक प्रणाली का यह धावा रहता तो भी एक बात थी। कवियों की आलोचना तथा और और विषयों में भी इसका दखल हो रहा है, यह खटके की बात है। इससे

* The poet's eye in fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth and earth to heaven.

हमारे साहित्य में घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशंका है। जिन विषयों के निरूपण में सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार-परंपरा अपेक्षित है, उन्हें भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा ?

समालोचना और काव्य-मीमांसा

इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण-दोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अंतःप्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, दीनदयाल गिरि और कबीरदास की विस्तृत आलोचनाएँ पुस्तकाकार और भूमिकाओं के रूप में भी निकलीं। इस इतिहास के लेखक ने तुलसी, सूर और जायसी पर विस्तृत समीक्षाएँ लिखीं जिनमें से प्रथम 'गोस्वामी तुलसीदास' के नाम से पुस्तकाकार छपी है, शेष दो क्रमशः 'भ्रमरगीत-सार' और 'जायसी-ग्रंथावली' में सम्मिलित हैं। स्व० लाला भगवानदीन की सूर, तुलसी और दीनदयाल गिरि की समालोचनाएँ उनके संकलित और संपादित 'सूर-पंचरत्न', 'दोहावली' और 'दीनदयाल गिरि ग्रंथावली' में सम्मिलित हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की कबीर-समीक्षा उनके द्वारा संगृहीत 'कबीर वचनावली' के साथ और डाक्टर पीतांबरदत्त बड़थ्वाल की 'कबीर ग्रंथावली' के साथ भूमिका-रूप में सन्निविष्ट है।

इसके उपरांत 'कलाओं' और 'साधनाओं' का ताँता बँधा और

(१) केशव की काव्य-कला (श्री कृष्णशंकर शुक्ल),

(२) गुप्तजी की कला (प्रो० सत्येंद्र),

(३) प्रेमचंद की उपन्यास-कला (पं० जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'),

(४) प्रसाद की नाट्य-कला,

(५) पद्माकर की काव्य-साधना (अखौरी गंगाप्रसादसिंह),

(६) 'प्रसाद' की काव्य-साधना (श्री रामनाथलाल 'सुमन'),

(७) मीरा की प्रेम-साधना (पं० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'),

एक दूसरे के आगे पीछे निकलीं। इनमें से कुछ पुस्तकें तो समालोचना की असली पद्धति पर निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक दोनों ढंग लिए हुए चली हैं तथा कवि के बाह्य और आभ्यंतर दोनों का अच्छा परिचय कराती हैं, जैसे, 'केशव की काव्यकला', 'गुप्तजी की कला'। 'केशव की काव्यकला' में पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने अच्छा विद्वत्तापूर्ण अनुसंधान भी किया है। उनका 'कविवर रत्नाकर' भी कवि की विशेषताओं को मार्मिक ढंग से सामने रखता है। पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' कृत 'गुप्तजी की काव्यधारा' में भी मैथिलीशरण गुप्तजी की रचना के विविध पक्षों का सूक्ष्मता और मार्मिकता के साथ उद्घाटन हुआ है। 'पद्माकर की काव्य-साधना' द्वारा भी पद्माकर के संबंध में बहुत सी बातों की जानकारी हो जाती है। इधर हाल में पं० राम-कृष्ण शुक्ल ने अपनी 'सुकवि-समीक्षा' में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद पर अच्छे समीक्षात्मक निबंध लिखे हैं। 'मीरा की प्रेम-साधना' भावात्मक है जिसमें 'माधव' जी मीरा के भावों का स्वरूप पहचान कर उन भावों में आप भी मग्न होते दिखाई पड़ते हैं। इन सब पुस्तकों से हमारा समीक्षा-साहित्य बहुत कुछ समृद्ध हुआ है, इसमें संदेह नहीं। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'हमारे साहित्य-निर्माता' नाम की

एक पुस्तक लिखकर हिंदी के कई वर्त्तमान कवियों और लेखकों की प्रवृत्तियों और विशेषताओं का अपने ढंग पर अच्छा आभास दिया है।

ठीक-ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओं को देख जितना संतोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चित्रमयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही ग्लानि होती है। यह सजावट अँगरेजी के अथवा बँगला के समीक्षा-क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदग्ध, कुछ अति-रंजित चलते शब्द और वाक्य ला लाकर खड़ी की जाती है। कहीं कहीं तो किसी अँगरेजी कवि के संबंध में की हुई समीक्षा का कोई खंड ज्यों का त्यों उठाकर किसी हिंदी-कवि पर भिड़ा दिया जाता है। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्विलास का कोई लगाव नहीं। पद्य का आशय या भाव कुछ और है, आलोचकजी उसे उद्धृत करके कुछ और ही राग अलाप रहे हैं। कवि के मानसिक विकास का एक आरोपित इतिहास तक—किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर—वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के पचीस-तीस पद्यों का भी ठीक तात्पर्य्य उन्होंने समझा है। ऐसे आलोचकों के शिकार 'छायावादी' कहे जानेवाले कुछ कवि ही अभी हो रहे हैं। नूतन शाखा के एक अच्छे कवि हाल ही में मुझसे मिले जो ऐसे कदरदानों से पनाह माँगते थे। अब सुनने में आ रहा है कि इस ढंग के ऊँचे हौसलेवाले दो-एक आलोचक तुलसी और सूर के चारों ओर भी ऐसा ही चमचमाता वाग्जाल बिछानेवाले हैं।

काव्य की 'छायावाद' कही जानेवाली शाखा चले काफी दिन हुए। पर ऐसी कोई समीक्षा-पुस्तक देखने में न आई जिसमें उक्त शाखा की रचना-प्रक्रिया (Technique), प्रसार की भिन्न भिन्न भूमियाँ, सोच समझकर निर्दिष्ट की गई हों। केवल प्रो० नगेंद्र की 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली। बात यह है कि इधर अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर 'छायावाद' चला, उधर उसके साथ ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा (Impressionist Criticism) का फैशन बंगाल होता हुआ आ धमका। इस प्रकार की समीक्षा में कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं; आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े उसका वह सुंदरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे। कोई यह नहीं पूछ सकता कि कवि का भाव तो कुछ और है, उसका यह प्रभाव कैसे पड़ सकता है। इस प्रकार की समीक्षा के चलन ने अध्ययन, चिंतन और प्रकृत समीक्षा का रास्ता ही छेंक लिया।

प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही व्यर्थ है। किसी कवि की आलोचना कोई इसी लिये पढ़ने बैठता है कि उस कवि के लक्ष्य को, उसके भाव को, ठीक ठीक हृदयंगम करने में सहारा मिले; इसलिये नहीं कि आलोचक की भाव-भंगी और सजीले पद-विन्यास द्वारा अपना मनोरंजन करे। यदि किसी रमणीय अर्थ-गर्भित पद्य की आलोचना इसी रूप में मिले कि "एक बार इस कविता के प्रवाह में पड़ कर बहना ही पड़ता है। स्वयं कवि को भी विवशता के साथ बहना पड़ा है; वह एकाधिक

बार मयूर की भाँति अपने सौंदर्य पर आप ही नाच उठा है", तो उसे लेकर कोई क्या करेगा?

सारे योरप की बात छोड़िए, अँगरेजी के वर्त्तमान समीक्षा-क्षेत्र में ही प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा की निस्सारता प्रकट करने वाली पुस्तकें बराबर निकल रही हैं।* इस ढंग की समीक्षाओं में प्रायः भाषा विचार में बाधक बन कर आ खड़ी होती है। लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार, आदि में उलझा रहता है जिनके बीच स्वच्छ विचारधारा के लिये जगह ही नहीं मिलती। विशुद्ध आलोचना के क्षेत्र में भाषा की क्रीड़ा किस प्रकार बाधक हुई है, कुछ बँधे हुए शब्द और वाक्य किस प्रकार विचारों को रोके रहे हैं, ऐसी बातें जिनकी कहीं सत्ता नहीं किस प्रकार घने वाग्जाल के भीतर से भूत बनकर झाँकती रही हैं, यह दिखाते हुए इस बीसवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध समालोचना-तत्त्वज्ञ ने बड़ी खिन्नता प्रकट की है†।

---

* देखिए Psychological Approach to Literary Criticism जिसमें यह अच्छी तरह दिखा दिया गया है कि प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई समीक्षा ही नहीं।

† A diligent search will still find many Mystic Beings......sheltering in verbal thickets. * * * * While current attitudes to language persist, this difficulty of the linguistic phantom must still continue.

—'Principles of Literary Criticism.' by I. A. Richards.

हमारे यहाँ के पुराने व्याख्याताओं और टीकाकारों की अर्थ-क्रीड़ा प्रसिद्ध है। किसी पद्य का और का और अर्थ करना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है। तुलसीदासजी की चौपाइयों के बीस बीस अर्थ करनेवाले अभी मौजूद हैं। अभी थोड़े दिन हुए, हमारे एक मित्र ने सारी 'बिहारी-सतसई' का शांतरस-परक अर्थ करने की धमकी दी थी। फारसी के हाफिज आदि शायरों की शृंगारी उक्तियों के आध्यात्मिक अर्थ प्रसिद्ध हैं, यद्यपि अरबी-फारसी के कई पहुँचे हुए विद्वान् यह आध्यात्मिकता नहीं स्वीकार करते। इस पुरानी प्रवृत्ति का नया संस्करण भी कहीं कहीं दिखाई पड़ने लगा है। रवींद्र बाबू ने अपनी प्रतिभा के बल से कुछ संस्कृत-काव्यों की समीक्षा करते हुए कहीं कहीं आध्यात्मिक अर्थों की योजना की है। 'प्राचीन साहित्य' नाम की पुस्तक में मेघदूत आदि पर जो निबंध हैं उनमें ये बातें मिलेंगी। काशी के एक व्याख्यान में उन्होंने 'अभिज्ञान-शाकुंतल' के सारे आख्यान का आध्यात्मिक पक्ष निरूपित किया था। इस संबंध में हमारा यही कहना है कि इस प्रकार की प्रतिभापूर्ण कृतियों का भी अपना अलग मूल्य है। वे कल्पनात्मक साहित्य के अंतर्गत अवश्य हैं, पर विशुद्ध समालोचना की कोटि में नहीं आ सकतीं।

योरपवालों को हमारी आध्यात्मिकता बहुत पसंद आती है। भारतीयों की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पच्छिम में बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल में कई बातें हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धिशैथिल्य पर परदा डालते हैं। अतः चर्चा या तारीफ करनेवालों में कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो चाहते हैं कि यह परदा पड़ा रहे। दूसरी बात यह है कि ये शब्द पूरबी और पच्छिमी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बाँधते हैं जिससे पच्छिम में हमारे संबंध में एक प्रकार का कुतूहल-सा जाग्रत रहता है और हमारी बातें

वहाँ कुछ अनूठेपन के साथ कही जा सकती हैं। तीसरी बात यह है कि आधिभौतिक समृद्धि के हेतु जो भीषण संघर्ष सैकड़ों वर्ष तक योरप में रहा उससे क्लांत और शिथिल होकर बहुत से लोग जीवन के लक्ष्य में कुछ परिवर्तन चाहने लगे—शांति और विश्राम के अभिलाषी हुए। साथ ही साथ धर्म और विज्ञान का झगड़ा भी बंद हुआ। अतः योरप में जो इधर आध्यात्मिकता की चर्चा बढ़ी वह विशेषतः प्रतिवर्त्तन (reaction) के रूप में। स्वर्गीय साहित्याचार्य्य पं० रामावतारजी पांडेय और पं० चंद्रधरजी गुलेरी इस आध्यात्मिकता की चर्चा से बहुत घबराया करते थे।

पुस्तकों और कवियों की आलोचना के अतिरिक्त पाश्चात्य काव्य-मीमांसा को लेकर भी बहुत से लेख और कुछ पुस्तकें इस काल में लिखी गईं—जैसे, बा० श्यामसुंदरदास कृत साहित्यालोचन, श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी कृत विश्व-साहित्य। इनमें से पहली पुस्तक तो शिक्षोपयोगी है। दूसरी पुस्तक में योरपीय साहित्य के विकास तथा पाश्चात्य काव्यसमीक्षकों के कुछ प्रचलित मतों का दिग्दर्शन है।

इधर दो-एक लेखकों की एक और प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है। वे योरप के कुछ कला-संबंधी एकदेशीय और अत्युक्त मतों को सामने लाकर हिंदीवालों की आँखों में उसी प्रकार चकाचौंध उत्पन्न करना चाहते हैं जिस प्रकार कुछ लोग वहाँ के फैशन की तड़क-भड़क दिखाकर। जर्मनी, फ्रांस, इटाली, रूस और स्वेडन इत्यादि अनेक देशों के नए-पुराने कवियों, लेखकों और समीक्षकों के नाम गिनाकर वे एक प्रकार का आतंक उत्पन्न करना चाहते हैं। वे कला-संबंधी विलायती पुस्तकों की बातें लेकर और कहीं मैटरलिंक (Materlinck), कहीं गेटे (Goethe), कहीं टाल्सटाय (Tolstoy) के उद्धरण देकर अपने लेखों की तड़क-

भड़क भर बढ़ाते हैं। लेखों को यहाँ से वहाँ तक पढ़ जाइए, लेखकों के अपने किसी विचार का कहीं पता न लगेगा। उद्धृत मतों की व्याप्ति कहाँ तक है, भारतीय सिद्धांतों के साथ उनका कहाँ सामंजस्य है और कहाँ विरोध, इन सब बातों के विवेचन का सर्वथा अभाव पाया जायगा। साहित्यिक विवेचन से संबंध रखनेवाले जिन भावों और विचारों के द्योतन के लिये हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रंथों में बराबर से शब्द प्रचलित चले आते हैं उनके स्थान पर भी भद्दे गढ़े हुए शब्द देखकर लेखकों की अनभिज्ञता की ओर बिना ध्यान गए नहीं रहता। समालोचना के क्षेत्र में ऐसे विचारशून्य लेखों से कोई विशेष लाभ नहीं।

पश्चिम के काव्य-कला-संबंधी प्रचलित वादों में अकसर एकांगदृष्टि की दौड़ ही विलक्षण दिखाई पड़ा करती है। वहाँ के कुछ लेखक काव्य के किसी एक पक्ष को उसका पूर्ण स्वरूप मान, इतनी दूर तक ले जाते हैं कि उनके कथन में अनूठी सूक्ति का-सा चमत्कार आ जाता है और बहुत से लोग उसे सिद्धांत या विचार के रूप में ग्रहण कर चलते हैं। यहाँ हमारा काम काव्य के स्वरूप पर विचार करना या प्रबंध लिखना नहीं बल्कि प्रचलित प्रवृत्तियों और उनके उद्गमों तथा कारणों का दिग्दर्शन कराना मात्र है। अतः यहाँ काव्य या कला के संबंध में उन प्रवादों का, जिनका योरप में सबसे अधिक फैशन रहा है, संक्षेप में उल्लेख करके तब मैं इस प्रसंग को समाप्त करूँगा। इसकी आवश्यकता यहाँ मैं केवल इसलिये समझता हूँ कि एक ओर योरप में तो व्यापक और सूक्ष्मदृष्टि-संपन्न समीक्षकों द्वारा इन प्रवादों का निराकरण हो रहा है, दूसरी ओर हमारे हिंदी-साहित्य में इनकी भद्दी नकल शुरू हुई है।

योरप में जिस प्रवाद का इधर सबसे अधिक फैशन रहा है वह है—"काव्य का उद्देश्य काव्य ही है" या "कला का उद्देश्य

कला ही है"। इस प्रवाद के कारण जीवन और जगत् की बहुत सी बातें, जिनका किसी काव्य के मूल्य-निर्णय में बहुत दिनों से योग चला आ रहा था, यह कहकर टाली जाने लगीं कि "ये तो इतर वस्तुएँ हैं, शुद्ध कलाक्षेत्र के बाहर की व्यवस्थाएँ हैं"। पाश्चात्य देशों में इस प्रवाद की योजना करनेवाले कई सामान खड़े हुए थे। कुछ तो इसमें जर्मन सौंदर्य्य-शास्त्रियों की यह उद्भावना सहायक हुई कि सौंदर्य्य-संबंधी अनुभव (Æsthetic experience) एक भिन्न ही प्रकार का अनुभव है जिसका और प्रकार के अनुभवों से कोई संबंध ही नहीं। इससे बहुतेरे साहित्यशास्त्री यह समझने लगे कि कला का मूल्य-निर्धारण भी उसके मूल्य को और सब मूल्यों से एकदम विच्छिन्न करके ही होना चाहिए। ईसा की १९ वीं शताब्दी के मध्यभाग में ह्विस्लर (Whistler) ने यह मत प्रवर्त्तित किया जिसका चलन अब तक किसी न किसी रूप में रहा है। अँगरेजी में इस मत के सबसे प्रभावशाली व्याख्याताओं में डाक्टर ब्रैडले (Dr. Bradley) हैं।

उन्होंने इस संबंध में कहा है—"यह (काव्य-सौंदर्य्य-संबंधी) अनुभव अपना लक्ष्य आप ही है; इसका अपना निराला मूल्य है। अपने विशुद्ध क्षेत्र के बाहर भी इसका और प्रकार का मूल्य हो सकता है। किसी कविता से यदि धर्म और शिष्टाचार का भी साधन होता हो, कुछ शिक्षा भी मिलती हो, प्रबल मनोविकारों का कुछ निरोध भी संभव हो, लोकोपयोगी विधानों में कुछ सहायता भी पहुँचती हो अथवा कवि को कीर्ति या अर्थलाभ भी होता हो तो अच्छी ही बात है। इनके कारण भी उसकी क़दर हो सकती है। पर इन बाहरी बातों के मूल्य के हिसाब से उस कविता की उत्तमता की असली जाँच नहीं हो सकती। उसकी उत्तमता तो एक तृप्तिदायक कल्पनात्मक

अनुभव-विशेष से संबंध रखती है। अतः उसकी परीक्षा भीतर से ही हो सकती है। किसी कविता को लिखते या जाँचते समय यदि बाहरी मूल्यों की ओर भी ध्यान रहेगा तो बहुत करके उसका मूल्य घट जायगा या छिप जायगा। बात यह है कि कविता को यदि हम उसके विशुद्ध क्षेत्र से बाहर ले जायँगे तो उसका स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो जायगा, क्योंकि उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति। उसकी तो एक दुनिया ही निराली है—एकांत, स्वतःपूर्ण और स्वतंत्र।"*

काव्य और कला के संबंध में अब तक प्रचलित इस प्रकार के नाना अर्थवादों का पूरा निराकरण रिचर्ड्स (I. A. Richards) ने अपनी पुस्तक "साहित्य-समीक्षा सिद्धांत" (Principles of Literary Criticism)† में बड़ी सूक्ष्म और गंभीर मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है। उपर्युक्त कथन में चारों मुख्य बातों की अलग अलग परीक्षा करके उन्होंने उनकी अपूर्णता, अयुक्तता और अर्थहीनता प्रतिपादित की है। यहाँ उनके दिग्दर्शन का स्थान नहीं। प्रचलित सिद्धांत का जो प्रधान पक्ष है कि "कविता की दुनिया ही निराली है; उसकी प्रकृति या सत्ता न तो प्रत्यक्ष जगत् का कोई अंग है, न अनुकृति" इस पर रिचर्ड्स के वक्तव्य का सारांश नीचे दिया जाता है—

"यह सिद्धांत कविता को जीवन से अलग समझने का आग्रह करता है। पर स्वयं डाक्टर ब्रैडले इतना मानते है कि जीवन के साथ उसका लगाव भीतर-भीतर अवश्य है। हमारा कहना है कि यही भीतरी लगाव असल चीज है। जो कुछ

---

* Oxford Lectures on Poetry.

† Third Edition, 1928.

काव्यानुभव (Poetic experience) होता है वह जीवन से ही होकर आता है। काव्यजगत् की शेष जगत् से भिन्न कोई सत्ता नहीं है और न उसके कोई अलौकिक या विशेष नियम हैं। उसकी योजना बिल्कुल वैसे ही अनुभवों से हुआ करती है जैसे और सब अनुभव होते हैं। प्रत्येक काव्य एक परिमित अनुभव-खंड मात्र है जो विरोधी उपादानों के संसर्ग से कभी चटपट और कभी देर में छिन्न भिन्न हो जाता है। साधारण अनुभवों से उसमें यही विशेषता होती है कि उसकी योजना बहुत गूढ़ और नाजुक होती है। ज़रा सी ठेस से वह चूर चूर हो सकता है। उसकी एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि वह एक हृदय से दूसरे हृदय में पहुँचाया जा सकता है। बहुत से हृदय उसका अनुभव बहुत थोड़े ही फेरफार के साथ कर सकते हैं। काव्यानुभव से मिलते-जुलते और भी अनुभव होते हैं, पर इस अनुभव की सबसे बड़ी विशेषता है यही सर्वग्राह्यता (Communicability)। इसी लिये इसके प्रतीति-काल में हमें इसे अपनी व्यक्तिगत विशेष बातों की छूत से बचाए रखना पड़ता है*। यह सबके अनुभव के लिये होता है, किसी एक ही के नहीं। इसी लिये किसी काव्य को लिखते या पढ़ते समय हमें अपने अनुभव के भीतर उस काव्य और उस काव्य से इतर वस्तुओं के बीच अलगाव करना पड़ता है। पर यह अलगाव दो सर्वथा भिन्न या असमान वस्तुओं के बीच नहीं होता, बल्कि एक ही कोटि की वृत्तियों के भिन्न भिन्न विधानों के बीच होता है†।

---

* इसी को हमारे साहित्य-शास्त्र में 'साधारणीकरण' कहते हैं।

† But this is no severance between unlike things, but between differences of the same activities * * * * * The myth of a 'transmutation' or

यह तो हुई रिचर्ड्स की मीमांसा। अब हमारे यहाँ के संपूर्ण काव्यक्षेत्र की अंतःप्रकृति की छानबीन कर जाइए, उसके भीतर जीवन के अनेक पक्षों और जगत् के नाना रूपों के साथ मनुष्य-हृदय का गूढ़ सामंजस्य निहित मिलेगा। साहित्य-शास्त्रियों का मत लीजिए तो जैसे संपूर्ण जीवन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का साधन रूप है वैसे ही उसका एक अंग काव्य भी। 'अर्थ' का स्थूल और संकुचित अर्थ द्रव्यप्राप्ति ही नहीं लेना चाहिए, उसका व्यापक अर्थ 'लोक की सुख-समृद्धि' लेना चाहिए। जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्य जीवन और अंतर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में इसका विचार अवश्य होता आया है और होगा। हमारे यहाँ के लक्षणग्रंथों में रसानुभव को जो 'लोकोत्तर' और 'ब्रह्मा-नंद-सहोदर' आदि कहा है वह अर्थवाद के रूप में, सिद्धांतरूप में नहीं। उसका तात्पर्य्य केवल इतना ही है कि रस में व्यक्तित्व का लय हो जाता है।

योरप में समालोचना-शास्त्र का क्रमागत विकास फ्रांस में ही हुआ। अतः फ्रांस का प्रभाव योरपीय देशों में बहुत कुछ

'poetisation' of experience and that other myth of the 'contemplative' or 'æsthetic attitude' are in part but due to talking about poetry and the 'poetic' instead of talking about the concrete experiences which are poems.

रहा। विवरणात्मक समालोचना के अंतर्गत ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना का उल्लेख हो चुका है। पीछे प्रभाव-वादियों (Impressionists) का जो दल खड़ा हुआ वह कहने लगा कि हमें किसी कवि की प्रकृति, स्वभाव, सामाजिक परि-स्थिति आदि से क्या प्रयोजन ? हमें तो केवल किसी काव्य को पढ़ने से जो आनंदपूर्ण प्रभाव हमारे चित्त पर पड़ता है उसी को प्रकट करना चाहिए और उसी को समालोचना समझना चाहिए। प्रभाववादियों का पक्ष यह है "हमारे चित्त पर किसी काव्य से जो आनंद उत्पन्न होता है वही आलोचना है। इससे अधिक आलोचना और चाहिए क्या ? जो प्रभाव हमारे चित्त पर पड़े उसी का वर्णन यदि हमने कर दिया तो समालोचना हो गई।" कहने की आवश्यकता नहीं कि इस मत के अनुसार समालोचना एक व्यक्तिगत वस्तु है। उसके औचित्य-अनौचित्य पर किसी को कुछ विचार करने की जरूरत नहीं। जिस पर जैसा प्रभाव पड़े वह वैसा कहे।

उक्त प्रभाववादियों की बात लें तो समालोचन कोई व्यव-स्थित शास्त्र नहीं रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला हुआ दूसरा काव्य, ही हुआ।

काव्य की स्वरूप-मीमांसा के संबंध में योरप में इधर सबसे अधिक जोर रहा है 'अभिव्यंजनावाद' (Expressionism) का, जिसके प्रवर्त्तक हैं इटली के क्रोचे (Benedetto Croce)। इसमें अभिव्यंजना अर्थात् किसी बात को कहने का ढंग ही सब कुछ है, बात चाहे जो या जैसी हो अथवा कुछ ठीक ठिकाने की न भी हो। काव्य में जिस वस्तु या भाव का वर्णन होता है वह, इस वाद के अनुसार, उपादान मात्र है; समीक्षा में उसका कोई विचार अपेक्षित नहीं। काव्य में मुख्य वस्तु है वह आकार

या साँचा जिसमें वह वस्तु या भाव ढाला जाता है*। जैसे कुंडल की सुंदरता की चर्चा उसके आकार या रूप को लेकर होती है, सोने को लेकर नहीं, वैसे ही काव्य के संबंध में भी समझना चाहिए। तात्पर्य यह कि अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यंजना की जाती है, वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्यक्षेत्र के बाहर की बात है। क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पर्य्याय न समझना चाहिए। जैसे, यदि किसी कवि ने कहा कि "सोई हुई आशा आँख मलने लगी", तो यह न समझना चाहिए कि उसने यह उक्ति इस उक्ति के स्थान पर कही है कि "फिर कुछ कुछ आशा होने लगी"। वह एक निरपेक्ष उक्ति है। कवि को वही कहना ही था। वाल्मीकि ने जो यह कहा कि "न स संकुचित: पंथा: येन बाली हतो गत:", वह इसके स्थान पर नहीं कि "तुम भी बाली के समान मारे जा सकते हो"।

इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वत: कविता नहीं। पर यह बात इतनी दूर तक नहीं घसीटी जा सकती कि उस उक्ति की मार्मिकता का अनुभव उसकी तह में छिपी हुई वस्तु या भाव पर बिना दृष्टि रखे ही हो सकता है। बात यह है कि 'अभि-व्यंजनावाद' भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशीवाला सौंदर्य्य मानकर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई संबंध नहीं। और कलाओं को छोड़ यदि हम काव्य ही को लें तो इस 'अभिव्यंजनावाद' को 'वाग्वैचित्र्य-

---

* An aesthetic fact is 'form' and nothing else.

वाद' ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।

इन्हीं दोनों वादों की दृष्टि से यह कहा जाने लगा कि समालोचना के क्षेत्र से अब लक्षण, नियम, रीति, काव्यभेद, गुणदोष, छंदोव्यवस्था आदि का विचार उठ गया*। पर इस कथन की व्याप्ति कहाँ तक है, यह विचारणीय है। साहित्य के ग्रंथों में जो लक्षण नियम आदि दिए गए थे वे विचार की व्यवस्था के लिये, काव्य-संबंधी चर्चा के सुबीते के लिये। पर इन लक्षणों और नियमों का उपयोग गहरे और कठोर बंधन की तरह होने लगा और उन्हीं को बहुत से लोग सब कुछ समझने लगे। जब कोई बात हद से बाहर जाने लगती है तब प्रतिवर्त्तन (Reaction) का समय आता है। योरप में अनेक प्रकार के वादों की उत्पत्ति प्रतिवर्त्तन के रूप में ही हुआ करती है। अतः हमें सामंजस्य-बुद्धि से काम लेकर अपना स्वतंत्र मार्ग निकालना चाहिए।

बेल-बूटे और नक्क़ाशी के लक्ष्य के समान काव्य का भी लक्ष्य सौंदर्य्य-विधान लगातार कहते रहने से काव्य-रचना पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका उल्लेख हो चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि यह सब काव्य के साथ 'कला' शब्द लगने के कारण हुआ है। हमारे यहाँ काव्य की गिनती ६४ कलाओं के भीतर नहीं की गई है। यहाँ इतना और सूचित करना आवश्यक जान पड़ता है कि सौंदर्य्य की भावना को रूप देने में मनोविज्ञान के क्षेत्र से आए हुए उस सिद्धांत का भी असर पड़ा है जिसके अनुसार अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त काम-वासना ही कला-निर्माण की प्रेरणा करनेवाली अंतर्वृत्ति है। योरप में

---

* The New Criticism—by J. E. Spingarn (1911)

चित्रकारी, मूर्त्तिकारी, नक्क़ाशी, बेल-बूटे आदि के समान कविता भी 'ललित कलाओं' के भीतर दाखिल हुई; अतः धीरे धीरे उसका लक्ष्य भी सौंदर्य्य-विधान ही ठहराया गया। जब कि यह सौंदर्य्य-भावना काम-वासना द्वारा प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिये यह स्वाभाविक ही ठहरा कि उसकी सारी सौंदर्य्य-भावना स्त्री-मयी हो अर्थात् प्रकृति के अपार क्षेत्र में जो कुछ सुंदर दिखाई पड़े उसकी भावना स्त्री के रूप-सौंदर्य्य के भिन्न-भिन्न अंग लाकर ही की जाय। अरुणोदय की छटा का अनुभव कामिनी के कपोलों पर दौड़ी हुई लज्जा की ललाई लाकर किया जाय; राका रजनी की सुषमा का अनुभव सुंदरी के उज्वल वस्त्र या शुभ्रहास द्वारा किया जाय; आकाश में फैलती हुई कादंबिनी तब तक सुंदर न लगे जब तक उस पर स्त्री के मुक्त कुंतल का आरोप न हो। आजकल तो स्त्री-कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष-कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती हुई मेघमाला को दाढ़ी-मूछ के रूप में देखना चाहिए।

काव्यरचना और काव्यचर्चा दोनों में इधर 'स्वप्न' और 'मद' का प्रधान स्थान रहने लगा है। ये दोनों शब्द काव्य के भीतर प्राचीन समय में धर्म-संप्रदायों से आए। लोगों की धारणा थी कि संत या सिद्ध लोगों को बहुत सी बातों का आभास या तो स्वप्न में मिलता था अथवा तन्मयता की दशा में। कवियों को अपने भाव में मग्न होते देख लोग उन्हें भी इस प्रत्यक्ष जगत् और जीवन से अलग कल्पना के स्वप्न-लोक में विचरनेवाले जीव प्यार और श्रद्धा से कहने लगे। यह बात बराबर कवियों की प्रशंसा में अर्थवाद के रूप में चलती रही। पर ईसा की इस बीसवीं सदी में आकर वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में फ्रायड (Freude) द्वारा प्रदर्शित की गई।

उसने कहा कि जिस प्रकार स्वप्न अंतस्संज्ञा में निहित अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का एक अंतर्विधान है, उसी प्रकार कलाओं का निर्माण करनेवाली कल्पना भी। इससे कवि-कल्पना और स्वप्न का अभेद-भाव और भी पक्का हो गया। पर सच पूछिए तो कल्पना में आई हुई वस्तुओं की अनुभूति और स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की अनुभूति के स्वरूप में बहुत अंतर है। अतः काव्य-रचना या काव्यचर्चा में 'स्वप्न' की बहुत अधिक भरमार अपेक्षित नहीं। यों ही कहीं कहीं साम्य के लिये यह शब्द आ जाया करे तो कोई हर्ज नहीं।

अब 'मद' और 'मादकता' लीजिए। काव्यक्षेत्र में इसका चलन फारस में बहुत पहले से अनुमित होता है। यद्यपि इस-लाम के पूर्व का वहाँ का सारा साहित्य नष्ट कर दिया गया, उसका एक चिट भी कहीं नहीं मिलता है, पर शायरी में 'मद' और 'प्याले' की रूढ़ि बनी रही, जिसको सूफियों ने लेकर और भी बढ़ाया। सूफी शायर दीन दुनिया से अलग, प्रेममद में मतवाले आजाद जीव माने जाते थे। धीरे धीरे कवियों के संबंध में भी 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की भावना वहाँ जड़ पकड़ती गई और वहाँ से हिंदुस्तान में आई। योरप में गेटे और वर्ड्सवर्थ के समय तक 'मतवालेपन' और 'फक्कड़पन' की इस भावना का कवि और काव्य के साथ कोई नित्य संबंध नहीं समझा जाता था। जर्मन कवि गेटे बहुत ही व्यवहार-कुशल राजनीतिज्ञ था, इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ भी लोक-व्यवहार से अलग एक रिंद नहीं माना जाता था। एक खास ढंग का फक्कड़पन और मतवालापन बाइरन और शेली में दिखाई पड़ा जिनकी चर्चा योरप ही तक न रह कर अँगरेजी साहित्य के साथ साथ हिंदुस्तान तक पहुँची। इससे मतवालेपन और फक्कड़पन की जो भावना पहले से

फारसी साहित्य के प्रभाव से बँधती आ रही थी, वह और भी पक्की हो गई।

भारत में मतवालेपन या फक्कड़पन की भावना अघोरपंथ आदि कुछ संप्रदायों में तथा सिद्ध बननेवाले कुछ साधुओं में ही चलती आ रही थी। कवियों के संबंध में इसकी चर्चा नहीं थी। यहाँ तो कवि के लिये लोक-व्यवहार में कुशल होना आवश्यक समझा जाता था। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में कवि के जो लक्षण कहे हैं उससे यह बात स्पष्ट हो जायगी। यह ठीक है कि राजशेखर ने राज-सभाओं में बैठनेवाले दरबारी कवियों के स्वरूप का वर्णन किया है और वह स्वरूप एक विलासी दरबारी का है, मुक्त-हृदय स्वच्छंद कवि का नहीं। पर वाल्मीकि से लेकर भवभूति और पंडितराज तक तथा चंद से लेकर ठाकुर और पद्माकर तक कोई मद से झूमनेवाला, लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ या बेपरवा फक्कड़ नहीं माना गया।

प्रतिभाशाली कवियों की प्रवृत्ति अर्थ में रत साधारण लोगों से भिन्न और मनस्विता लिए होती है तथा लोगों के देखने में कभी कभी एक सनक सी जान पड़ती है। जैसे और लोग अर्थ की चिंता में लीन होते हैं वैसे ही वे अपने किसी उद्भावित प्रसंग में लीन दिखाई पड़ते हैं। प्रेम और श्रद्धा के कारण लोग इन प्रवृत्तियों को अत्युक्ति के साथ प्रकट करते हुए 'मद में झूमना', 'स्वप्न में लीन रहना', 'निराली दुनिया में विचरना' इत्यादि कहने लगे। पर इसका यह परिणाम न होना चाहिए कि कवि लोग अपनी प्रशस्ति की इन अत्युक्त बातों को ठीक ठीक चरितार्थ करने में लगें।

लोग कहते हैं कि समालोचकगण अपनी बातें कहते ही रहते हैं, पर कवि लोग जैसी मौज होती है वैसी रचना करते ही

हैं। पर यह बात नहीं है। कवियों पर साहित्य-मीमांसकों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। बहुतेरे कवि—विशेषतः नए—उनके आदर्शों के अनुकूल चलने का प्रयत्न करने लगते हैं। उपर्युक्त वादों के अनुकूल इधर बहुत कुछ काव्यरचना योरप में हुई, जिसका कुछ अनुकरण बँगला में हुआ। आजकल हिंदी की जो कविता 'छायावाद' के नाम से पुकारी जाती है उसमें इन सब वादों का मिला जुला आभास पाया जायगा। इसका तात्पर्य्य यह नहीं कि इन सब हिंदी कवियों ने उनके सिद्धांत सामने रख कर रचना की है। उनके आदर्शों के अनुकूल कुछ कविताएँ योरप में हुईं, जिनकी देखा-देखी बँगला और हिंदी में भी होने लगीं।

इस प्रसंग में इतना लिखने का प्रयोजन केवल यही है कि योरप के साहित्य-क्षेत्र में फैशन के रूप में प्रचलित बातों को कच्चे-पक्के ढंग से सामने लाकर कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा करना अपनी मस्तिष्कशून्यता के साथ ही साथ समस्त हिंदी-पाठकों पर मस्तिष्कशून्यता का आरोप करना है। काव्य और कला पर निकलनेवाले भड़कीले लेखों में आवश्यक अभिज्ञता और स्वतंत्र विचार का अभाव देख दुःख होता है। इधर कुछ दिनों से "सत्यं, शिवं, सुंदरम्" की भी बड़ी धूम है, जिसे कुछ लोग शायद उपनिषद्-वाक्य समझकर "अपने यहाँ भी कहा है" लिखकर उद्धृत किया करते हैं। यह कोमल पदावली ब्रह्मसमाज के महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर की है और वास्तव में The True, the Good and the Beautiful का अनुवाद है।* बस इतना और कहकर मैं इस प्रसंग को

---

* Thus arises the phantom problem of the æsthetic mode or æsthetic state, a legacy from the

समाप्त करता हूँ कि किसी साहित्य में केवल बाहर की भद्दी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा-करकट के रूप में न इकट्ठी की जाय। उसकी कड़ी परीक्षा हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय; जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचे।

---

days of abstract investigation into the Good, the Beautiful and the True.

Principles of Literary Criticism.
(I. A. Richards)

आधुनिक काल

(संवत् १९०० से....)

काव्य-खंड

पुरानी धारा

गद्य के आविर्भाव और विकास-काल से लेकर अब तक कविता की वह परंपरा भी चलती आ रही है जिसका वर्णन भक्ति-काल और रीति-काल के भीतर हुआ है। भक्ति-भाव के भजनों, राजवंश के ऐतिहासिक चरित-काव्यों, अलंकार और नायिका-भेद के ग्रंथों तथा शृंगार और वीररस के कवित्त-सवैयों और दोहों की रचना बराबर होती आ रही है। नगरों के अतिरिक्त हमारे ग्रामों में भी न जाने कितने बहुत अच्छे कवि पुरानी परिपाटी के मिलेंगे। ब्रजभाषा-काव्य की परंपरा गुजरात से लेकर बिहार तक और कुमाऊँ-गढ़वाल से लेकर दक्षिण भारत की सीमा तक बराबर चलती आई है। काश्मीर के किसी ग्राम के रहनेवाले ब्रजभाषा के एक कवि का परिचय हमें जंबू में किसी महाशय ने दिया था और शायद उनके दो-एक सवैये भी सुनाए थे।

गढ़वाल के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम ब्रजभाषा के बहुत अच्छे कवि थे जिन्होंने अपने "गढ़ राजवंश" काव्य में गढ़वाल के ५२ राजाओं का वर्णन दोहा-चौपाइयों में किया है। वे

श्री नगर (गढ़वाल) के राजा प्रद्युम्नसाह के समय में थे। कुमाऊँ-गढ़वाल पर जब नैपाल का अधिकार हुआ तब नैपाली सूबेदार हस्तिदल चौतरिया के अनुरोध से उन्होंने उक्त काव्य लिखा था। मोलाराम का जन्म संवत् १८१७ में और मृत्यु १८९० में हुई। उन्होंने अपने ग्रंथ में बहुत सी घटनाओं का आँखों-देखा वर्णन लिखा है, इससे उसका ऐतिहासिक मूल्य भी है।

ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा के कुछ प्रसिद्ध कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख नीचे किया जाता है—

सेवक—ये असनीवाले ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी के रईस बाबू देवकीनंदन के प्रपौत्र बाबू हरिशंकर के आश्रय में रहते थे। ये ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इन्होंने "वाग्विलास" नाम का एक बड़ा ग्रंथ नायिकाभेद का बनाया। इसके अतिरिक्त बरवा छंद में एक छोटा नख-शिख भी इनका है। इनके सवैये सर्व साधारण में प्रचलित हो गए थे। "कवि सेवक बूढ़े भए तौ कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की" कुछ बुड्ढे रसिक अब तक कहते सुने जाते हैं। इनका जन्म संवत् १८७२ में और मृत्यु संवत १९३८ में हुई।

महाराज रघुराजसिंह रीवाँनरेश—इनका जन्म संवत् १८८० में और मृत्यु संवत् १९३६ में हुई। इन्होंने भक्ति और शृंगार के बहुत ग्रंथ रचे। इनका "रामस्वयंवर" (सं० १९२६) नामक वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य बहुत ही प्रसिद्ध है जिसमें अनेक छंदों में सीता-राम के विवाह का बहुत ही विस्तृत वर्णन है। वर्णनों में इन्होंने वस्तुओं की गिनती (राजसी ठाट-बाट, घोड़ों हाथियों के भेद आदि) गिनानेवाली प्रणाली का खूब अवलंबन किया है। 'रामस्वयंवर' के अतिरिक्त 'रुक्मिणी-परिणय', 'आनंदांबुनिधि', 'रामाष्टयाम' इत्यादि इनके लिखे बहुत से अच्छे ग्रंथ हैं।

सरदार—ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह के आश्रित थे। इनका कविता-काल संवत् १९०२ से १९४० तक कहा जा सकता है। ये बहुत ही सिद्धहस्त और साहित्य-मर्मज्ञ कवि थे। 'साहित्य-सरसी', 'वाग्विलास', 'षटऋतु', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'शृंगारसंग्रह', 'रामरत्नाकर', 'साहित्य-सुधाकर', 'रामलीलाप्रकाश' इत्यादि कई मनोहर काव्य-ग्रंथ इन्होंने रचे हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने हिंदी के प्राचीन काव्यों पर बड़ी बड़ी टीकाएँ भी लिखी हैं। कविप्रिया, रसिक-प्रिया, सूर के दृष्टिकूट और बिहारी सतसई पर बहुत अच्छी टीकाएँ इनकी हैं।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—ये अयोध्या के एक साधु थे और अपने समय के बड़े भारी महात्मा माने जाते थे। संवत् १९११ में इन्होंने 'विश्रामसागर' नामक एक बड़ा ग्रंथ बनाया जिसमें अनेक पुराणों की कथाएँ संक्षेप में दी गई हैं। भक्तजन इस ग्रंथ का बड़ा आदर करते हैं।

ललितकिशोरी—इनका नाम साह कुंदनलाल था। ये लखनऊ के एक समृद्ध वैश्य घराने में उत्पन्न हुए थे। पीछे वृंदावन में जाकर एक विरक्त भक्त की भाँति रहने लगे। इन्होंने भक्ति और प्रेम-संबंधी बहुत से पद और गजलें बनाई हैं। कविता-काल संवत् १९१३ से १९३० तक समझना चाहिए। वृंदावन का प्रसिद्ध साहजी का मंदिर इन्हीं का बनवाया है।

राजा लक्ष्मणसिंह—ये हिंदी के गद्य-प्रवर्तकों में हैं। इनका उल्लेख गद्य के विकास के प्रकरण में हो चुका है। इनकी ब्रजभाषा की कविता भी बड़ी ही मधुर और सरस होती थी। ब्रजभाषा की सहज मिठास इनकी वाणी से टपकी पड़ती है। इनके शकुंतला के पहले अनुवाद में तो पद्य न था, पर पीछे जो संस्करण इन्होंने निकाला, उसमें मूल श्लोकों के स्थान

पर पद्य रखे गए। ये पद्य बड़े ही सरस हुए। इसके उपरांत संवत् १९३८ और १९४० के बीच में इन्होंने मेघदूत का बड़ा ही ललित और मनोहर अनुवाद निकाला। मेघदूत जैसे मनोहर काव्य के लिये ऐसा ही अनुवादक होना चाहिए था। इस अनुवाद के सवैये बहुत ही ललित और सुंदर हैं। जहाँ चौपाई-दोहे आए हैं, वे स्थल उतने सरस नहीं हैं।

लछिराम (ब्रह्मभट्ट)—इनका जन्म संवत् १८९८ में अमोढ़ा (जिला बस्ती) में हुआ था। ये कुछ दिन अयोध्या-नरेश महाराज मानसिंह (प्रसिद्ध कवि द्विजदेव) के यहाँ रहे। पीछे बस्ती के राजा शीतलाबख्शसिंह से, जो एक अच्छे कवि थे, बहुत सी भूमि पाई। दर्भंगा, पुरनियाँ आदि अनेक राजधानियों में इनका सम्मान हुआ। प्रत्येक सम्मान करनेवाले राजा के नाम पर इन्होंने कुछ न कुछ रचना की है—जैसे, मानसिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, प्रेमरत्नाकर (राजा बस्ती के नाम पर), लक्ष्मीश्वररत्नाकर (दर्भंगानरेश के नाम पर), रावणेश्वर-कल्पतरु (गिद्धौर नरेश के नाम पर), कमलानंद-कल्पतरु (पुरनियाँ के राजा के नाम पर जो हिंदी के अच्छे कवि और लेखक थे) इत्यादि इत्यादि। इन्होंने अनेक रसों पर कविता की है। समस्यापूर्त्तियाँ बहुत जल्दी करते थे। वर्त्तमानकाल में व्रजभाषा की पुरानी परिपाटी पर कविता करनेवालों में ये बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

गोविंद गिल्लाभाई—कोई समय था जब गुजरात में व्रजभाषा की कविता का बहुत प्रचार था। अब भी इसका चलन वैष्णवों में बहुत कुछ है। गोविंद गिल्लाभाई का जन्म संवत् १९०५ में भावनगर रियासत के अंतर्गत सिहोर नामक स्थान में हुआ था। इनके पास व्रजभाषा के काव्यों का बड़ा अच्छा संग्रह था। भूषण का एक बहुत शुद्ध संस्करण इन्होंने

निकाला। ब्रजभाषा की कविता इनकी बहुत ही सुंदर और पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। इन्होंने बहुत सी काव्य की पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—नीति-विनोद, श्रृंगार-सरोजिनी, षटऋतु, पावस-पयोनिधि, समस्यापूर्त्ति-प्रदीप, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेषचंद्रिका, प्रारब्ध-पचासा, प्रवीन-सागर।

नवनीत चौबे—पुरानी परिपाटी के आधुनिक कवियों में चौबे जी की बहुत ख्याति रही है। ये मथुरा के रहनेवाले थे। इनका जन्म सं० १९१५ और मृत्यु १९८९ में हुई।

यहाँ तक संक्षेप में उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होंने केवल पुरानी परिपाटी पर कविता की है। इसके आगे अब उन लोगों का समय आता है जिन्होंने एक ओर तो हिंदी-साहित्य की नवीन गति के प्रवर्त्तन में योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाटी की कविता के साथ भी अपना पूरा संबंध बनाए रखा। ऐसे लोगों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्म्मा मुख्य हैं।

भारतेंदुजी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी। उन्होंने देखा कि बहुत से शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे, कवित्तों और सवैयों में बराबर लाए जाते हैं। इसके कारण कविता जनसाधारण की भाषा से दूर पड़ती जाती है। बहुत से शब्द तो प्राकृत और अपभ्रंश-काल की परंपरा के स्मारक के रूप में ही बने हुए थे। 'चक्कवै', 'भुवाल', 'ठायो', 'दीह', 'ऊनो', 'लोय' आदि के कारण बहुत से लोग ब्रजभाषा की कविता से किनारा खींचने लगे थे। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी हद को पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और गढ़ंत के शब्दों का प्रयोग था। उन्होंने ऐसे शब्दों को भरसक अपनी

कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैयों में जहाँ तक हो सका, बोलचाल की ब्रजभाषा का व्यवहार किया। इसीसे उनके जीवनकाल में ही उनके सवैये चारों ओर सुनाई देने लगे।

भारतेंदुजी ने कविसमाज भी स्थापित किए थे जिनमें समस्यापूर्त्तियाँ बराबर हुआ करती थीं। दूर दूर से कवि लोग आकर उसमें सम्मिलित हुआ करते थे। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार पहले पहल ऐसे ही कवि-समाज के बीच समस्यापूर्त्ति करके दिखाया था। भारतेंदुजी के शृंगार रस के कवित्त-सवैये बड़े ही सरस और मर्मस्पर्शी होते थे। "पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना दुखिया अँखियाँ नहिं मानति हैं", "मरेहू पै आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी" आदि उक्तियों का रसिक-समाज में बड़ा आदर रहा। उनके शृंगार-रस के कवित्त-सवैयों का संग्रह "प्रेममाधुरी" में मिलेगा। कवित्त-सवैयों से बहुत अधिक भक्ति और शृंगार के पद और गाने उन्होंने बनाए जो "प्रेमफुलवारी", "प्रेममालिका", "प्रेमप्रलाप" आदि पुस्तकों में संगृहीत हैं। उनकी अधिकतर कविता कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर रचे पदों के रूप में ही है।

पंडित प्रतापनारायणजी भी समस्यापूर्त्ति और पुराने ढँग की शृंगारी कविता बहुत अच्छी करते थे। कानपुर के "रसिक-समाज" में वे बड़े उत्साह से अपनी पूर्त्तियाँ सुनाया करते थे। देखिए "पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ" की कैसी अच्छी पूर्त्ति उन्होंने की थी—

बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोलै न "नाहीं" न 'हाँ'।
तुमही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ॥
बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अबलौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू पपिहा जब पूछिहै "पीव कहाँ?"

प्रतापनारायणजी कैसे मनमौजी आदमी थे, यह कहा जा चुका है। लावनीबाजों के बीच बैठकर वे लावनियाँ बना बनाकर भी गाया करते थे।

उपाध्याय बदरीनारायण (प्रेमघनजी) भी इस प्रकार की पुरानी कविता किया करते थे। "चरचा चलिबे की चलाइए ना" को लेकर बनाया हुआ उनका यह अनुप्रासपूर्ण सवैया देखिए—

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिए, तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम-कुतूहल के जो बने, तिन बीच बियोग बुलाइए ना॥
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम, अहो! बिथा-बारि बृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

चौधरी साहब ने भी सर्वसाधारण में प्रचलित कजली, होली आदि गाने की चीजें बहुत बनाई हैं। 'कजली-कादंबिनी' में उनकी बनाई कजलियों का संग्रह है।

ठाकुर जगमोहनसिंहजी के सवैये भी बहुत सरस होते थे। उनके शृंगारी कवित्त-सवैयों का संग्रह कई पुस्तकों में है। ठाकुर साहब ने कवित्त-सवैयों में "मेघदूत" का भी बहुत सरस अनुवाद किया है। उनकी शृंगारी कविताएँ 'श्यामा' से ही संबंध रखती हैं और 'प्रेमसंपत्तिलता' (संवत् १८८५), 'श्यामा-लता' और 'श्यामा-सरोजिनी' (संवत् १८८६) में संगृहीत हैं। 'प्रेमसंपत्तिलता' का एक सवैया दिया जाता है—

अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगिकै छतियाँ।
मन की करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ॥
हम हारीं अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेहभरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुख की रतियाँ॥

पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्म्मा (बल-बीर) के उत्साह से ही काशी-कबि-समाज चलता रहा। उसमें

दूर दूर के कविजन भी कभी कभी आ जाया करते थे। समस्याएँ कभी कभी बहुत टेढ़ी दी जाती थीं—जैसे, "सूरज देखि सकै नहिं घुग्घू", "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे"। उक्त दोनों समस्याओं की पूर्त्ति व्यासजी ने बड़े विलक्षण ढँग से की थी। उक्त समाज की ओर से ही शायद "समस्यापूर्त्ति प्रकाश" निकला था जिसमें "व्यासजी" और "बलवीरजी" (रामकृष्ण वर्म्मा) की बहुत सी पूर्त्तियाँ हैं। व्यासजी का "बिहारी-बिहार" (बिहारी के सब दोहों पर कुंडलियाँ) बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें उन्होंने बिहारी के दोहों के भाव बड़ी मार्मिकता से पल्लवित किए हैं। डुमराँव-निवासी पंडित नकछेदी तिवारी (अजान) भी इस रसिक-मंडली के बड़े उत्साही कार्य्यकर्त्ता थे। वे बड़ी सुंदर कविता करते थे और पढ़ने का ढँग तो उनका बड़ा ही अनूठा था। उन्होंने 'मनोमंजरी' आदि कई अच्छे संग्रह भी निकाले और कवियों का वृत्त भी बहुत कुछ संग्रह किया। बाबू रामकृष्ण की मंडली में पंडित विजयानंद त्रिपाठी भी व्रजभाषा की कविता बड़ी अच्छी करते थे।

इसी पुरानी धारा के भीतर लाला सीताराम बी० ए० के पद्यानुवादों को भी लेना चाहिए। ये 'कविता' में अपना 'भूप' उपनाम रखते थे। 'रघुवंश' का अनुवाद इन्होंने दोहा-चौपाइयों में और 'मेघदूत' का घनाक्षरी में किया है।

यद्यपि पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय इस समय खड़ी बोली के और आधुनिक विषयों के ही कवि प्रसिद्ध हैं, पर प्रारंभकाल में ये भी पुराने ढँग की शृंगारी कविता बहुत सुंदर और सरस करते थे। इनके निवासस्थान निजामाबाद में सिख-संप्रदाय के महंत बाबा सुमेरसिंहजी हिंदी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ प्रायः कविसमाज एकत्र हुआ करता था

जिसमें उपाध्यायजी भी अपनी पूर्त्तियाँ पढ़ा करते थे। इनका "हरिऔध" उपनाम उसी समय का है। इनकी पुराने ढंग की कविताएँ 'रस-कलश' में संगृहीत हैं जिसमें इन्होंने नायिकाओं के कुछ नए ढंग के भेद रखने का प्रयत्न किया है। ये भेद रस-सिद्धांत के अनुसार ठीक नहीं उतरते।

पंडित श्रीधर पाठक का संबंध भी लोग खड़ी बोली के साथ ही अकसर बताया करते हैं। पर खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा पाठकजी की ब्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस, हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर-स्मृति को चिरकाल तक बनाए रखनेवाली हैं। यद्यपि उन्होंने समस्यापूर्त्ति नहीं की, नायिका-भेद के उदाहरणों के रूप में कविता नहीं की, पर जैसी मधुर और रसभरी ब्रजभाषा उनके 'ऋतुसंहार' के अनुवाद में है, वैसी पुराने कवियों में किसी किसी की ही मिलती है। उनके सवैयों में हम ब्रजभाषा का जीता जागता रूप पाते हैं। वर्षा-ऋतु-वर्णन का यह सवैया ही लीजिए—

बारि-फुहार-भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन-गर्जन-सब्द सोई हैं नगारे॥
रोर के। घोर के। ओर न छोर, नरेसन की-सी छटा छबि धारे।
कामिन के मन के। प्रिय पावस, आयो, प्रिये! नव मोहिनी डारे॥

ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनका जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ल ६ सं० १९२३ और मृत्यु आषाढ़ कृष्ण ३ सं० १९८९ को हरद्वार में हुई। भारतेंदु के पीछे संवत् १९४६ से ही ये ब्रजभाषा में कविता करने लगे थे। 'हिंडोला' आदि इनकी पुस्तकें बहुत पहले निकली थीं। काव्य-संबंधिनी एक पत्रिका भी इन्होंने कुछ दिनों तक निकाली थी। इनकी कविता बड़े बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती थी।

पुराने कवियों में भी इनकी सी सूझ और उक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी। ये साहित्य तथा ब्रजभाषा-काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे।

इन्होंने 'हरिश्चंद्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धव-शतक' नाम के तीन बहुत ही सुंदर प्रबंध-काव्य लिखे हैं। अँगरेज़ कवि पोप के समालोचना-संबंधी प्रसिद्ध काव्य (Essay on Criticism) का रोला छंदों में अच्छा अनुवाद इन्होंने किया है। फुटकल रचनाएँ तो इनकी बहुत अधिक हैं, शृंगार और वीर दोनों की। इनकी रचनाओं का बहुत बड़ा संग्रह "रत्नाकर" के नाम से नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। 'गंगावतरण' में गंगा के आकाश से उतरने और शिव के उन्हें सँभालने के लिये सन्नद्ध होने का वर्णन बहुत ही ओजपूर्ण है। 'उद्धव-शतक' की मार्मिकता और रचना-कौशल भी अद्वितीय है। उसके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्मदूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन को मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यो हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यो जो तुम,
तौ हू हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बेचारी की॥

धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ,
गोपिन को आवत न भावत भड़ंग है।

कहै रतनाकर करत टायँ टायँ वृथा,
सुनत न कोऊ यहाँ यह मुहचंग है ॥
और हू उपाय केते सहज सुढंग, ऊधौ !
साँस रोकिबे को कहा जोग ही कुढंग है ?
कुटिल कटारी है, अटारी है उतंग अति,
जमुना-तरंग है, तिहारो सतसंग है ॥

कानपुर के राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविता भी ब्रजभाषा के पुराने कवियों का स्मरण दिलानेवाली होती थी। जब तक ये कानपुर में रहे तब तक कविता की चर्चा की बड़ी धूम रही। वहाँ के 'रसिक-समाज' में पुरानी परिपाटी के कवियों की बड़ी चहल-पहल रहा करती थी। "पूर्ण" जी ने कुछ दिनों तक 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका भी चलाई, जिसमें समस्या-पूर्त्तियाँ और पुराने ढंग की कविताएँ छपा करती थीं। खेद है कि केवल ४७ वर्ष की अवस्था में ही संवत् १९७७ में इनका देहांत हो गया। इनकी रचना कैसी सरस होती थी और ललित पदावली पर इनका कैसा अच्छा अधिकार था, इसका अनुमान इनके "धाराधर-धावन" (मेघदूत का अनुवाद) से उद्धृत इस पद्य से हो सकता है—

नव कलित केसर-वलित हरित सुपीत नीप निहारि कै।
करि असन दल कँदलीन जो कलियाहिं प्रथम कछार पै ॥
हे घन ! विपिन थल अमल परिमल पाय भूतल की भली।
मधुकर मतंग कुरंग बृंद जनायहैं तेरी गली ॥

श्री वियोगी हरि ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य उपासक हैं। ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे जमाने में कम दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्ण-भक्त कवियों की पद्धति पर बहुत से रसीले तथा भक्तिभाव पूर्ण पदों की

रचना की है जिन्हें सुनकर आजकल के रसिक भक्त भी "बलहारी है !" बिना कहे नहीं रह सकते। इनकी इस प्रकार की रचनाएँ 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक', 'प्रेमांजलि' आदि में मिलेंगी। छतरपुर से प्रयाग आने पर राजनीतिक आंदोलनों की भी कुछ हवा इन्हें लगी थी और इन्होंने 'चरखे की गूँज', 'चरखा-स्तोत्र', 'असहयोग-वीणा' ऐसी कुछ रचनाएँ भी की थीं, पर उनमें इनकी स्थायी मनोवृत्ति न थी। यह अवश्य है कि देश के लिये त्याग करनेवाले वीरों के प्रति इनके मन में अपार श्रद्धा है। वियोगी हरिजी ने 'वीर-सतसई' नामक एक बड़ा काव्य दोहों में लिखा है जिसमें भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध वीरों की प्रशस्तियाँ हैं। इस ग्रंथ पर इन्हें प्रयाग के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) का पुरस्कार मिला था। इसके कुछ दोहे देखिए—

> पावस ही में धनुष अब, नदी तीर ही तीर।
> रोदन ही में लाल दृग, नवरस ही में वीर ॥
> जोरि नावँ संग 'सिंह' पद करत सिंह बदनाम।
> ह्वै हौ कैसे सिंह तुम करि सृगाल के काम ?
> या तेरी तरवार में नहिं कायर अब आब।
> दिल हू तेरो बुझि गयो, वामें नेक न ताब ॥

कविवर बिहारीलाल की परंपरा के वर्त्तमान प्रतिनिधि श्री दुलारेलालजी भार्गव के दोहों की बारीकी साहित्य-क्षेत्र में अपना कमाल खड़ी-बोली के इस ज़माने में भी दिखाती रहती है। बिहारी की प्रतिभा जिस ढाँचे की थी उसी ढाँचे की दुलारेलाल-जी की भी है, इसमें संदेह नहीं। एक एक दोहे में सफ़ाई के साथ रस से स्निग्ध या वैचित्र्य से चमत्कृत कर देनेवाली प्रचुर सामग्री भरने का गुण इनमें भी है। कुछ दोहों में देशभक्ति, अछूतोद्धार, राष्ट्रीय आंदोलन इत्यादि की भावना का अनूठेपन

के साथ समावेश करके इन्होंने पुराने साँचे में नया मसाला ढालने की अच्छी कला दिखाई है। आधुनिक काव्यक्षेत्र में दुलारेलालजी ने ब्रजभाषा-काव्य-चमत्कार-पद्धति का एक प्रकार से पुनरुद्धार किया है। इनकी "दुलारे-दोहावली" पर टीकमगढ़ राज्य की ओर से २०००) का 'देव-पुरस्कार' मिल चुका है। 'दोहावली' के कुछ दोहे देखिए—

तन-उपवन सहिहै कहा बिछुरन-झंझावात।
उड़्यो जात उर-तरु जबै चलिबे ही की बात॥
दमकति दरपन-दरप दरि दीपसिखा-दुति देह।
वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि स-नेह॥
झर सम दीजै देस हित झरझर जीवन-दान।
रुकि रुकि यों चरसा सरिस दैबौ कहा, सुजान!
गाँधी गुरु तें ग्याँन लै चरखा अनहद जोर।
भारत सबद-तरंग पै बहत मुकुति की ओर॥

अभी थोड़े दिन हुए, अयोध्या के पं० रामनाथ ज्योतिषी ने रामकथा लेकर अपना 'रामचंद्रोदय काव्य' लिखा है जिस पर उन्हें २०००) का 'देव-पुरस्कार मिला है।'

आधुनिक विषयों को लेकर कविता करनेवाले कई कवि जैसे, स्व० नाथूरामशंकर शर्मा, लाला भगवानदीन, पुरानी परिपाटी की बड़ी सुंदर कविता करते थे। पं० गयाप्रसादजी शुक्ल 'सनेही' के प्रभाव से कानपुर में ब्रजभाषा-काव्य के मधुर स्रोत अभी बराबर वैसे ही चल रहे हैं, जैसे 'पूर्ण' जी के समय में चलते थे। नई पुरानी दोनों परिपाटियों के कवियों का कानपुर अच्छा केंद्र है। ब्रजभाषा-काव्यपरंपरा किस प्रकार जीती जागती चली चल रही है, यह हमारे वर्त्तमान कवि-सम्मेलनों में देखा जा सकता है।

प्रकरण २

नई धारा

प्रथम उत्थान

(संवत् १९२५—१९५०)

यह सूचित किया जा चुका है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य-साहित्य को देश-काल के अनुसार नए नए विषयों की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नए रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोक-हित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए। रीति-काल के कवियों की रूढ़ि में हास्य-रस के आलंबन कंजूस ही चले आते थे। पर साहित्य के इस नए युग के आरंभ से ही कई प्रकार के नए आलंबन सामने आने लगे—जैसे, पुरानी लकीर के फ़क़ीर, नए फ़ैशन के ग़ुलाम, नोच-खसोट करनेवाले अदालती अमले, मूर्ख और ख़ुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त इत्यादि। इसी प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्मभूमि के उद्धार के लिये रक्त बहानेवाले, अन्याय और अत्याचार का दमन करनेवाले इतिहास-प्रसिद्ध वीर होने लगे। सारांश यह कि इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले।

कालचक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।

विषयों की अनेकरूपता के साथ साथ उनके विधान का ढंग भी बदल चला। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबंध' की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा। पुरानी कविता में 'प्रबंध' का रूप कथात्मक और वस्तुवर्णनात्मक ही चला आता था। या तो पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर छोटे बड़े आख्यान-काव्य रचे जाते थे—जैसे, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचंद्रिका, छत्रप्रकाश, सुदामाचरित्र, दानलीला, चीरहरन लीला इत्यादि—अथवा विवाह, मृगया, झूला, हिंडोला, ऋतुविहार आदि को लेकर वस्तु-वर्णनात्मक प्रबंध। अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर—जैसे बुढ़ापा, विधिविडंबना, जगत-सचाई-सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत—कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे छोटे प्रबंधों या निबंधों की चाल न थी। इस प्रकार के विषय कुछ उक्तिवैचित्र्य के साथ एक ही पद्य में कहे जाते थे अर्थात् वे मुक्तक की सूक्तियों के रूप में ही होते थे। पर नवीन धारा के आरंभ में छोटे छोटे पद्यात्मक निबंधों की परंपरा भी चली जो प्रथम उत्थानकाल के भीतर तो बहुत कुछ भावप्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) होने लगी।

नवीन धारा के प्रथम उत्थान के भीतर हम हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी आदि को ले सकते हैं।

जैसा ऊपर कह आए हैं, नवीन धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत-दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देशदशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव-गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभभरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिंता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है। "विजयिनीविजय-वैजयंती" में, जो मिस्र में भारतीय सेना की विजय-प्राप्ति पर लिखी गई थी, देशभक्ति-व्यंजक कैसे भिन्न भिन्न संचारी भावों का उद्गार है! कहीं गर्व, कहीं क्षोभ, कहीं विषाद। "सहसन बरसन सों सुन्यो जो सपने नहिं कान, सो जय आरज शब्द" को सुन और "फरकि उठीं सबकी भुजा, खरकि उठीं तरवार। क्यों आपुहि ऊँचे भए आर्य्य-मोछ के बार" का कारण जान, प्राचीन आर्य्य-गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्त्तमान अधोगति का दृश्य ध्यान में आया और फिर वही "हाय भारत!" की धुन!

हाय! वहै भारत-भुव भारी। सब ही विधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चितौर! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी।
तुममें जल नहिं जमुना गंगा। बढ़हु बेगि किन प्रबल तरंगा?
बोरहु किन झट मथुरा कासी? धोवहु यह कलंक की रासी।

'चित्तौर', 'पानीपत', इन नामों में ही हिंदू-हृदय के लिये कितने भावों की व्यंजना भरी है। उसके लिये ये नाम ही काव्य हैं। नीलदेवी में यह कैसी करुण पुकार है—

कहाँ करुणानिधि केसव सोए?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए॥

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि भारतेंदुजी ने हिंदी-काव्य को केवल नए नए विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरी बात उनके संबंध में ध्यान देने की यह है कि वे केवल "नरप्रकृति" के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनंतरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटकों में दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं (जैसे, सत्यहरिश्चंद्र में गंगा का वर्णन, चंद्रावली में यमुना का वर्णन) वे केवल परंपरा-पालन के रूप में हैं। उनके भीतर उनका हृदय नहीं पाया जाता। वे केवल उपमा और उत्प्रेक्षा के चमत्कार के लिये लिखे जान पड़ते हैं। एक पंक्ति में कुछ अलग अलग वस्तुएँ और व्यापार हैं और दूसरी पंक्ति में उपमा या उत्प्रेक्षा। कहीं कहीं तो यह अप्रस्तुत विधान तीन पंक्तियों तक चला चलता है।

अंत में यह सूचित कर देना आवश्यक है कि गद्य को जिस परिमाण में भारतेंदु ने नए नए विषयों और मार्गों की ओर लगाया उस परिमाण में पद्य को नहीं। उनकी अधिकांश कविता तो कृष्णभक्त कवियों के अनुकरण पर गेय पदों के रूप में है जिनमें राधाकृष्ण की प्रेमलीला और विहार का वर्णन है। शृंगाररस के कवित्त-सवैयों का उल्लेख पुरानी धारा के अंतर्गत हो चुका है। देशदशा, अतीत गौरव आदि पर उनकी कविताएँ या तो नाटकों में रखने के लिये लिखी गईं अथवा विशेष अवसरों पर—जैसे प्रिंस आफ़ वेल्स (पीछे सम्राट् सप्तम एडवर्ड) का आगमन, मिस्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय—पढ़ने के लिये। ऐसी रचनाओं में राज-भक्ति और देशभक्ति का मेल आजकल के लोगों को कुछ विलक्षण लग सकता है। देशदशा पर दो-एक होली या बसंत आदि

गाने की चीजें फुटकल भी मिलती हैं। पर उनकी कविताओं के विस्तृत संग्रह के भीतर आधुनिकता कम ही मिलेगी।

गाने की चीजों में भारतेंदु ने कुछ लावनियाँ और ख्याल भी लिखे जिनकी भाषा खड़ी बोली होती थी।

भारतेंदुजी स्वयं पद्यात्मक निबंधों की ओर प्रवृत्त नहीं हुए, पर उनके भक्त और अनुयायी पं० प्रतापनारायण मिश्र इस ओर बढ़े। उन्होंने देश-दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' ऐसे विषय भी कविता के लिये चुने। ऐसी कविताओं में कुछ तो विचारणीय बातें हैं, कुछ भाव-व्यंजना और विचित्र विनोद। उनके कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी हैं जिनमें शिक्षितों के बीच प्रचलित बातें साधारण भाषण के रूप में कही गई हैं। उदाहरण के लिये 'क्रंदन' की ये पंक्तियाँ देखिए—

तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत॥
जहाँ कृषी बाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋन-भारन।
तहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥

इस प्रकार के इतिवृत्तात्मक पद्य भारतेंदुजी ने भी कुछ लिखे हैं। जैसे—

अँगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥

मिश्रजी की विशेषता वास्तव में उनकी हास्य-विनोदपूर्ण रचनाओं में ही दिखाई पड़ती है। 'हरगंगा', 'तृप्यंताम्', 'बुढ़ापा' इत्यादि कविताएँ बड़ी ही विनोदपूर्ण और मनोरंजक हैं। 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' वाली 'हिंदी की हिमायत' भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) ने अधिकतर विशेष विशेष अवसरों पर—जैसे, दादा भाई नौरोजी के पार्लमेंट के मेंबर होने के अवसर पर, महारानी विक्टोरिया की हीरक-जुबिली के अवसर पर, नागरी के कचहरियों में प्रवेश पाने पर, प्रयाग के सनातन धर्म महासम्मेलन (सं० १९६३) के अवसर पर—आनंद आदि प्रकट करने के लिये कविताएँ लिखी हैं। भारतेंदु के समान नवीन विषयों के लिये ये भी प्रायः रोला छंद ही लेते थे। इनके छंदों में यतिभंग प्रायः मिलता है। एक बार जब इस विषय पर मैंने इनसे बातचीत की, तब इन्होंने कहा—"मैं यतिभंग को कोई दोष नहीं मानता; पढ़नेवाला ठीक चाहिए।" देश की राजनीतिक परिस्थिति पर इनकी दृष्टि बराबर रहती थी। देश की दशा सुधारने के लिये जो राजनीतिक या धर्मसंबंधी आंदोलन चलते रहे, उन्हें ये बड़ी उत्कंठा से परखा करते थे। जब कहीं कुछ सफलता दिखाई पड़ती, तब लेखों और कविताओं द्वारा हर्ष प्रकट करते; और जब बुरे लक्षण दिखाई देते, तब क्षोभ और खिन्नता। कांग्रेस के अधिवेशनों में ये प्रायः जाते थे। 'हीरक-जुबिली' आदि की कविताओं को खुशामदी कविता न समझना चाहिए। उनमें ये देशदशा का सिंहावलोकन करते थे—और मार्मिकता के साथ।

विलायत में दादाभाई नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर इन्होंने 'कारे' शब्द को लेकर बड़ी सरस और क्षोभपूर्ण कविता लिखी थी। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

> अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे।
> तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥
> कारे काम, राम, जलधर जल-बरसनवारे।
> कारे लागत ताही सों कारन कों प्यारे॥
> याते नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे।

यह असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे ॥
सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुम्हारे ।

हीरक-जुबिली के अवसर पर लिखे "हार्दिक हर्षादर्श" में देश की दशा का ही वर्णन है। जैसे—

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत ।
भए बीरबर सकल सुभट एकहि सँग गारत ॥
मरे बिबुध नरनाह सकल चातुर गुनमंडित ।
बिगरो जनसमुदाय बिना पथदर्शक पंडित ॥
नए नए मत चले, नए झगरे नित बाढ़े ।
नए नए दुख परे सीस भारत पै गाढ़े ॥

'प्रेमघन' जी की कई बहुत ही प्रांजल और सरस कविताएँ उनके दोनों नाटकों में हैं। "भारत-सौभाग्य" नाटक चाहे खेलने योग्य न हो, पर देश-दशा पर वैसा बड़ा, अनूठा और मनोरंजक नाटक दूसरा नहीं लिखा गया। उसके प्रारंभ के अंकों में 'सरस्वती', 'लक्ष्मी' और 'दुर्गा' इन तीनों देवियों के भारत से क्रमशः प्रस्थान का दृश्य बड़ा ही भव्य है। इसी प्रकार उक्त तीनों देवियों के मुँह से बिदा होते समय जो कविताएँ कहलाई गई हैं, वे भी बड़ी मार्मिक हैं। 'हंसारूढ़ा सरस्वती' के चले जाने पर 'दुर्गा' कहती हैं —

आजु लौं रही अनेक भाँति धीर धारि कै ।
पै न भाव मोहिं बैठनो सु मौन मारि कै ॥
जाति हौं चली वहीं सरस्वती गई जहाँ ।

उद्धृत कविताओं में उनकी गद्यवाली चमत्कार-प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। अधिकांश कविताएँ ऐसी ही हैं। पर कुछ कविताएँ उनकी ऐसी भी हैं—जैसे, 'मयंक' और 'आनंद अरुणोदय'—जिनमें कहीं लंबे लंबे रूपक हैं और कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार।

यद्यपि ठाकुर जगमोहन सिंहजी अपनी कविता को नए विषयों की ओर नहीं ले गए, पर प्राचीन संस्कृत-काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिए हुए, अपनी प्रेमचर्य्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिंदी-काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था। जिस समय हिंदी-साहित्य का अभ्युदय हुआ, उस समय संस्कृत-काव्य अपनी प्राचीन विशेषता बहुत कुछ खो चुका था, इससे वह उसके पिछले रूप को ही लेकर चला। प्रकृति का जो सूक्ष्म निरीक्षण वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति में पाया जाता है, वह संस्कृत के पिछले कवियों में नहीं रह गया। प्राचीन संस्कृत कवि प्राकृतिक दृश्यों के विधान में कई वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना द्वारा "बिंब-ग्रहण" कराने का प्रयत्न करते थे। इस कार्य्य को अच्छी तरह संपन्न करके तब वे इधर उधर उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा थोड़ा बहुत अप्रस्तुत वस्तु-विधान भी कर देते थे। पर पीछे मुक्तकों में सूक्ष्म और संश्लिष्ट योजना के स्थान पर कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को अलग-अलग गिनाकर 'अर्थ-ग्रहण' कराने का प्रयत्न ही रह गया और प्रबंध-काव्यों के वर्णनों में उपमा और उत्प्रेक्षा की इतनी भरमार हो चली कि प्रस्तुत दृश्य गायब हो चला*।

यही पिछला विधान हमारे हिंदी साहित्य में आया। 'षट्-ऋतु-वर्णन' में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का जो उल्लेख होता था, वह केवल 'उद्दीपन' की दृष्टि से—अर्थात् नायक या नायिका के प्रति पहले से प्रतिष्ठित भाव को और जगाने या

---

* देखिए "माधुरी" (ज्येष्ठ, आषाढ़ १९८०) में प्रकाशित मेरा "काव्य में प्राकृतिक दृश्य"।

उद्दीप्त करने के लिये। इस काम के लिये कुछ वस्तुओं का अलग अलग नाम ले लेना ही काफी होता है। स्वयं प्राकृतिक दृश्यों के प्रति कवि के भाव का पता देनेवाले वर्णन पुराने हिंदी-काव्य में नहीं पाए जाते।

संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर हिंदी-काव्य के संस्कार का जो संकेत ठाकुर साहब ने दिया, खेद है कि उसकी ओर किसी ने ध्यान न दिया। प्राकृतिक वर्णन की इस प्राचीन भारतीय प्रणाली के संबंध में थोड़ा विचार करके हम आगे बढ़ते हैं। प्राकृतिक दृश्यों की ओर यह प्यार-भरी सूक्ष्म दृष्टि प्राचीन संस्कृत-काव्य की एक ऐसी विशेषता है जो फारसी या अरबी के काव्यक्षेत्र में नहीं पाई जाती। योरप के कवियों में जाकर ही यह मिलती है। अँगरेजी साहित्य में वर्ड्स्वर्थ, शेली और मेरडिथ (Wordsworth, Shelley, Meredith) आदि में उसी ढँग का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और मनोरम रूप-विधान पाया जाता है जैसा प्राचीन संस्कृत-साहित्य में। प्राचीन भारतीय और नवीन योरपीय दृश्य-विधान में पीछे थोड़ा लक्ष्य-भेद हो गया। भारतीय प्रणाली में कवि के भाव का आलंबन प्रकृति ही रही है, अतः उसके रूप का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का एक स्वतंत्र लक्ष्य दिखाई पड़ता है। पर योरपीय साहित्य में काव्य-निरूपण की बराबर बढ़ती हुई परंपरा के बीच धीरे धीरे यह मत प्रचार पाने लगा कि "प्राकृतिक दृश्यों का प्रत्यक्षीकरण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है; उनको लेकर कल्पना की एक नूतन सृष्टि खड़ी करना ही कवि-कर्म है"।

उक्त प्रवृत्ति के अनुसार कुछ पाश्चात्य कवियों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होनेवाली भावधारा का बहुत सुंदर उद्घाटन किया, पर बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप करके उन रूपों को अपनी अंतर्वृत्तियों से छोपने लगे।

अब इन दोनों प्रणालियों में से किस प्रणाली पर हमारे काव्य में दृश्य-वर्णन का विकास होना चाहिए, यह विचारणीय है। मेरे विचार में प्रथम प्रणाली का अनुसरण ही समीचीन है। अनंत रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओं का अनंत प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावों की व्यंजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की सचमुच व्यंजना कर रहे हैं, उन्हें छोड़ अपने परिमित अंतःकोटर की वासनाओं से उन्हें छोपना एक झूठे खेलवाड़ के ही अंतर्गत होगा। यह बात मैं स्वतंत्र दृश्यविधान के संबंध में कह रहा हूँ जिसमें दृश्य ही प्रस्तुत विषय होता है। जहाँ किसी पूर्व-प्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यंजित करने के लिये ही प्रकृति के क्षेत्र से वस्तु-व्यापार लिए जायँगे, वहाँ तो वे उस भाव में रँगे दिखाई ही देंगे। पद्माकर की विरहिणी का यह कहना कि "किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।" ठीक ही है। पर बराबर इसी रूप में प्रकृति को देखना दृष्टि को संकुचित करना है। अपने ही सुख-दुःख के रंग में रँगकर प्रकृति को देखा तो क्या देखा? मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना रूप भी है।

पं० अंबिकादत्त व्यास ने नए नए विषयों पर भी कुछ फुटकल कविताएँ रची हैं जो पुरानी पत्रिकाओं में निकली हैं। एक बार उन्होंने कुछ बेतुके पद्य भी आज़माइश के लिये बनाए थे, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं दिखाई पड़ी थी, क्योंकि उन्होंने हिंदी का कोई प्रचलित छंद लिया था।

भारतेंदु के सहयोगियों की बात यहीं समाप्त कर अब हम उन लोगों की ओर आते हैं जो उनकी मृत्यु के उपरांत मैदान में आए और जिन्होंने काव्य की भाषा और शैली में भी कुछ परिवर्तन उपस्थित किया। भारतेंदु के सहयोगी लेखक यद्यपि

देशकाल के अनुकूल नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त हुए, पर भाषा उन्होंने परंपरा से चली आती हुई व्रजभाषा ही रखी और छंद भी वे ही लिए जो व्रजभाषा में प्रचलित थे। पर भारतेंदु के गोलोकवास के थोड़े ही दिनों पीछे भाषा के संबंध में नए विचार उठने लगे। लोगों ने देखा कि हिंदी-गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई और उसमें साहित्य भी बहुत कुछ प्रस्तुत हो चुका, पर कविता की भाषा अभी व्रजभाषा ही बनी है। गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में, यह बात खटक चली। इसकी कुछ चर्चा भारतेंदु के समय में ही उठी थी, जिसके प्रभाव से उन्होंने 'दशरथ-विलाप' नाम की एक कविता खड़ी बोली में (फारसी छंद में) लिखी थी। कविता इस ढँग की थी—

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे।
बुढ़ापे में य दुख भी देखना था। इसी के देखने को मैं बचा था॥

यह कविता राजा शिवप्रसाद को बहुत पसंद आई थी और इसे उन्होंने अपने 'गुटका' में दाखिल किया था।

खड़ी बोली में पद्य-रचना एकदम कोई नई बात न थी। नामदेव और कबीर की रचना में हम खड़ी बोली का पूरा स्वरूप दिखा आए हैं और यह सूचित कर चुके हैं कि उसका व्यवहार अधिकतर सधुक्कड़ी भाषा के भीतर हुआ करता था। शिष्ट साहित्य के भीतर परंपरागत काव्य-भाषा व्रजभाषा का ही चलन रहा। इंशा ने अपनी 'रानी केतकी की कहानी' में कुछ ठेठ खड़ी बोली के पद्य भी उर्दू-छंदों में रखे। उसी समय में प्रसिद्ध कृष्णभक्त नागरीदास हुए। नागरीदास तथा उनके पीछे होनेवाले कुछ कृष्णभक्तों में इश्क़ की फ़ारसी पदावली और ग़ज़लबाज़ी का शौक़ दिखाई पड़ा। नागरीदास के 'इश्क़ चमन' का एक दोहा है—

कोइ न पहुँचा वहाँ तक आसिक नाम अनेक।
इश्क-चमन के बीच में आया मजनूँ एक॥

पीछे नज़ीर अकबराबादी ने (जन्म संवत् १७९७, मृत्यु १८७७) कृष्णलीला-संबंधी बहुत से पद्य हिंदी-खड़ी बोली में लिखे। वे एक मनमौजी सूफ़ी भक्त थे। उनके पद्यों के नमूने देखिए—

यारो सुनो य दधि के लुटैया का बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन॥
मोहन-सरूप नृत्य करैया का बालपन।
बन बन में ग्वाल गौवें चरैया का बालपन॥
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥
परदे में बालपन के ये उनके मिलाप थे।
जोती-सरूप कहिए जिन्हें सो वो आप थे॥

—

वाँ कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद डँडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंदललन मनमोहन जसुमत-दैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

लखनऊ के साह कुंदनलाल और फुंदनलाल 'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' नाम से प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त हुए हैं जिनका रचना-काल सं० १९१३ और १९३० के बीच समझना चाहिए। उन्होंने और कृष्णभक्तों के समान व्रजभाषा के अनेक पद तो बनाए ही हैं, खड़ी बोली में कई झूलना छंद भी लिखे हैं, जैसे—

जंगल में अब रमते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुषगंध न भाती है, सँग मरकट मोर सुहाता है॥

चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
'ललित किशोरी' इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

इसके उपरांत ही लावनीबाज़ों का समय आता है। कहते हैं कि मिरज़ापुर के तुकनगिरि गोसाईं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश के लिये लावनी की लय चलाई। लावनी की बोली खड़ी बोली रहती थी। तुकनगिरि के दो शिष्य रिसालगिरि और देवीसिंह प्रसिद्ध लावनीबाज़ हुए, जिनके आगे चल कर दो परस्पर प्रतिद्वंद्वी अखाड़े हो गए। रिसालगिरि का ढंग 'तुर्रा' कहलाया जिसमें अधिकतर ब्रह्मज्ञान रहता था। देवीसिंह का बाना 'सखी का बाना' और उनका ढंग 'कलगी' कहलाया जो भक्ति और प्रेम लेकर चलता था। लावनीबाज़ों में काशीगिरि उपनाम 'बनारसी' का बड़ा नाम हुआ। लावनियों में पीछे उर्दू के छंद अधिकतर लिए जाने लगे। 'ख़्याल' को भी लावनी के ही अंतर्गत समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कुछ पिछले कवि भी, जैसा कि हम दिखा आए हैं, इधर-उधर खड़ी बोली के दो-चार कवित्त-सवैए रच दिया करते थे। उधर लावनीबाज़ और ख़्यालबाज़ भी अपने ढंग पर कुछ ठेठ हिंदी में गाया करते थे। इस प्रकार खड़ी बोली की तीन छंद-प्रणालियाँ उस समय लोगों के सामने थीं जिस समय भारतेंदुजी के पीछे कविता की भाषा का सवाल लोगों के सामने आया—हिंदी के कवित्त-सवैया की प्रणाली, उर्दू-छंदों की प्रणाली और लावनी का ढंग। संवत् १९४३ में पं० श्रीधर पाठक ने इसी पिछले ढंग पर "एकांत-वासी योगी" खड़ी बोली-पद्य में निकाला। इसकी भाषा अधिकतर बोलचाल की और सरल थी। नमूना देखिए—

आज रात इससे परदेसी चल कीजे विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण, संकोच नहीं॥

तृण-शय्या औ अल्प रसोई पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो मेरा आसिर्वाद॥

× × × ×

प्रानपियारे की गुन-गाथा, साधु! कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥

इसके पीछे तो "खड़ी बोली" के लिये एक आंदोलन ही खड़ा हुआ। मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् १९४५ में उन्होंने 'खड़ी बोली आंदोलन' की एक पुस्तक छपाई जिसमें उन्होंने बड़े ज़ोर शोर से यह राय ज़ाहिर की कि अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रजभाषा की थी, हिंदी की नहीं। हिंदी में भी कविता हो सकती है। वे भाषातत्त्व के जानकार न थे। उनकी समझ में खड़ी बोली ही हिंदी थी। अपनी पुस्तक में उन्होंने खड़ी बोली-पद्य की पाँच स्टाइलें क़ायम की थीं—जैसे, मौलवी स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पंडित स्टाइल, मास्टर स्टाइल। उनकी पोथी में और पद्यों के साथ पाठकजी का "एकांतवासी योगी" भी दर्ज हुआ। और कई लोगों से भी अनुरोध करके उन्होंने खड़ी बोली की कविताएँ लिखाईं। चंपारन के प्रसिद्ध संस्कृत-विद्वान् और वैद्य पं० चंद्रशेखरधर मिश्र, जो भारतेंदुजी के मित्रों में थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी में भी बड़ी सुंदर और आशु कविता करते हैं। मैं समझता हूँ कि हिंदी-साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत-वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले-पहल मिश्रजी ने ही लिखे। बाबू अयोध्याप्रसादजी उनके पास भी पहुँचे और कहने लगे—"लोग कहते हैं कि खड़ी बोली में अच्छी कविता नहीं हो सकती। क्या आप भी यही कहते हैं? यदि नहीं, तो मेरी सहायता कीजिए।" उक्त पंडितजी ने कुछ

कविता लिखकर उन्हें दी, जिसे उन्होंने अपनी पोथी में शामिल किया। इसी प्रकार खड़ी बोली के पक्ष में जो राय मिलती, वह भी उसी पोथी में दर्ज होती जाती थी। धीरे धीरे एक बड़ा पोथा हो गया जिसे बग़ल में दबाए वे जहाँ कहीं हिंदी के संबंध में सभा होती, जा पहुँचते। यदि बोलने का अवसर न मिलता या कम मिलता तो वे बिगड़ कर चल देते थे।

काव्य खंड

नई धारा

द्वितीय उत्थान

(संवत् १९५०—१९७५)

पं० श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी' का उल्लेख खड़ी बोली की कविता के आरंभ के प्रसग में प्रथम उत्थान के अंतर्गत हो चुका है। उसकी सीधी-सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही ध्यान देने योग्य नहीं है, किंतु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी ध्यान देने योग्य है। किसी के प्रेम में योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छा कर रहना एक ऐसी भावना है जो समानरूप से सब देशों के और सब श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों के मर्म का स्पर्श स्वभावत: करती आ रही है। सीधी-सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिये ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है। भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिये पुराने प्रचलित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है; केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपरा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है।

पंडितों की बाँधी प्रणाली पर चलनेवाली काव्यधारा के साथ साथ सामान्य अपढ़ जनता के बीच एक स्वच्छंद और प्राकृतिक

भावधारा भी गीतों के रूप में चलती रहती है—ठीक उसी प्रकार जैसे बहुत काल से स्थिर चली आती हुई पंडितों की साहित्य-भाषा के साथ साथ लोकभाषा की स्वाभाविक धारा भी बराबर चलती रहती है। जब पंडितों की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य-परंपरा में नया जीवन डालता है। प्राकृत के पुराने रूपों से लदी अपभ्रंश जब लद्धड़ होने लगी तब शिष्ट काव्य प्रचलित देशी भाषाओं से शक्ति प्राप्त करके ही आगे बढ़ सका। यही प्राकृतिक नियम काव्य के स्वरूप के संबंध में भी अटल समझना चाहिए। जब जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँध कर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।

यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, जंगल-मैदानों आदि को भी समेटे चलती है। देश के स्वरूप के साथ यह संबद्ध चलती है। एक गीत में कोई ग्रामबधू अपने वियोग-काल की दीर्घता की व्यंजना अपने चिर-परिचित प्रकृति-व्यापार द्वारा इस भोले ढंग से करती है—

"जो नीम का प्यारा पौधा प्रिय अपने हाथ से द्वार पर लगा गया वह बड़ा होकर फूला और उसके फूल झड़ भी गए, पर प्रिय न आया।"

इस भावधारा की अभिव्यंजन-प्रणालियाँ वे ही होती हैं जिन पर जनता का हृदय इस जीवन में अपने भाव स्वभावतः ढालता आता है। हमारी भाव-प्रवर्त्तिनी शक्ति का असली भंडार

इसी स्वाभाविक भावधारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पंडितों की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पड़ कर रूढ़ हो जाती है तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी परिस्थिति में इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अंतर्भूमियों को परखकर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामंजस्य के रूप में हो, अंध प्रतिक्रिया के रूप में नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्त्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता (True romanticism) कहना चाहिए, क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।

इँगलैंड के जिस 'स्वच्छंदतावाद' (Romanticism) का इधर हिंदी में भी बराबर नाम लिया जाने लगा है उसके प्रारंभिक उत्थान के भीतर परिवर्त्तन के मूल प्राकृतिक आधार का स्पष्ट आभास रहा। पीछे कवियों की व्यक्तिगत, विद्यागत और बुद्धिगत प्रवृत्तियों और विशेषताओं के—जैसे, रहस्यात्मकता, दार्शनिकता, स्वातंत्र्यभावना, कलावाद आदि के—अधिक प्रदर्शन से वह कुछ ढँक सा गया। काव्य को पांडित्य की विदेशी रूढ़ियों से मुक्त और स्वच्छंद काउपर (Cowper) ने किया था, पर स्वच्छंद होकर जनता के हृदय में संचरण करने की शक्ति वह कहाँ से प्राप्त करे, यह स्काटलैंड के एक किसानी झोपड़े में रहनेवाले कवि बर्न्स (Burns) ने ही दिखाया था। उसने अपने देश के परंपरागत प्रचलित गीतों की मार्मिकता परख कर देशभाषा में रचनाएँ कीं, जिन्होंने वहाँ के सारे जन-समाज के हृदय में अपना घर किया। स्काट (Walter Scott)

ने भी देश की अंतर्व्यापिनी भावधारा से शक्ति लेकर साहित्य को अनुप्राणित किया था।

जिस परिस्थिति में अँगरेजी-साहित्य में स्वच्छंदतावाद का विकास हुआ उसे भी देखकर यह समझ लेना चाहिए कि रीति-काल के अंत में, या भारतेंदुकाल के अंत में हिंदी-काव्य की जो परिस्थिति थी वह कहाँ तक इँगलैंड की परिस्थिति के अनुरूप थी। सारे योरप में बहुत दिनों तक पंडितों और विद्वानों के लिखने-पढ़ने की भाषा लैटिन (प्राचीन रोमियों की भाषा) रही। फरासीसियों के प्रभाव से इँगलैंड की काव्य-रचना भी लैटिन की प्राचीन रूढ़ियों से जकड़ी जाने लगी। उस भाषा के काव्यों की सारी पद्धतियों का अनुसरण होने लगा। बँधी हुई अलंकृत पदावली, वस्तु-वर्णन की रूढ़ियाँ, छंदों की व्यवस्था सब ज्यों की त्यों रखी जाने लगीं। इस प्रकार अँगरेजी-काव्य, विदेशी काव्य और साहित्य की रूढ़ियों से इतना आच्छन्न हो गया कि वह देश की परंपरागत स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न सा हो गया। काउपर, क्रैब और बर्न्स ने काव्यधारा को साधारण जनता की नादरुचि के अनुकूल नाना मधुर लयों में तथा लोक-हृदय के ढलाव की नाना मार्मिक अंतर्भूमियों में स्वच्छंदता-पूर्वक ढाला। अँगरेजी साहित्य के भीतर काव्य का यह स्वच्छंद रूप पूर्व रूप से बहुत अलग दिखाई पड़ा। बात यह थी कि लैटिन (जिसके साहित्य का निर्माण बहुत कुछ यवनानी ढाँचे पर हुआ था) इँगलैंड के लिये दूर देश की भाषा थी अतः उसका साहित्य भी वहाँ के निवासियों के अपने चिर संचित संस्कार और भाव-व्यंजन-पद्धति से दूर पड़ता था।

पर हमारे साहित्य में रीति-काल की जो रूढ़ियाँ हैं वे किसी और देश की नहीं; उनका विकास इसी देश के साहित्य के भीतर संस्कृत में हुआ है। संस्कृत काव्य और उसी के अनुकरण पर

रचित प्राकृत-अपभ्रंश काव्य भी हमारा ही पुराना काव्य है, पर पंडितों और विद्वानों द्वारा रूपग्रहण करते रहने और कुछ बँध जाने के कारण जनसाधारण की भावमयी वाग्धारा से कुछ हटा सा लगता है। पर एक ही देश और एक ही जाति के बीच आविर्भूत होने के कारण दोनों में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं। अतः हमारे वर्त्तमान काव्यक्षेत्र में यदि अनुभूति की स्वच्छंदता की धारा प्रकृत पद्धति पर अर्थात् परंपरा से चले आते हुए मौखिक गीतों के मर्मस्थल से शक्ति लेकर चलने पाती तो वह अपनी ही काव्यपरंपरा होती—अधिक सजीव और स्वच्छंद की हुई।

रीति-काल के भीतर हम दिखा चुके हैं कि किस प्रकार रसों और अलंकारों के उदाहरणों के रूप में रचना होने से और कुछ छंदों की परिपाटी बँध जाने से हिंदी-कविता जकड़ सी उठी थी। हरिश्चंद्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नए नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छंदता का आभास पहले पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढ़ि-बद्ध रूपों तक ही न रह कर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा। 'गुनवंत हेमंत' में वे गाँवों में उपजनेवाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओं को भी प्रेम से सामने लाए जो परंपरागत ऋतु-वर्णनों के भीतर नहीं दिखाई पड़ती थीं। इसके लिये उन्हें पं० माधवप्रसाद मिश्र की बौछार भी सहनी पड़ी थी। उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिये सुंदर लय और चढ़ाव-उतार के कई नए ढाँचे भी निकाले और इस बात का ध्यान रखा कि छंदों का सुंदर लय से पढ़ना एक बात है, राग-रागिनी गाना दूसरी बात। ख्याल

या लावनी की लय पर जैसे 'एकांतवासी योगी' लिखा गया वैसे ही सुथरे-साइयों के सधुक्कड़ी ढंग पर 'जगत-सचाई-सार', जिसमें कहा गया कि 'जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा! इसका भेद'। 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके ताल सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है। इन सब बातों का विचार करने पर पं० श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छंदतावाद (Romanticism) के प्रवर्त्तक ठहरते हैं।

खेद है कि सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का यह मार्ग हमारे काव्यक्षेत्र के बीच चल न पाया। बात यह है कि उसी समय पिछले संस्कृत-काव्य के संस्कारों के साथ पं० महावीर-प्रसादजी द्विवेदी हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में आए जिनका प्रभाव गद्य-साहित्य और काव्य-निर्माण दोनों पर बहुत ही व्यापक पड़ा। हिंदी में परंपरा से व्यवहृत छंदों के स्थान पर संस्कृत के वृत्तों का चलन हुआ, जिसके कारण संस्कृत पदावली का समावेश बढ़ने लगा। भक्तिकाल और रीतिकाल की परिपाटी के स्थान पर पिछले संस्कृत-साहित्य की पद्धति की ओर लोगों का ध्यान बँटा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा बराबर कविता में बोलचाल की सीधी-सादी भाषा का आग्रह करते रहे जिससे इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लगने लगा। यह तो हुई द्वितीय उत्थान के भीतर की बात।

आगे चलकर तृतीय उत्थान में उक्त परिस्थिति के कारण जो प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई वह भी स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर न बढ़ने पाई। बीच में रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' की धूम उठ जाने के कारण नवीनता-प्रदर्शन के इच्छुक नए कवियों में से कुछ लोग तो बंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं की रूप-रेखा लाने में लगे, कुछ लोग पाश्चात्य काव्य-पद्धति को 'विश्व-साहित्य' का

लक्षण समझ उसके अनुसरण में तत्पर हुए। परिणाम यह हुआ कि अपने यहाँ के रीतिकाल की रूढ़ियों और द्वितीय उत्थान की इतिवृत्तात्मकता से छूट कर बहुत सी हिंदी-कविता विदेश की अनुकृत रूढ़ियों और वादों में जा फँसी। इने-गिने नए कवि ही स्वच्छंदता के मार्मिक और स्वाभाविक पथ पर चले।

"एकांतवासी योगी" के बहुत दिनों पीछे **पंडित श्रीधर पाठक** ने खड़ी बोली में और भी रचनाएँ कीं। खड़ी बोली की इनकी दूसरी पुस्तक "श्रांत पथिक" (गोल्डस्मिथ के Traveller का अनुवाद) निकली। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ भी पाठकजी ने बहुत सी लिखीं। मन की मौज के अनुसार कभी कभी ये एक ही विषय के वर्णन में दोनों बोलियों के पद्य रख देते थे। खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों में ये बराबर कविता करते रहे। ऊजड़ गाम (Deserted Village) इन्होंने ब्रजभाषा में ही लिखा। अँगरेजी और संस्कृत दोनों के काव्य-साहित्य का अच्छा परिचय रखने के कारण हिन्दी-कवियों में पाठकजी की रुचि बहुत ही परिष्कृत थी। शब्दशोधन में तो पाठकजी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली इनकी ब्रजभाषा होती थी, वैसा ही कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी। ये वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचिसंपन्न कवि थे। भद्दापन इनमें न था—न रूप रंग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में।

इनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए नए मार्ग भी निकाला करती थी। छंद, पदविन्यास, वाक्यविन्यास आदि के संबंध में नई नई बंदिशें इन्हें खूब सूझा करती थीं। अपनी रुचि के

अनुसार कई नए ढाँचे के छंद इन्होंने निकाले जो पढ़ने में बहुत ही मधुर लय पर चलते थे। यह छंद देखिए—

नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए,
गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात-मधुपान किए,
छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पल पल पर आकृति-कोर झुकावत।
यह मोर नचावत, सोर मचावत, स्वेत स्वेत बगपाँति उड़ावत॥
नंदन प्रसून-मकरंद-बिंदु-मिश्रित समीर बिनु धीर चलावत।

अंत्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होनेवाले गद्य के-से लंबे वाक्यों के छंद भी (जैसे अँगरेजी में होते हैं) इन्होंने लिखे हैं। 'सांध्य-अटन' का यह छंद देखिए—

बिजन बन-प्रांत था; प्रकृति-मुख शांत था,
अटन का समय था, रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥
सद्य-उत्फुल्ल-अरविंद-नभ नील सुवि-
शाल नभवक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

विश्व-संचालक परोक्ष संगीत-ध्वनि की ओर रहस्यपूर्ण संकेत 'स्वर्गीय वीणा' की इन पंक्तियों में देखिए—

कहीं पै स्वर्गीय कोइ बाला सुमंजु वीणा बजा रही है।
सुरों के संगीत की-सी कैसी सुरीली गुंजार आ रही है॥
कोई पुरंदर की किंकरी है कि या किसी सुर की सुंदरी है।
वियोग-तप्ता सी भोगमुक्ता हृदय के उद्गार गा रही है॥
कभी नई तान प्रेममय है, कभी प्रकोपन, कभी विनय है।
दया है, दाक्षिण्य का उदय है अनेकों बानक बना रही है॥
भरे गगन में हैं जितने तारे, हुए हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्मांड भर को मानो दो उँगलियों पर नचा रही है॥

यह कह आए हैं कि 'खड़ी बोली' की पहली पुस्तक "एकांतवासी योगी" इन्होंने लावनी या ख़्याल के ढँग पर लिखी थी। पीछे "खड़ी बोली" को हिंदी के प्रचलित छंदों में ले आए। 'श्रांत पथिक' की रचना इन्होंने रोला छंद में की। इसके आगे भी ये बढ़े, और यह दिखा दिया कि सवैए में भी खड़ी बोली कैसी मधुरता के साथ ढल सकती है—

इस भारत में बन पावन तू ही तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जगतत्त्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा वनवास की थी तब और; प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

पाठकजी कविता के लिये हर एक विषय ले लेते थे। समाज-सुधार के वे बड़े आकांक्षी थे; इससे विधवाओं की वेदना, शिक्षा-प्रचार ऐसे ऐसे विषय भी उनके क़लम के नीचे आया करते थे। विषयों को काव्य का पूरा पूरा स्वरूप देने में चाहे वे सफल न हुए हों, अभिव्यंजना के वाग्वैचित्र्य की ओर उनका ध्यान चाहे न रहा हो, गंभीर नूतन विचार-धारा चाहे उनकी कविताओं के भीतर कम मिलती हो, पर उनकी वाणी में कुछ ऐसा प्रसाद था कि जो बात उसके द्वारा प्रकट की जाती थी, उसमें सरसता आ जाती थी। अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठकजी ने सबसे अधिक किया, इससे हिंदी-प्रेमियों में वे प्रकृति के उपासक कहे जाते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उनकी यह उपासना प्रकृति के उन्हीं रूपों तक परिमित थी जो मनुष्य को सुखदायक और आनंदप्रद होते हैं, या जो भव्य और सुंदर होते हैं। प्रकृति के सीधे-सादे, नित्य आँखों के सामने आनेवाले, देश के परंपरागत जीवन से संबंध रखनेवाले दृश्यों की मधुरता की ओर उनकी दृष्टि कम रहती थी।

पं० श्रीधर पाठक का जन्म संवत् १९१६ में और मृत्यु सं० १९८५ में हुई।

भारतेंदु के पीछे और द्वितीय उत्थान के पहले ही हिंदी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि **पंडित अयोध्यासिंहजी उपाध्याय (हरिऔध)** नए विषयों की ओर चल पड़े थे। खड़ी बोली के लिये उन्होंने पहले उर्दू के छंदों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा, क्योंकि उर्दू के छंदों में खड़ी बोली अच्छी तरह मँज चुकी थी। संवत् १९५७ के पहले ही वे बहुत सी फुटकल रचनाएँ इस उर्दू ढंग पर कर चुके थे। नागरीप्रचारिणी सभा के गृहप्रवेशोत्सव के समय संवत् १९५७ में उन्होंने जो कविता पढ़ी थी, उसके ये चरण मुझे अब तक याद हैं—

> चार डग हमने भरे तो क्या किया।
> है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥
> मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
> खूब उर्दू जो न होवे जानता॥

इसके उपरांत तो वे बराबर इसी ढंग की कविता करते रहे। जब पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी के प्रभाव से खड़ी बोली ने संस्कृत छंदों और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया, तब उपाध्यायजी—जो गद्य में अपनी भाषा-संबंधिनी पटुता उसे दो हदों पर पहुँचाकर दिखा चुके थे—उस शैली की ओर भी बढ़े और संवत् १९७१ में उन्होंने अपना 'प्रिय-प्रवास' नामक बहुत बड़ा काव्य प्रकाशित किया।

नवशिक्षितों के संसर्ग से उपाध्यायजी ने लोक-संग्रह का भाव अधिक ग्रहण किया है। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण व्रज के रक्षक-नेता के रूप में अंकित किए गए हैं। खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा संस्कृत के वर्णवृत्तों में है जिसमें अधिक

परिमाण में रचना करना कठिन काम है। उपाध्यायजी का संस्कृत पद-विन्यास अनेक उपसर्गों से लदा तथा 'मंजु', 'मंजुल', 'पेशल' आदि से बीच बीच में जटित अर्थात् चुना हुआ होता है। द्विवेदीजी और उनके अनुयायी कवि-वर्ग की रचनाओं से उपाध्यायजी की रचना इस बात में साफ अलग दिखाई पड़ती है। उपाध्यायजी कोमलकान्तपदावली को कविता का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ समझते हैं। यद्यपि द्विवेदीजी अपने अनुयायियों के सहित जब इस संस्कृतवृत्त के मार्ग पर बहुत दूर तक चल चुके थे, तब उपाध्यायजी उस पर आए, पर वे बिल्कुल अपने ढँग पर चले। किसी प्रकार की रचना को हद पर—चाहे उस हद तक जाना अधिकतर लोगों को इष्ट न हो—पहुँचाकर दिखाने की प्रवृत्ति के अनुसार उपाध्यायजी ने अपने इस काव्य में कई जगह संस्कृत शब्दों की ऐसी लंबी लड़ी बाँधी है कि हिंदी को 'है', 'था', 'किया', 'दिया' ऐसी दो-एक क्रियाओं के भीतर ही सिमटकर रह जाना पड़ा है। पर सर्वत्र यह बात नहीं है। अधिकतर पदों में बड़े ढँग से हिंदी अपनी चाल पर चली चलती दिखाई पड़ती है।

यह काव्य अधिकतर भाव-व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली प्रेम की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना करती हुई बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबंध-काव्य के लिये भी अपर्याप्त है। अतः प्रबंध-काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते? किसी के वियोग में कैसी कैसी बातें मन में उठती हैं और क्या क्या कहकर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है। परंपरा-पालन के लिये जो दृश्य-वर्णन हैं वे किसी

बगीचे में लगे हुए पेड़-पौधों के नाम गिनने के समान हैं। इसी से शायद करील का नाम छूट गया।

दो प्रकार के नमूने उद्धृत करके हम आगे बढ़ते हैं—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेंदु-बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य-सन्मूर्ति थी॥

———

धीरे धीरे दिन गत हुआ; पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा बार आया॥
यों ही बीतीं विपुल घटिका औ कई बार बीते।
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आए॥

इस काव्य के उपरांत उपाध्यायजी का ध्यान फिर बोलचाल की ओर गया। इस बार उनका मुहावरों पर अधिक ज़ोर रहा। बोलचाल की भाषा में अनेक फुटकल विषयों पर उन्होंने कविताएँ रचीं जिनकी प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई मुहावरा अवश्य खपाया गया। ऐसी कविताओं का संग्रह 'चोखे चौपदे' (सं० १९८१) में निकला। 'पद्यप्रसून' (१९८२) में भाषा दोनों प्रकार की है—बोलचाल की भी और साहित्यिक भी। मुहावरों के नमूने के लिये "चोखे चौपदे" का एक पद्य दिया जाता है—

क्यों पले पीस कर किसी को तू ?
है बहुत पालिसी बुरी तेरी।
हम रहे चाहते पटाना ही;
पेट तुझ से पटी नहीं मेरी।

भाषा के दोनों नमूने ऊपर हैं। यही द्विकलात्मक कला उपाध्यायजी की बड़ी विशेषता है। इससे शब्द-भंडार पर इनका विस्तृत अधिकार प्रकट होता है। इनका एक और बड़ा काव्य, 'वैदेही-वनवास', जिसे ये बहुत दिनों से लिखते चले आ रहे थे, अब छप रहा है।

इस द्वितीय उत्थान के आरंभ-काल में हम **पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी** को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्त्तक के रूप में पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदीजी का पड़ा, उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है। खड़ी बोली के पद्यविधान पर भी आपका पूरा पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग ब्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। सरस्वती के संपादनकाल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे सरस्वती में दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे धीरे बहुत से कवियों की भाषा साफ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।

यह तो हुई भाषा-परिष्कार की बात। अब उन्होंने पद्य-रचना की जो प्रणाली स्थिर की, उसके संबंध में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। द्विवेदीजी कुछ दिनों तक बंबई की ओर रहे थे जहाँ मराठी के साहित्य से उनका परिचय हुआ। उसके साहित्य का प्रभाव उन पर बहुत कुछ पड़ा। मराठी कविता में अधिकतर संस्कृत के वृत्तों का व्यवहार होता है। पद-विन्यास भी प्रायः गद्य का सा ही रहता है। बंगभाषा की-सी 'कोमलकांतपदावली' उसमें नहीं पाई जाती। इसी मराठी के

नमूने पर द्विवेदीजी ने हिंदी में पद्य-रचना शुरू की। पहले तो उन्होंने ब्रजभाषा का ही अवलंबन किया। नागरीप्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित "नागरी तेरी यह दशा !" और रघुवंश का कुछ आधार लेकर रचित "अयोध्या का विलाप" नाम की उनकी कविताएँ संस्कृत वृत्तों में पर ब्रजभाषा में ही लिखी गई थीं। जैसे—

श्रीयुक्त नागरि निहारि दशा तिहारी।
होवै विषाद मन माहिं अतीव भारी॥

———

प्राकार जासु नभ-मंडल में समाने।
प्राचीर जासु लखि लोकप हू सकाने॥
जाकी समस्त सुनि संपति की कहानी।
नीचे नवाय सिर देवपुरी लजानी॥

इधर आधुनिक काल में ब्रजभाषा-पद्य के लिये संस्कृत वृत्तों का व्यवहार पहले-पहल स्वर्गीय पं० सरयूप्रसाद मिश्र ने रघुवंश महाकाव्य के अपने 'पद्यबद्ध भाषानुवाद' में किया था जिसका प्रारंभिक अंश भारतेंदु की "कवि-वचन-सुधा" में प्रकाशित हुआ था। पूरा अनुवाद बहुत दिनों पीछे संवत् १९६८ में पुस्तकाकार छपा। द्विवेदीजी ने आगे चलकर ब्रजभाषा एकदम छोड़ ही दी और खड़ी बोली में ही काव्य-रचना करने लगे।

मराठी का संस्कार तो था ही, पीछे जान पड़ता है, उनके मन में वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) का वह पुराना सिद्धांत भी कुछ जम गया था कि "गद्य और पद्य का पदविन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए।" पर यह प्रसिद्ध बात है कि वर्ड्स्वर्थ का वह सिद्धांत असंगत सिद्ध हुआ था और वह आप अपनी उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न कर सका था। द्विवेदीजी ने भी बराबर उक्त सिद्धांत के अनुकूल रचना नहीं

की है। अपनी कविताओं के बीच-बीच में सानुप्रास कोमल पदावली का व्यवहार उन्होंने किया है। जैसे—

> सुरम्यरूपे, रसराशि-रंजिते,
> विचित्र-वर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
> अलौकिकानंदविधायिनी महा
> कवींद्रकांते, कविते ! अहो कहाँ ?
> मांगल्य-मूलमय वारिद-वारि-वृष्टि ॥

पर उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोल-चाल की भाषा में होनी चाहिए। बोल-चाल से उनका मतलब ठेठ या हिंदुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् (Prosaic) हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—"गिरा-अर्थ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न' —भाषा से विचार अलग नहीं रह सकता। उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। 'यथा', 'सर्वथा', 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।

यद्यपि उन्होंने संस्कृत वृत्तों का व्यवहार अधिक किया है, पर हिंदी के कुछ चलते छंदों में भी उन्होंने बहुत सी कविताएँ (जैसे, विधि-विडम्बना) रची हैं जिनमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी कम है। अपना "कुमारसंभव-सार" उन्होंने इसी ढँग पर लिखा है। कुमार-संभव का यह अनुवाद बहुत ही उत्तम हुआ है। इसमें मूल के भाव बड़ी सफाई से आए हैं। संस्कृत के अनुवादों में मूल का भाव लाने के प्रयत्न में भाषा में प्रायः जटिलता आ जाया करती है। पर इसमें यह बात जरा भी नहीं

है। ऐसा साफ सुथरा दूसरा अनुवाद जो मैंने देखा है, वह पं० केशवप्रसादजी मिश्र का 'मेघदूत' है। द्विवेदीजी की रचनाओं के दो नमूने देकर हम आगे बढ़ते हैं।

आरोग्ययुक्त बलयुक्त सुपुष्ट गात,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है?

इंद्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमें, मुझसे कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य्य शरासन पाँच-कुसुम-सायक-धारी,
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज आज्ञाकारी॥

द्विवेदीजी की कविताओं का संग्रह "काव्यमंजूषा" नाम की पुस्तक में हुआ है। उनकी कविताओं के दूसरे संग्रह का नाम 'सुमन' है।

द्विवेदीजी के प्रभाव और प्रोत्साहन से हिंदी के कई अच्छे अच्छे कवि निकले जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय और पं० लोचनप्रसाद पांडेय मुख्य हैं।

'सरस्वती' का संपादन द्विवेदीजी के हाथ में आने के प्राय: तीन वर्ष पीछे (सं० १९६३ से) **बाबू मैथिलीशरण गुप्त** की खड़ी बोली की कविताएँ उक्त पत्रिका में निकलने लगीं और उनके संपादन-काल तक बराबर निकलती रहीं। संवत् १९६६ में उनका 'रंग में भंग' नामक एक छोटा सा प्रबंध-काव्य प्रकाशित हुआ जिसकी रचना चित्तौड़ और बूँदी के राजघरानों से संबंध रखनेवाली राजपूती आन की एक कथा को लेकर हुई थी। तब से गुप्तजी का ध्यान प्रबंध-काव्यों की ओर बराबर

रहा और वे बीच बीच में छोटे या बड़े प्रबंध-काव्य लिखते रहे। गुप्तजी की ओर पहले-पहल हिंदी-प्रेमियों का सबसे अधिक ध्यान खींचनेवाली उनकी 'भारत-भारती' निकली। इसमें 'मुसद्दस हाली' के ढंग पर भारतीयों की या हिंदुओं की भूत और वर्त्तमान दशाओं की विषमता दिखाई गई है; भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है। यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विधान इसमें न था, पर बीच बीच में मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी-सादी भाषा में होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिंदी-कविता के लिये खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी। इसी के ढंग पर बहुत दिनों पीछे इन्होंने 'हिंदू' लिखा। 'केशों की कथा', 'स्वर्ग-सहोदर' इत्यादि बहुत सी फुटकल रचनाएँ इनकी 'सरस्वती' में निकली हैं, जो 'मंगल घट' में संगृहीत हैं।

प्रबंध-काव्यों की परंपरा इन्होंने बराबर जारी रखी। अब तक ये नौ दस छोटे-बड़े प्रबंध-काव्य लिख चुके हैं जिनके नाम हैं—रंग में भंग, जयद्रथ-बध, विकट भट, पलासी का युद्ध, गुरुकुल, किसान, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत, यशोधरा। अंतिम दो बड़े काव्य हैं। 'विकट भट' में जोधपुर के एक राजपूत सरदार की तीन पीढ़ियों तक चलनेवाली बात की टेक की अद्भुत पराक्रम-पूर्ण कथा है। 'गुरुकुल' में सिख गुरुओं के महत्त्व का वर्णन है। छोटे काव्यों में 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' का स्मरण अधिकतर लोगों को है। गुप्तजी के छोटे काव्यों की प्रसंग-योजना भी प्रभावशालिनी है और भाषा भी बहुत साफ सुथरी है।

'वैतालिक' की रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति खड़ी बोली में गीत-काव्य प्रस्तुत करने की ओर भी हो गई।

यद्यपि गुप्तजी जगत् और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्त्व और सौंदर्य्य का दर्शन करनेवाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखनेवाले कवि हैं, पर तृतीय उत्थान में 'छायावाद' के नाम से रहस्यात्मक कविताओं का कलरव सुन इन्होंने भी कुछ गीत रहस्यवादियों के स्वर में गाए जो 'झंकार' में संगृहीत हैं। पर असीम के प्रति उत्कंठा और लंबी-चौड़ी वेदना का विचित्र प्रदर्शन गुप्तजी की अंतःप्रेरित प्रवृत्ति के अंतर्गत नहीं। काव्य का एक मार्ग चलता देख ये उधर भी जा पड़े।

'साकेत' और 'यशोधरा' इनके दो बड़े प्रबंध हैं। दोनों में उनके काव्यत्व का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबंधत्व की कमी है। बात यह है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्तजी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) की ओर हो चुकी थी। 'साकेत' की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उर्मिला 'काव्य की उपेक्षिता' न रह जाय। पूरे दो सर्ग (९ और १०) उसके वियोग-वर्णन में खप गए हैं। इस वियोग-वर्णन के भीतर कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक चमत्कारपूर्ण पद्य तथा आजकल की नई रंगत की वेदना और लाक्षणिक वैचित्र्यवाले गीत दोनों रखे हैं। काव्य का नाम 'साकेत' रखा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसमें अयोध्या में होनेवाली घटनाओं और परिस्थितियों का ही वर्णन प्रधान है। राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में राम-भरत मिलन तक की कथा आठ सर्गों तक चलती है। उसके उपरांत दो सर्गों तक उर्मिला की वियोगावस्था की नाना अंतर्वृत्तियों का विस्तार है जिसके बीच बीच में अत्यंत उच्च भावों की व्यंजना है। सूरदास की गोपियाँ वियोग में कहती हैं कि—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
विरह-वियोग श्यामसुंदर के काहे न उकठि परे ?

पर उर्मिला कहती है—

रह चिर दिन तू हरी भरी,
बढ़, सुख से बढ़, सृष्टि सुंदरी !

प्रेम के शुभ प्रभाव से उर्मिला के हृदय की उदारता का और भी प्रसार हो गया है। वियोग की दशा में प्रिय लक्ष्मण के गौरव की भावना उसे सँभाले हुए है। उन्माद की अवस्था में जब लक्ष्मण उसे सामने खड़े जान पड़ते हैं तब उस भावना को गहरा आघात पहुँचता है और वह व्याकुल होकर कहने लगती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे, अहो ! तो गिरे, गिरे ।

दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ शत्रुघ्न के मुँह से मांडवी और भरत के सामने पूरी रसात्मकता के साथ वर्णन कराई गई हैं। रामायण के भिन्न भिन्न पात्रों के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूपों को विकृत न करके उनके भीतर ही आधुनिक आंदोलनों की भावनाएँ—जैसे किसानों और श्रमजीवियों के साथ समानुभूति, युद्ध-प्रथा की मीमांसा, राज्य-व्यवस्था में प्रजा का अधिकार और सत्याग्रह, विश्वबंधुत्व, मनुष्यत्व—कौशल के साथ झलकाई गई हैं। किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परंपरा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।

'यशोधरा' की रचना नाटकीय ढंग पर है। उसमें भगवान् बुद्ध के चरित्र से संबंध रखनेवाले पात्रों के उच्च और सुंदर भावों की व्यंजना और परस्पर कथोपकथन हैं, जिनमें कहीं कहीं गद्य भी है। भाव-व्यंजना प्रायः गीतों में है।

'द्वापर' में यशोदा, राधा, नारद, कंस, कुब्जा इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का अलग अलग मार्मिक चित्रण है। नारद और कंस की मनोवृत्तियों के स्वरूप तो बहुत ही विशद और समन्वित रूप में सामने रखे गए हैं।

गुप्तजी ने 'अनघ', 'तिलोत्तमा' और 'चंद्रहास' नामक तीन छोटे छोटे पद्यबद्ध रूपक भी लिखे हैं। 'अनघ' में कवि ने लोक-व्यवस्था के संबंध में उठी हुई आधुनिक भावनाओं और विचारों का अवस्थान प्राचीन काल के भीतर ले जाकर किया है। वर्त्तमान किसान आंदोलन का रंग प्रधान है।

गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति। इस दृष्टि से हिंदी-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि ये निस्संदेह कहे जा सकते हैं। भारतेंदु के समय से स्वदेश-प्रेम की भावना जिस रूप में चली आ रही थी उसका विकास 'भारत-भारती' में मिलता है। इधर के राजनीतिक आंदोलनों ने जो रूप धारण किया उसका पूरा आभास पिछली रचनाओं में मिलता है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्वप्रेम, किसानों और श्रमजीवियों के प्रति प्रेम और सम्मान, सब की झलक हम पाते हैं।

गुप्तजी की रचनाओं के भीतर तीन अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। प्रथम अवस्था भाषा की सफाई की है जिसमें खड़ी बोली के पद्यों की मसृणबंध रचना हमारे सामने आती है। 'सरस्वती' में प्रकाशित अधिकांश कविताएँ तथा 'भारत-भारती' इस अवस्था की रचना के उदाहरण हैं। ये रचनाएँ काव्यप्रेमियों को कुछ गद्यवत्, रूखी और इतिवृत्तात्मक लगती थीं। इनमें सरस और कोमल पदावली की कमी भी खटकती थी। बात यह है कि यह खड़ी बोली के परिमार्जन का काल था। इसके

अनंतर गुप्तजी ने बंगभाषा की कविताओं का अनुशीलन तथा मधुसूदन दत्त रचित अजांगना, मेघनाद-वध आदि का अनुवाद भी किया। इससे इनकी पदावली में बहुत कुछ सरसता और कोमलता आई, यद्यपि कुछ ऊबड़-खाबड़ और अन्यवहृत संस्कृत शब्दों की ठोकरें कहीं कहीं, विशेषत: छोटे छंदों के चरणांत में, अब भी लगती हैं। 'भारत-भारती' और 'वैतालिक' के बीच की रचनाएँ इस दूसरी अवस्था के उदाहरण में ली जा सकती हैं। उसके उपरांत 'छायावाद' कही जानेवाली कविताओं का चलन होता है और गुप्तजी का कुछ झुकाव प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) और अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर भी हो जाता है। इस झुकाव का आभास 'साकेत' और 'यशोधरा' में भी पाया जाता है। यह तीसरी अवस्था है।

गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं; प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करनेवाले अथवा मद में झूमने (या 'झीमने') वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होनेवाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें हैं। इनकी रचना के कई प्रकार के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।
वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का।
सब धन विदेशी हर रहे हैं, पार है क्या क्लेश का ?

(भारत-भारती)

———

थे, हो और रहोगे जब तुम, थी, हूँ और सदैव रहूँगी।
कल निर्मल जल की धारा सी आज यहाँ, कल वहाँ बहूँगी।

दूती ! बैठी हूँ सज कर मैं ।
ले चल शीघ्र मिलूँ प्रियतम से धाम धरा धन सब तज कर मैं ।

× × × ×

अच्छी आँख-मिचौनी खेली !
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली ।

× × × ×

निकल रही है उर से आह ।
ताक रहे सब तेरी राह ।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी ।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी ।

(झंकार)

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे ।
छींटे वही उड़े थे, बड़े बड़े अश्रु वे कब थे !

× × × ×

सखि, नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा ! तरता तरता ।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता ।
अपने-हिमबिंदु बचे तब भी, चलता उनको धरता धरता ।
गड़ जायँ न कंटक भूतल के, कर डाल रहा डरता डरता ।

आकाशजाल सब ओर तना,
रवि तंतुवाय है आज बना;
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी सी भिन्ना रही मही ।

घटना हो चाहे घटा, उठ नीचे से नित्य ।
आती है ऊपर, सखी ! छा कर चंद्रादित्य ।।
इंद्रबधू आने लगी क्यों निज स्वर्ग विहाय !
नन्हीं दूबों का हृदय निकल पड़ा यह, हाय ।

इस उत्पल से काय में, हाय ! उपल से प्राण।
रहने दे बक ध्यान यह, पावें ये दृग त्राण ॥

× × × ×

वेदने ! तू भी भली बनी।
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी।
अरी वियोग-समाधि अनोखी, तू क्या ठीक ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को देखूँ खिंची तनी।

× × × ×

हा ! मेरे कुंजों का कूजन रो कर, निराश होकर सोया।
यह चंद्रोदय उसको उढ़ा रहा है धवल वसन-सा धोया ॥

× × × ×

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अंतस्तल भरके, उछल उछल कर छल छल करके,
थल थल तर के, कल कल धर के बिखराती है पारा।

× × × ×

ओ मेरे मानस के हास !
खिल सहस्रदल, सरस सुवास।

× × × ×

स्वजनि, रोता है मेरा गान।
प्रिय तक नहीं पहुँच पाती है उसकी कोई तान।

× × × ×

बस इसी प्रिय-कानन-कुंज में—
मिलन भाषण के स्मृति-पुंज में—
अभय छोड़ मुझे तुम दीजियो,
हसन-रोदन से न पसीजियो।

('साकेत')

स्वर्गीय **पं० रामचरित उपाध्याय** का जन्म सं० १९२९ में गाजीपुर में हुआ था, पर पिछले दिनों में वे आजमगढ़ के पास एक गाँव में रहने लगे थे। कुछ वर्ष हुए उनका देहांत हो गया। वे संस्कृत के अच्छे पंडित थे और पहले पुराने ढंग की हिंदी-कविता की ओर उनकी रुचि थी। पीछे 'सरस्वती' में जब खड़ी बोली की कविताएँ निकलने लगीं तब वे नए ढंग की रचना की ओर बढ़े और द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से बराबर उक्त पत्रिका में अपनी रचनाएँ भेजते रहे। 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'देवी द्रौपदी', 'भारत भक्ति', 'विचित्र विवाह' इत्यादि अनेक कविताएँ उन्होंने खड़ी बोली में लिखी हैं। छोटी कविताएँ अधिकतर विदग्ध भाषण के रूप में हैं। 'रामचरित-चिंतामणि' नामक एक बड़ा प्रबंधकाव्य भी उन्होंने लिखा है जिसके कई एक प्रसंग बहुत सुंदर बन पड़े हैं, जैसे— अंगद-रावण-संवाद। भाषा उनकी साफ होती थी और कुछ वैदग्ध्य के साथ चलती थी। अंगद-रावण-संवाद की ये पंक्तियाँ देखिए—

कुशल से रहना यदि है तुम्हें,
दनुज ! तो फिर गर्व न कीजिए।
शरण में गिरिए रघुनाथ के;
निबल के बल केवल राम हैं।

× × × ×

सुन कपे ! यम, इंद्र, कुवेर की
न हिलती रसना मम सामने।
तदपि आज मुझे करना पड़ा
मनुज-सेवक से बकवाद भी।
यदि कपे ! मम राक्षस-राज का
स्तवन है तुझसे न किया गया;

कुछ नहीं डर है; पर क्यों वृथा
निलज ! मानव-मान बढ़ा रहा ?

दूसरे संस्कृत के विद्वान् जिनकी कविताएँ 'सरस्वती' में बराबर छपती रहीं झालरापाटन के **पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न** हैं। 'सरस्वती' के अतिरिक्त हिंदी के और पत्रों तथा पत्रिकाओं में भी ये अपनी कविताएँ भेजते रहे। राजपूताने से निकलनेवाले 'विद्याभास्कर' नामक एक पत्र का संपादन भी इन्होंने कुछ दिन किया था। मालवा और राजपूताने में हिंदी-साहित्य के प्रचार में इन्होंने बड़ा काम किया है। नवरत्न जी संस्कृत के भी अच्छे कवि हैं। गोल्डस्मिथ के Hermit या 'एकांतवासी योगी' का इन्होंने संस्कृत श्लोकों में अनुवाद किया है। हिंदी में भी इनकी रचनाएँ कम नहीं। कुछ पुस्तकें लिखने के अतिरिक्त अनुवाद भी कई पुस्तकों का किया है। रवींद्र बाबू की 'गीतांजलि' का हिंदी-पद्यों में इनका अनुवाद बहुत पहले निकला था। माघ के 'शिशुपाल-वध' के दो सर्गों का अनुवाद 'हिंदी माघ' के नाम से इन्होंने संवत् १९८५ में किया था। पहले ये व्रजभाषा के कवित्त आदि रचते थे जिनमें कहीं कहीं खड़ी बोली का भी आभास रहता था। शुद्ध खड़ी बोली के भी कुछ कवित्त इनके मिलते हैं। 'सरस्वती' में प्रकाशित इनकी कविताएँ अधिकतर इतिवृत्तात्मक या गद्यवत् हैं, जैसे—

मैं जो नया ग्रंथ विलोकता हूँ,
भाता मुझे सो नव मित्र सा है।
देखूँ उसे मैं नित बार बार,
मानों मिला मित्र मुझे पुराना ॥
'ब्रह्मन्. तजो पुस्तक-प्रेम आप,
देता अभी हूँ यह राज्य सारा'
कहे मुझे यों यदि चक्रवर्ती,
'ऐसा न राजन् ! कहिए', कहूँ मैं।

पं० लोचनप्रसाद पांडेय बहुत छोटी अवस्था से कविता करने लगे थे। संवत् १९६२ से इनकी कविताएँ 'सरस्वती' तथा और मासिक पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। इनकी रचनाएँ कई ढंग की हैं—कथा-प्रबंध के रूप में भी और फुटकल प्रसंग के रूप में भी। चित्तौड़ के भीमसिंह के अपूर्व स्वत्व-त्याग की कथा नंददास की रास-पंचाध्यायी के ढंग पर इन्होंने लिखी है। "मृगी-दुःखमोचन" में इन्होंने खड़ी बोली के सवैयों में एक मृगी की अत्यंत दारुण परिस्थिति का वर्णन सरस भाषा में किया है जिससे पशुओं तक पहुँचनेवाली इनकी व्यापक और सर्वभूत-दयापूर्ण काव्यदृष्टि का पता चलता है। इनका हृदय कहीं कहीं पेड़-पौधों तक की दशा का मार्मिक अनुभव करता पाया जाता है। यह भावुकता इनकी अपनी है। भाषा की गद्यवत् सरल सीधी गति उस रचना-प्रवृत्ति का पता देती है जो द्विवेदीजी के प्रभाव से उत्पन्न हुई थी। पर इनकी रचनाओं में खड़ी बोली का वैसा स्वच्छ और निखरा रूप नहीं मिलता जैसा गुप्तजी की उस समय की रचनाओं में मिलता है। कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

चढ़ जाते पहाड़ों में जाके कभी, कभी झाड़ों के नीचे फिरैं बिचरैं।
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें, कभी मीठी हरी हरी घास चरैं।
सरिता-जल में प्रतिबिंब लखैं निज, शुद्ध कहीं जल पान करैं।
कहीं मुग्ध हो झर्झर निर्झर से तरु-कुंज में जा तप-ताप हरैं॥
रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के पादपों की अति छाया घनी।
चर के तृण आते, थके वहाँ बैठते थे मृग औ उसकी घरनी।
पगुराते हुए दृग मूँदे हुए वे मिटाते थकावट थे अपनी।
खुर से कभी कान खुजाते, कभी सिर सींग पै धारते थे टहनी॥

(मृगीदुःखमोचन)

सुमन विटप वल्ली काल की क्रूरता से।
झुलस जब रही थीं ग्रीष्म की उग्रता से॥
उस कुसमय में हा! भाग्य-आकाश तेरा।
अयि नव लतिके! था घोर आपत्ति-घेरा॥
अब तब बुझता था जीवनालोक तेरा।
यह लख उर होता दुःख से दग्ध मेरा॥

इन प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त और न जाने कितने कवियों ने खड़ी बोली में फुटकल कविताएँ लिखीं जिन पर द्विवेदीजी का प्रभाव स्पष्ट झलकता था। ऐसी कविताओं से मासिक-पत्रिकाएँ भरी रहती थीं। जो कविता को अपने से दूर की वस्तु समझते थे वे भी गद्य में चलनेवाली भाषा को पद्यबद्ध करने का अभ्यास करने लगे। उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होने लगीं। उनके संबंध में यह स्पष्ट समझ रखना चाहिए कि वे अधिकतर इतिवृत्तात्मक गद्य-निबंध के रूप में होती थीं। फल इसका यह हुआ कि काव्य-प्रेमियों को उनमें काव्यत्व नहीं दिखाई पड़ता था और वे खड़ी-बोली की अधिकांश कविता को 'तुकबंदी' मात्र समझने लगे थे। आगे चलकर तृतीय उत्थान में इस परिस्थिति के विरुद्ध गहरा प्रतिवर्त्तन (Re-action) हुआ।

यहाँ तक तो उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से अथवा उनके आदर्श के अनुकूल रचनाएँ कीं। पर इस द्वितीय उत्थान के भीतर अनेक ऐसे कवि भी बराबर अपनी वाग्धारा बहाते रहे जो अपना स्वतंत्र मार्ग पहले से निकाल चुके थे और जिन पर द्विवेदीजी का कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता।

द्विवेदी-मंडल के बाहर की काव्य-भूमि

द्विवेदीजी के प्रभाव से हिंदी-काव्य ने जो स्वरूप प्राप्त किया उसके अतिरिक्त और अनेक रूपों में भी भिन्न भिन्न कवियों की काव्यधारा चलती रही। कई एक बहुत अच्छे कवि अपने अपने ढंग पर सरस और प्रभावपूर्ण कविता करते रहे जिनमें मुख्य राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथूराम शंकर शर्म्मा, पं० गया-प्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवान-दीन, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० रूपनारायण पांडेय हैं।

इन कवियों में से अधिकांश तो दो-रंगी कवि थे जो ब्रजभाषा में तो श्रृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त-सवैयों या गेय पदों में करते आते थे और खड़ी बोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे। बात यह थी कि खड़ी बोली का प्रचार बराबर बढ़ता दिखाई देता था और काव्य के प्रवाह के लिये कुछ नई नई भूमियाँ भी दिखाई पड़ती थीं। देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण-संबंधी उपदेश आदि ही तक नई धारा की कविता न रह कर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी, पर गहराई के साथ नहीं। त्याग, वीरता, उदारता, सहिष्णुता इत्यादि के अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग पद्यबद्ध हुए जिनके बीच बीच में जन्मभूमि-प्रेम, स्वजाति-गौरव, आत्म-सम्मान की व्यंजना करनेवाले जोशीले भाषण रखे गए। जीवन की गूढ़, मार्मिक या रमणीय परिस्थितियाँ झलकाने के लिये नूतन कथा-प्रसंगों की कल्पना या उद्भावना की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ी। केवल पं० रामनरेश त्रिपाठी ने कुछ ध्यान कल्पित प्रबंध की ओर दिया।

दार्शनिकता का पुट राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की रचनाओं में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है, पर किसी दार्शनिक तथ्य को हृदय-

ग्राह्य रसात्मक रूप देने का प्रयास उनमें भी नहीं पाया जाता। उनके "वसंत-वियोग" में भारत-दशा-सूचक प्राकृतिक विभूति के नाना चित्रों के बीच बीच में कुछ दार्शनिक तत्त्व रखे गए हैं और अंत में आकाशवाणी द्वारा भारत के कल्याण के लिये कर्मयोग और भक्ति का आदेश दिलाया गया है। प्रकृति-वर्णन की ओर हमारा काव्य कुछ अधिक अग्रसर हुआ पर प्रायः वहीं तक रहा जहाँ तक उसका संबंध मनुष्य के सुख-सौंदर्य की भावना से है। प्रकृति के जिन सामान्य रूपों के बीच नर-जीवन का विकास हुआ है, जिन रूपों से हम बराबर घिरे रहते आए हैं उनके प्रति वह राग या ममता न व्यक्त हुई जो चिर सहचरों के प्रति स्वभावतः हुआ करती है। प्रकृति के प्रायः वे ही चटकीले भड़कीले रूप लिए गए जो सजावट के काम के समझे गए। सारांश यह कि जगत् और जीवन के नाना रूपों और तथ्यों के बीच हमारे हृदय का प्रसार करने में वाणी वैसी तत्पर न दिखाई पड़ी।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का उल्लेख 'पुरानी धारा' के भीतर हो चुका है। वे व्रजभाषा-काव्य परंपरा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे और जब तक जीवित रहे, अपने 'रसिक समाज' द्वारा उस परंपरा की पूरी चहल-पहल बनाए रहे। उक्त समाज की ओर से 'रसिक-वाटिका' नाम की एक पत्रिका निकलती थी जिसमें उस समय के प्रायः सब व्रजभाषा कवियों की सुंदर रचनाएँ छपती थीं। जब संवत् १९७७ में पूर्णजी का देहावसान हुआ उस समय उक्त समाज निरवलंब सा हो गया, और—

> रसिक समाजी ह्वै चकोर चहुँ ओर हेरैं,
>
> कविता को पूरन कलानिधि कितै गयो। (रतनेश)

'पूर्ण'जी सनातनधर्म के बड़े उत्साही अनुयायी तथा अध्यवसायशील व्यक्ति थे। उपनिषद् और वेदांत में उनकी अच्छी गति

थी। सभा-समाजों के प्रति उनका बहुत उत्साह रहता था और उनके अधिवेशनों में वे अवश्य कोई न कोई कविता पढ़ते थे। देश में चलनेवाले आंदोलनों (जैसे, स्वदेशी) को भी उनकी वाणी प्रतिध्वनित करती थी। भारतेंदु, प्रेमघन आदि प्रथम उत्थान के कवियों के समान 'पूर्ण'जी में भी देशभक्ति और राजभक्ति का समन्वय पाया जाता है। बात यह है कि उस समय तक देश के राजनीतिक प्रयत्नों में अवरोध और विरोध का बल नहीं आया था और लोगों की पूरी तरह धड़क नहीं खुली थी। अतः उनकी रचना में यदि एक ओर 'स्वदेशी' पर देशभक्ति-पूर्ण पद्य मिलें और दूसरी ओर सन् १९११ वाले दिल्ली दरबार के ठाटबाट का वर्णन, तो आश्चर्य न करना चाहिए।

प्रथम उत्थान के कवियों के समान 'पूर्ण' जी पहले नूतन विषयों की कविता भी ब्रजभाषा में करते थे जैसे—

> विगत आलस की रजनी भई। रुचिर उद्यम की द्युति छै गई;
> उदित सूरज है नव भाग को। अरुन रंग नए अनुराग को॥
> तजि बिछौनन को अब भागिए। भरत खंड प्रजागण जागिए॥

इसी प्रकार 'संग्राम-निंदा' आदि अनेक विषयों पर उनकी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हैं। पीछे खड़ी बोली की कविता का प्रचार बढ़ने पर बहुत सी रचना उन्होंने खड़ी बोली में भी की, जैसे, 'अमलतास', 'वसंत-वियोग', 'स्वदेशी कुंडल' 'नए सन् (१९१०) का स्वागत', 'नवीन संवत्सर (१९६७) का स्वागत' इत्यादि। 'स्वदेशी', देशोद्धार आदि पर उनकी अधिकांश रचनाएँ इतिवृत्तात्मक पद्यों के रूप में हैं। 'वसंत-वियोग' बहुत बड़ी कविता है जिसमें कल्पना अधिक सचेष्ट मिलती है। उसमें भारत-भूमि की कल्पना एक उद्यान के रूप में की गई है।

प्राचीन काल में यह उद्यान सत्त्वगुण-प्रधान, तथा प्रकृति की सारी विभूतियों से संपन्न था और इसके माली देवतुल्य थे। पीछे मालियों के प्रमाद और अनैक्य से उद्यान उजड़ने लगता है। यद्यपि कुछ यशस्वी महापुरुष (विक्रमादित्य ऐसे) कुछ काल के लिये उसे सँभालते दिखाई पड़ते हैं, पर उसकी दशा गिरती ही जाती है। अंत में उसके माली साधना और तपस्या के लिये कैलास-मानसरोवर की ओर जाते हैं जहाँ आकाशवाणी होती है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी में जब 'पश्चिमी शासन' होगा तब उन्नति का आयोजन होगा। 'अमल्तास' नाम की छोटी सी कविता में कवि ने अपने प्रकृति-निरीक्षण का भी परिचय दिया है। ग्रीष्म में जब वनस्थली के सारे पेड़-पौधे झुलसे से रहते हैं और कहीं प्रफुल्लता नहीं दिखाई देती है, उस समय अमलतास चारों ओर फूलकर अपनी पीत प्रभा फैला देता है। इससे कवि भक्ति के महत्त्व का संकेत ग्रहण करता है—

देख तव वैभव, द्रुमकुल-संत ! विचारा उसका सुखद निदान।
करे जो विषम काल को मंद, गया उस सामग्री पर ध्यान॥
रँगा निज प्रभु ऋतुपति के रंग, द्रुमों में अमल्तास तू भक्त।
इसी कारण निदाघ प्रतिकूल, दहन में तेरे रहा अशक्त॥

'पूर्ण' जी की कविताओं का संग्रह 'पूर्ण-संग्रह' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनकी खड़ी बोली की रचना के कुछ उद्धरण दिए जाते हैं—

नंदनवन का सुना नहीं है किसने नाम,
मिलता है जिसमें देवों को भी आराम।
उसके भी बासी सुखरासी, उग्र हुआ यदि उनका भाग।
आकर के इस कुसुमाकर में करते हैं नंदन-रुचि त्याग॥

× × × ×

है उत्तर में कोट शैल सम तुंग विशाल,
विमल सघन हिम-वलित ललित धवलित सब काल।

× × × ×

हे नर दक्षिण! इसके दक्षिण, पश्चिम, पूर्व
हैं अपार जल से परिपूरित कोश अपूर्व।
पवन देवता गगन-पंथ से सुघन-घटों में लाकर नीर,
सींचा करते हैं यह उपवन करके सदा कृपा गंभीर।

× × × ×

कर देते हैं बाहर भुनगों का परिवार,
तब करते हैं कोश उदुंबर का आहार।
पक्षीगृह विचार तरुगण को नहीं हिलाते हैं गजवृंद।
हंस भृंग-हिंसा के भय से खाते नहीं बंद अरविंद॥
धेनुवत्स जब छक जाते हैं पीकर छीर,
तब कुछ दुहते हैं गौओं को चतुर अहीर।
लेते हैं हम मधुकोशों से मधु जो गिरे आप ही आप।
मक्खी तक निदान इस थल की पाती नहीं कभी संताप॥

(वसंत-वियोग)

सरकारी क़ानून का रख कर पूरा ध्यान।
कर सकते हो देश का सभी तरह कल्यान॥
सभी तरह कल्यान देश का कर सकते हो।
करके कुछ उद्योग सोग सब हर सकते हो॥
जो हो तुम में जान, आपदा भारी सारी।
हो सकती है दूर, नहीं बाधा सरकारी॥

पं० नाथूराम शंकर शर्मा का जन्म संवत् १९१६ में और मृत्यु १९८९ में हुई। वे अपना उपनाम 'शंकर' रखते थे और पद्य-रचना में अत्यंत सिद्धहस्त थे। पं० प्रताप-

नारायण मिश्र के वे साथियों में थे और उस समय के कवि-समाजों में बराबर कविता पढ़ा करते थे। समस्या-पूर्ति वे बड़ी ही सटीक और सुंदर करते थे जिससे उनका चारों ओर पदक, पगड़ी, दुशाले आदि से सत्कार होता था। 'कवि व चित्रकार', 'काव्य-सुधाधर', 'रसिक मित्र' आदि पत्रों में उनकी अनूठी पूर्तियाँ और ब्रजभाषा की कविताएँ बराबर निकला करती थीं। छंदों के सुंदर नपे तुले विधान के साथ ही उनकी उद्भावनाएँ भी बड़ी अनूठी होती थीं। वियोग का यह वर्णन पढ़िए—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ जाएगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जाएगी॥
झारैंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारैंगे खमंडल में आग मढ़ जाएगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं
जौ पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जाएगी॥

पीछे खड़ी बोली का प्रचार होने पर वे उसमें भी बहुत अच्छी रचना करने लगे। उनकी पदावली कुछ उद्दंडता लिए होती थी। इसका कारण यह है कि उनका संबंध आर्य्य-समाज से रहा जिसमें अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के उग्र विरोध की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक जाग्रत रही। उसी अंतर्वृत्ति का आभास उनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। "गर्भ-रंडा-रहस्य" नामक एक बड़ा प्रबंध-काव्य उन्होंने विधवाओं की बुरी परिस्थिति और देवमंदिरों के अनाचार आदि दिखाने के उद्देश्य से लिखा था। उसका एक पद्य देखिए—

फैल गया हुड़दंग होलिका की हलचल में।
फूल फूलकर फाग फला महिला-मंडल में॥
जननी भी तज लाज बनी व्रजमक्खो सबकी।
पर मैं पिंड छुड़ाय जवनिका में जा दबकी॥

फबतियाँ और फटकार इनकी कविताओं की एक विशेषता है। फैशनवालों पर कही हुई "ईश गिरिजा को छोड़ि ईशु गिरजा में जाय" वाली प्रसिद्ध फबती इन्हीं की है। पर जहाँ इनकी चित्तवृत्ति दूसरे प्रकार की रही है, वहाँ की उक्तियाँ बड़ी मनोहर भाषा में हैं। यह कवित्त ही लीजिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे मर जायँगे सरोवर में,
डूब डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायँगे॥
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब
कौन से अड़ोले उपमान अड़ जायँगे?

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही) हिंदी के एक बड़े ही भावुक और सरस-हृदय कवि हैं। ये पुरानी और नई दोनों चाल की कविताएँ लिखते हैं। इनकी बहुत सी कविताएँ 'त्रिशूल' के नाम से निकली हैं। उर्दू-कविता भी इनकी बहुत ही अच्छी होती है। इनकी पुराने ढँग की कविताएँ 'रसिकमित्र', 'काव्य-सुधानिधि' और 'साहित्य-सरोवर' आदि में बराबर निकलती रहीं। पीछे इनकी प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर हुई। इनकी तीन पुस्तकें प्रकाशित हैं—'प्रेम-पचीसी', 'कुसुमांजलि', कृषक-क्रंदन। इस मैदान में भी इन्होंने अच्छी सफलता पाई। एक पद्य नीचे दिया जाता है—

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ॥
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥

पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी खड़ी बोली के कवियों में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। भाषा की सफाई और कविता के प्रसाद गुण पर इनका बहुत जोर रहता है। काव्यभाषा में लाघव के लिये कुछ कारक-चिह्नों और संयुक्त क्रियाओं के कुछ अंतिम अवयवों को छोड़ना भी (जैसे, 'कर रहा है' के स्थान पर 'कर रहा' या 'करते हुए' के स्थान पर 'करते') ये ठीक नहीं समझते। काव्यक्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छंदता (Romanticism) का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था उसके पथ पर चलनेवाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठीजी ही दिखाई पड़े। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक इनके तीनों खंड-काव्यों में इनकी कल्पना ऐसे मर्मपथ पर चली है जिस पर मनुष्य मात्र का हृदय स्वभावत: ढलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बँध कर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छंद संचरण के लिये कवि ने नूतन कथाओं की उद्भावना की है। कल्पित आख्यानों की ओर यह विशेष झुकाव स्वच्छंद मार्ग का अभिलाष सूचित करता है। इन प्रबंधों में नर-जीवन जिन रूपों में ढाल कर सामने लाया गया है, वे मनुष्य मात्र का मर्मस्पर्श करनेवाले हैं तथा प्रकृति के स्वच्छंद और रमणीय प्रसार के बीच अवस्थित होने के कारण शेष सृष्टि से विच्छिन्न नहीं प्रतीत होते।

स्वदेशभक्ति की जो भावना भारतेंदु के समय से चली आती थी उसे सुंदर कल्पना द्वारा रमणीय और आकर्षक रूप

त्रिपाठीजी ने ही प्रदान किया। त्रिपाठीजी के उपर्युक्त तीनों काव्य देशभक्ति के भाव से प्रेरित हैं। देशभक्ति का यह भाव उनके मुख्य पात्रों को जीवन के कई क्षेत्रों में सौंदर्य्य प्रदान करता दिखाई पड़ता है—कर्म के क्षेत्र में भी, प्रेम के क्षेत्र में भी। वे पात्र कई तरफ से देखने में सुंदर लगते हैं। देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठीजी द्वारा प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं।

त्रिपाठीजी ने भारत के प्राय: सब भागों में भ्रमण किया है, इससे इनके प्रकृति-वर्णन में स्थानगत विशेषताएँ अच्छी तरह आ सकी हैं। इनके 'पथिक' में दक्षिण भारत के रम्य दृश्यों का बहुत विस्तृत समावेश है। इसी प्रकार इनके 'स्वप्न' में उत्तराखंड और काश्मीर की सुषमा सामने आती है। प्रकृति के किसी खंड के संश्लिष्ट चित्रण की प्रतिभा इनमें अच्छी है। सुंदर आलंकारिक साम्य खड़ा करने में भी इनकी कल्पना प्रवृत्त होती है पर झूठे आरोपों द्वारा अपनी उड़ान दिखाने या वैचित्र्य खड़ा करने के लिये नहीं।

'स्वप्न' नामक खंड-काव्य तृतीय उत्थान-काल के भीतर लिखा गया है जब कि 'छायावाद' नाम की शाखा चल चुकी थी, इससे उस शाखा का भी कुछ रंग कहीं कहीं उसके भीतर झलक मारता है, जैसे—

> प्रिय की सुध सी ये सरिताएँ, ये कानन कांतार सुसज्जित
> मैं तो नहीं, किंतु है मेरा हृदय किसी प्रियतम से परिचित।
> जिसके प्रेमपत्र आते हैं प्राय: सुख-संवाद-सन्निहित॥

अत: उस काव्य को लेकर देखने से थोड़ी थोड़ी इनकी सब प्रवृत्तियाँ झलक जाती हैं। उसके आरंभ में हम अपनी प्रिया में अनुरक्त वसंत नामक एक सुंदर और विचारशील युवक को जीवन की गंभीर वितर्क-दशा में पाते हैं। एक ओर उसे

प्रकृति की प्रमोदमयी सुषमाओं के बीच प्रियतमा के साहचर्य का प्रेम-सुख लीन रखना चाहता है, दूसरी ओर समाज के असंख्य प्राणियों का कष्ट-क्रंदन उसे उद्धार के लिये बुलाता जान पड़ता है। दोनों पक्षों के बहुत से सजीव चित्र बारी बारी से बड़ी दूर तक चलते हैं। फिर उस युवक के मन में जगत् और जीवन के संबंध में गंभीर जिज्ञासाएँ उठती हैं। जगत् के इन नाना रूपों का उद्गम कहाँ है? सृष्टि के इन व्यापारों का अंतिम लक्ष्य क्या है? यह जीवन हमें क्यों दिया गया है? इसी प्रकार के प्रश्न उसे व्याकुल करते रहते हैं और कभी कभी वह सोचता है—

इसी तरह की अमित कल्पना के प्रवाह में मैं निशिवासर,
बहता रहता हूँ विमोह-वश; नहीं पहुँचता कहीं तीर पर।
रात दिवस की बूँदों द्वारा तन-घट से परिमित यौवन-जल
है निकला जा रहा निरंतर, यह रुक सकता नहीं एक पल ॥

कभी कभी उसकी वृत्ति रहस्योन्मुख होती है; वह सारा खेल खड़ा करनेवाले उस छिपे हुए प्रियतम का आकर्षण अनुभव करता है और सोचता है कि मैं उसके अन्वेषण में क्यों न चल पड़ूँ।

उसकी प्रिया सुमना उसे दिन रात इस प्रकार भावनाओं में ही मग्न और अव्यवस्थित देखकर कर्ममार्ग पर स्थिर हो जाने का उपदेश देती है—

सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार-द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल ॥
मन की अमित तरंगों में तुम खोते हो इस जीवन का सुख ॥

इसके उपरांत देश पर शत्रु चढ़ाई करता है और राजा उसे रोकने में असमर्थ होकर घोषणा करता है कि प्रजा अपनी

रक्षा कर ले। इस पर देश के झुंड के झुंड युवक निकल पड़ते हैं और उनकी पत्नियाँ और माताएँ गर्व से फूली नहीं समाती हैं। देश की इस दशा में बसंत को घर में पड़ा देख उसकी पत्नी सुमना को अत्यंत लज्जा होती है और वह अपने पति से स्वदेश के इस संकट के समय शस्त्र-ग्रहण करने को कहती है। जब वह देखती है कि उसका पति उसी के प्रेम के कारण नहीं उठता है तब वह अपने को ही प्रिय के कर्त्तव्य-पथ का बाधक समझती है। वह सुनती है कि एक रुग्णा वृद्धा यह देख कर कि उसका पुत्र उसी की सेवा के ध्यान मे युद्ध पर नहीं जाता है, अपना प्राण त्याग कर देती है। अंत में सुमना अपने को वसंत के सामने से हटाना ही स्थिर करती है और चुपचाप घर से निकल पड़ती है। वह पुरुष वेष में वीरों के साथ सम्मिलित होकर अत्यंत पराक्रम के साथ लड़ती है। उधर वसंत उसके वियोग में प्रकृति के खुले क्षेत्र में अपनी प्रेम-वेदना की पुकार सुनाता फिरता है, पर सुमना उस समय प्रेमक्षेत्र से दूर थी—

> अर्द्ध निशा में तारागण से प्रतिबिंबित अति निर्मल जलमय।
> नील झील के कलित कूल पर मनोव्यथा का लेकर आश्रय॥
> नीरवता में अंतस्तल का मर्म करुण स्वर लहरी में भर।
> प्रेम जगाया करता था वह विरही विरह-गीत गा गा कर॥
> भोजपत्र पर विरह-व्यथामय अंगणित प्रेमपत्र लिख लिखकर।
> डाल दिए थे उसने गिरि पर, नदियों के तट पर, वनपथ पर॥
> पर सुमना के लिये दूर थे ये वियोग के दृश्य-कदंबक।
> और न विरही की पुकार ही पहुँच सकी उसके समीप तक॥

अंत में वसंत एक युवक (वास्तव में पुरुष वेष में सुमना) के उद्बोधन से निकल पड़ता है और अपनी अद्भुत वीरता द्वारा सब का नेता बन कर विजय प्राप्त करता है। राजा यह

कह कर कि 'जो देश की रक्षा करे वही राजा' उसको राज्य सौंप देता है। उसी समय सुमना भी उसके सामने प्रकट हो जाती है।

स्वदेश-भक्ति की भावना कैसे मार्मिक और रसात्मक रूप में कथा के भीतर व्यक्त हुई है, यह उपर्युक्त सारांश द्वारा देखा जा सकता है। जैसा कि हम पहले कह आए हैं त्रिपाठी जी की कल्पना मानव हृदय के सामान्य मर्मपथ पर चलनेवाली है। इनका ग्राम-गीत संग्रह करना इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है। अतः त्रिपाठी जी हमें स्वच्छंदतावाद (Romanticism) के प्रकृत पथ पर दिखाई पड़ते हैं। इनकी रचना के कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

चारु चंद्रिका से आलोकित विमलोदक सरसी के तट पर,
बौर-गंध से शिथिल पवन में कोकिल का आलाप श्रवण कर।
और सरक आती समीप है प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि,
हृदय द्रवित होता है सुनकर शशिकर छूकर यथा चंद्रमणि।
किंतु उसी क्षण भूख प्यास से विकल वस्त्र-वंचित अनाथगण,
'हमें किसी की छाहँ चाहिए' कहते चुनते हुए अन्न कण।
आ जाते हैं हृदय-द्वार पर, मैं पुकार उठता हूँ तत्क्षण—
हाय ! मुझे धिक् है जो इनका कर न सका मैं कष्ट-निवारण।

× × × ×

उमड़-घुमड़ कर जब घमंड से उठता है सावन में जलधर,
हम पुष्पित कदंब के नीचे झूला करते हैं प्रति वासर।
तड़ित-प्रभा या घनगर्जन से भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर,
वह भुजबंधन कस लेती है, यह अनुभव है परम मनोहर।
किंतु उसी क्षण वह गरीबिनी, अति विषादमय जिसके मुँह पर
घुने हुए छप्पर की भीषण चिंता के हैं घिरे वारिधर,

जिसका नहीं सहारा कोई, आ जाती है दृग के भीतर,
मेरा हर्ष चला जाता है एक आह के साथ निकल कर।

(स्वप्न)

प्रति क्षण नूतन वेष बना कर रंग-बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद-माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ, यही चाहता मन है॥

× × × ×

सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़का कर प्रति क्षण में।
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में, रक्षण में॥

(पथिक)

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बन कर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक़ के बदन में।

(फुटकल)

स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी के जीवन का प्रारंभिककाल उस बुंदेलखंड में व्यतीत हुआ था जहाँ देश की परंपरागत पुरानी संस्कृति अभी बहुत कुछ बनी हुई है। उनकी रहन-सहन बहुत सादी और उनका हृदय बहुत सरल और कोमल था। उन्होंने हिंदी के पुराने काव्यों का नियमित रूप से अध्ययन किया था इससे वे ऐसे लोगों से कुढ़ते थे जो परंपरागत हिंदी-साहित्य की कुछ भी जानकारी प्राप्त किए बिना केवल थोड़ी सी अँगरेजी शिक्षा के बल पर हिंदी-कविताएँ

लिखने लग जाते थे। बुँदेलखंड में शिक्षितवर्ग के बीच भी और सर्वसाधारण में भी हिंदी-कविता का सामान्य रूप से प्रचार चला आ रहा है। ऋतुओं के अनुसार जो त्योहार और उत्सव रखे गए हैं, उनके आगमन पर वहाँ लोगों में अब भी प्रायः वही उमंग दिखाई देती है। विदेशी संस्कारों के कारण वह मारी नहीं गई है। लाला साहब वही उमंग-भरा हृदय लेकर छतरपुर से काशी आ रहे। हिंदी-शब्दसागर के संपादकों में एक वे भी थे। पीछे हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हुए। हिंदी-साहित्य की व्यवस्थित रूप से शिक्षा देने के लिये काशी में उन्होंने एक साहित्य-विद्यालय खोला जो उन्हीं के नाम से अब तक बहुत अच्छे ढंग पर चला जा रहा है। कविता में वे अपना उपनाम 'दीन' रखते थे।

लालाजी का जन्म संवत् १९२३ में और मृत्यु १९८७ (जुलाई १९३०) में हुई।

पहले वे व्रजभाषा में पुराने ढंग की कविता करते थे, पीछे 'लक्ष्मी' के संपादक हो जाने पर खड़ी बोली की कविताएँ लिखने लगे। खड़ी बोली में उन्होंने वीरों के चरित्र लेकर बोलचाल की फड़कती भाषा में जोशीली रचना की है। खड़ी बोली की कविताओं का तर्ज उन्होंने प्रायः मुंशियाना ही रखा था। वह या छंद भी उर्दू के रखते थे और भाषा में चलते अरबी या फारसी शब्द भी लाते थे। इस ढंग के उनके तीन काव्य निकले हैं—'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक' और 'वीर पंचरत्न'। लालाजी पुराने हिंदी-काव्य और साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। बहुत से प्राचीन काव्यों की नए ढंग की टीकाएँ करके उन्होंने अध्ययन के अभिलाषियों का बड़ा उपकार किया है। रामचंद्रिका, कविप्रिया, दोहावली, कवितावली, बिहारी सतसई आदि की इनकी टीकाओं ने विद्यार्थियों के लिये अच्छा

मार्ग खोल दिया। भक्ति और शृंगार की पुराने ढंग की कविताओं में उक्ति-चमत्कार वे अच्छा लाते थे।

उनकी कविताओं के दोनों तरह के नमूने नीचे देखिए—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब
बाढ़ी चित करुना की अजब उमंग है।
पद-रज डारि करे पाप सब छारि,
करि नवल सुनारि दियो धामहू उतंग है॥
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक
ओर उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि-पतिनी-पतंग है॥

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर-सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
सब वीर किया करते हैं सम्मान क़लम का।
वीरों का सुयशगान है अभिमान क़लम का॥

इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'नवीन बीन' या 'नदीमे दीन' में है।

पंडित रूपनारायण पांडेय ने यद्यपि ब्रजभाषा में भी बहुत कुछ कविता की है, पर इधर अपनी खड़ी बोली की कविताओं के लिये ही ये अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बहुत ही उपयुक्त विषय कविता के लिये चुने हैं और उनमें पूरी रसात्मकता लाने में समर्थ हुए हैं। इनके विषय के चुनाव में ही भावुकता टपकती है; जैसे दलित कुसुम, वन-विहंगम, आश्वासन।

इनकी कविताओं का संग्रह "पराग" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। पांडेयजी की "वन-विहंगम" नाम की कविता में हृदय की विशालता और सरसता का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। 'दलित कुसुम' की अन्योक्ति भी बड़ी हृदयग्राहिणी है। संस्कृत और हिंदी दोनों के छंदों में खड़ी बोली को इन्होंने बड़ी सुघड़ाई से ढाला है। यहाँ स्थानाभाव से हम दो ही पद्य उद्धृत कर सकते हैं—

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?
प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?
पर-दुख-सुख तू ने, हा ! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला।

———

बन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं॥
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं॥

खड़ी बोली की खरखराहट (जो तब तक बहुत कुछ बनी हुई थी) के बीच 'वियोगी हरि' के समान स्वर्गीय **पं० सत्य-नारायण 'कविरत्न'** (जन्म संवत् १९३६—मृत्यु १९७५) भी ब्रज की मधुर वाणी सुनाते रहे। रीतिकाल के कवियों की परंपरा पर न चलकर वे या तो भक्तिकाल के कृष्णभक्त कवियों के ढंग पर चले हैं अथवा भारतेंदु-काल की नूतन कविता की प्रणाली पर। ब्रजभूमि, ब्रजभाषा और ब्रज-पति का प्रेम उनके हृदय की संपत्ति थी। ब्रज के अतीत दृश्य उनकी आँखों में फिरा करते थे। इंदौर के पहले साहित्य-सम्मेलन के अवसर

पर वे मुझे वहाँ मिले थे। वहाँ की अत्यंत काली मिट्टी देख वे बोले, "या माटी कों तो हमारे कन्हैया न खाते"।

अँगरेजी की ऊँची शिक्षा पाकर उन्होंने अपनी चाल-ढाल ब्रजमंडल के ग्रामीण भले-मानसों की ही रखी। धोती, बगल-बंदी और दुपट्टा; सिर पर एक गोल टोपी; यही उनका वेष रहता था। वे बाहर जैसे सरल और सादे थे, भीतर भी वैसे ही थे। सादापन दिखावे के लिये धारण किया हुआ नहीं है, स्वभावगत है, यह बात उन्हें देखते ही और उनकी बातें सुनते ही प्रकट हो जाती थी। बाल्यकाल से लेकर जीवन-पर्य्यंत वे आगरे से डेढ़ कोस पर ताजगंज के पास धाँधूपुर नामक गाँव में ही रहे। उनका जीवन क्या था, जीवन की विषमता का एक छाँटा हुआ दृष्टांत था। उनका जन्म और बाल्यकाल, विवाह और गार्हस्थ्य, सब एक दुःखभरी कहानी के संबद्ध खंड थे। वे थे ब्रजमाधुरी में पगे जीव; उनकी पत्नी थीं आर्य्य-समाज के तीखेपन में तली महिला। इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोड़ी ही अवस्था में कविरत्नजी की जीवन-यात्रा समाप्त हो गई।

ब्रजभाषा की कविताएँ वे छात्रावस्था ही से लिखने लगे थे। वसंतागम पर, वर्षा के दिनों में वे रसिये आदि ग्राम-गीत अपढ़ ग्रामीणों में मिल कर निस्संकोच गाते थे। सवैया पढ़ने का ढंग उनका ऐसा आकर्षक था कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते थे। जीवन की घोर विषमताओं के बीच भी वे प्रसन्न और हँसमुख दिखाई देते थे। उनके लिये उनका जीवन ही एक काव्य था, अतः जो बातें प्रत्यक्ष उनके सामने आती थीं उन्हें काव्य का रूप-रंग देते उन्हें देर नहीं लगती थी। मित्रों के पास वे प्रायः पद्य में पत्र लिखा करते थे जिनमें कभी कभी उनके स्वभाव की

झलक भी रहती थी, जैसे स्व० पद्मसिंह जी के पास भेजी हुई इस कविता में—

जो मो सों हँसि मिलै होत मैं तासु निरंतर चेरो।
बस गुन ही गुन निरखत तिह मधि सरल प्रकृति को प्रेरो ॥
यह स्वभाव को रोग जानिए, मेरो बस कछु नाहीं।
नित नव विकल रहत याही सों सहृदय-बिछुरन माहीं ॥
सदा दारु-योषित सम बेबस आज्ञा मुदित प्रमानै।
कोरो सत्य ग्राम को बासी कहा "तकल्लुफ़" जानै ॥

किसी का कोई अनुरोध टालना तो उनके लिये असंभव था। यह जानकर बराबर लोग किसी न किसी अवसर के उपयुक्त कविता बना देने की प्रेरणा उनसे किया करते थे और वे किसी को निराश न करते थे। उनकी वही दशा थी जो उर्दू के प्रसिद्ध शायर इंशा की लखनऊ-दरबार में हो गई थी। इससे उनकी अधिकांश रचनाएँ सामयिक हैं और जल्दी में जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं जैसे—स्वामी रामतीर्थ, तिलक, गोखले, सरोजिनी नायडू इत्यादि की प्रशस्तियाँ; लोकहितकर आयोजनों के लिये अपील (हिंदू-विश्वविद्यालय के लिये लंबी अपील देखिए); दुःख और अन्याय के निवारण के लिये पुकार (कुली प्रथा के विरुद्ध 'पुकार' देखिए)।

उन्होंने जीती-जागती ब्रजभाषा ली है। उनकी ब्रजभाषा उसी स्वरूप में बँधी न रहकर जो काव्य-परंपरा के भीतर पाया जाता है, बोल-चाल के चलते रूपों को लेकर चली है। बहुत से ऐसे शब्दों और रूपों का उन्होंने व्यवहार किया है जो परंपरा-गत काव्यभाषा में नहीं मिलते।

'उत्तर रामचरित' और 'मालती-माधव' के अनुवादों में श्लोकों के स्थान पर उन्होंने बड़े मधुर सवैये रखे हैं। मकाले के अँगरेजी खंड-काव्य 'होरेशस' का पद्यबद्ध अनुवाद उन्होंने

बहुत पहले किया था। कविरत्न जी की बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमरदूत' विशेष उल्लेख-योग्य हैं। 'भ्रमरदूत' में यशोदा ने द्वारका में जा बसे हुए कृष्ण के पास संदेश भेजा है। उसकी रचना नंददास के 'भ्रमरगीत' के ढंग पर की गई है, पर अंत में देश की वर्त्तमान दशा और अपनी दशा का भी हलका-सा आभास कवि ने दिया है। सत्यनारायण जी की रचना के कुछ नमूने देखिए—

अलबेली कहुँ बेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोए धोए पातन की अनुपम कमनाई॥
चातक शुक कोयल ललित, बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित कुंजन करत कलोल॥
निरखि घन की घटा।

लखि यह सुषमा-जाल लाल निज बिन नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी॥
सुधि बुधि तज माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृगजल मिस मानहुँ निकरि बही बिरह की धार॥
कृष्ण रटना लगी।

कौने भेजौं दूत, पूत सों बिथा सुनावै।
बातन में बहराइ जाइ ताको यह लावै॥
त्यागि मधुपुरी को गयो छाँड़ि सबन के साथ।
सात समुंदर पै भयो दूर द्वारकानाथ॥
जाइगो को उहाँ?

नित नव परत अकाल, काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनद न देख्यो जात यहाँ कहुँ॥
बढ़्यो यथेच्छाचारकृत जहँ देखौ तहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य्य-समाज॥
दिनन के फेर सों।

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हैं बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी ॥

× × × ×

नारी-शिक्षा अनादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेश-अवनति-प्रचंड-पातक-अधिकारी ॥
निरखि हाल मेरो प्रथम लेहु समुझि सब कोइ।
विद्याबल लहि मति परम अबला सबला होइ ॥
लखौ अजमाइ कै।
(भ्रमरदूत)

भयो क्यों अनचाहत को संग ?
सब जग के तुम दीपक, मोहन! प्रेमी हमहुँ पतंग।
लखि तव दीपति, देह-शिखा में निरत, बिरह लौ लागी ॥
खींचति आप सों आप उतहि यह, ऐसी प्रकृति अभागी ॥
यदपि सनेह-भरी तव बतियाँ, तउ अचरज की बात।
योग वियोग दोउन में इक सम नित्य जरावत गात ॥

तृतीय उत्थान

(सं० १९७५ से...)

वर्त्तमान काव्य-धाराएँ

सामान्य परिचय

द्वितीय उत्थान के समाप्त होते होते खड़ी बोली में बहुत कुछ कविता हो चुकी। इन २५-३० वर्षों के भीतर वह बहुत कुछ मँजी, इसमें संदेह नहीं, पर इतनी नहीं जितनी उर्दू काव्यक्षेत्र के भीतर जाकर मँजी है। जैसा पहले कह चुके हैं, हिंदी में खड़ी बोली के पद्य-प्रवाह के लिये तीन रास्ते खोले गए—उर्दू या फ़ारसी की बहों का, संस्कृत के वृत्तों का और हिंदी के छंदों का। इनमें से प्रथम मार्ग का अवलंबन तो मैं नैराश्य या आलस्य समझता हूँ। वह हिंदी-काव्य का निकाला हुआ अपना मार्ग नहीं। अतः शेष दो मार्गों का ही थोड़े में विचार किया जाता है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि संस्कृत के वर्णवृत्तों का-सा माधुर्य्य अन्यत्र दुर्लभ है। पर उनमें भाषा इतनी जकड़ जाती है कि वह भाव-धारा के मेल में पूरी तरह से स्वच्छंद होकर नहीं चल सकती। इसी से संस्कृत के लंबे समासों का बहुत कुछ सहारा लेना पड़ता है। पर संस्कृत-पदावली के अधिक समावेश से खड़ी बोली की स्वाभाविक गति के प्रसार के लिये अवकाश कम रहता है। अतः वर्णवृत्तों का थोड़ा बहुत उपयोग किसी बड़े प्रबंध के भीतर बीच बीच में ही उप-युक्त हो सकता है। तात्पर्य्य यह कि संस्कृत-पदावली का अधिक आश्रय लेने से खड़ी बोली के मँजने की संभावना दूर ही रहेगी।

हिंदी के सब तरह के प्रचलित छंदों में खड़ी बोली की स्वाभाविक वाग्धारा का अच्छी तरह खपने के योग्य हो जाना ही उसका मँजना कहा जायगा। हिंदी के प्रचलित छंदों में दंडक और सवैया भी हैं। सवैये यद्यपि वर्णवृत्त हैं पर लय के अनुसार लघु गुरु का बंधन उनमें बहुत कुछ उसी प्रकार शिथिल हो जाता है जिस प्रकार उर्दू के छंदों में। मात्रिक छंदों में तो कोई अड़चल ही नहीं है। प्रचलित मात्रिक छंदों के अतिरिक्त कविजन इच्छानुसार नए नए छंदों का विधान भी बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं।

खड़ी बोली की कविताओं की उत्तरोत्तर गति की ओर दृष्टिपात करने से यह पता चल जाता है कि किस प्रकार ऊपर लिखी बातों की ओर लोगों का ध्यान क्रमशः गया है और जा रहा है। बाबू मैथिली-शरण गुप्त की कविताओं में चलती हुई खड़ी बोली का परिमार्जित और सुव्यवस्थित रूप गीतिका आदि हिंदी के प्रचलित छंदों में तथा नए गढ़े हुए छंदों में पूर्णतया देखने में आया। ठाकुर गोपालशरण-सिंहजी कवित्तों और सवैयों में खड़ी बोली का बहुत ही मँजा हुआ रूप सामने ला रहे हैं। उनकी रचनाओं को देखकर खड़ी बोली के मँज जाने की पूरी आशा होती है।

खड़ी बोली का पूर्ण सौष्ठव के साथ मँजना तभी कहा जायगा जब कि पद्यों में उसकी अपनी गति-विधि का पूरा समावेश हो और कुछ दूर तक चलनेवाले वाक्य सफ़ाई के साथ बैठें। भाषा का इस रूप में परिमार्जन उन्हीं के द्वारा हो सकता है जिनका हिंदी पर पूरा अधिकार है, जिन्हें उसकी प्रकृति की पूरी परख है। पर जिस प्रकार बाबू मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरणसिंह ऐसे कवियों की लेखनी से खड़ी बोली को मँजते देख आशा का पूर्ण संचार होता है उसी प्रकार कुछ ऐसे लोगों को, जिन्होंने अध्ययन या शिष्ट-सममार्ग द्वारा भाषा पर पूरा अधिकार नहीं प्राप्त किया है, संस्कृत की विकीर्ण पदावली के भरोसे पर या अँगरेजी पद्यों के वाक्यखंडों के शब्दानुवाद

जोड़ जाड़कर, हिंदी-कविता के नए मैदान में उतरते देख आशंका भी होती है। ऐसे लोग हिंदी जानने या उसका अभ्यास करने की ज़रूरत नहीं समझते। पर हिंदी भी एक भाषा है, जो आते आते आती है। भाषा बिना अच्छी तरह जाने वाक्य-विन्यास, मुहावरे आदि कैसे ठीक हो सकते हैं?

नए नए छंदों के व्यवहार और तुक के बंधन के त्याग की सलाह द्विवेदी जी ने बहुत पहले दी थी। उन्होंने कहा था कि "तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बाधा आती है।"

नए नए छंदों की योजना के संबंध में हमें कुछ नहीं कहना है। यह बहुत अच्छी बात है। 'तुक' भी कोई ऐसी अनिवार्य वस्तु नहीं। चरणों के भिन्न भिन्न प्रकार के मेल चाहे जितने किए जायँ, ठीक हैं। पर इधर कुछ दिनों से बिना छंद (metre) के पद्य भी—बिना तुकांत के होना तो बहुत ध्यान देने की बात नहीं—निरालाजी ऐसे नई रंगत के कवियों में देखने में आते हैं। यह अमेरिका के एक कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt Whitman) की नक़ल है जो पहले बँगला में थोड़ी बहुत हुई। बिना किसी प्रकार की छंदोव्यवस्था की अपनी पहली रचना Leaves of Grass उसने सन् १८५५ ई० में प्रकाशित की। उसके उपरांत और भी बहुत सी रचनाएँ इस प्रकार की मुक्त या स्वच्छंद पंक्तियों में निकलीं, जिनके संबंध में एक समालोचक ने लिखा है—

"A chaos of impressions, thought or feelings thrown together without rhyme, which matters little, without metre which matters more; and often without reason which matters much."*

---

* Literature in the Century (Nineteenth Century Series), by A. B. De Mille.

सारांश यह कि उसकी ऐसी रचनाओं में छंदोव्यवस्था का ही नहीं, बुद्धितत्त्व का भी प्राय: अभाव है। उसकी वे ही कविताएँ अच्छी मानी और पढ़ी गई जिनमें छंद और तुकांत की व्यवस्था थी।

पद्य-व्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना वास्तव में पाश्चात्य ढंग के गीत-काव्यों के अनुकरण का परिणाम है। हमारे यहाँ के संगीत में बँधी हुई राग-रागिनियाँ हैं। पर योरप में संगीत के बड़े बड़े उस्ताद (Composers) अपनी अलग अलग नाद-योजना या स्वर-मैत्री चलाया करते हैं। उस ढंग का अनुकरण पहले बंगाल में हुआ। वहाँ की देखा-देखी हिंदी में भी चलाया गया। 'निराला' जी का तो इसकी ओर प्रधान लक्ष्य रहा। हमारा इस संबंध में यही कहना है कि काव्य का प्रभाव केवल नाद पर अवलंबित नहीं।

छंदों के अतिरिक्त वस्तु-विधान और अभिव्यंजन-शैली में भी कई प्रकार की प्रवृत्तियाँ इस तृतीय उत्थान में प्रकट हुई जिससे अनेक-रूपता की ओर हमारा काव्य कुछ बढ़ता दिखाई पड़ा। किसी वस्तु में अनेकरूपता आना विकास का लक्षण है, यदि अनेकता के भीतर एकता का कोई एक सूत्र बराबर बना रहे। इस समन्वय से रहित जो अनेकरूपता होगी वह भिन्न भिन्न वस्तुओं की होगी, एक ही वस्तु की नहीं। अत: काव्यत्व यदि बना रहे तो काव्य का अनेक रूप धारण करके भिन्न भिन्न शाखाओं में प्रवाहित होना उसका विकास ही कहा जायगा। काव्य के भिन्न भिन्न रूप एक दूसरे के आगे-पीछे भी आविर्भूत हो सकते हैं और साथ साथ भी निकल और चल सकते हैं। पीछे आविर्भूत होनेवाला रूप पहले से चले आते हुए रूप से अवश्य ही श्रेष्ठ या समुन्नत हो, ऐसा कोई नियम काव्य-क्षेत्र में नहीं है। अनेक रूपों को धारण करनेवाला तत्त्व यदि एक है तो शिक्षित जनता की बाह्य और आभ्यंतर स्थिति के साथ सामंजस्य के लिये काव्य अपना रूप भी कुछ बदल सकता है और रुचि की विभिन्नता का अनुसरण करता हुआ एक साथ कई रूपों में भी चल सकता है।

प्रथम उत्थान के भीतर हम देख चुके हैं कि किस प्रकार काव्य को भी देश की बदली हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल में लाने के लिये भारतेंदुमंडल ने कुछ प्रयत्न किया। पर यह प्रयत्न केवल सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर हृदय को थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया। राजनीतिक और सामाजिक भावनाओं को व्यक्त करनेवाली वाणी भी दबी-सी रही। उसमें न तो संकल्प की दृढ़ता और न्याय के आग्रह का जोश था, न उलट-फेर की प्रबल कामना का वेग। स्वदेश-प्रेम व्यंजित करनेवाला वह स्वर अवसाद और खिन्नता का स्वर था, आवेश और उत्साह का नहीं। उसमें अतीत के गौरव का स्मरण और वर्तमान ह्रास का वेदनापूर्ण अनुभव ही स्पष्ट था। अभिप्राय यह कि यह प्रेम जगाया तो गया, पर कुछ नया-नया-सा होने के कारण उस समय काव्य-भूमि पर पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो सका।

कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परंपरागत पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेंदु-काल में न हुआ। भाषा व्रजभाषा ही रहने दी गई और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का कुछ विशेष प्रसार न हुआ। काव्य को बँधी हुई प्रणालियों से बाहर निकालकर जगत् और जीवन के विविध पक्षों की मार्मिकता झलकानेवाली धाराओं में प्रवाहित करने की प्रवृत्ति भी न दिखाई पड़ी।

द्वितीय उत्थान में कुछ दिन व्रजभाषा के साथ साथ चलकर खड़ी बोली क्रमशः अग्रसर होने लगी; यहाँ तक कि नई पीढ़ी के कवियों को उसी का समय दिखाई पड़ा। स्वदेश-गौरव और स्वदेश-प्रेम की जो भावना प्रथम उत्थान में जगाई गई थी उसका अधिक प्रसार द्वितीय उत्थान में हुआ और 'भारत-भारती' ऐसी पुस्तक निकली। इस भावना का प्रसार तो हुआ पर इसकी अभिव्यंजना में प्रातिभ प्रगल्भता न दिखाई पड़ी।

शैली में प्रगल्भता और विचित्रता चाहे न आई हो, पर काव्य-भूमि का प्रसार अवश्य हुआ। प्रसार और सुधार की जो चर्चा

नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना के समय से ही रह रहकर थोड़ी-बहुत होती आ रही थी वह 'सरस्वती' निकलने के साथ ही कुछ अधिक ब्यौरे के साथ हुई। उस पत्रिका के प्रथम दो-तीन वर्षों के भीतर ही ऐसे लेख निकले जिनमें साफ़ कहा गया कि अब नायिका-भेद और शृंगार में ही बँधे रहने का ज़माना नहीं है; संसार में न जाने कितनी बातें हैं जिन्हें लेकर कवि चल सकते हैं। इस बात पर द्विवेदीजी भी बराबर ज़ोर देते रहे और कहते रहे कि "कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है।" द्विवेदीजी सरस्वती के संपादन-काल में कविता में नयापन लाने के बराबर इच्छुक रहे। नयापन आने के लिये वे नए नए विषयों का नयापन या नानात्व प्रधान समझते रहे और छंद, पदावली, अलंकार आदि का नयापन उसका अनुगामी। रीति-काल की शृंगारी कविता की ओर लक्ष्य करके उन्होंने लिखा—

"इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छुद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, दोहे, सोरठे लिखने से बाज़ नहीं आते।"

द्वितीय उत्थान के भीतर हम दिखा आए हैं कि किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का विस्तार बढ़ा, बहुत-से नए नए विषय लिए गए और बहुत-से कवि कवित्त, सवैया लिखने से बाज़ आकर संस्कृत के अनेक वृत्तों में रचना करने लगे। रचनाएँ चाहे अधिकतर साधारण गद्य-निबंधों के रूप में ही हुई हों, पर प्रवृत्ति अनेक विषयों की ओर रही, इसमें संदेह नहीं। उसी द्वितीय उत्थान में स्वतंत्र वर्णन के लिये मनुष्येतर प्रकृति को कवि लोग लेने लगे पर अधिकतर उसके ऊपरी प्रभाव तक ही रहे। उसके रूप-व्यापार कैसे सुखद, सजीले

और सुहावने लगते हैं, अधिकतर यही देख-दिखाकर उन्होंने संतोष किया। चिर साहचर्य से उत्पन्न उनके प्रति हमारा राग व्यंजित न हुआ। उनके बीच मनुष्य-जीवन को रखकर उसके प्रकृत स्वरूप पर व्यापक दृष्टि नहीं डाली गई। रहस्यमयी सत्ता के अक्षर-प्रसार के भीतर व्यंजित भावों और मार्मिक तथ्यों के साक्षात्कार तथा प्रत्यक्षीकरण की ओर झुकाव न देखने में आया। इसी प्रकार विश्व के अत्यंत सूक्ष्म और अत्यंत महान् विधानों के बीच जहाँ तक हमारा ज्ञान पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी पहुँचाने का कुछ प्रयास होना चाहिए था, पर न हुआ। द्वितीय उत्थान-काल का अधिकांश भाग खड़ी बोली को भिन्न भिन्न प्रकार के पद्यों में ढालने में ही लगा।

तृतीय उत्थान में आकर खड़ी बोली के भीतर काव्यत्व का अच्छा स्फुरण हुआ। जिस देश-प्रेम को लेकर काव्य की नूतन धारा भारतेंदु-काल में चली थी वह उत्तरोत्तर प्रबल और व्यापक रूप धारण करता आया। शासन की अव्यवस्था और अशांति के उपरांत अँगरेजों के शांतिमय और रक्षापूर्ण शासन के प्रति कृतज्ञता का भाव भारतेंदु-काल में बना हुआ था। इससे उस समय की देशभक्ति-संबंधी कविताओं में राजभक्ति का स्वर भी प्राय: मिला पाया जाता है। देश की दु:ख-दशा का प्रधान कारण राजनीतिक समझते हुए भी उस दु:ख-दशा से उद्धार के लिये कवि लोग दयामय भगवान् को ही पुकारते मिलते हैं। कहीं कहीं उद्योग-धंधों को न बढ़ाने, आलस्य में पड़े रहने और देश की बनी वस्तुओं का व्यवहार न करने के लिये वे देशवासियों को भी कोसते पाए जाते हैं। सरकार पर रोष या असंतोष की व्यंजना उनमें नहीं मिलती। कांग्रेस की प्रतिष्ठा होने के उपरांत भी बहुत दिनों तक देशभक्ति की वाणी में विशेष बल और वेग न दिखाई पड़ा। बात यह थी कि राजनीति की लंबी-चौड़ी चर्चा भर साल में एक बार धूम-धाम के साथ थोड़े-से शिक्षित बड़े आदमियों के बीच हो जाया करती थी जिसका कोई स्थायी और क्रियोत्पादक

प्रभाव नहीं देखने में आता था। अतः द्विवेदी-काल की देशभक्ति-संबंधी रचनाओं में शासन-पद्धति के प्रति असंतोष तो व्यंजित होता था पर कर्म में तत्पर करानेवाला, आत्मत्याग करानेवाला जोश और उत्साह न था। आंदोलन भी कड़ी याचना के आगे नहीं बढ़े थे।

तृतीय उत्थान में आकर परिस्थिति बहुत बदल गई। आंदोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव-गाँव राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता के विरोध की भावना जगाई गई। सरकार से कुछ माँगने के स्थान पर अब कवियों की वाणी देशवासियों को ही 'स्वतंत्रता देवी की वेदी पर बलिदान' होने को प्रोत्साहित करने में लगी। अब जो आंदोलन चले वे सामान्य जन-समुदाय को भी साथ लेकर चले। इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि ये आंदोलन संसार के और भागों में चलनेवाले आंदोलनों के मेल में लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असंतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम में उठा उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची। दूसरे देशों का धन खींचने के लिये योरप में महायंत्रप्रवर्त्तन का जो क्रम चला उससे पूँजी लगानेवाले थोड़े-से लोगों के पास तो अपार धन-राशि इकट्ठी होने लगी पर अधिकांश श्रमजीवी जनता के लिये भोजन-वस्त्र मिलना भी कठिन हो गया। अतः एक ओर तो योरप में मशीनों की सभ्यता के विरुद्ध टॉलस्टॉय की धर्मबुद्धि जगाने-वाली वाणी सुनाई पड़ी जिसका भारतीय अनुवाद गांधी जी ने किया; दूसरी ओर इस घोर आर्थिक विषमता की घोर प्रतिक्रिया के रूप में साम्यवाद और समाजवाद नामक सिद्धांत चले जिन्होंने रूस में अत्यंत उग्र रूप धारण करके भारी उलट-फेर कर दिया।

अब संसार के प्रायः सारे सभ्य भाग एक दूसरे के लिये खुले हुए हैं। इससे एक भू-खंड में उठी हुई हवाएँ दूसरे भू-खंड में

शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं। यदि उनका सामंजस्य दूसरे भू-खंड की परिस्थिति के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप शक्तिशाली आंदोलन चल पड़ते हैं। इसी नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक आंदोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान-आंदोलन, मज़दूर-आंदोलन, अछूत-आंदोलन इत्यादि कई आंदोलन एक विराट् परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगों के रूप में चले। श्री रामधारीसिंह दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि कई कवियों की वाणी-द्वारा ये भिन्न भिन्न प्रकार के आंदोलन प्रतिध्वनित हुए। ऐसे समय में कुछ ऐसे भी आंदोलन दूसरे देशों की देखा-देखी खड़े होते हैं जिनकी नौबत वास्तव में नहीं आई रहती। योरप में जब देश के देश बड़े बड़े कल-कारख़ानों से भर गए हैं और जनता का बहुत-सा भाग उनमें लग गया है तब मज़दूर-आंदोलन की नौबत आई है। यहाँ अभी कल-कारख़ाने केवल चल खड़े हुए हैं और उनमें काम करने-वाले थोड़े-से मज़दूरों की दशा खेत में काम करनेवाले करोड़ों अच्छे-अच्छे किसानों की दशा से कहीं अच्छी है। पर मज़दूर-आंदोलन साथ लग गया। जो कुछ हो, इन आंदोलनों का तीव्र स्वर हमारी काव्य-वाणी में संमिलित हुआ।

जीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिये पुकार सुनाई पड़ती है तब परिवर्तन एक 'वाद' का व्यापक रूप धारण करता है और बहुतों के लिये सब क्षेत्रों में स्वतः एक चरम साध्य बन जाता है। 'क्रांति' के नाम से परिवर्तन की प्रबल कामना हमारे हिंदी-काव्य-क्षेत्र में प्रलय की पूरी पदावली के साथ व्यक्त की गई। इस कामना के साथ कहीं कहीं प्राचीन के स्थान पर नवीन के दर्शन की उत्कंठा भी प्रकट हुई। सब बातों में परिवर्तन ही परिवर्तन की यह कामना कहाँ तक वर्तमान परिस्थिति के स्वतंत्र पर्यालोचन का परि-णाम है और कहाँ तक केवल अनुकृत है, नहीं कहा जा सकता।

इतना अवश्य दिखाई पड़ता है कि इस परिवर्तनवाद के प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक हो जाने से जगत् और जीवन के नित्य स्वरूप की वह अनुभूति नए कवियों में कम जग पाएगी जिसकी व्यंजना काव्य को दीर्घायु प्रदान करती है।

यह तो हुई काल के प्रभाव की बात। थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि चली आती हुई काव्य-परंपरा की शैली से अतृप्ति या असंतोष के कारण परिवर्तन की कामना कहाँ तक जगी और उसकी अभिव्यक्ति किन किन रूपों में हुई। भक्ति-काल और रीति-काल की चली आती हुई परंपरा के अंत में किस प्रकार भारतेंदुमंडल के प्रभाव से देश-प्रेम और जाति-गौरव की भावना को लेकर एक नूतन परंपरा की प्रतिष्ठा हुई, इसका उल्लेख हो चुका है। द्वितीय उत्थान में काव्य की नूतन परंपरा का अनेक विषयस्पर्शी प्रसार अवश्य हुआ पर द्विवेदी जी के प्रभाव से एक ओर उसमें भाषा की सफ़ाई आई, दूसरी ओर उसका स्वरूप गद्यवत् रूखा, इतिवृत्तात्मक और अधिकतर बाह्यार्थनिरूपक हो गया। अतः इस तृतीय उत्थान में जो प्रतिवर्तन हुआ और पीछे 'छायावाद' कहलाया वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्य-शैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं। अर्थ-भूमि या वस्तु-भूमि का तो उसके भीतर बहुत संकोच हो गया। समन्वित विशाल भावनाओं को लेकर चलने की ओर ध्यान न रहा।

द्वितीय उत्थान की कविता में काव्य का स्वरूप खड़ा करनेवाली दोनों बातों की कमी दिखाई पड़ती थी—कल्पना का रंग भी बहुत कम या फीका रहता था और हृदय का वेग भी खूब खुलकर नहीं व्यंजित होता था। इन बातों की कमी परंपरागत ब्रजभाषा-काव्य का आनंद लेनेवालों को भी मालूम होती थी और बँगला या अँगरेज़ी की कविता का परिचय रखनेवालों को भी। अतः खड़ी बोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उड़ान, भाव की वेगवती व्यंजना,

वेदना की विवृति, शब्द-प्रयोग की विचित्रता इत्यादि अनेक बातें देखने को आकांक्षा बढ़ती गई।

सुधार चाहनेवालों में कुछ लोग नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त खड़ीबोली की कविता को ब्रजभाषा-काव्य की-सी ललित पदावली तथा रसात्मकता और मार्मिकता से समन्वित देखना चाहते थे। जो अँगरेज़ी की या अँगरेज़ी के ढँग पर चली हुई बँगला की कविताओं से प्रभावित थे वे कुछ लाक्षणिक वैचित्र्य, व्यंजक चित्र-विन्यास और रुचिर अन्योक्तियाँ देखना चाहते थे। श्री पारसनाथ-सिंह के किए हुए बँगला कविताओं के हिंदी-अनुवाद 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में संवत् १९६७ (सन् १९१०) से ही निकलने लगे थे। ग्रे, वर्ड्सवर्थ आदि अँगरेज़ी कवियों की रचनाओं के कुछ अनुवाद भी (जैसे, जीतनसिंह-द्वारा अनूदित वर्ड्सवर्थ का 'कोकिल') निकले। अतः खड़ी बोली की कविता जिस रूप में चल रही थी उससे सन्तुष्ट न रहकर द्वितीय उत्थान के समाप्त होने के कुछ पहले ही कई कवि खड़ी बोली काव्य को कल्पना का नया रूप-रंग देने और उसे अधिक अंतर्भावव्यंजक बनाने में प्रवृत्त हुए जिनमें प्रधान थे सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय और बदरीनाथ भट्ट। कुछ अँगरेज़ी ढर्रा लिए हुए जिस प्रकार की फुटकर कविताएँ और प्रगीत मुक्तक (Lyrics) बँगला में निकल रहे थे उनके प्रभाव से कुछ विशृंखल वस्तुविन्यास और अनूठे शीर्षकों के साथ चित्रमयी, कोमल और व्यंजक भाषा में इनकी नए ढंग की रचनाएँ संवत् १९७०-७१ से ही निकलने लगी थीं जिनमें से कुछ के भीतर रहस्य-भावना भी रहती थी।

गुप्त जी की 'नक्षत्रनिपात' (सन् १९१४), अनुरोध (सन् १९-१५), पुष्पांजलि (१९१७), स्वयं आगत (१९१८) इत्यादि कविताएँ ध्यान देने योग्य हैं। 'पुष्पांजलि' और 'स्वयं आगत' की कुछ पंक्तियाँ आगे देखिए—

(क) मेरे आँगन का एक फूल ।
सौभाग्य-भाव से मिला हुआ, श्वासोच्छ्वासन से हिला हुआ,
संसार-विटप में खिला हुआ,
झड़ पड़ा अचानक झूल-झूल ।

(ख) तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं ?
सब द्वारों पर भीड़ बड़ी है कैसे भीतर जाऊँ मैं ।

इसी प्रकार गुप्त जी की और भी बहुत-सी गीतात्मक रचनाएँ हैं, जैसे—

(ग) निकल रही है उर से आह,
ताक रहे सब तेरी राह ।
चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी,
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी ।

(घ) प्यारे ! तेरे कहने से जो यहाँ अचानक मैं आया,
दीप्ति बढ़ी दीपों की सहसा, मैंने भी ली साँस, कहा ।
सो जाने के लिये जगत् का यह प्रकाश है जाग रहा ।
किंतु उसी बुझते प्रकाश में डूब उठा मैं और बहा ।
निरुद्देश नख-रेखाओं में देखी तेरी मूर्ति, अहा !

गुप्त जी तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, किसी विशेष पद्धति या 'वाद' में न बँधकर कई पद्धतियों पर अब तक चले आ रहे हैं। पर मुकुटधर जी बराबर नूतन पद्धति ही पर चले। उनकी इस ढंग की प्रारंभिक रचनाओं में 'आँसू', 'उद्गार' इत्यादि ध्यान देने योग्य हैं। कुछ नमूने देखिए—

(क) हुआ प्रकाश तमोमय मग में,
मिला मुझे तू तत्क्षण जग में,
दंपति के मधुमय विलास में,
शिशु के स्वप्नोत्पन्न हास में,

वन्य कुसुम के शुचि सुवास में,
था तव क्रीड़ा-स्थान ।

(सन् १९१७)

(ख) मेरे जीवन की लघु तरणी,
आँखों के पानी में तर जा।
मेरे उर का छिपा खज़ाना, अहंकार का भाव पुराना,
बना आज तू मुझे दिवाना,
तप्त श्वेत बूँदों में ढर जा।

(१९१७)

(ग) जब संध्या को हट जावेगी भीड़ महान्
तब जाकर मैं तुम्हें सुनाऊँगा निज गान ।
शून्य कक्ष के अथवा कोने में ही एक
बैठ तुम्हारा करूँ वहाँ नीरव अभिषेक ।

(१९२०)

पं० बदरीनाथ भट्ट भी सन् १९१३ के पहले से ही भाव-व्यंजक और अनूठे गीत रचते आ रहे थे। दो पंक्तियाँ देखिए—

दे रहा दीपक जल कर फूल,
रोपी उज्ज्वल प्रभा-पताका अंधकार हिय हूल ।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के भी इस ढंग के कुछ गीत सन् १९१५-१६ के आस-पास मिलेंगे ।

ये कवि जगत् और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का संचार चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेम-दृष्टि डालकर, उसके रहस्य-भरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अकृत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे। भक्तिक्षेत्र में उपास्य की एकदेशीय या धर्मविशेष में प्रतिष्ठित भावना के स्थान पर सार्वभौम भावना की ओर बढ़ रहे थे जिसमें सुंदर रहस्यात्मक

संकेत भी रहते थे। अतः हिंदी-कविता की नई धारा का प्रवर्तक इन्हीं को—विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को—समझना चाहिए। इस दृष्टि से छायावाद का रूप-रंग खड़ा करनेवाले कवियों के संबंध में अँगरेज़ी या बँगला की समीक्षाओं से उठाई हुई इस प्रकार की पदावली का कोई अर्थ नहीं कि 'इन कवियों के मन में एक आँधी उठ रही थी जिसमें आन्दोलित होते हुए वे उड़े जा रहे थे; एक नूतन वेदना की छटपटाहट थी जिसमें सुख की मीठी अनुभूति भी लुकी हुई थी; रूढ़ियों के भार से दबी हुई युग की आत्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिये हाथ-पैर मार रही थी।' न कोई आँधी थी, न तूफ़ान; न कोई नई कसक थी, न वेदना; न प्राप्त युग की नाना परिस्थितियों का हृदय पर कोई नया आघात था, न उसका आहत नाद। इन बातों का कुछ अर्थ तब हो सकता था जब काव्य का प्रवाह ऐसी भूमियों की ओर मुड़ता जिन पर ध्यान न दिया गया रहा होता। छायावाद के पहले नए नए मार्मिक विषयों की ओर हिंदी-कविता प्रवृत्त होती आ रही थी। कसर थी तो आवश्यक और व्यंजक शैली की, कल्पना और संवेदना के अधिक योग की। तात्पर्य यह कि छायावाद जिस आकांक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यंजना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे धीरे अपने स्वतंत्र ढर्रे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा हो रहा था।

गुप्त जी और मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छंद नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवींद्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने ईसाई संतों के छायाभास (Phantasmata) तथा योरपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। यह 'वाद' क्या प्रकट हुआ,

एक बने-बनाए रास्ते का दरवाजा-सा खुल पड़ा और हिंदी के कुछ नए कवि उधर एकबारगी झुक पड़े। यह अपना क्रमशः बनाया हुआ रास्ता नहीं था। इसका दूसरे साहित्य-क्षेत्र में प्रकट होना, कई कवियों का इस पर एक साथ चल पड़ना और कुछ दिनों तक इसके भीतर अँगरेजी और बँगला की पदावली का जगह जगह ज्यों का त्यों अनुवाद रखा जाना, ये बातें मार्ग की स्वतंत्र उद्भावना नहीं सूचित करतीं।

'छायावाद' नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत-से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विश्रृंखलता, चित्रमयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मान कर चले। शैली की इन विशेषताओं की दूरारूढ़ साधना में ही लीन हो जाने के कारण अर्थभूमि के विस्तार की ओर उनकी दृष्टि न रही। विभाव-पक्ष या तो शून्य अथवा अनिर्दिष्ट रह गया। इस प्रकार प्रसरणोन्मुख काव्य-क्षेत्र बहुत कुछ संकुचित हो गया। असीम और अज्ञात प्रियतम के प्रति अत्यंत चित्रमयी भाषा में अनेक प्रकार के प्रेमोद्गारों तक ही काव्य की गति-विधि प्रायः बँध गई। हृत्तंत्री की झंकार, नीरव संदेश, अभिसार, अनंत-प्रतीक्षा, प्रियतम का दबे पाँव आना, आँखमिचौली, मद में झूमना, विभोर होना इत्यादि के साथ साथ शराब, प्याला, साक़ी आदि सूफ़ी कवियों के पुराने सामान भी इकट्ठे किए गए। कुछ हेर-फेर के साथ वही बँधी पदावली, वेदना का वही प्रकांड प्रदर्शन, कुछ विश्रृंखलता के साथ प्रायः सब कविताओं में मिलने लगा।

अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर काम-वासना के शब्दों में प्रेम-व्यंजना भारतीय काव्य-धारा में कभी नहीं चली, यह स्पष्ट बात "हमारे यहाँ यह भी था, वह भी था" की प्रवृत्तिवालों को अच्छी नहीं लगती। इससे खिन्न होकर वे उपनिषद् से लेकर तंत्र और योग-मार्ग तक की दौड़ लगाते हैं। उपनिषदों में आए हुए आत्मा के पूर्ण आनंदस्वरूप के निर्देश, ब्रह्मानंद की अपरिमेयता

को समझाने के लिये स्त्री-पुरुष-संबंधवाले दृष्टांत या उपमाएँ, योग के सहस्रदल कमल आदि की भावना के बीज वे बड़े संतोष के साथ उद्धृत करते हैं। यह सब करने के पहले उन्हें समझना चाहिए कि जो बात ऊपर कही गई है उसका तात्पर्य क्या है। यह कौन कहता है कि मत-मतांतरों की साधना के क्षेत्र में रहस्य-मार्ग नहीं चले? योग रहस्य-मार्ग है, तंत्र रहस्य-मार्ग है, रसायन भी रहस्य-मार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं; प्रकृत भाव-भूमि या काव्य-भूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परंपरा का कोई कवि मणिपूर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर तरह तरह के रंगमहल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।

संहिताओं में तो अनेक प्रकार की बातों का संग्रह है। उपनिषदों में ब्रह्म और जगत्, आत्मा और परमात्मा के संबंध में कई प्रकार के मत हैं। वे काव्य-ग्रंथ नहीं हैं। उनमें इधर-उधर काव्य का जो स्वरूप मिलता है वह ऐतिह्य, कर्मकांड, दार्शनिक चिंतन, सांप्रदायिक गुह्य साधना, मंत्र-तंत्र, जादू-टोना इत्यादि बहुत-सी बातों में उलझा हुआ है। विशुद्ध काव्य का निखरा हुआ स्वरूप पीछे अलग हुआ। रामायण का आदिकाव्य कहलाना साफ़ यही सूचित करता है। संहिताओं और उपनिषदों को कभी किसी ने काव्य नहीं कहा। अब सीधा सवाल यह रह गया कि क्या वाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम-व्यंजना की हो। कबीरदास किस प्रकार हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूफ़ियों के भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले, यह हम पहले दिखा आए हैं। उसी भावात्मक रहस्य-परंपरा का यह नूतन भाव-भंगी और लाक्षणिकता के साथ आविर्भाव है। बहुत रमणीय है, कुछ लोगों को अत्यंत रुचिकर है, यह और बात है।

प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिक पर्दे में ही छिपा न रह सका। हृदय की सारी काम-वासनाएँ, इंद्रियों के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच, एक बँधी हुई रूढ़ि पर व्यक्त होने लगीं। इस प्रकार रहस्यवाद से संबंध न रखनेवाली कविताएँ भी छायावाद ही कही जाने लगीं। अतः 'छायावाद' शब्द का प्रयोग रहस्यवाद तक ही न रहकर काव्य-शैली के संबंध में भी प्रतीकवाद (Symbolism) के अर्थ में होने लगा।

छायावाद की इस धारा के आने के साथ ही साथ अनेक लेखक नवयुग के प्रतिनिधि बनकर योरप के साहित्य-क्षेत्र में प्रवर्तित काव्य और कला-संबंधी अनेक नए-पुराने सिद्धांत सामने लाने लगे। कुछ दिन 'कलावाद' की धूम रही और कहा जाता रहा "कला का उद्देश्य कला ही है। इस जीवन के साथ काव्य का कोई संबंध नहीं; उसकी दुनिया ही और है। किसी काव्य के मूल्य का निर्धारण जीवन की किसी वस्तु के मूल्य के रूप में नहीं हो सकता। काव्य तो एक लोकातीत वस्तु है। कवि एक प्रकार का रहस्यदर्शी (Seer) या पैगंबर है।" इसी प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को लेकर बताया गया कि "काव्य में वस्तु या वर्ण्य-विषय कुछ नहीं; जो कुछ है वह अभिव्यंजना के ढंग का अनूठापन है।" इन दोनों वादों के अनुसार काव्य का लक्ष्य उसी प्रकार सौंदर्य की सृष्टि या योजना कहा गया जिस प्रकार बेल-बूटे या नक्क़ाशी का। कवि-कल्पना प्रत्यक्ष जगत् से अलग एक रमणीय स्वप्न घोषित किया जाने लगा और कवि सौंदर्य-भावना के मद में झूमनेवाला एक लोकातीत जीव। कला और काव्य की प्रेरणा का संबंध स्वप्न और कामवासना से बतानेवाला मत भी इधर-उधर उद्धृत हुआ। सारांश यह कि इस प्रकार के अनेक वाद-प्रवाद पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहे।

छायावाद की कविता की पहली दौड़ तो वंगभाषा की रहस्यात्मक कविताओं के सजीले और कोमल मार्ग पर हुई। पर उन कविताओं

की बहुत-कुछ गति-विधि अँगरेजी वाक्य-खंडों के अनुवाद द्वारा संघटित देख, अँगरेजी काव्यों से परिचित हिंदी-कवि सीधे अँगरेजी से ही तरह तरह के लाक्षणिक प्रयोग लेकर उनके ज्यों के त्यों अनुवाद जगह जगह अपनी रचनाओं में जड़ने लगे। 'कनक प्रभात,' 'विचारों में बच्चों की साँस,' 'स्वर्ण समय,' 'प्रथम मधुबाल,' 'तारिकाओं की तान', 'स्वप्निल कांति' ऐसे प्रयोग अजायबघर के जानवरों की तरह उनकी रचनाओं के भीतर इधर-उधर मिलने लगे। निराला जी की शैली कुछ अलग रही। उसमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का। केवल भाषा के प्रयोग-वैचित्र्य तक ही बात न रही। ऊपर जिन अनेक योरपीय वादों और प्रवादों का उल्लेख हुआ है उन सबका प्रभाव भी छायावाद कही जानेवाली कविताओं के स्वरूप पर कुछ न कुछ पड़ता रहा।

कलावाद और अभिव्यंजनावाद का पहला प्रभाव यह दिखाई पड़ा कि काव्य में भावानुभूति के स्थान पर कल्पना का विधान ही प्रधान समझा जाने लगा और कल्पना अधिकतर अप्रस्तुतों की योजना करने तथा लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और विचित्रता लाने में ही प्रवृत्त हुई। प्रकृति के नाना रूप और व्यापार इसी अप्रस्तुत योजना के काम में लाए गए। सीधे उनके मर्म की ओर हृदय प्रवृत्त न दिखाई पड़ा। पंतजी अलबत प्रकृति के कमनीय रूपों की ओर कुछ रुककर हृदय रमाते पाए गए।

दूसरा प्रभाव यह देखने में आया कि अभिव्यंजना-प्रणाली या शैली की विचित्रता ही सब कुछ समझी गई। नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया। प्रेम-क्षेत्र (कहीं आध्यात्मिक, कहीं लौकिक) के भीतर ही कल्पना की चित्र-विधायिनी क्रीड़ा के साथ प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना तथा व्रीड़ा से दौड़ी हुई प्रिय के कपोलों पर की ललाई, हाव-भाव, मधुस्राव तथा

अश्रुप्रवाह इत्यादि के रँगीले वर्णन करके ही अनेक कवि अब तक पूर्ण तृप्त दिखाई देते हैं। जगत् और जीवन के नाना मार्मिक पक्षों की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। बहुत-से नए रसिक प्रस्वेद-गंध-युक्त, चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा को ही सब कुछ समझने लगे हैं। लक्षणा-शक्ति के सहारे अभिव्यंजना-प्रणाली या काव्य-शैली का अवश्य बहुत अच्छा विकास हुआ है; पर अभी तक कुछ बँधे हुए शब्दों की रूढ़ि चली चल रही है। रीति-काल की शृंगारी कविता की भरमार की तो इतनी निंदा की गई पर वही शृंगारी कविता—कभी रहस्य का पर्दा डालकर, कभी खुले मैदान—अपनी कुछ अदा बदल कर फिर प्रायः सारा काव्य-क्षेत्र छेंक कर चल रही है।

'कलावाद' के प्रसंग में बार बार आनेवाले 'सौंदर्य' शब्द के कारण बहुत-से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगा कर कोह काफ़ की परियों या बिहिश्त के फ़रिश्तों की तरह उड़ाते हैं; सौंदर्य-चयन के लिये इन्द्रधनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग, सौरभ, स्मित आनन, अधर पल्लव इत्यादि बहुत-सी सुंदर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौंदर्य की भावना ही नहीं कर सकते। 'कला कला' की पुकार के कारण योरप में प्रगीत मुक्तकों (Lyrics) का ही अधिक चलन देखकर यहाँ भी उसी का ज़माना यह बताकर कहा जाने लगा कि अब ऐसी लंबी कविताएँ पढ़ने की किसी को फ़ुरसत कहाँ जिनमें कुछ इतिवृत्त भी मिला रहता हो। अब तो विशुद्ध काव्य की सामग्री जुटा कर सामने रख देनी चाहिए जो छोटे-छोटे प्रगीत मुक्तकों में ही संभव है। इस प्रकार काव्य में जीवन की अनेक परिस्थितियों की ओर ले जानेवाले प्रसंगों या आख्यानों की उद्भावना बंद-सी हो गई।

ख़ैरियत यह हुई कि कलावाद की उस रसवर्जिनी सीमा तक लोग नहीं बढ़े जहाँ यह कहा जाता है कि रसानुभूति के रूप में

किसी प्रकार का भाव जगाना तो वक्ताओं का काम है; कलाकार का काम तो केवल कल्पना-द्वारा बेल-बूटे या बरात की फुलवारी की तरह की शब्दमयी रचना खड़ी करके सौंदर्य की अनुभूति उत्पन्न करना है। हृदय और वेदना का पक्ष छोड़ा नहीं गया है, इससे काव्य के प्रकृत स्वरूप के तिरोभाव की आशंका नहीं है। पर छाया-वाद और कलावाद के सहसा आ धमकने से वर्तमान काव्य का बहुत-सा अंश एक बँधी हुई लीक के भीतर सिमट गया, नाना अर्थभूमियों पर न जाने पाया, यह अवश्य कहा जायगा।

छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। उसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी। भाषा के परिमार्जन-काल में किस प्रकार खड़ी बोली की कविता के रूखे-सूखे रूप से ऊबकर कुछ कवि उसमें सरसता लाने के चिह्न दिखा रहे थे, यह कहा जा चुका है। अतः आध्यात्मिक रहस्यवाद का नूतन रूप हिंदी में न आता तो भी शैली और अभिव्यंजना-पद्धति की उक्त विशेषताएँ क्रमशः स्फुरित होतीं और उनका स्वतंत्र विकास होता। हमारी काव्य-भाषा में लाक्षणिकता का कैसा अनूठा आभास घनानंद की रचनाओं में मिलता है, यह हम दिखा चुके हैं।

छायावाद जहाँ तक आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अंतर्गत रहा है। उसके आगे प्रतीकवाद या चित्रभाषावाद (Symbolism) नाम की काव्य-शैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम-गान ही करता रहा है। हर्ष की बात है कि अब कई कवि उस संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल कर जगत् और जीवन के और और मार्मिक पक्षों की ओर भी बढ़ते दिखाई दे रहे हैं। इसी के साथ ही काव्य-शैली में प्रतिक्रिया के प्रदर्शन या

नएपन की नुमाइश का शौक़ भी घट रहा है। अब अपनी शाखा की विशिष्टता को विभिन्नता की हद पर ले जाकर दिखाने की प्रवृत्ति का वेग क्रमशः कम तथा रचनाओं को सुव्यवस्थित और अर्थगर्भित रूप देने की रुचि क्रमशः अधिक होती दिखाई पड़ती है।

स्व० जयशंकरप्रसाद जो अधिकतर तो विरह-वेदना के नाना सजीले शब्द-पथ निकालते तथा लौकिक और अलौकिक प्रणय का मधु गान ही करते रहे, पर इधर 'लहर' में कुछ ऐतिहासिक वृत्त लेकर छायावाद की चित्रमयी शैली को विस्तृत अर्थभूमि पर ले जाने का प्रयास भी उन्होंने किया और जगत् के वर्तमान दुःख-द्वेषपूर्ण मानव जीवन का अनुभव करके इस 'जले जगत् के वृन्दावन बन जाने' की आशा भी प्रकट की तथा 'जीवन के प्रभात' को भी जगाया। इसी प्रकार श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'गुंजन' में सौंदर्य-चयन से आगे बढ़ जीवन के नित्य स्वरूप पर भी दृष्टि डाली है; सुख-दुःख दोनों के साथ अपने हृदय का सामंजस्य किया है और 'जीवन की गति में भी लय' का अनुभव किया है। बहुत अच्छा होता यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित्य रूप में लेकर अपनी सुंदर, चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते जिस प्रकार उन्होंने 'गुंजन' और 'युगांत' में किया है। पर "युग-वाणी' में उनकी वाणी बहुत-कुछ वर्तमान आंदोलनों की प्रतिध्वनि के रूप में परिणत होती दिखाई देती है।

निराला जी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार 'तुम' और 'मैं' में उस रहस्यमय 'नाद वेद आकार सार' का गान किया, 'जूही की कली' और 'शेफालिका' में उन्मद प्रणय-चेष्टाओं के पुष्प-चित्र खड़े किए उसी प्रकार 'जागरण-वीणा' बजाई; इस जगत् के बीच विधवा की विधुर और करुण मूर्ति खड़ी की और इधर आकर 'इलाहाबाद के पथ पर' एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रम-सीकर दिखाए। सारांश यह कि

अब शैली के वैलक्षण्य-द्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शन का वेग कम हो जाने से अर्थभूमि के रमणीय प्रसार के चिह्न भी छायावादी कहे जानेवाले कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ रहे हैं।

इधर हमारे साहित्य-क्षेत्र की प्रवृत्तियों का परिचालन बहुत-कुछ पश्चिम से होता है। कला में 'व्यक्तित्व' की चर्चा खूब फैलने से कुछ कवि लोक के साथ अपना मेल न मिलने की अनुभूति की बड़ी लंबी-चौड़ी व्यंजना, कुछ मार्मिकता और कुछ फक्कड़पन के साथ, करने लगे हैं। भाव-क्षेत्र में असामंजस्य की इस अनुभूति का भी एक स्थान अवश्य है, पर यह कोई व्यापक या स्थायी मनोवृत्ति नहीं। हमारा भारतीय काव्य उस भूमि की ओर प्रवृत्त रहा है जहाँ जाकर प्रायः सब हृदयों का मेल हो जाता है। वह सामंजस्य को लेकर—अनेकता में एकता को लेकर—चलता रहा है, असामंजस्य को लेकर नहीं।

उपर्युक्त परिवर्तनवाद और छायावाद को लेकर चलनेवाली कविताओं के साथ-साथ और दूसरी धाराओं की कविताएँ भी विकसित होती हुई चल रही हैं। द्विवेदी-काल में प्रवर्तित विविध वस्तु-भूमियों पर प्रसन्न प्रवाह के साथ चलनेवाली काव्य-धारा सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुर गोपालशरणसिंह, अनूप शर्मा, श्यामनारायण पांडेय, पुरोहित प्रतापनारायण, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' इत्यादि अनेक कवियों की वाणी के प्रसाद से विविध प्रसंग, आख्यान और विषय लेकर निखरती तथा प्रौढ़ और प्रगल्भ होती चली चल रही है। उसकी अभिव्यंजना-प्रणाली में अब अच्छी सरसता और सजीवता तथा अपेक्षित वक्रता का भी विकास होता चल रहा है।

यद्यपि कई वादों के कूद पड़ने और प्रेम-गान की परिपाटी (Love lyrics) का फ़ैशन चल पड़ने के कारण अर्थ-भूमि का बहुत कुछ संकोच हो गया और हमारे वर्तमान काव्य का बहुत-सा भाग कुछ रूढ़ियों को लेकर एक बँधी लीक पर बहुत दिनों तक

चला, फिर भी स्वाभाविक स्वच्छंदता (True Romanticism) के उस नूतन पथ का ग्रहण करके कई कवि चले जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। पं० रामनरेश त्रिपाठी के संबंध में द्वितीय उत्थान के भीतर कहा जा चुका है। तृतीय उत्थान के आरंभ में पं० मुकुटधर पांडेय की रचनाएँ छायावाद के पहले किस प्रकार नूतन, स्वच्छंद मार्ग निकाल रही थीं यह भी हम दिखा आए हैं। मुकुटधरजी की रचनाएँ नरेतर प्राणियों की गति-विधि का भी राग-रहस्यपूर्ण परिचय देती हुई स्वाभाविक स्वच्छंदता की ओर झुकती मिलेंगी। प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गति-विधि पर आत्मीयता-व्यंजक दृष्टिपात, सुख-दुःख में उनके साहचर्य की भावना ये सब बातें स्वाभाविक स्वच्छंदता के पथ-चिह्न हैं। सर्वश्री सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, ठाकुर गुरुभक्तसिंह, उदयशंकर भट्ट इत्यादि कई कवि विस्तृत अर्थ-भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता का मर्म-पथ ग्रहण करके चल रहे हैं। वे न तो केवल नवीनता के प्रदर्शन के लिये पुराने छंदों का तिरस्कार करते हैं, न उन्हीं में एकबारगी बँध कर चलते हैं। वे प्रसंग के अनुकूल परंपरागत पुराने छंदों का व्यवहार और नए ढंग के छंदों तथा चरण-व्यवस्थाओं का विधान भी करते हैं, व्यंजक चित्रविन्यास, लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता, सरस पदावली आदि का भी सहारा लेते हैं, पर इन्हीं बातों को सब कुछ नहीं समझते। एक छोटे-से घेरे में इनके प्रदर्शन मात्र से वे संतुष्ट नहीं दिखाई देते हैं। उनकी कल्पना इस व्यक्त जगत् और जीवन की अनंत वीथियों में हृदय को साथ लेकर विचरने के लिये आकुल दिखाई देती है।

तृतीयोत्थान की प्रवृत्तियों के इस संक्षिप्त विवरण से व्रजभाषा-काव्य-परंपरा के अतिरिक्त इस समय चलनेवाली खड़ी बोली की तीन मुख्य धाराएँ स्पष्ट हुई होंगी—द्विवेदी-काल की क्रमशः विस्तृत और परिष्कृत होती हुई धारा; छायावाद कही जानेवाली धारा तथा

स्वाभाविक स्वच्छंदता को लेकर चलती हुई धारा जिसके अंतर्गत राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की लालसा व्यक्त करनेवाली शाखा भी हम ले सकते हैं। ये धाराएँ वर्तमान काल में चल रही हैं और अभी इतिहास की सामग्री नहीं बनी हैं। इसलिये इनके भीतर की कुछ कृतियों और कुछ कवियों का थोड़ा-सा विवरण देकर ही हम संतोष करेंगे। इनके बीच मुख्य भेद वस्तु-विधान और अभिव्यंजन-कला के रूप और परिमाण में है। पर काव्य की भिन्न भिन्न धाराओं के भेद इतने निर्दिष्ट नहीं हो सकते कि एक की कोई विशेषता दूसरी में कहीं दिखाई ही न पड़े। जब कि धाराएँ साथ-साथ चल रही हैं तब उनका थोड़ा-बहुत प्रभाव एक दूसरे पर पड़ेगा ही। एक धारा का कवि दूसरी धारा की किसी विशेषता में भी अपनी कुछ निपुणता दिखाने की कभी कभी इच्छा कर सकता है। धाराओं का विभाग सबसे अधिक सामान्य प्रवृत्ति देखकर ही किया जा सकता है। फिर भी दो-चार कवि ऐसे रह जायँगे जिनमें सब धाराओं की विशेषताएँ समान रूप से पाई जायँगी, जिनकी रचनाओं का स्वरूप मिला-जुला होगा। कुछ विशेष प्रवृत्ति होगी भी तो व्यक्तिगत होगी।

१—व्रजभाषा काव्य-परंपरा

जैसा कि द्वितीयोत्थान के अंत में कहा जा चुका है, व्रजभाषा की काव्य-परंपरा भी चली चल रही है। यद्यपि खड़ी बोली का चलन हो जाने से अब व्रजभाषा की रचनाएँ प्रकाशित बहुत कम होती हैं पर अभी देश में न जाने कितने कवि नगरों और ग्रामों में बराबर व्रज-वाणी की रसधारा बहाते चल रहे हैं। जब कहीं किसी स्थान पर कवि-संमेलन होता है तब न जाने कितने अज्ञात कवि आकर अपनी रचनाओं से लोगों को तृप्त कर जाते हैं। रत्नाकरजी की 'उद्धवशतक' ऐसी उत्कृष्ट रचनाएँ इस तृतीय उत्थान में ही निकली थीं। सर्गबद्ध प्रबंध काव्यों में हमारा 'बुद्धचरित' संवत् १९७९ में प्रकाशित हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध का लोकपावन चरित उसी परंपरागत काव्य-भाषा में वर्णित है जिसमें रामकृष्ण की लीला का अब भी घर घर गान होता है। श्री वियोगी हरि जी की 'वीरसतसई' पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिले बहुत दिन नहीं हुए। देव-पुरस्कार से पुरस्कृत श्री दुलारेलाल जी भार्गव के दोहे बिहारी के रास्ते पर चल ही रहे हैं। अयोध्या के श्री रामनाथ ज्योतिषी को 'रामचंद्रोदय' काव्य के लिये देव-पुरस्कार, थोड़े ही दिन हुए, मिला है। मेवाड़ के श्री केसरीसिंह बारहठ का 'प्रताप-चरित्र' वीररस का एक बहुत उत्कृष्ट काव्य है जो संवत् १९९२ में प्रकाशित हुआ है। पंडित गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की सरस कविताओं की धूम कवि-संमेलनों में बराबर रहा करती है। प्रसिद्ध कलाविद् राय कृष्णदास जी का 'ब्रजरज' इसी तृतीयोत्थान के भीतर प्रकाशित हुआ है। इधर श्री उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' जी की 'व्रज-भारती' में व्रज-भाषा बिलकुल नई सज-धज के साथ दिखाई पड़ी है।

हम नहीं चाहते, और शायद कोई भी नहीं चाहेगा, कि व्रजभाषा-काव्य की धारा लुप्त हो जाय। उसे यदि इस काल में भी चलना है तो वर्तमान भावों को ग्रहण करने के साथ ही साथ भाषा का भी कुछ परिष्कार करना पड़ेगा। उसे चलती व्रज-भाषा के अधिक मेल में लाना होगा। अप्रचलित संस्कृत शब्दों को भी अब बिगड़े रूपों में रखने की आवश्यकता नहीं। 'बुद्धचरित' काव्य में भाषा के संबंध में हमने इसी पद्धति का अनुसरण किया था और कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ी थी।

— —

२—द्विवेदी-काल में प्रवर्तित खड़ी बोली की काव्य-धारा

इस धारा का प्रवर्तन द्वितीय उत्थान में इस बात को लेकर हुआ था कि व्रज-भाषा के स्थान पर अब प्रचलित खड़ी बोली में कविता होनी चाहिए; शृंगार रस के कवित्त, सवैये बहुत लिखे जा चुके, अब और और विषयों को लेकर तथा और और छंदों में भी रचना चलनी चाहिए। खड़ी बोली को पद्यों में अच्छी तरह ढलने में जो काल लगा उसके भीतर की रचना तो बहुत-कुछ इतिवृत्तात्मक रही, पर इधर इस तृतीय उत्थान में आकर यह काव्य-धारा कल्पनान्वित, भावाविष्ट और अभिव्यंजनात्मक हुई। भाषा का कुछ दूर तक चलता हुआ स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। खड़ी बोली वास्तव में इसी धारा के भीतर मँजी है। भाषा का मँजना वहीं संभव होता है जहाँ उसकी अपनी गति-विधि का पूरा समावेश होता है और कुछ दूर तक चलनेवाले वाक्य सफ़ाई के साथ पद्यों में बैठते चले जाते हैं। एक संबंध-सूत्र में बद्ध कई अर्थ-समूहों की एक समन्वित भावना व्यक्त करने के लिये ही ऐसी भाषा अपेक्षित होती है। जहाँ एक दूसरे से असंबद्ध छोटी-छोटी भावनाओं को लेकर वाग्वैशिष्ट्य की झलक या चलचित्र की-सी छाया दिखाने की प्रवृत्ति प्रधान होगी वहाँ भाषा की समन्वय-शक्ति का परिचय न मिलेगा। व्यापक समन्वय के बिना कोई ऐसा समन्वित प्रभाव भी नहीं पड़ सकता जो कुछ काल तक स्थायी रहे। स्थायी प्रभाव की ओर लक्ष्य इस काव्य-धारा में बना हुआ है।

दूसरी बात जो इस धारा के भीतर मिलती है वह है हमारे यहाँ के प्रचलित छंदों या उनके भिन्न भिन्न योगों से संघटित छंदों का व्यवहार। इन छंदों की लयों के भीतर नाद-सौंदर्य की हमारी रुचि

निहित है। नवीनता में बट्टा लगने के डर से ही इन छंदों को छोड़ना सहृदयता से अपने को दूर बताना है। नई रंगत की कविताओं में जो पद्य या चरण रखे जाते हैं उन्हें प्राय: अलापने की जरूरत होती है। पर ठीक लय के साथ कविता पढ़ना और आलाप के साथ गाना दोनों अलग अलग हैं।

इस धारा में कल्पना और भावात्मिका वृत्ति अधर में नाचती तो नहीं मिलती हैं पर बोध-वृत्ति द्वारा उद्घाटित भूमि पर टिककर उसकी मार्मिकता का प्रकाश करती अवश्य दिखाई पड़ती है। इससे कला का कुतूहल तो नहीं खड़ा होता, पर हृदय को रमानेवाली बात सामने आ जाती है। यह बात तो स्पष्ट है कि ज्ञान ही काव्य के संचरण के लिये रास्ता खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही हृदय-प्रसार होता है और हृदय-प्रसार ही काव्य का सच्चा लक्ष्य है। अत: ज्ञान के साथ लगकर ही जब हमारा हृदय परिचालित होगा तभी काव्य की नई नई मार्मिक अर्थभूमियों की ओर वह बढ़ेगा। ज्ञान को किनारे रखकर, उसके द्वारा सामने लाए हुए जगत् और जीवन के नाना पक्षों की ओर न बढ़कर, यदि काव्य प्रवृत्त होगा तो किसी एक भाव को लेकर अभिव्यंजना के वैचित्र्य-प्रदर्शन में ही लगा रह जायगा। इस दशा में काव्य का विभाव पक्षशून्य होता जायगा, उसकी अनेकरूपता सामने न आएगी। इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यह धारा एक समीचीन पद्धति पर चली है। इस पद्धति के भीतर इधर आकर काव्यत्व का अच्छा विकास हो रहा है, यह देखकर प्रसन्नता होती है।

अब इस पद्धति पर चलनेवाले कुछ प्रमुख कवियों का उल्लेख किया जाता है।

ठाकुर गोपालशरणसिंह—ठाकुर साहब अनेक मार्मिक विषयों का चयन करते चले हैं। इससे इनकी रचनाओं के भीतर खड़ी बोली बराबर मँजती चली आ रही है। इन रचनाओं का आरंभ

संवत् १९७१ से होता है। अब तक इनकी रचनाओं के पाँच संग्रह निकल चुके हैं—माधवी, मानवी, संचिता, ज्योतिष्मती और कादंबिनी। प्रारंभिक रचनाएँ साधारण हैं, पर आगे चलकर हमें बराबर मार्मिक उद्भावना तथा अभिव्यंजना की एक विशिष्ट पद्धति मिलती है। इनकी छोटी छोटी रचनाओं में, जिनमें से कुछ गेय भी हैं, जीवन की अनेक दशाओं की झलक है। 'मानवी' में इन्होंने नारी को दुलहिन, देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी, वारांगना इत्यादि अनेक रूपों में देखा है। 'ज्योतिष्मती' के पूर्वार्द्ध में तो असीम और अव्यक्त 'तुम' है और उत्तरार्द्ध में ससीम और व्यक्त 'मैं' संसार के बीच। इसमें प्रायः उन्हीं भावों की व्यंजना है जिनकी छायावाद के भीतर होती है, पर ढंग बिल्कुल अलग अर्थात् रहस्यदर्शियों का-सा न होकर भोले-भाले भक्तों का-सा है। कवि ने प्रार्थना भी की है कि—

पृथ्वी पर ही मेरे पद हों,
दूर सदा आकाश रहे।

व्यंजना को गूढ़ बनाने के लिये कुछ असंबद्धता लाने, नितांत अपेक्षित पद या वाक्य भी छोड़ देने, अत्यंत अस्फुट संबंध के आधार पर उपलक्षणों का व्यवहार करने का प्रयत्न इनकी रचनाओं में नहीं पाया जाता। आज-कल बहुत चलते हुए कुछ रमणीय लाक्षणिक प्रयोग अवश्य कहीं कहीं मिलते हैं। कुछ प्रगीत मुक्तकों में यत्र-तत्र छायावादी कविता के ढंग के रूपक भी इन्होंने रखे हैं, पर वे खुल कर सामने आते हैं, जैसे—

सज-धजकर मृदु व्यथा-सुंदरी तजकर सब घर-बार।
दुःख-यामिनी में जीवन की करती है अभिसार॥

उस अनंत के साथ अपना 'अटल संबंध' कवि बड़ी सफ़ाई से इतने ही में व्यक्त कर देता है—

तू अनंत द्युतिमय प्रकाश है, मैं हूँ मलिन अँधेरा,
पर सदैव संबंध अटल है, जग में मेरा तेरा।
उदय-अस्त तक तेरा साथी मैं ही हूँ इस जग में,
मैं तुझमें ही मिल जाता हूँ होता जहाँ सबेरा॥

'मानवी' में अभागिनी को संबोधन करके कवि कहता है—

चुकती है नहीं निशा तेरी, है कभी प्रभात नहीं होता।
तेरे सोहाग का सुख, बाले! आजीवन रहता है सोता॥
हैं फूल फूल जाते मधु में, सुरभित मलयानिल बहती है।
सब लता-वल्लियाँ खिलती हैं, बस तू मुरझाई रहती है॥
सब आशाएँ-अभिलाषाएँ, उर-कारागृह में बंद हुईं।
तेरे मन की दुख-ज्वालाएँ, मेरे मन में छंद हुईं॥

अनूप शर्मा—बहुत दिनों तक ये व्रज-भाषा में ही अपनी ओजस्विनी वाग्धारा बहाते रहे। खड़ी बोली का ज़माना देखकर ये उसकी ओर मुड़े। कुणाल का चरित्र इन्होंने 'सुनाल' नामक खंड-काव्य में लिखा। फिर बुद्ध भगवान् का चरित्र लेकर 'सिद्धार्थ' नामक अठारह सर्गों का एक महाकाव्य संस्कृत के अनेक वर्ण-वृत्तों में इन्होंने लिखा। इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह 'सुमनांजलि' में है। इन्होंने फुटकल प्रसंगों के लिये कवित्त ही चुना है। भाषा के सरल प्रवाह के अतिरिक्त इनकी सबसे बड़ी विशेषता है व्यापक दृष्टि जिससे ये हमारे ज्ञान-पथ में आनेवाले अनेक विषयों को अपनी कल्पना द्वारा आकर्षक और मार्मिक रूप में रखकर काव्य-भूमि के भीतर ले आए हैं। जगत् के इतिहास, विज्ञान आदि द्वारा हमारा ज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी ले जाना आधुनिक कवियों का एक काम होना चाहिए। अनूप जी इसकी ओर बढ़े हैं। 'जीवन-मरण' में कवि की कल्पना जगत् के इतिहास की विविध भूमियों के चित्र सामने लाई है। इसी प्रकार 'विराट्-

भ्रमण' में देवी के आकाशचारी रथ पर बैठ कवि ने इस विराट् विश्व का दर्शन किया है। एक झलक देखिए—

पीछे दृष्टिगोचर था गोल चक्र पूषण का,
घूमता हुआ जो नील संपुटी में चलता।
मानो जलयान के वितल पृष्ठ भाग मध्य,
आता चला फेन पीत पिंड-सा उबलता॥
उछल रहे थे धूमकेतु धुरियों से तीव्र,
यान-के तु-ताड़ित भचक्र था उछलता।
मारुत का, मन का, प्रवेग पड़ा पीछे जब—
आगे चला बाजि-यूथ आतप उगलता॥

श्री जगदंबाप्रसाद 'हितैषी'—खड़ी बोली के कवित्तों और सवैयों में ये वही सरसता, वही लचक, वही भाव-भंगी लाए हैं जो व्रजभाषा के कवित्तों और सवैयों में पाई जाती है। इस बात में इनका स्थान निराला है। यदि खड़ी बोली की कविता आरंभ में ऐसी ही सजीवता के साथ चली होती जैसी इनकी रचनाओं में पाई जाती है तो उसे रूखी और नीरस कोई न कहता। रचनाओं का रंग-रूप अनूठा और आकर्षक होने पर भी अजनबी नहीं है। शैली वही पुराने उस्तादों के कवित्त-सवैयों की है जिनमें वाग्धारा अंतिम चरण पर जाकर चमक उठती है। हितैषी जी ने अनेक काव्योपयुक्त विषय लेकर फुटकल छोटी-छोटी रचनाएँ की हैं जो 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' में संगृहीत हैं। अन्योक्तियाँ इनकी बहुत मार्मिक हैं। रचना के कुछ नमूने—

किरण

दुखिनी बनी दीन कुटी में कभी, महलों में कभी महरानी बनी।
बनी फूटती ज्वालामुखी तो कभी, हिमकूट की देवी हिमानी बनी॥
चमकी बन विद्युत् रौद्र कभी, घन आनंद अश्रु-कहानी बनी।
सविता-ससि-स्नेह सोहाग-सनी, कभी आग बनी कभी पानी बनी॥

भवसिंधु के बुद्बुद प्राणियों की तुम्हें शीतल श्वासा कहें, कहो तो।
अथवा छलनी बने अंबर के उर की अभिलाषा कहें, कहो तो॥
घुलते हुए चंद्र के प्राण की पीड़ा-भरी परिभाषा कहें, कहो तो।
नभ से गिरती नखतावलि के नयनों की निराशा कहें, कहो तो॥

परिचय

हूँ हितैषी सताया हुआ किसी का, हर तौर किसी का बिसारा हुआ।
घर से किसी के हूँ निकाला हुआ, दर से किसी के दुतकारा हुआ॥
नज़रों से गिराया हुआ किसी का, दिल से किसी का हूँ उतारा हुआ।
अजी, हाल हमारा हो पूछते क्या? हूँ मुसीबत का इक मारा हुआ॥

श्री श्यामनारायण पांडेय—इन्होंने पहले "त्रेता के दो वीर" नामक एक छोटा-सा काव्य लिखा था जिसमें लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध के कई प्रसंग लेकर दोनों वीरों का महत्त्व चित्रित किया गया था। यह रचना हरिगीतिका तथा संस्कृत के कई वर्ण-वृत्तों में द्वितीय उत्थान की शैली पर है। 'माधव' और 'रिमझिम' नाम की इनकी दो और छोटी-छोटी रचनाएँ हैं। इनकी ओजस्विनी प्रतिभा का पूर्ण विकास 'हल्दीघाटी' नामक १७ सर्गों के महाकाव्य में दिखाई पड़ा। 'उत्साह' की अनेक अंतर्दशाओं की व्यंजना तथा युद्ध की अनेक परिस्थितियों के चित्रण से पूर्ण यह काव्य खड़ी बोली में अपने ढंग का एक ही है। युद्ध के समाकुल वेग और संघर्ष का ऐसा सजीव और प्रवाहपूर्ण वर्णन बहुत कम देखने में आता है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

सावन का हरित प्रभात रहा, अंबर पर थी घनघोर घटा।
फहरा कर पंख थिरकते थे, मन भाती थी बन-मोर-छटा।
बारिद के उर में चमक दमक, तड़ तड़ थी बिजली तड़क रही।
रह रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही।

× × × ×

धरती की प्यास बुझाने को, वह घहर रही थी घनसेना।
लोहू पीने के लिये खड़ी, यह हहर रही थी जनसेना।
नभ पर चम चम चपला चमकी, चम चम चमकी तलवार इधर।
भैरव अमंद घननाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर।

× × × ×

कलकल बहती थी रणगंगा, अरिदल को डूब नहाने को।
तलवार बीर की नाव बनी, चटपट उस पार लगाने को।
बैरीदल की ललकार गिरी, वह नागिन-सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो, बचो; तलवार गिरी, तलवार गिरी।
क्षण इधर गई, क्षण उधर गई, क्षण चढ़ी बाढ़-सी उतर गई।
था प्रलय चमकती जिधर गई, क्षण शोर हो गया किधर गई॥

पुरोहित प्रतापनारायण—इन्होंने 'नलनरेश' नामक महाकाव्य १९ सर्गों में रोला, हरिगीतिका आदि हिंदी-छंदों में लिखा है। इसकी शैली अधिकतर उस काल की है जिस काल में द्विवेदी जी के प्रभाव से खड़ी बोली हिंदी के पद्यों में परिमार्जित होती हुई ढल रही थी। खड़ी बोली की काव्य-शैली में इधर मार्मिकता, भावाकुलता और वक्रता का जो विकास हुआ है उसका आभास इस ग्रंथ में नहीं मिलता। अलंकारों की योजना बीच बीच में अच्छी की गई है। इस ग्रंथ में महाकाव्य की उन सब रूढ़ियों का अनुसरण किया गया है जिनके कारण हमारे यहाँ के मध्यकाल के बहुत-से प्रबंध-काव्य कृत्रिम और प्रभावशून्य हो गए। इस बीसवीं सदी के लोगों का मन विरह-ताप के लेपादि उपचार, चंद्रोपालंभ इत्यादि में नहीं रम सकता। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में भी कुछ ऐसी रूढ़ियों का अनुसरण जी उबाता है। 'मन के मोती' और 'नव निकुंज' में प्रतापनारायण जी की खड़ी बोली की फुटकल रचनाएँ संगृहीत हैं जिनकी शैली अधिकतर इतिवृत्तात्मक है। 'काव्य-कानन' नामक बड़े संग्रह में ब्रजभाषा की भी कुछ कविताएँ हैं।

तुलसीराम शर्मा 'दिनेश' ने २७२ पृष्ठों का एक बड़ा भारी काव्य-ग्रंथ पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित के विविध अंगों को लेकर लिखा है। यह आठ अंगों में समाप्त हुआ है। इसमें कई पात्रों के मुँह से आधुनिक समय में उठे हुए भावों की व्यंजना कराई गई है। जैसे, श्रीकृष्ण उद्धव द्वारा गोपियों को सँदेसा भेजते हैं कि—

दीन-दरिद्रों के देहों को मेरा मंदिर मानो।
उनके आर्त्त उसासों को ही वंशी के स्वर जानो।

इसी प्रकार द्वारका के दुर्ग पर बैठकर कृष्ण भगवान् बलराम का ध्यान कृषकों की दशा की ओर इस प्रकार आकर्षित करते हैं—

जो ढकता है जग के तन को, जो रखता लज्जा सबकी।
जिसके पूत पसीने द्वारा बनती है मज्जा सबकी।
आज कृषक वह पिसा हुआ है इन प्रमत्त भूपों द्वारा।
उसके घर की गायों का रे! दूध बना मदिरा सारा।

पुरुषों के सब कामों में हाथ बँटाने की सामर्थ्य स्त्रियाँ रखती हैं यह बात रुक्मिणी कहती मिलती हैं।

यह सब होने पर भी भाषा प्रौढ़, चलती और आकर्षक नहीं।

३—छायावाद

संवत् १९७० तक किस प्रकार 'खड़ी बोली' के पद्यों में ढलकर मँजने की अवस्था पार हुई और श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडे आदि कई कवि खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अंतर्भाव-व्यंजक रूप-रंग देने में प्रवृत्त हुए, यह कहा जा चुका है। उनके कुछ रहस्य-भावापन्न प्रगीत मुक्तक भी दिखाए जा चुके हैं। वे किस प्रकार काव्य-क्षेत्र का प्रसार चाहते थे, प्रकृति की साधारण-असाधारण वस्तुओं से अपने चिर संबंध का सच्चा मार्मिक अनुभव करते हुए चले थे, इसका भी निर्देश हो चुका है।

यह स्वच्छंद नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवींद्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद' या 'चित्रभाषावाद' को ही एकांत ध्येय बनाकर चल पड़े। 'चित्रभाषा' या अभिव्यंजन-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिये लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफ़ी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने 'छायावाद' का नाम ग्रहण किया।

रहस्य-भावना और अभिव्यंजन-पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने और काव्य को केवल कल्पना की सृष्टि कहने का चलन हो जाने से भावानुभूति तक कल्पित होने लगी। जिस प्रकार अनेक प्रकार की रमणीय वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसी प्रकार अनेक प्रकार की विचित्र भावानुभूतियों की कल्पना भी बहुत कुछ होने लगी। काव्य की प्रकृत पद्धति तो यह है कि वस्तु-योजना चाहे लोकोत्तर हो पर भावानुभूति का स्वरूप सच्चा अर्थात् स्वाभाविक वासनाजन्य हो। भावानुभूति का स्वरूप भी यदि कल्पित होगा तो हृदय से उसका

संबंध क्या रहेगा? भावानुभूति भी यदि ऐसी होगी जैसी नहीं हुआ करती तो सचाई (Sincerity) कहाँ रहेगी? यदि कोई मृत्यु को केवल जीवन की पूर्णता कहकर उसका प्रबल अभिलाष व्यंजित करे, अपने मर-मिटने के अधिकार पर गर्व की व्यंजना करे तो कथन के वैचित्र्य से हमारा मनोरंजन तो अवश्य होगा पर ऐसे अभिलाष या गर्व की कहीं सत्ता मानने की आवश्यकता न होगी।

'छायावाद' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्य-वस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अंतर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को योरप में 'छाया' (Phantasmata) कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य-क्षेत्र में आया और फिर रवींद्र बाबू की धूम मचने पर हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।

'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेष के व्यापक अर्थ में है। सन् १८८५ में फ्रांस में रहस्यवादी कवियों का एक दल खड़ा हुआ जो प्रतीकवादी (Symbolists) कहलाया। वे अपनी रचनाओं में प्रस्तुतों के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रतीकों को लेकर चलते थे। इसी से उनकी शैली की ओर लक्ष्य करके 'प्रतीकवाद' शब्द का व्यवहार होने लगा। आध्यात्मिक या ईश्वरप्रेम-संबंधी कविताओं के अतिरिक्त और सब प्रकार की कविताओं के लिये भी प्रतीक-शैली की ओर वहाँ प्रवृत्ति रही। हिंदी में 'छायावाद' शब्द

का जो व्यापक अर्थ में—रहस्यवादी रचनाओं के अतिरिक्त और प्रकार की रचनाओं के संबंध में भी—ग्रहण हुआ वह इसी प्रतीक-शैली के अर्थ में। छायावाद का सामान्यत: अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन। इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है।

'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिंदी काव्य-क्षेत्र में चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पंत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए।

रहस्यवाद के भीतर आनेवाली रचनाएँ तो थोड़ी या बहुत सभी ने उक्त पद्धति पर की हैं, पर उनकी शब्द-कला—वासनात्मक प्रणयोद्गार, वेदनाविवृति, सौंदर्यसंघटन, मधुचर्या, अतृप्ति-व्यंजना इत्यादि में अधिकतर नियुक्त रही। जीवन के अवसाद, विषाद और नैराश्य की झलक भी उनके मधुमय गानों में मिलती रही। इसी परिमित क्षेत्र के भीतर चित्रभाषा-शैली का वैलक्षण्य के साथ वे प्रदर्शन करते रहे। जैसा कि सामान्य परिचय के भीतर कहा जा चुका है, वैलक्षण्य लाने के लिये अँगरेजी की लाक्षणिक पदावलियों के अनुवाद भी ज्यों के त्यों रखे जाते रहे। जिनकी प्रवृत्ति लाक्षणिक वैचित्र्य की ओर कम थी वे बंगभाषा के कवियों के ढंग पर अतिरंजक या नादानुकृत पदावली गुंफित करने में अधिक तत्पर दिखाई दिए।

चित्रभाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति के अंतर्गत जिस प्रकार वाचक पदों के स्थान पर लक्षक पदों का व्यवहार आता है उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसंग के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाले अप्रस्तुत चित्रों का विधान भी। अत: अन्योक्ति-पद्धति का अवलंबन भी छायावाद का एक विशेष लक्षण हुआ। यह पहले कहा जा चुका है कि छायावाद का चलन द्विवेदी-काल की रूखी इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप

में हुआ था। अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षणा और अन्योक्ति के प्राचुर्य के रूप में ही नहीं, कहीं कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार के रूप में भी हुआ। इनमें से उपादान और लक्षण-लक्षणाओं को छोड़ और सब बातें किसी न किसी प्रकार की साम्य-भावना के आधार पर ही खड़ी होनेवाली हैं। साम्य को लेकर अनेक प्रकार की अलंकृत रचनाएँ बहुत पहले भी होती थीं तथा रीतिकाल और उसके पीछे भी होती रही हैं। अतः छायावाद की रचनाओं के भीतर साम्य-ग्रहण की उस प्रणाली का निरूपण आवश्यक है जिसके कारण उसे एक विशिष्ट रूप प्राप्त हुआ।

हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है। सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्द-साम्य (दो भिन्न वस्तुओं का एक ही नाम होना)। इनमें से अंतिम तो श्लेष की शब्द-क्रीड़ा दिखानेवालों के ही काम का है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में प्रभाव-साम्य छिपा मिलेगा। सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौंदर्य, दीप्ति, कांति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं। काव्य में बँधे चले आते हुए उपमान अधिकतर इसी प्रकार के हैं। केवल रूप-रंग, आकार या व्यापार को ऊपर ऊपर से देख कर या नाप-जोख कर, भावना पर उनका प्रभाव परखे बिना, वे नहीं रखे जाते थे। पीछे कवि-कर्म के बहुत कुछ श्रमसाध्य या अभ्यासगम्य होने के कारण जब कृत्रिमता आने लगी तब बहुत-से उपमान केवल बाहरी नाप-जोख के अनुसार भी रखे जाने लगे। कटि की सूक्ष्मता दिखाने के लिये सिंहिनी और भिड़ सामने लाई जाने लगी।

छायावाद बड़ी सहृदयता के साथ प्रभाव-साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रखकर चला है। कहीं कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य

अत्यंत अल्प या न रहने पर भी अभ्यंतर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप में या प्रतीकवत् (Symbolic) होते हैं—जैसे, सुख, आनंद, प्रफुल्लता, यौवनकाल इत्यादि के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर मधुप, श्वेत या शुभ्र के स्थान पर कुंद, रजत; माधुर्य के स्थान पर मधु, दीप्तिमान् या कांतिमान् के स्थान पर स्वर्ण, विषाद या अवसाद के स्थान पर अंधकार, अँधेरी रात, संध्या की छाया, पतझड़; मानसिक आकुलता या क्षोभ के स्थान पर झंझा, तूफ़ान; भाव-तरंग के लिये झंकार; भाव-प्रवाह के लिये संगीत या मुरली का स्वर इत्यादि। आभ्यंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य-शैली की असली विशेषता है।

हिंदी-काव्य-परंपरा में अन्योक्ति-पद्धति का प्रचार तो रहा है, पर लाक्षणिकता का एक प्रकार से अभाव ही रहा। केवल कुछ रूढ़ लक्षणाएँ मुहावरों के रूप में कहीं कहीं मिल जाती थीं। ब्रजभाषा कवियों में लाक्षणिक साहस किसी ने दिखाया तो घनानंद ने। इस तृतीय उत्थान में सबसे अधिक लाक्षणिक साहस पंतजी ने अपने 'पल्लव' में दिखाया। जैसे—

(१) धूल की ढेरी में अनजान। छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
(धूल की ढेरी = असुन्दर वस्तुएँ। मधुमय गान = गान के विषय अर्थात् सुंदर वस्तुएँ।)

(२) मर्म-पीड़ा के हास (हास = विकास, समृद्धि। विरोध-वैचित्र्य के लिये व्यंग्य-व्यंजक संबंध को लेकर लक्षणा।) (मर्म-पीड़ा के हास! = हे मेरे पीड़ित मन!—आधार-आधेय संबंध लेकर)।

(३) चाँदनी का स्वभाव में वास। विचारों में बच्चों की साँस।
(चाँदनी = मृदुलता, शीतलता। बच्चों की साँस = भोलापन)।

(४) मृत्यु का यही दीर्घ निश्वास (मृत्यु = आसन्नमृत्यु व्यक्ति अथवा मृतक के लिये शोक करनेवाले व्यक्ति)।

(५) कौन तुम अतुल अरूप अनाम (शिशु के लिये। अल्पार्थक के स्थान पर निषेधार्थक)।

'पल्लव' में प्रतिक्रिया के आवेश के कारण वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक थी, जिसके लिये कहीं कहीं अँगरेज़ी के लाक्षणिक प्रयोग भी ज्यों के त्यों लिए गए। पर पीछे यह प्रवृत्ति घटती गई।

'प्रसाद' की रचनाओं में शब्दों के लाक्षणिक वैचित्र्य की प्रवृत्ति उतनी नहीं रही है जितनी साम्य की दूरारूढ़ भावना की। उनके उपलक्षण (Symbols) सामान्य अनुभूति के मेल में होते थे। जैसे—

(१) झंझा झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला।
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा डाला॥

(झंझा झकोर = क्षोभ, आकुलता। गर्जन = वेदना की तड़प। बिजली = चमक या टीस। नीरदमाला = अंधकार। शून्य शब्द विशेषण के अतिरिक्त आकाश-वाचक भी है, जिससे उक्ति में बहुत सुंदर समन्वय आ जाता है।)

(२) पतझड़ था, झाड़ खड़े थे सूखे से फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछाकर आए तुम इस क्यारी में॥

(पतझड़ = उदासी। किसलयदलकुसुम = वसंत = सरसता और प्रफुल्लता)—'आँसू'

(३) काँटों ने भी पहना मोती। (कटीले पौधों = पीड़ा पहुँचाने-वाले कठोर-हृदय मनुष्यों। पहना मोती = हिमबिंदु धारण किया = अश्रुपूर्ण हुए)—'लहर'

अप्रस्तुत किस प्रकार एकदेशीय, सूक्ष्म और धुँधले पर मर्म-व्यंजक साम्य का धुँधला-सा आधार लेकर खड़े किए जाते हैं, यह बात नीचे के कुछ उद्धरणों से स्पष्ट हो जाएगी—

(१) उठ उठ री लघु लघु लोल लहर।
करुणा की नव अँगड़ाई-सी, मलयानिल की परछाई-सी,
इस सूखे तट पर छहर छहर॥
(लहर = सरस-कोमल भाव। सूखा तट = शुष्क जीवन। अप्रस्तुत या उपमान भी लाक्षणिक हैं।)

(२) गूढ़ कल्पना-सी कवियों की, अज्ञाता के विस्मय-सी
ऋषियों के गंभीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय-सी। 'छाया'

(३) गिरिवर के उर से उठ उठ कर, उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर।

(उठे हुए पेड़ों का साम्य मनुष्य के हृदय की उन उच्च आकांक्षाओं से जो लोक के परे जाती हैं।)

(४) बनबाला के गीतों-सा निर्जन में बिखरा है मधुमास।

छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप में ही अधिकतर होती हैं। इससे उनमें अन्विति कम दिखाई पड़ती है। जहाँ यह अन्विति होती है वहाँ समूची रचना अन्योक्ति-पद्धति पर की जाती है। इस प्रकार साम्य-भावना का ही प्राचुर्य हम सर्वत्र पाते हैं। यह साम्य-भावना हमारे हृदय का प्रसार करनेवाली, शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के गूढ़ संबंध की धारणा बँधानेवाली, अत्यंत अपेक्षित मनोभूमि है, इसमें संदेह नहीं। पर यह सच्चा मार्मिक प्रभाव वहीं उत्पन्न करती है जहाँ यह प्राकृतिक वस्तु या व्यापार से प्राप्त सच्चे आभास के आधार पर खड़ी होती है। प्रकृति अपने अनंत रूपों और व्यापारों के द्वारा अनेक बातों की गूढ़ या अगूढ़ व्यंजना करती रहती है। इस व्यंजना को न परखकर या न ग्रहण करके जो साम्य-विधान होगा वह मन-

माना आरोप-मात्र होगा। इस अनंत विश्व महाकाव्य की व्यंजनाओं की परख के साथ जो साम्य-विधान होता है वही मार्मिक और उद्‌बोधक होता है। जैसे—

दुखदावा से नव अंकुर पाता जग जीवन का बन
करुणार्द्र विश्व का गर्जन बरसाता नव जीवन कण।
खुल खुल नव इच्छाएँ फैलातीं जीवन के दल।
यह शैशव का सरल हास है, सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है, जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है, कलानाथ जिसमें खिँच आता।

× × × ×

हँस पड़े कुसुमों में छविमान, जहाँ जग में पदचिह्न पुनीत।
वहीं सुख में आँसू बन प्राण, ओस में लुढ़क दमकते गीत॥

—गुंजन

मेरा अनुराग फैलने दो, नभ के अभिनव कलरव में।
जाकर सूनेपन के तम में, बन किरन कभी आ जाना।

अखिल की लघुता आई बन, समय का सुंदर वातायन
देखने को अदृष्ट नर्त्तन।

—लहर

जल उठा स्नेह दीपक-सा, नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूमरेखा से, चित्रित कर रहा अँधेरा॥

—आँसू

मनमाने आरोप, जिनका विधान प्रकृति के संकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्मस्तल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचित्र्य का कुतूहल

मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। छायावाद की कविता पर कल्पनावाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद आदि का भी प्रभाव ज्ञात या अज्ञात रूप में पड़ता रहा है। इससे बहुत-सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोप के रूप में भी सामने आता है। प्रकृति के वस्तु-व्यापारों पर मानुषी वृत्तियों के आरोप का बहुत अधिक चलन हो जाने से कहीं-कहीं ये आरोप वस्तु-व्यापारों की प्रकृत व्यंजना से बहुत दूर जा पड़े हैं, जैसे— चाँदनी के इस वर्णन में—

(१) जग के दुख दैन्य शयन पर यह रुग्णा जीवन-बाला।
पीली पड़, निर्बल, कोमल, कृश देह-लता कुम्हलाई।
विवसना, लाज में लिपटी, साँसों में शून्य समाई।

चाँदनी अपने-आप इस प्रकार की भावना मन में नहीं जगाती। उसके संबंध में यह उद्भावना भी केवल स्त्री की सुंदर मुद्रा सामने खड़ी करती जान पड़ती है—

(२) नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनि।
मृदु करतल पर शशिमुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनि॥

इसी प्रकार आँसुओं को "नयनों के बाल" कहना भी व्यर्थ-सा है। नीचे की जूठी प्याली भी (जो बहुत आया करती है) किसी मैखाने से लाकर रखी जान पड़ती है—

(३) लहरों में प्यास भरी है, हैं भँवर पात्र से ख़ाली।
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली॥

प्रकृति के नाना रूपों के सौंदर्य्य की भावना सदैव स्त्री-सौंदर्य्य का आरोप करके करना उक्त भावना की संकीर्णता सूचित करता है। कालिदास ने भी मेघदूत में निर्विंध्या और सिंधु नदियों में स्त्री-सौंदर्य्य की भावना की है जिससे नदी और मेघ के प्रकृत संबंध की रमणीय व्यंजना होती है। ग्रीष्म में नदियाँ सूखती सूखती पतली हो जाती हैं और तपती रहती हैं। उन पर जब मेघ छाया करता है तब वे

शीतल हो जाती हैं और उस छाया को अंक में धारण किए दिखाई देती हैं। वही मेघ बरस कर उनकी क्षीणता दूर करता है। दोनों के बीच इसी प्राकृतिक संबंध की व्यंजना ग्रहण करके कालिदास ने अप्रस्तुत विधान किया है। पर सौंदर्य्य की भावना सर्वत्र स्त्री का चित्र चिपका कर करना खेल-सा हो जाता है। उषा सुंदरी के कपोलों की ललाई, रजनी के रत्नजटित केशकलाप, दीर्घ निश्वास और अश्रु-बिंदु तो रूढ़ हो ही गए हैं; किरन, लहर, चंद्रिका, छाया, तितली सब अप्सराएँ या परियाँ बन कर ही सामने आने पाती हैं। इसी तरह प्रकृति के नाना व्यापार भी चुंबन, आलिंगन, मधुग्रहण, मधुदान, कामिनी की व्रीड़ा इत्यादि में अधिकतर परिणत दिखाई देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का अपना-अपना अलग सौंदर्य्य भी है जो एक ही प्रकार की वस्तु या व्यापार के आरोप-द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार पंत जी की 'छाया', 'वीचि-विलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है उनमें से बहुत-से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार साम्य के व्यंजक हैं और बहुत-से रंग-बिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यंजनवाद' के उदाहरण-सी लगती हैं जिसके अनुसार कवि-कल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है। प्रकृति के सच्चे स्वरूप, उसकी सच्ची व्यंजना, ग्रहण करना उक्त वादों के अनुसार आवश्यक नहीं। उनके अनुसार तो प्रकृति की नाना वस्तुओं का उपयोग केवल उपादान के रूप में है; उसी प्रकार जैसे बालक ईंट, पत्थर, लकड़ी, काग़ज़, फूल-पत्ती लेकर हाथी-घोड़े, घर-बग़ीचे इत्यादि बनाया करते हैं। प्रकृति के नाना चित्रों के द्वारा अपनी भावनाएँ व्यक्त करना तो बहुत ठीक है, पर उन भावनाओं को व्यक्त करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी तो गृहीत चित्रों में होनी चाहिए।

छायावाद की प्रवृत्ति अधिकतर प्रेम-गीतात्मक होने के कारण हमारा वर्त्तमान काव्य प्रसंगों की अनेकरूपता के साथ नई नई अर्थ-भूमियों पर कुछ दिनों तक बहुत कम चल पाया। कुछ कवियों में वस्तु का आधार अत्यंत अल्प रहता रहा है; विशेष लक्ष्य अभिव्यंजना के अनूठे विस्तार पर रहा है। इससे उनकी रचनाओं का बहुत-सा भाग अधर में ठहराया-सा जान पड़ता है। जिन वस्तुओं के आधार पर उक्तियाँ मन में खड़ी की जाती हैं उनका कुछ भाग कला के अनूठेपन के लिये पंक्तियों के इधर-उधर से हटा भी लिया जाता है। अतः कहीं कहीं व्यवहृत शब्दों की व्यंजकता पर्य्याप्त न होने पर भाव अस्फुट रह जाता है, पाठक को अपनी ओर से बहुत कुछ आक्षेप करना पड़ता है, जैसे नीचे की पंक्तियों में—

> निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे?
> इतना सजग कुतूहल! ठहरो, यह न कभी बन पाओगे।
> आह, चूम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं,
> दुख दो इतना, अरे! अरुणिमा ऊषा-सी वह उधर बही।

यहाँ कवि ने उस प्रियतम के छिपकर दबे पाँव आने की बात कही है जिनके चरण इतने सुकुमार हैं कि जब आहट न सुनाई पड़ने के लिये वे उन्हें बहुत दबा दबा कर रखते हैं तब एँड़ियों में ऊपर की ओर खून की लाली दौड़ जाती है। वही ललाई उषा की लाली के रूप में झलकती है। 'प्रसाद' जी का ध्यान शरीर-विकारों पर विशेष जमता था। इसी से उन्होंने 'चाँप चाँप कर दुख दो' से ललाई दौड़ने की कल्पना पाठकों के ऊपर छोड़ दी है। 'कामायनी' में उन्होंने मले हुए कान में भी कामिनी के कपोलों पर की 'लज्जा की लाली' दिखाई है।

अभिव्यंजना की पद्धति या काव्य-शैली पर ही प्रधान लक्ष्य रहने से छायावाद के भीतर उसका बहुत ही रमणीय विकास हुआ

है, यह हम पहले कह आए हैं। साम्य-भावना और लक्षणा-शक्ति के बल पर किस प्रकार काव्योपयुक्त चित्रमयी भाषा की ओर सामान्यतः झुकाव हुआ यह भी कहा जा चुका है। साम्य पहले उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक—ऐसे अलंकारों के बड़े बड़े साँचों के भीतर ही फैला कर दिखाया जाता था। वह अब प्रायः थोड़े में या तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा झलका दिया जाता है अथवा कुछ प्रच्छन्न रूपकों में प्रतीयमान रहता है। इसी प्रकार किसी तथ्य या पूरे प्रसंग के लिये दृष्टांत, अर्थांतर्न्यास आदि का सहारा न लेकर अब अन्योक्ति-पद्धति ही अधिक चलती है। यह बहुत ही परिष्कृत पद्धति है। पर यह न समझना चाहिए कि उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग नहीं होता है, बराबर होता है और बहुत होता है। उपमा में धर्म बराबर लुप्त रहता है। प्रतिवस्तूपमा, हेतूत्प्रेक्षा, विरोध, श्लेष, एकावली इत्यादि अलंकार भी कहीं कहीं पाए जाते हैं।

किस प्रकार एक बँधे घेरे से निकल कर अब छायावादी कहे जाने-वाले कवि धीरे धीरे जगत् और जीवन के अनंत क्षेत्र में इधर-उधर दृष्टि फैलाते देखे जा रहे हैं, इसका आभास दिया जा चुका है। अब तक उनकी कल्पना थोड़ी-सी जगह के भीतर कलापूर्ण और मनोरंजक नृत्य-सा कर रही थी। वह जगत् और जीवन के जटिल स्वरूप से घबरानेवालों का जी बहलाने का काम करती रही है। अब उसे अखिल जीवन के नाना पक्षों की मार्मिकता का साक्षात्कार करते हुए एक क़रीने के साथ रास्ता चलना पड़ेगा। इसके लिये उसे अपनी चपलता और भाव-भंगिमा का प्रदर्शन, क्रीड़ा-कौतुक की प्रवृत्ति कुछ संयत करनी पड़ेगी। इस ऊँचे-नीचे मर्म-पथ पर चित्रों का बहुत अधिक फालतू बोझ लाद कर चलना भी वाणी के लिये उपयुक्त न होगा। प्रसाद जी ने 'लहर' में छायावाद की चित्रमयी शैली को तीन ऐतिहासिक जीवन-खंडों के बीच ले जाकर आज़माया है। उनमें कथा-वस्तु का विन्यास नाटकीय पद्धति पर करके

उन्होंने बाह्य और आभ्यंतर परिस्थितियों का व्यंजक, मनोहर, मार्मिक या आवेशपूर्ण शब्द-विधान किया है। पर कहीं कहीं जहाँ मधुमय चित्रों की परंपरा दूर तक चली है वहाँ समन्वित प्रभाव में बाधा पड़ी है। 'कामायनी' में उन्होंने नर-जीवन के विकास में भिन्न-भिन्न भावात्मिका वृत्तियों का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना-द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार निराला जी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, 'तुलसीदास' के मानसविकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।

अब हम तृतीय उत्थान के वर्त्तमान कवियों और उनकी कृतियों का संक्षेप में कुछ परिचय दे देना आवश्यक समझते हैं—

श्री जयशंकर प्रसाद पहले व्रजभाषा की कविताएँ लिखा करते थे जिनका संग्रह 'चित्राधार' में हुआ है। संवत् १९७० से वे खड़ी बोली की ओर आए और 'कानन कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय' और 'प्रेम-पथिक' प्रकाशित हुए। 'कानन-कुसुम' में तो प्राय: उसी ढंग की कविताएँ हैं जिस ढंग की द्विवेदी-काल में निकला करती थीं। 'महाराणा का महत्त्व' और 'प्रेम-पथिक' (सं० १९७०) अतुकांत रचना है जिसका मार्ग पं० श्रीधर पाठक पहले दिखा चुके थे। भारतेंदु-काल में ही पं० अंबिकादत्त व्यास ने बँगला की देखा-देखी कुछ अतुकांत पद्य आज़माए थे। पीछे पं० श्रीधर पाठक ने 'सांध्य अटन' नाम की कविता खड़ी बोली के अतुकांत (तथा चरण के बीच में पूर्ण विरामवाले) पद्यों में बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत की थी।

सामान्य परिचय के अंतर्गत दिखाया जा चुका है कि किस प्रकार सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पांडे इत्यादि कई कवि अंतर्भावना की प्रगल्भ चित्रमयी व्यंजना के उपयुक्त स्वच्छंद नूतन पद्धति निकाल रहे थे। पीछे उस नूतन पद्धति पर प्रसाद

जी ने भी कुछ छोटी-छोटी कविताएँ लिखीं जो सं० १९७५ (सन् १९१८) में 'झरना' के भीतर संगृहीत हुईं। 'झरना' की उन २४ कविताओं में उस समय नूतन पद्धति पर निकलती हुई कविताओं से कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी जिस पर ध्यान जाता। दूसरे संस्करण में, जो बहुत पीछे सं० १९८४ में निकला, पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमें आधी से ऊपर अर्थात् ३१ नई रचनाएँ जोड़ी गईं जिनमें पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यंजक चित्र-विधान सब कुछ मिल जाता है। 'विषाद', 'बालू की बेला', 'खोलो द्वार', 'बिखरा हुआ प्रेम,' 'किरण,' 'वसंत की प्रतीक्षा' इत्यादि उन्हीं पीछे जोड़ी हुई रचनाओं में हैं जो पहले (सं० १९७५ के) संस्करण में नहीं थीं। इस द्वितीय संस्करण में ही छायावाद कही जानेवाली विशेषताएँ स्फुट रूप में दिखाई पड़ीं। इसके पहले श्री सुमित्रानंदन पंत का 'पल्लव' बड़ी धूम-धाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य-भावना तो कहीं कहीं पर अप्रस्तुत-विधान, चित्रमयी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यंत प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखाई पड़ी थीं।

प्रसाद जी में ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरूक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढंग पर बहुत ही मनोरम विकास किया। संस्कृत की कोमल-कांत पदावली का जैसा सुंदर चयन बंगभाषा के काव्यों में हुआ है वैसा अन्य देश-भाषाओं के साहित्य में नहीं दिखाई पड़ता। उनके परिशीलन से पदलालित्य की जो गूँज प्रसाद जी के मन में समाई वह बराबर बनी रही।

जीवन के प्रेम-विलास-मय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे 'उस प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—रमते प्राय: पाए जाते हैं। प्रेमचर्य्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुंबन, परिरंभण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रंगरलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की

ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी। इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप प्रकृति के अनंत क्षेत्र में भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मंद मुसकान, सुमनों के मधुपात्र पर मँडराते मलिंदों के गुंजार, सौरभहर समीर की लपक झपक, पराग-मकरंद की लूट, उषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरंभ, रजनी के आँसू से भीगे अंबर, चंद्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुंठन, मधुमास की मधुवर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी। अतः इनकी रहस्य-वादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहें कि इनकी मधुचर्य्या के मानस प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूद कर असीम पर जा रही।

इनकी पहली विशिष्ट रचना "आँसू" (सं० १९८८) है। 'आँसू' वास्तव में तो हैं शृंगारी विप्रलंभ के, जिनमें अतीत संयोग-सुख की खिन्न स्मृतियाँ रह रह कर झलक मारती हैं; पर जहाँ प्रेमी की मादकता की बेसुधी में प्रियतम नीचे से ऊपर आते और संज्ञा की दशा में चले जाते हैं,* जहाँ हृदय की तरंगें 'उस अनंत कोने' को नहलाने चलती हैं, वहाँ वे आँसू उस 'अज्ञात प्रियतम' के लिये बहते जान पड़ते हैं। फिर जहाँ कवि यह देखने लगता है कि ऊपर तो—

"अवकाश[1] असीम सुखों से
आकाशतरंग[2] बनाता
हँसता-सा छाया-पथ में
नक्षत्र-समाज दिखाता।"

---

* मादकता से आए तुम; संज्ञा से चले गए थे।
उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने भी कहा है—
मैं मरीज़े-होश था, मस्ती ने अच्छा कर दिया।

१. अवकाश = दिक् Space
२. आकाश-तरंग = Ether waves

पर

"नीचे विपुला धरणी है
दुख-भार वहन-सी करती,
अपने खारे आँसू से
करुणा-सागर को भरती।"

और इस 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' को, इस निर्मम जगती को, अपनी प्रेम-वेदना की कल्याणी शीतल ज्वाला का मंगलमय उजाला देना चाहता है, वहाँ वे आँसू लोकपीड़ा पर करुणा के आँसू-से जान पड़ते हैं। पर वहीं पर जब हम कवि की दृष्टि अपनी सदा जगती हुई अखंड ज्वाला की प्रभविष्णुता पर इस प्रकार जमी पाते हैं कि "हे मेरी ज्वाला!

तेरे प्रकाश में चेतन
संसार वेदनावाला
मेरे समीप होता है
पाकर कुछ करुण उजाला।"

तब ज्वाला या प्रेम-वेदना की अतिरंजित और दूरारूढ़ भावना ही— जो शृंगार की पुरानी रूढ़ि है—रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।

पर अलग अलग लेने पर उक्तियों के भीतर बड़ी ही रंजनकारिणी कल्पना, व्यंजक चित्रों का बड़ा ही अनूठा विन्यास, भावनाओं की अत्यंत सुकुमार योजना, मिलती है। प्रसाद जी की यह पहली काव्य-रचना है जिसने बहुत लोगों को आकर्षित किया। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और विचित्रता के भीतर प्रेम-वेदना की दिव्य विभूति का, विश्व में उसके मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की उसकी अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौंदर्य

और मंगल के संगम का भी आभास पाया जाता है। 'नियतिवाद' और 'दु:खवाद' का विषण्ण स्वर भी सुनाई पड़ता है। इस चेतना को दूर हटाकर मद-तंद्रा, स्वप्न और असंज्ञा की दशा का आह्वान रहस्यवाद की एक स्वीकृत विधि है। इस विधि का पालन 'आँसू' से लेकर 'कामायनी' तक हुआ है। अपने ही लिये नहीं, उजाले में हाथ-पैर मारनेवाली 'चिर दग्ध दुखी वसुधा' के लिये भी यही नींद लानेवाली दवा लेकर आने को कवि निशा से कहता है—

> चिर दग्ध दुखी यह वसुधा
> आलोक माँगती, तब भी;
> तुम तुहिन बरस दो कन कन,
> यह पगली सोए अब भी।

चेतना की शांति या विस्मृति की दशा में ही 'कल्याण की वर्षा' होती है, मिलन-सुख प्राप्त होता है। अत: उसके लिये रात्रि की भावना को बढ़ाकर प्रसाद जी महारात्रि तक ले गए हैं, जो सृष्टि और प्रलय का संधि-काल है, जिसमें सारे नाम-रूपों का लय हो जाता है—

> चेतना-लहर न उठेगी
> जीवन-समुद्र थिर होगा,
> संध्या हो सर्ग प्रलय की
> विच्छेद मिलन फिर होगा।

'आँसू' के उपरांत दूसरी रचना 'लहर' है, जो कई प्रकार की कविताओं का संग्रह है। 'लहर' पर एक छोटी-सी कविता सबसे पहले दी गई है। इसी से समूचे संग्रह का नाम 'लहर' रखा गया। 'लहर' से कवि का अभिप्राय उस आनंद की लहर से है जो मनुष्य के मानस में उठा करती है और उसके जीवन को सरस करती रहती है। उसे ठहराने की पुकार अपने व्यक्तिगत नीरस जीवन को भी सरस

करने के लिये कही जा सकती है और अखिल मानव-जीवन को भी। यह जीवन की लहर भीतर उसी प्रकार स्मृति-चिह्न छोड़ जाती है जिस प्रकार जल की लहरें सूखी नदी की बालू के बीच पसलियों की-सी उभरी रेखाएँ छोड़ जाती हैं—

उठ, उठ, गिर गिर, फिर फिर आती
नर्त्तित पद-चिह्न बना जाती;
सिकता की रेखाएँ उभार,
भर जाती अपनी तरल सिहर।

इसमें भी उस प्रियतम का आँख-मिचौली खेलना, दबे पाँव आना, किरन-उँगलियों से आँख मूँदना (या मूँदने की कोशिश करना, क्योंकि उस ज्योतिर्मय का कुछ आभास मिल ही जाता है), प्रियतम की ओर अभिसार इत्यादि रहस्यवाद की सब सामग्री है। प्रियतम अज्ञात रहकर भी किस प्रकार प्रेम का आलंबन रहता है, यह भी दो-एक जगह सूचित किया गया है। जैसे—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ ?
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस-जलधि रहे चिर चुंबित,
मेरे क्षितिज ! उदार बनो।

इसी प्रकार "हे सागर संगम अरुण नील !" में यह चित्र सामने रखा गया है कि सागर ने हिमालय से निकली नदी को कब देखा था, और नदी ने सागर को कब देखा था, पर नदी निकल कर स्वर्ण-स्वप्न देखती उसी की ओर चली और वह सागर भी बड़ी उमंग के साथ उससे मिला।

क्षितिज, जिसमें प्रात:-सायं अनुराग की लाली दौड़ा करती है, असीम (आकाश) और ससीम (पृथ्वी) का सहेट या मिलन-स्थल-सा दिखाई पड़ा करता है। इस हलचल-भरे संसार से हटाकर कवि अपने नाविक से वहीं ले चलने को कहता है—

ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक ! धीरे धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अंबर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

वहाँ जाने पर वह इस सुख-दुःख-मय व्यापक प्रसार को अपने नित्य और सत्य रूप में देखने की भी, पारमार्थिक ज्ञान की झलक पाने की भी, आशा करता है; क्योंकि श्रम और विश्राम के उस संधि-स्थल पर ज्ञान की दिव्य ज्योति-सी जगती दिखाई पड़ा करती है—

जिस गंभीर मधुर छाया में—
विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई
दुख-सुख-वाली सत्य बनी रे।
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से,
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण, उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे।

'लहर' में चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की हैं। पर कवि की तंद्रा और स्वप्नवाली प्रिय भावना जगह-जगह व्यक्त होती है। रात्रि के उस सन्नाटे की कामना, जिसमें बाहर-भीतर की सब हलचल शांत रहती है, केवल अभावों की पूर्ति करनेवाले, अतृप्त कामनाओं की तृप्ति का विधान करनेवाले, स्वप्न (दे० पृष्ठ ६९१-९२) ही जगा करते हैं, इस गीत में पूर्णतया व्यक्त है—

अपलक जगती हो एक रात!
सब सोए हों इस भूतल में;

अपनी निरीहता संबल में,
चलती हो कोई भी न बात।

× × × ×

वक्षस्थल में जो छिपे हुए
सोते हों हृदय अभाव लिए
उनके स्वप्नों का हो न प्रात।

जैसा कि पहले सूचित कर चुके हैं, 'लहर' में कई प्रकार की रचनाएँ हैं। कहीं तो प्रकृति के रमणीय पक्ष को लेकर सुंदर और मधुर रूपकमय गान हैं, जैसे—

बीती विभावरी जाग री!
अंबर - पनघट में डुबो रही
तारा - घट ऊषा नागरी।
खगकुल 'कुल-कुल'-सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल-रस गागरी॥

कहीं उस यौवन-काल की स्मृतियाँ हैं जिसमें मधु का आदान-प्रदान चलता था, कहीं प्रेम का शुद्ध स्वरूप यह कहकर बताया गया है कि प्रेम देने की चीज़ है, लेने की नहीं। पर इस पुस्तक में कवि अपने मधुमय जगत् से निकल कर जगत् और जीवन के कई पक्षों की ओर भी बढ़ा है। वह अपने भीतर इतना अपरिमित अनुराग समझता है कि अपने सान्निध्य से वर्त्तमान जगत् में उसके फैलने की आशा करता है। उषा का अनुराग (लाली) जब फैल जाता है तभी ज्योति की किरन फूटती है—

मेरा अनुराग फैलने दो
नभ के अभिनव कलरव में,

जाकर सूनेपन के तम में
बन किरन कभी आ जाना।

कवि अपने प्रियतम से अब वह 'जीवन-गीत' सुनाने को कहता है जिसमें 'करुणा का नव अभिनन्दन हो'। फिर इस जगत् की अज्ञानांधकारमयी अश्रुपूर्ण रात्रि के बीच ज्ञान-ज्योति की भिक्षा माँगता हुआ वह उससे प्रेम-वेणु के स्वर में 'जीवन-गीत' सुनाने को कहता है जिसके प्रभाव से मनुष्य-जाति लताओं के समान स्नेहालिंगन में बद्ध हो जायगी और इस संतप्त पृथ्वी पर शीतल छाया हो जायगी।

जग की सजल कालिमा रजनी में मुखचंद्र दिखा जाओ,
प्रेम-वेणु की स्वर-लहरी में जीवन-गीत सुना जाओ।

× × × ×

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन-धन! इस जले जगत् को वृंदावन बन जाने दो।

जैसा कि पहले सूचित कर आए हैं, 'लहर' में प्रसाद जी ने अपनी प्रगल्भ कल्पना के रंग में इतिहास के कुछ खंडों को भी देखा है। जिस वरुणा के शांत कछार में बुद्ध भगवान् ने धर्मचक्र का प्रवर्त्तन किया था उसकी पुरानी झाँकी, 'अशोक की चिंता', 'शेरसिंह का आत्म-समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'प्रलय की छाया' ये सब अतीत के भीतर कल्पना के प्रवेश के उदाहरण हैं। इस प्रकार 'लहर' में हम प्रसाद जी को वर्त्तमान और अतीत जीवन की प्रकृत ठोस भूमि पर अपनी कल्पना ठहराने का कुछ प्रयत्न करते पाते हैं।

किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत में प्रसाद जी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है 'कामायनी'। इसमें उन्होंने अपने प्रिय 'आनंदवाद' की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बना कर की है। यह 'आनंदवाद'

वल्लभाचार्य के 'काय' या आनंद के ढंग का न होकर, तांत्रिकों और योगियों की अंतर्भूमि-पद्धति पर है। प्राचीन जलप्लावन के उपरांत मनु-द्वारा मानवी सृष्टि के पुनर्विधान का आख्यान लेकर इस प्रबंध-काव्य की रचना हुई है। काव्य का आधार है मनु का पहले श्रद्धा को फिर इड़ा को पत्नी-रूप में ग्रहण करना तथा इड़ा को वंदिनी या सर्वथा अधीन बनाने का प्रयत्न करने पर देवताओं का उन पर कोप करना। 'रूपक' की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास-समन्वित रागात्मिका वृत्ति है और इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मृदुता, प्रेम और करुणा का प्रवर्त्तन करनेवाली और सच्चे आनंद तक पहुँचानेवाली चित्रित किया है। इड़ा या बुद्धि अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व्यवस्थाओं में प्रवृत्त करती हुई कर्मों में उलझानेवाली चित्रित की गई है।

कथा इस प्रकार चलती है। जल-प्रलय के बाद मनु की नाव हिमवान् की चोटी पर लगती है और मनु वहाँ चिंताग्रस्त बैठे हैं। मनु पिछली सृष्टि की बातें और आगे की दशा सोचते सोचते शिथिल और निराश हो जाते हैं। यह चिंता 'बुद्धि, मति या मनीषा' का ही एक रूप कही गई है जिससे आरंभ में ही 'बुद्धिवाद' के विरोध का किंचित् आभास मिल जात है। धीरे-धीरे आशा का रमणीय उदय होता है और श्रद्धा से मनु की भेंट होती है। श्रद्धा के साथ मनु शांतिसुखपूर्वक कुछ दिन रहते हैं। पर पूर्व-संस्कार-वश कर्म की ओर फिर मनु की प्रवृति होती है। आसुरी प्रेरणा से वे पशुहिंसापूर्ण काम्य यज्ञ करने लगते हैं जिससे श्रद्धा को विरक्ति होती है। वह यह देखकर दुखी होती है कि मनु अपने ही सुख की भावना में मग्न होते जा रहे हैं, उनके हृदय में सुख के, सब प्राणियों में, प्रसार का लक्ष्य नहीं जम रहा है जिससे मानवता का नूतन विकास होता। मनु चाहते हैं कि श्रद्धा का सारा सद्भाव, सारा प्रेम, एकमात्र उन्हीं पर स्थिर रहे, तनिक भी इधर-उधर बँटने न पाए।

इससे जब वे देखते हैं कि श्रद्धा पशुओं के बच्चों को प्रेम से पुचकारती है और अपनी गर्भस्थ संतति की सुख-क्रीड़ा का आयोजन करती है तब उनके मन में ईर्ष्या होती है और उसे हिमालय की उसी गुफा में छोड़कर वे अपनी सुख-वासना लिए हुए चल देते हैं।

मनु उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश में उतरते हैं जहाँ कभी श्रद्धा से हीन होकर सुर और असुर लड़े थे, इन्द्र की विजय हुई थी। वे खिन्न होकर सोचते हैं कि क्या मैं भी उन्हीं के समान श्रद्धा-हीन हो रहा हूँ। इसी बीच में अंतरिक्ष से 'काम' की अभिशाप-भरी वाणी सुनाई पड़ती है कि—

मनु! तुम श्रद्धा को गए भूल।
उस पूर्ण आत्म-विश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।
तुम भूल गए पुरुषत्व-मोह में, कुछ सत्ता है नारी की।
सम-रसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।

× × × ×

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि।
द्वयता में लगी निरंतर ही वर्णों की करती रहे वृष्टि।
अनजान समस्याएँ ही गढ़ती, रचती हो अपनी ही विनष्टि।
कोलाहल कलह अनंत चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद।
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

प्रभात होता है। मनु अपने सामने एक सुंदरी खड़ी पाते हैं—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल।
वह विश्वमुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल।
गुंजरित मधुप-से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा-जीवन-रस-सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए।

यह इड़ा (बुद्धि) थी। इसके साथ मनु सारस्वत प्रदेश की राजधानी में रह गए। मनु के मन में जब जगत् और उसके नियामक के संबंध में जिज्ञासा उठती है और उससे कुछ सहाय पाने का विचार आता है तब इड़ा कहती है—

हाँ ! तुम ही हो अपने सहाय।
जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय ?
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्यभरी शोधकविहीन।
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन।
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता।
तुम जड़ता को चैतन्य करो, विज्ञान सहज साधन उपाय।

मनु वहाँ इड़ा के साथ रहकर प्रजा के शासन की पूरी व्यवस्था करते हैं। नगर की श्री-वृद्धि होती है। प्रकृति बुद्धिबल से वश में की जाती है। खेती धूम-धाम से होने लगती है। अनेक प्रकार के उद्योग-धंधे खड़े होते हैं। धातुओं के नए नए अस्त्र-शस्त्र बनते हैं। मनु अनेक प्रकार के नियम प्रचलित करके, जनता का वर्णों या वर्गों में विभाग करके, लोक का संचालन करते हैं। 'अहं' का भाव जोर पकड़ता है। वे अपने को स्वतंत्र नियामक और प्रजापति मानकर सब नियमों से परे रहना चाहते हैं। इड़ा उन्हें नियमों के पालन की सलाह देती है, पर वे नहीं मानते। इड़ा खिन्न होकर जाना चाहती है, पर मनु अपना अधिकार जताते हुए उसे पकड़ रखते हैं। पकड़ते ही द्वार गिर पड़ता है। प्रजा जो दुर्व्यवहारों से क्षुब्ध होकर राजभवन घेरे थी, भीतर घुस पड़ती है। देवशक्तियाँ भी कुपित हो उठती हैं। शिव का तीसरा नेत्र खुल जाता है। प्रजा का रोष बढ़ता है। मनु युद्ध करते हैं और मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं।

उधर श्रद्धा इसी प्रकार के विप्लव का भयंकर स्वप्न देखकर अपने कुमार को लेकर मनु को ढूँढ़ती ढूँढ़ती वहाँ पहुँचती है। मनु उसे

देखकर क्षोभ और पश्चात्ताप से भर जाते हैं। फिर उन सुंदर दिनों को याद करते हैं जब श्रद्धा के मिलने से उनका जीवन सुंदर और प्रफुल्ल हो गया था; जो जगत् पीड़ा और हलचल से व्यथित था वही विश्वास से पूर्ण, शांत, उज्ज्वल और मंगलमय बन गया था। मनु उससे चटपट अपने को वहाँ से निकाल ले चलने को कहते हैं। जब रात हुई तब मनु उठकर चुपचाप वहाँ से न जाने कहाँ चल दिए। उनके चले जाने पर श्रद्धा और इड़ा की बातचीत होती है और इड़ा अपनी बाँधी हुई अधिकार-व्यवस्था के इस भयंकर परिणाम को देख अपना साहस छूटने की बात कहती है—

श्रम-भाग वर्ग बन गया जिन्हें
अपने बल का है गर्व उन्हें।

× × × ×

अधिकार न सीमा में रहते,
पावस-निर्झर से वे बहते।

× × × ×

सब पिए मत्त लालसा-घूँट।
मेरा साहस अब गया छूट॥

इस पर

श्रद्धा बोली—

वन विषम ध्वांत
सिर चढ़ी रही, पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।
सुख-दुख का मधुमय धूप छाँह,
तूने छोड़ी यह सरल राह।
चेतनता का भौतिक विभाग—
कर, जग को बाँट दिया विराग।

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत्,
यह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह-मिलन-मय नृत्य निरत,
उल्लासपूर्ण आनंद सतत ॥

अंत में श्रद्धा अपने कुमार को इड़ा के हाथों में सौंप मनु को ढूँढ़ने निकली और उन्हें उसने सरस्वती-तट पर एक गुफा में पाया। मनु उस समय आँखें बंद किए चित् शक्ति का अंतर्नाद सुन रहे थे, ज्योतिर्मय पुरुष का आभास पा रहे थे, अखिल विश्व के बीच नटराज का नृत्य देख रहे थे। श्रद्धा को देखते ही वे हत-चेत पुकार उठे कि 'श्रद्धे! उन चरणों तक ले चल'। श्रद्धा आगे आगे और मनु पीछे पीछे हिमालय पर चढ़ते चले जाते हैं। यहाँ तक कि वे ऐसे महादेश में अपने को पाते हैं जहाँ वे निराधार ठहरे जान पड़ते हैं। भूमंडल की रेखा का कहीं पता नहीं। यहाँ अब कवि पूरे रहस्यदर्शी का बाना धारण करता है और मनु के भीतर एक नई चेतना (इस चेतना से भिन्न) का उदय बतलाता है। अब मनु को त्रिदिक् (Three dimensions) विश्व और त्रिभुवन के प्रतिनिधि तीन अलग अलग आलोक-बिंदु दिखाई पड़ते हैं जो 'इच्छा', 'ज्ञान' और 'क्रिया' के केंद्र-से हैं। श्रद्धा एक एक का रहस्य समझाती है।

पहले 'इच्छा' का मधु, मादकता और अँगड़ाईवाला माया-राज्य है जो रागारुण उषा के कंदुक-सा सुंदर है और जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की पारदर्शिनी पुतलियाँ रंग-बिरंगी तितलियों के समान नाच रही हैं। यहाँ चल-चित्रों की संसृति-छाया चारों ओर घूम रही है और आलोकबिंदु को घेरकर बैठी हुई माया मुस्करा रही है। यहाँ चिर वसंत का उद्गम भी है और एक ओर पतझड़ भी अर्थात् सुख और दुःख एक सूत्र में बँधे हैं। यहीं पर मनोमय विश्व रागारुण चेतन की उपासना कर रहा है।

फिर 'कर्म' का श्यामल लोक सामने आता है जो धुएँ-सा धुँधला है, जहाँ क्षण भर विश्राम नहीं है, सतत संघर्ष और विफलता का कोलाहल रहता है, आकांक्षा की तीव्र पिपासा बनी रहती है, भाव राष्ट्र के नियम दंड बने हुए हैं, सारा समाज मतवाला हो रहा है।

सबके पीछे 'ज्ञान-क्षेत्र' आता है जहाँ सदा बुद्धि-चक्र चलता रहता है, सुख-दुःख से उदासीनता रहती है। यहाँ के निरंकुश अणु तर्क-युक्ति से अस्ति-नास्ति का भेद करते रहते हैं और निस्संग होकर भी मोक्ष से संबंध जोड़े रहते हैं। यहाँ केवल प्राप्य (मोक्ष या छुटकारा भर) मिलता है, तृप्ति (आनंद) नहीं; जीवन-रस अछूता छोड़ा रहता है जिसमें बहुत-सा इकट्ठा होकर एक साथ मिले। इससे तृषा ही तृषा दिखाई देती है।

अंत में इन तीनों ज्योतिर्मय बिंदुओं को दिखाकर श्रद्धा कहती है कि यही त्रिपुर है जिसमें इच्छा, कर्म और ज्ञान एक दूसरे से अलग अलग अपने केंद्र आप ही बने हुए हैं। इनका परस्पर न मिलना ही जीवन की असली विडंबना है। ज्ञान अलग पड़ा है, कर्म अलग। अतः इच्छा पूरी कैसे हो सकती है? यह कहकर श्रद्धा मुस्कराती है जिससे ज्योति की एक रेखा तीनों में दौड़ जाती है और चट तीनों एक में मिलकर प्रज्वलित हो उठते हैं और सारे विश्व में शृंग और डमरू का निनाद फैल जाता है। उस अनाहत नाद में मनु लीन हो जाते हैं।

इस रहस्य को पार करने पर फिर आनंद-भूमि दिखाई गई है। वहाँ इड़ा भी कुमार (मानव) को लिए अंत में पहुँचती है और देखती है कि पुरुष पुरातन प्रकृति से मिला हुआ अपनी ही शक्ति से लहरें मारता हुआ आनंद-सागर-सा उमड़ रहा है। यह सब देख इड़ा श्रद्धा के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हुई कहती है कि "मैं अब समझ गई कि मुझमें कुछ भी समझ नहीं थी। व्यर्थ लोगों को भुलाया करती थी; यही मेरा काम था"। फिर मनु कैलास की ओर दिखाकर उस

आनंद-लोक का वर्णन करते हैं जहाँ पाप-ताप कुछ भी नहीं है, सब समरस है, और 'अभेद में भेद'वाले प्रसिद्ध सिद्धांत का कथन करके कहते हैं—

अपने दुख सुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।

अंत में प्रसाद जी वहीं प्रकृति से सारे सुख, भोग, कांति, दीप्ति की सामग्री जुटाकर लीन हो जाते हैं—वे ही वल्लरियाँ, पराग, मधु, मकरंद, अप्सराएँ बनी हुई रश्मियाँ।

यह काव्य बड़ी विशद कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है। इसका विचारात्मक आधार या अर्थ-भूमि केवल इतनी ही है कि श्रद्धा या विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति ही मनुष्य को इस जीवन में शांतिमय आनंद का अनुभव और चारों ओर प्रसार कराती हुई कल्याण-मार्ग पर ले चलती है और उस निर्विशेष आनंद-धाम तक पहुँचाती है। इड़ा या बुद्धि मनुष्य को सदा चंचल रखती, अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क और निर्मम कर्म-जाल में फँसाए रहती और तृप्ति या संतोष के आनंद से दूर रखती है। अंत में पहुँचकर कवि ने इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामंजस्य पर तीनों के मेल पर जोर दिया है। एक दूसरे से अलग रहने पर ही जीवन में विषमता आती है।

जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप में दिखाया, फिर अंत में कर्म और ज्ञान के बिंदुओं को अलग अलग रखा। पीछे आया हुआ ज्ञान भी बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान ही है (योगियों या रहस्य-वादियों का पर-ज्ञान नहीं) यह बात "सदा चलता है बुद्धि-

चक्र" से स्पष्ट है। जहाँ "रागारुण कंदुक-सा, भावमयी प्रतिभा का मंदिर" इच्छा-बिंदु मिलता है वहाँ इच्छा रागात्मिका वृत्ति के अंतर्गत है; अतः रति-काम से उत्पन्न श्रद्धा की ही प्रवृत्ति ठहरती है। पर श्रद्धा उससे अलग क्या तीनों बिंदुओं से परे रखी गई है।

रहस्यवाद की परंपरा में चेतना से असंतोष की रूढ़ि चली आ रही है। प्रसाद जी काव्य के आरंभ में ही 'चिंता' के अंतर्गत कहते हैं—

> मनु का मन था विकल हो उठा संवेदन से खाकर चोट
> संवेदन ! जीवन जगती को जो कटुता से देता घोट।
> संवेदन का और हृदय का यह संघर्ष न हो सकता
> फिर अभाव असफलताओं की गाथा कौन कहाँ बकता ?

इन पंक्तियों में तो 'संवेदन' बोध-वृत्ति के अर्थ में व्यवहृत जान पड़ता है, क्योंकि सुख-दुःखात्मक अनुभूति के अर्थ में लें तो हृदय के साथ उसका संघर्ष कैसा ? बोध के एकदेशीय अर्थ में भी यदि हम 'संवेदन' को लें तो भी उसे भावभूमि से खारिज नहीं कर सकते। प्रत्येक 'भाव' का प्रथम अवयव विषय-बोध ही होता है। स्वप्न-दशा में भी, जिसका रहस्य-क्षेत्र में बड़ा माहात्म्य है, यह विषय-बोध रहता है। श्रद्धा जिस करुणा, दया आदि की प्रवर्तिका कही गई है, उसमें दूसरों की पीड़ा का बोध मिला रहता है।

आगे चलकर यह 'संवेदन' शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दुःख पर कष्टानुभव के अर्थ में आया है। मनु की बिगड़ी हुई प्रजा उनसे कहती है—

> हम संवेदन-शील हो चले, यही मिला सुख।
> कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।

मतलब यह कि अपनी किसी स्थिति को लेकर दुःख का अनुभव करना ही संवेदन है। दुःख को पास न फटकने देना, अपनी

मौज में—मधु-मकरंद में—मस्त रहना ही वांछनीय स्थिति है। असंतोष से उत्पन्न अवास्तविक कष्टकल्पना के दुःखानुभव के अर्थ में ही इस शब्द को जकड़ रखना भी व्यर्थ प्रयास कहा जायगा। श्रद्धा जिस करुणा, दया आदि की प्रवर्त्तिका कही गई है वह दूसरों की पीड़ा का संवेदन ही तो है। दूसरों के दुःख का अपना दुःख हो जाना ही तो करुणा है। पर-दुःखानुभव अपनी ही सत्ता का प्रसार तो सूचित करता है। चाहे जिस अर्थ में लें, संवेदन का तिरस्कार कोई अर्थ नहीं रखता।

संवेदन, चेतना, जागरण आदि के परिहार का जो बीच बीच में अभिलाष है उसे रहस्यवाद का तक़ाज़ा समझना चाहिए। ग्रंथ के अंत में जो हृदय, बुद्धि और कर्म के मेल या सामंजस्य का पक्ष रखा गया है वह तो बहुत समीचीन है। उसे हम गोस्वामी तुलसीदास म, उनके भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता के रूप में, दिखा चुके हैं। अपने कई निबंधों में हम जगत् की वर्तमान अशांति और अव्य-वस्था का कारण इसी सामंजस्य का अभाव कह चुके हैं। पर इस सामंजस्य का स्वर हम 'कामायनी' में और कहीं नहीं पाते हैं। श्रद्धा जब कुमार को लेकर प्रजाविद्रोह के उपरांत सारस्वत नगर में पहुँ-चती है तब 'इड़ा' से कहती है कि "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय"। क्या श्रद्धा के संबंध में नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि"? जब दोनों अलग अलग सत्ताएँ करके रखी गई हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना, और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है। पर श्रद्धा में किसी प्रकार की कमी की भावना कवि की ऐकांतिक मधुर भावना के अनुकूल न थी।

बुद्धि की विगर्हणा द्वारा 'बुद्धिवाद' के विरुद्ध उस आधुनिक आंदोलन का आभास भी कवि को इष्ट जान पड़ता है जिसके प्रव-र्त्तक अनातोले फ्रांस ने कहा है कि "बुद्धि के द्वारा सत्य को छोड़कर और सब कुछ सिद्ध हो सकता है। बुद्धि पर मनुष्य को विश्वास

नहीं होता। बुद्धि या तर्क का सहारा तो लोग अपनी भली-बुरी प्रवृत्तियों को ठीक प्रमाणित करने के लिये लेते हैं।"

विज्ञान द्वारा सुख-साधनों की वृद्धि के साथ-साथ विलासिता और लोभ की असीम वृद्धि तथा यंत्रों के परिचालन से जनता के बीच फैली हुई घोर अशक्तता, दरिद्रता आदि के कारण वर्त्तमान जगत् की जो विषम स्थिति हो रही है उसका भी थोड़ा आभास मनु की विद्रोही प्रजा के इन वचनों द्वारा दिया गया है—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूँज दो-तीन जगह है। 'विद्युत्कण (Electrons) मिले झलकते-से' में विज्ञान की भी झलक है।

यदि मधुचर्य्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती। कर्म को कवि ने या तो काम्य यज्ञों के बीच दिखाया है अथवा उद्योग-धंधों या शासन-विधानों के बीच। श्रद्धा के मंगलमय योग से किस प्रकार कर्म धर्म का रूप धारण करता है, यह भावना कवि से दूर ही रही। इस भव्य और विशाल भावना के भीतर उग्र और प्रचंड भाव भी लोक के मंगल-विधान के अंग हो जाते हैं। श्रद्धा और धर्म का संबंध अत्यंत प्राचीन काल से प्रतिष्ठित है। महाभारत में श्रद्धा धर्म की पत्नी कही गई है। हृदय के आधे पक्ष को अलग रखने से केवल कोमल भावों की शीतल छाया के भीतर आनंद का स्वप्न देखा जा सकता है; व्यक्त जगत् के बीच उसका आविर्भाव और अवस्थान नहीं दिखाया जा सकता।

यदि हम इस विशद काव्य की अंतर्योजना पर न ध्यान दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढ़ें, श्रद्धा, काम, लज्जा,

इड़ा इत्यादि को अलग अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यंत मनोरम पद्धति आती है। इन वृत्तियों की आभ्यंतर प्रेरणाओं और बाह्य प्रवृत्तियों को बड़ी मार्मिकता से परख कर इनके स्वरूपों की नराकार उद्भावना की गई है। स्थान स्थान पर प्रकृति की मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियों की योजना का तो कहना ही क्या है! प्रकृति के ध्वंसकारी भीषण रूप-वेग का भी अत्यंत व्यापक परिधि के बीच चित्रण हुआ है। इस प्रकार प्रसाद जी प्रबंध-क्षेत्र में भी छायावाद की चित्रप्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।

श्री सुमित्रानंदन पंत की रचनाओं का आरंभ सं० १९७५ से समझना चाहिए। इनकी प्रारंभिक कविताएँ 'वीणा' में, जिसमें 'हृत्तंत्री के तार' भी हैं, संगृहीत हैं। उन्हें देखने पर 'गीतांजलि' का प्रभाव कुछ लक्षित अवश्य होता है, पर साथ ही आगे चलकर प्रवर्द्धित चित्रमयी भाषा के उपयुक्त रमणीय कल्पना का जगह जगह बहुत ही प्रचुर आभास मिलता है। गीतांजलि का रहस्यात्मक प्रभाव ऐसे गीतों को देखकर ही कहा जा सकता है—

हुआ था जब संध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर
विहँग-रव बन कर मैं, चितचोर!
गा रहा था गुण; किंतु कठोर
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक।

पर पंत जी की रहस्य-भावना प्रायः स्वाभाविक ही रही; 'वाद' का सांप्रदायिक स्वरूप उसने शायद ही कहीं ग्रहण किया हो। उनकी जो एक बड़ी विशेषता है प्रकृति के सुंदर रूपों की आह्लादमयी अनुभूति, वह 'वीणा' में भी कई जगह पाई जाती है। सौंदर्य्य का

आह्लाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रवृत्त करता है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौंदर्य्यानुभूति के प्रसार के लिये अनेक मार्ग से खुल जाते हैं। वीणा की कविताओं में इसने लोगों को बहुत आकर्षित किया—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि! तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि! पाया तूने यह गाना?
निराकार तम मानो सहसा ज्योतिपुंज में हो साकार।
बदल गया द्रुत जगजाल में धर कर नाम-रूप नाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि, खिली सुरभि डोले मधु-बाल।
स्पंदन, कंपन, नव जीवन फिर सीखा जग ने अपनाना।

उस मूर्तिमती लाक्षणिकता का आभास, जो 'पल्लव' में जाकर अपनी हद को पहुँची है, 'वीणा' से ही मिलने लगता है, जैसे—

मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल चुंबन उलझाया।
अंधकार का अलसित अंचल
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार
जहाँ स्वप्न सजते शृंगार।

'वीणा' के उपरांत 'ग्रंथि' है—असफल प्रेम की। इसमें एक छोटे-से प्रेम-प्रसङ्ग का आधार लेकर युवक कवि ने प्रेम की आनंद-भूमि में प्रवेश, फिर चिर-विषाद के गर्त्त में पतन दिखाया है। प्रसंग की कोई नई उद्भावना नहीं है। करुणा और सहानुभूति से प्रेम का स्वाभाविक विकास प्रदर्शित करने के लिये जो वृत्त उपन्यासों और कहानियों में प्रायः पाए जाते हैं—जैसे, डूबने से बचानेवाले, अत्याचार से रक्षा करनेवाले, बंदीगृह में पड़ने या रणक्षेत्र में घायल होने पर सेवा-शुश्रूषा करनेवाली के प्रति प्रेम-संचार—उन्हीं में से एक चुनकर भावों की व्यंजना के लिये रास्ता निकाला गया है। झील में नाव

डूबने पर एक युवक डूबकर बेहोश होता है और आँख खुलने पर देखता है कि एक सुंदरी युवती उसका सिर अपने जंघे पर रखे हुए उसकी ओर देख रही है। इसके उपरांत दोनों में प्रेम-व्यापार चलता है; पर अंत में समाज के बड़े लोग इस स्वेच्छाचार को न सहन करके उस युवती का ग्रंथिबंधन दूसरे पुरुष के साथ कर देते हैं। यही ग्रंथिबंधन उस युवक या नायक के हृदय में एक ऐसी विषाद-ग्रंथि डाल देता है जो कभी खुलती ही नहीं। समाज के द्वारा किस प्रकार स्वभावतः उठा हुआ प्रेम कुचल दिया जाता है, इस कहानी द्वारा कवि को यही दिखाना था। यद्यपि प्रेम का स्रोत कवि ने करुणा की गहराई से निकाला है पर आगे चलकर उसके प्रवाह में भारतीय पद्धति के अनुसार हास-विनोद की झलक भी दिखाई है। कहानी तो एक निमित्त मात्र जान पड़ती है; वास्तव में सौंदर्य-भावना की अभिव्यक्ति और आशा, उल्लास, वेदना, स्मृति इत्यादि की अलग अलग व्यंजना पर ही ध्यान जाता है।

पंत जी की पहली प्रौढ़ रचना 'पल्लव' है, जिसमें प्रतिभा के उत्साह या साहस का तथा पुरानी काव्य-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बढ़ा-चढ़ा प्रदर्शन है। इसमें चित्रमयी भाषा, लाक्षणिक वैचित्र्य, अप्रस्तुत-विधान इत्यादि की विशेषताएँ प्रचुर परिमाण में भरी-सी पाई जाती हैं। 'वीणा' और 'पल्लव' दोनों में अँगरेजी कविताओं से लिए हुए भाव और अँगरेजी भाषा के लाक्षणिक प्रयोग बहुत-से मिलते हैं। कहीं कहीं आरोप और अध्यवसान व्यर्थ और अशक्त हैं, केवल चमत्कार और वक्रता के लिये रखे प्रतीत होते हैं, जैसे 'नयनों के बाल' = आँसू। 'बाल' शब्द जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत अधिक पाई जाती है, जैसे, मधुबाल, मधुपों के बाल। शब्द का मनमाने लिंगों में प्रयोग भी प्रायः मिलता है। कहीं कहीं वैचित्र्य के लिये एक ही प्रयोग में दो दो लक्षणाएँ गुंफित पाई जाती हैं—अर्थात् एक लक्ष्यार्थ से फिर दूसरे लक्ष्यार्थ पर

जाना पड़ता है, जैसे—'मर्म पीड़ा के हास' में। पहले 'हास' का अर्थ लक्षण-लक्षणा द्वारा वृद्धि या विकास लेना पड़ता है। फिर यह जान कर कि सारा संबोधन कवि अपने या अपने मन के लिये करता है, हमें सारी पदावली का उपादान लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ लेना पड़ता है "हे बढ़ी हुई मर्मपीड़ावाले मन !" इसी प्रकार कहीं कहीं दो दो अप्रस्तुत भी एक में उलझे हुए पाए जाते हैं, जैसे—"अरुण कलियों-से कोमल घाव।" पहले 'घाव' के लिये वर्ण के सादृश्य और कोमलता के साधर्म्य से 'कली' की उपमा दी गई। पर 'घाव' स्वयं अप्रस्तुत या लाक्षणिक है और उसका अर्थ है "कसकती हुई स्मृति।" इस तरह एक अप्रस्तुत लाकर फिर उस अप्रस्तुत के लिये दूसरा अप्रस्तुत लाया गया है। इसी प्रकार दो दो उपमान एक में उलझे हमें 'गुंजन' की इन पंक्तियों में मिलते हैं—

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता हिम-हास।

कहीं कहीं पर साम्य बहुत ही सुंदर और व्यंजक हैं। वे प्रकृति के व्यापारों के द्वारा मानसिक व्यापारों की बड़ी रमणीय व्यंजना करते हैं, जैसे—

तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर।
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान।
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि
सरल शुक-सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर में।

जिस प्रकार भावों या मनोवृत्तियों का स्वरूप बाह्य वस्तुओं के साम्य द्वारा सामने लाया जाता है, उसी प्रकार कभी कभी बाह्य वस्तुओं के साम्य के लिये आभ्यंतर भावों या मनोव्यापारों की ओर भी संकेत किया जाता है, जैसे—

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते वे सत्वर।

हिमालय प्रदेश में यह दृश्य प्रायः देखने को मिलता है कि रात में जो बादल खड्डों में भर जाते हैं वे प्रभात होते ही धीरे धीरे बहुत-से टुकड़ों में बँटकर पहाड़ के ऊपर इधर उधर चढ़ते दिखाई देने लगते हैं और अंत में अनंत आकाश में विलीन हो जाते हैं। इसका साम्य कवि ने अचल ध्यान में मग्न योगी से दिखाया है जिसकी निर्मल मनोवृत्तियाँ उच्चता को प्राप्त होती हुई उस अनंत सत्ता में मिल जाती हैं।

पर 'छाया,' 'वीचि-विलास,' 'नक्षत्र' ऐसी कविताओं में, जहाँ उपमानों के ढेर लगे हुए हैं, बहुत-से उपमान पुराने ढंग के खेलवाड़ के रूप में भी हैं, जैसे—

वारि-बेलि-सी फैल अमूल
छा अपत्र सरिता के कूल,
विकसा औ सकुचा नव जात
बिना नाल के फेनिल फूल।
(वीचि-विलास)

अहे! तिमिर चरते शशि-शावक।

× × × ×

इंदु दीप-से दग्ध शलभ शिशु !
शुचि उलूक अब हुआ विहान,
अंधकारमय मेरे उर में
आओ छिप जाओ अनजान।

(नक्षत्र)

सवेरा होने पर नक्षत्र भी छिप जाते हैं, उल्लू भी। बस इतने-से साधर्म्य को लेकर कवि ने नक्षत्रों को उल्लू बनाया है—साफ़-सुथरे उल्लू सही—और उन्हें अँधेरे उर में छिपने के लिये आमंत्रित किया है। पर इतने उल्लू यदि डेरा डालेंगे तो मन की दशा क्या होगी? कवि को यदि अपने हृदय के नैराश्य और अवसाद की व्यंजना करनी थी तो नक्षत्रों को बिना उल्लू बनाए भी काम चल सकता था।

कहीं कहीं संकीर्ण समास-पद्धति के कारण कवि की विवक्षित भावनाएँ अस्फुट-सी हैं, जैसे नक्षत्रों के प्रति ये वाक्य—

ऐ! आतुर उर के संमान!
अब मेरी उत्सुक आँखों, से उमड़ो।
× × ×
मुग्ध दृष्टि की चरम विजय।

पहली पंक्ति में 'संमान' शब्द उस सजावट के लिये आया है जो प्रिय से मिलने के लिये आतुर व्यक्ति उसके आने पर या आने की आशा पर बाहर अनेक प्रकार के सामानों द्वारा और भीतर प्रेम से जगमगाते अनेक सुंदर भावों द्वारा करता है। दूसरी पंक्ति में कवि का तात्पर्य यह है कि प्रियदर्शन के लिये उत्सुक आँखें असंख्य-सी हो रही हैं। उन्हीं की ज्योति आकाश में नक्षत्रों के रूप में फैले। तीसरी पंक्ति में 'चरम विजय' का अभिप्राय है लगातार एक टक ताकते रहने में बाज़ी मारना।

पर इन साम्य-प्रधान रचनाओं में कहीं कहीं बहुत ही सुंदर आध्यात्मिक कल्पना है, जैसे छाया के प्रति इस कथन में—

हाँ सखि ! आओ बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण।
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान।

कवि कहता है कि हे छायारूप जगत् ! आओ, मैं तुम्हें प्यार कर लूँ। फिर तुम कहाँ और मैं कहाँ ! मैं अर्थात् मेरी आत्मा तो उस अनंत ज्योति में मिल जायगी और तुम अव्यक्त प्रकृति या महा शून्य में विलीन हो जाओगे।

'पल्लव' के भीतर 'उच्छ्वास', 'आँसू', 'परिवर्त्तन' और 'बादल' आदि रचनाएँ देखने से पता चलता है कि यदि 'छायावाद' के नाम से एक 'वाद' न चल गया होता तो पंत जी स्वच्छंदता के शुद्ध स्वाभाविक मार्ग (True romanticism) पर ही चलते। उन्हें प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित होनेवाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलनेवाला हृदय प्राप्त था। यही कारण है कि 'छायावाद' शब्द मुख्यतः शैली के अर्थ में, चित्रभाषा के अर्थ में, ही उनकी रचनाओं पर घटित होता है। रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण प्रस्तुत करने के लिये उनकी प्रतिभा बहुत कम प्रवृत्त हुई है। रहस्य-भावना जहाँ है वहाँ अधिकतर स्वाभाविक है।

पल्लव में रहस्यात्मक रचनाएँ हैं 'स्वप्न' और 'मौन निमंत्रण'। पर जैसा कि पहले कह आए हैं, पंत जी की रहस्य-भावना स्वाभाविक है, सांप्रदायिक (Dogmatic) नहीं। ऐसी रहस्य भावना इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों को देख प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के मन में कभी कभी उठा करती है। व्यक्त जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के भीतर किसी अज्ञात चेतन सत्ता का अनुभव-सा करता हुआ कवि इसे केवल अतृप्त जिज्ञासा के रूप में प्रकट करता है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि उस अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी कवि ने प्रिय और

प्रेमिका का स्वाभाविक पुरुष-स्त्री-भेद रखा है; 'प्रसाद' जी के समान दोनों को पुँल्लिंग रखकर फ़ारसी या सूफ़ी रूढ़ि का अनुसरण नहीं किया है। इसी प्रकार वेदना की वैसी बीभत्स विवृति भी नहीं मिलती जैसी यह प्रसाद जी की है—

छिल छिल कर छाले फोड़े
मल मल कर मृदुल चरण से।

जगत् के पारमार्थिक स्वरूप की जिज्ञासा बहुत ही सुंदर भोलेपन के साथ 'शिशु' को संबोधन करके कवि ने इस प्रकार की है—

न अपना ही, न जगत् का ज्ञान,
न परिचित हैं निज नयन, न कान;
दीखता है जग कैसा, तात!
नाम गुण रूप अजान।

कवि, यह समझ कर कि शिशु पर अभी उस नाम-रूप का प्रभाव पूरा पूरा नहीं पड़ा है, जो सत्ता के पारमार्थिक स्वरूप को छिपा देता है, उससे पूछता है कि "भला बताओ तो, यह जगत् तुम्हें कैसा दिखाई पड़ता है।"

छायावाद के भीतर माने जानेवाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम-संबंध पंतजी का ही दिखाई पड़ता है। प्रकृति के अत्यंत रमणीय खंड के बीच उनके हृदय ने रूप-रंग पकड़ा है। 'पल्लव', 'उच्छ्‌वास' और 'आँसू' में हम उस मनोरम खंड की प्रेमार्द्र स्मृति पाते हैं। यह अवश्य है कि सुषमा की ही उमंग-भरी भावना के भीतर हम उन्हें रमते देखते हैं। 'बादल' को अनेक नेत्राभिराम रूपों में उन्होंने कल्पना की रंगभूमि पर ले आकर देखा है, जैसे—

फिर परियों के बच्चे-से हम सुभग सीप के पंख पसार।
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में पकड़ इंदु के कर सुकुमार।

पर प्रकृति के बीच उसके गूढ़ और व्यापक सौहार्द तक—ग्रीष्म की ज्वाला से संतप्त चराचर पर उसकी छाया के मधुर, स्निग्ध, शीतल, प्रभाव तक; उसके दर्शन से तृप्त कृषकों के आशापूर्ण उल्लास तक—कवि ने दृष्टि नहीं बढ़ाई है। कल्पना के आरोप पर ही जोर देनेवाले 'कलावाद' के संस्कार और प्रतिक्रिया के जोश ने उसे मेघ को उस व्यापक प्रकृत-भूमि पर न देखने दिया जिस पर कालिदास ने देखा था। आरोप-विधायिनी कल्पना की अपेक्षा प्रकृति के बीच किसी वस्तु के गूढ़ और अगूढ़ संबंध-प्रसार का चित्रण करनेवाली कल्पना अधिक गंभीर और मार्मिक होती है।

साम्य का आरोप भी निस्संदेह एक बड़ा विशाल सिद्धांत लेकर काव्य में चला है। वह जगत् के अनंत रूपों या व्यापारों के बीच फैले हुए उन मोटे और महीन संबंध-सूत्रों की झलक-सी दिखाकर नरसत्ता के सूनेपन का भाव दूर करता है, अखिल सत्ता के एकत्व की आनंदमयी भावना जगाकर हमारे हृदय का बंधन खोलता है। जब हम रमणी के मुख के साथ कमल, स्मिति के साथ अधखिली कलिका सामने पाते हैं तब हमें ऐसा अनुभव होता है कि एक ही सौंदर्य्य-धारा से मनुष्य भी और पेड़-पौधे भी रूप-रंग प्राप्त करते हैं। यही तक नहीं, भाषा ने व्यवहार की सुगमता के लिये अलग अलग शब्द रच कर जो भेद खड़े किए हैं वे भी कभी कभी इन आरोपों के सहारे थोड़ी देर के लिये हमारे मन से दूर हो जाते हैं। यदि किसी बड़े पेड़ के नीचे उसी के गिरे हुए बीजों से जमे हुए छोटे छोटे पौधों को हम आस-पास खेलते उसके बच्चे कहें तो आत्मीयता का भाव झलक जायगा।

'कलावाद' के प्रभाव से जिस 'सौंदर्य्यवाद' का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कई स्थानों पर सौंदर्य्य-चयन को अपने जीवन की साधना कहा है, जैसे—

धूल की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर,
जटिल तरुजाल हैं किसी ओर,
सुमन दल चुन चुन कर निशि भोर
खोजना है अजान वह छोर।*

× × × ×

मेरा मधुकर का-सा जीवन,
कठिन कर्म है, कोमल है मन।

उस समय तक कवि प्रकृति के केवल सुंदर, मधुर पक्ष में अपने हृदय के कोमल और मधुर भावों के साथ लीन था। कर्म-मार्ग उसे कठोर ही कठोर दिखाई पड़ता था। कर्म-सौंदर्य्य का साक्षात्कार उसे नहीं हुआ था। उसका साक्षात्कार आगे चलकर हुआ जब वह धीरे धीरे जगत् और जीवन के पूर्ण स्वरूप की ओर दृष्टि ले गया।

'पल्लव' के अंत में पंतजी जगत् के विषम 'परिवर्त्तन' के नाना दृश्य सामने लाए हैं। इसकी प्रेरणा शायद उनके व्यक्तिगत जीवन की किसी विषम स्थिति ने की है। जगत् की परिवर्तन-शीलता मनुष्य-जाति को चिर काल से क्षुब्ध करती आ रही है। परिवर्त्तन संसार का नियम है। यह बात स्वतः सिद्ध होने पर भी सहृदयों और कवियों का मर्म-स्पर्श करती रही है और करती रहेगी, क्योंकि इसका संबंध जीवन के नित्य स्वरूप से है। जीवन के व्यापक क्षेत्र में प्रवेश के कारण

---

* यही भाव इँगलैंड के एक आधुनिक कवि और समीक्षक अबर-क्रोंबे ने, जो हाल में मरे हैं, इस प्रकार व्यक्त किया है—

....So we are driven
Onward and upward in a wind of beauty.
—Abercrombe.

कवि-कल्पना को कोमल, कठोर, मधुर, कटु, करुण, भयंकर कई प्रकार की भूमियों पर बहुत दूर तक एक संबद्ध धारा के रूप में चलना पड़ा है। जहाँ कठोर और भयंकर, भव्य और विशाल तथा अधिक अर्थ-समन्वित भावनाएँ हैं वहाँ कवि ने रोला छंद का सहारा लिया है। काव्य में चित्रमयी भाषा सर्वत्र अनिवार्य्य नहीं; सृष्टि के गूढ़-अगूढ़ मार्मिक तथ्यों के चयन द्वारा भी किसी भावना को मर्मस्पर्शी स्वरूप प्राप्त हो जाता है, इसका अनुभव शायद पंतजी को इस एक धारा में चलनेवाली लंबी कविता के भीतर हुआ है। इसी से कहीं कहीं हम सीधे-सादे रूप में चुने हुए मार्मिक तथ्यों का समाहार मात्र पाते हैं, जैसे—

तुम नृशंस-नृप-से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित;
नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएँ खंडित,
हर लेते हो विभव, कला-कौशल चिर-संचित।
आधि-व्याधि, बहु वृष्टि, वात-उत्पात अमंगल।
वह्नि, बाढ़, भूकंप—तुम्हारे विपुल सैन्य-दल।

चित्रमयी लाक्षणिक भाषा तथा रूपक आदि का भी बहुत ही सफल प्रयोग इस रचना के भीतर हुआ है। उसके द्वारा तीव्र मर्म-वेदना जगानेवाली शक्ति की पूरी प्रतिष्ठा हुई है। दो एक उदाहरण लीजिए—

अहे निष्ठुर परिवर्त्तन!

× × × ×

अहे वासुकि सहस्रफन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर।
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर।

मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर।
अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुंडल दिङ्मंडल।

मृदुल होठों का हिमजल-हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर;
सरल भौहों का शरदाकाश
घेर लेते घन घिर गंभीर।

× × × ×

विश्वमय हे परिवर्त्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार।

पहले तो कवि लगातार सुख का दुःख में, उत्थान का पतन में, उल्लास का विषाद में, सरस सुषमा का शुष्कता और म्लानता में परिवर्त्तन सामने ला लाकर हाहाकार का एक विश्व-व्यापक स्वर सुनता हुआ क्षोभ से भर जाता है; फिर परिवर्त्तन के दूसरे पक्ष पर भी—दुःख-दशा से सुखदशा की प्राप्ति पर भी—थोड़ा दृष्टिपात करके चिंतनोन्मुख होता है और परिवर्त्तन को एक महा करुण कांड के रूप में देखने के स्थान पर सुख-दुःख की उलझी हुई समस्या के रूप में देखता है, जिसकी पूर्ति इस व्यक्त जगत् में नहीं हो सकती, जिसका सारा रहस्य इस जीवन के उस पार ही खुल सकता है—

आज का दुख, कल का आह्लाद
और कल का सुख, आज विषाद;
समस्या स्वप्न गूढ़ संसार,
पूर्त्ति जिसकी उस पार।

इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से जगत् के द्वंद्वात्मक विधान को समझ कर कवि अपने मन को शांत करता है—

मूँदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात।
म्लान कुसुमों की मृदु मुसकान
फलों में फलती फिर अम्लान।

× × × ×

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार।
कहीं राखी बनता सुकुमार,
कहीं बेड़ी का भार।

× × × ×

बिना दुख के सब सुख निःसार,
बिना आँसू के जीवन भार।
दीन दुर्बल है रे संसार;
इसी से क्षमा, दया औ प्यार।

और जीवन के उद्देश्य का भी अनुभव करता है—

वेदना ही में तप कर प्राण,
दमक, दिखलाते स्वर्ण-हुलास।

× × × ×

अलभ है इष्ट, अतः अनमोल।
साधना ही जीवन का मोल।

जीवन का एक सत्य स्वरूप लेकर अत्यंत मार्मिक अर्थ-पथ पर संबद्ध रूप में चलने के कारण, कल्पना की क्रीड़ा और वाग्वैचित्र्य पर प्रधान लक्ष्य न रहने के कारण, इस 'परिवर्तन' नाम की सारी कविता का एक समन्वित प्रभाव पड़ता है।

'पल्लव' के उपरांत 'गुंजन' में हम पंतजी को जगत् और जीवन के प्रकृत क्षेत्र के भीतर और बढ़ते हुए पाते हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष बोध से अतृप्त होकर कल्पना की रुचिरता से तृप्त होने और बुद्धि-व्यापार से क्लांत होकर रहस्य की छाया में विश्राम करने की प्रवृत्ति भी साथ ही साथ बनी हुई है। कवि जीवन का उद्देश्य बताता है इस चारों ओर खिले हुए जगत् की सुषमा से अपने हृदय को संपन्न करना—

क्या यह जीवन? सागर में
जलभार मुखर भर देना!
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा
व्रीड़ा से तनिक न लेना?

पर इस जगत् में सुख-सुषमा के साथ दुःख भी तो है। उसके इस सुख-दुःखात्मक स्वरूप के साथ कवि अपने हृदय का सामंजस्य कर लेता है—

सुख - दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन।

कवि वर्तमान जगत् की इस अवस्था से असंतुष्ट है कि कहीं तो सुख की अति है, कहीं दुःख की। वह सम भाव चाहता है—

जग पीड़ित है अति-दुख से
जग पीड़ित रे अति-सुख से।
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ सुख दुख से।

'मानव' नाम की कविता में जीवन-सौंदर्य्य की नूतन भावना का उदय कवि अपने मन में इस प्रकार चाहता है—

मेरे मन के मधुवन में
सुषमा के शिशु! मुसकाओ।
नव नव साँसों का सौरभ
नव मुख का सुख बरसाओ।

बुद्धिपक्ष ही प्रधान हो जाने से हृदयपक्ष जिस प्रकार दब गया है और श्रद्धा-विश्वास का ह्रास होता जा रहा है, इसके विरुद्ध योरप के अनातोले फ्रांस आदि कुछ विचारशील पुरुषों ने जो आंदोलन उठाया उसका आभास भी पंतजी की इन पंक्तियों में मिलता है—

सुंदर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन।

"नौका-विहार" का वर्णन अप्रस्तुत आरोपों से अधिक आच्छादित होने पर भी प्रकृति के प्रत्यक्ष रूपों की ओर कवि का खिंचाव सूचित करता है।

जैसे और जगह वैसे ही गुंजन में भी पंतजी की रहस्य भावना अधिकतर स्वाभाविक पथ पर पाई जाती है। दूर तक फैले हुए खेतों और मैदानों के छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली हरिदाभ-रेखा-सी क्षितिज से मिली दिखाई पड़ती है उसके उधर किसी मधुर लोक की कल्पना स्वभावतः होती है—

दूर उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छायावन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार।

कवि की रहस्य-दृष्टि प्रकृति की आत्मा—जगत् के रूपों और व्यापारों में व्यक्त होनेवाली आत्मा—की ओर ही जाती है जो "निखिल छवि की छवि है" और जिसका "अखिल जग-जीवन हास-विलास" है। इस व्यक्त प्रसार के बीच उसका आभास पाकर कुछ क्षण के लिये आनंद-मग्न होना ही मुक्ति है, जिसकी साधना सरल और स्वाभाविक

है, हठयोग की-सी चक्करदार नहीं। मुक्ति के लोभ से अनेक प्रकार की चक्करदार साधना तो बंधन है—

है सहज मुक्ति का मधु क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बंधन।

कवि अपनी इस मनोवृति को एक जगह इस प्रकार स्पष्ट भी करता है। वह कहता है कि इस जीवन की तह में जो परमार्थ तत्त्व छिपा हुआ कहा जाता है उसे पकड़ने और उसमें लीन होने के लिये बहुत-से लोग अंतर्मुख होकर गहरी गहरी डुबकियाँ लगाते हैं; पर मुझे तो उसके व्यक्त आभास ही रुचिकर हैं, अपनी पृथक् सत्ता विलीन करते भय-सा लगता है—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोतीवाली;
पर मुझे डूबने का भय है;
भाती तट की चल जल-माली।
आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुंदर।
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर॥

कहने का तात्पर्य्य यह कि पंतजी की स्वाभाविक रहस्य-भावना को 'प्रसाद' और 'महादेवी वर्मा' की सांप्रदायिक रहस्य-भावना से भिन्न समझना चाहिए। पारमार्थिक ज्ञानोदय को अवश्य उन्होंने 'कुछ भी आज न लूँगी मोल' नामक गीत में प्रकृति की सारी विभूतियों से श्रेष्ठ कहा है। रहस्यात्मकता की अपेक्षा कवि में दार्शनिकता अधिक पाई जाती है। 'विहग के प्रति' नाम की कविता में कवि ने अव्यक्त प्रकृति के बीच चैतन्य के सान्निध्य से, शब्द-ब्रह्म के संचार या स्पंदन (Vibration) से, सृष्टि के अनेक रूपात्मक विकास का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है—

मुक्त पंखों में उड़ दिन रात
सहज स्पंदित कर जग के प्राण;
शून्य नभ में भर दी अज्ञात,
मधुर जीवन की मादक तान।

× × × ×

छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बँध जग के सानंद;
भर दिए कलरव से दिशि-आस
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमंद।
रिक्त होते जब जब तरुवास,
रूप धर तू नव नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास,
विश्व के अक्षयवट की डाल।

'गुंजन' में भी पंतजी की प्रतिभा बहुत ही व्यंजक और रमणीय साम्य जगह जगह सामने लाती है, जैसे—

खुल खुल नव नव इच्छाएँ
फैलातीं जीवन के दल
गा गा प्राणों का मधुकर
पीता मधुरस परिपूरण।

इसी प्रकार लक्षणा के सहारे बहुत ही अर्थगर्भित और व्यंजक साम्य इन पंक्तियों में हम पाते हैं—

यह शैशव का सरल हास है
सहसा उर से है आ जाता।
यह ऊषा का नव विकास है
जो रज को है रजत बनाता।
यह लघु लहरों का विलास है
कलानाथ जिसमें खिंच आता।

कवि का भाव तो इतना ही है कि बाल्यावस्था में यह सारी पृथ्वी कितनी सुंदर और दीप्तिपूर्ण दिखाई देती है, पर व्यंजना बड़े ही मनोहर ढंग से हुई है। जिस प्रकार अरुणोदय में पृथ्वी का एक एक कण स्वर्णाभ दिखाई देता है उसी प्रकार बाल-हृदय को यह सारी पृथ्वी दीप्तिमयी लगती है। जिस प्रकार सरोवर के हलके हलके हिलोरों में चंद्रमा (उसका प्रतिबिंब) उतर कर लहराता दिखाई देता है उसी प्रकार बाल-हृदय की उमंगों में स्वर्गीय दीप्ति फैली जान पड़ती है।

'गुंजन' में हम कवि का जीवनक्षेत्र के भीतर अधिक प्रवेश ही नहीं, उसकी काव्यशैली को भी अधिक संयत और व्यवस्थित पाते हैं। प्रतिक्रिया की झोंक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति हम 'पल्लव' में पाते हैं वह 'गुंजन' में नहीं है। उसमें काव्यशैली अधिक संगत, संयत और गंभीर हो गई है।

'गुंजन' के पीछे तो पंतजी वर्त्तमान जीवन के कई पक्षों को लेकर चलते दिखाई पड़ते हैं। उनके 'युगांत' में हम देश के वर्त्तमान जीवन में उठे हुए स्वरों की मीठी प्रतिध्वनि जगह-जगह पाते हैं। कहीं परिवर्त्तन की प्रबल आकांक्षा है, कहीं श्रमजीवियों की दशा की झलक है, कहीं तर्क-वितर्क छोड़ श्रद्धा-विश्वासपूर्वक जीवनपथ पर साहस के साथ बढ़ते चलने की ललकार है, कहीं 'बापू के प्रति' श्रद्धांजलि है। 'युगांत' में कवि स्वप्नों से जग कर यह कहता हुआ सुनाई पड़ता है—

जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात।
जो देख चुके जीवन-निशीथ
वे देखेंगे जीवन - प्रभात।

'युगांत' में कवि को हम केवल रूप-रंग, चमक-दमक, सुख-सौरभवाले सौंदर्य से आगे बढ़कर जीवन-सौंदर्य की सत्याश्रित

कल्पना में प्रवृत्त पाते हैं। उसे बाहर जगत् में 'सौंदर्य, स्नेह, उल्लास' का अभाव दिखाई पड़ा है। इससे वह जीवन की सुंदरता की भावना मन में करके उसे जगत् में फैलाना चाहता है—

सुंदरता का आलोक स्रोत
है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात
होगा फिर जग के आँगन में।

× × × ×

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर।
सौंदर्य्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग में बाहर।

अब कवि प्रार्थना करता है कि—

जग-जीवन में जो चिर महान्
सौंदर्य्यपूर्ण औ सत्यप्राण।
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ!
जिसमें मानव-हित हो समान।

नीरस और ठूँठे जगत् में, क्षीण कंकालों के लोक में, वह जीवन का वसंत-विकास चाहता है—

कंकाल - जाल - जग में फैले
फिर नवल रुधिर, पल्लव-लाली।

ताजमहल के कला-सौंदर्य को देख अनेक कवि मुग्ध हुए हैं। पर करोड़ों की संख्या में भूखों मरती जनता के बीच ऐश्वर्य-विभूति के उस विशाल आडंबर के खड़े होने की भावना से क्षुब्ध होकर युगांत के बदले हुए पंतजी कहते हैं—

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन !
जब विषण्ण निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन ।

× × × ×

मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ।
आत्मा का अपमान, प्रेत औ छाया से रति ।
शव को दें हम रूप-रंग, आदर मानव का ।
मानव को हम कुत्सित चित्र बनावें शव का ।

'पल्लव' में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बँधा हुआ, 'गुंजन' में कभी कभी उसके बाहर और 'युगांत' में लोक के बीच दृष्टि फैलाकर आसन जमाता हुआ दिखाई पड़ता है । 'गुंजन' तक वह जगत् से अपने लिये सौंदर्य और आनंद का चयन करता प्रतीत होता है, 'युगांत' में आकर वह सौंदर्य और आनंद का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है । कवि की सौंदर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना के रूप में परिणत हुई है । अब तक कवि लोक-जीवन के वास्तविक शीत और ताप से अपने हृदय को बचाता-सा आता रहा; अब उसने अपना हृदय खुले जगत् के बीच रख दिया है कि उस पर उसकी गति-विधि का सच्चा और गहरा प्रभाव पड़े । अब वह जगत् और जीवन में जो कुछ सौंदर्य, माधुर्य प्राप्त है अपने लिये उसका स्तवक बनाकर तृप्त नहीं हो सकता । अब वह दुःख-पीड़ा, अन्याय-अत्याचार के अंधकार को फाड़कर मंगलज्योति फूटती देखना चाहता है—मंगल का अमंगल के साथ वह संघर्ष देखना चाहता है, जो गत्यात्मक जगत् का कर्म-सौंदर्य है ।

संध्या होने पर अब कवि का ध्यान केवल प्रफुल्ल प्रसून, अलस गंधवाह, राग-रंजित और दीप्त दिगंचल तक ही नहीं रहता । वह यह भी देखता है कि—

बाँसों का झुरमुट,
संध्या का झुटपुट

× × × ×

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग !

जो पुराना पड़ गया है, जीर्ण और जर्जर हो गया है और नव जीवन-सौंदर्य लेकर आनेवाले युग के उपयुक्त नहीं है उसे पंतजी बड़ी निर्ममता के साथ हटाना चाहते हैं—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त, ध्वस्त ! हे शुष्क, शीर्ण !
हिम-ताप-पीत, मधु वात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़ पुराचीन !

——

झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन !
अंध नीड़ से रूढ़-रीति छन !

इस प्रकार कवि की वाणी में लोकमंगल की आशा और आकांक्षा के साथ घोर 'परिवर्त्तनवाद' का स्वर भी भर रहा है। गत युग के अवशेषों को ध्वस्त करने का अत्यंत रौद्र आग्रह प्रकट किया गया है—

गर्जन कर मानव-केसरि !
प्रखर नखर नव जीवन की लालसा गड़ा कर !
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के शव को दुर्धर !

ऐसे स्थलों को देख यह संदेह हो सकता है कि कवि अपनी वाणी को केवल आंदोलनों के पीछे लगा रहा है या अपनी अनुभूति की प्रेरणा से परिचालित कर रहा है। आशा है कि पंतजी अपनी लोकमंगल-भावना को ऐसे स्वाभाविक मर्मपथ पर ले चलेंगे जहाँ इस प्रकार के संदेह का अवसर न रहेगा।

'युगांत' में नर-जीवन की वर्त्तमान दशा की अनुभूति ही सर्वत्र नहीं है। हृदय की नित्य और स्थायी वृत्तियों की व्यंजना भी, कल्पना की पूरी रमणीयता के साथ, कई रचनाओं में मिलती है। सबसे ध्यान देने की बात यह है कि 'वाद' की लपेट से अपनी वाणी को कवि ने एक प्रकार से मुक्त कर लिया है। चित्रभाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य के अनावश्यक प्रदर्शन की वह प्रवृत्ति अब नहीं है जो भाषा और अर्थ की स्वाभाविक गति में बाधक हो। 'संध्या', 'खद्योत', 'तितली', 'शुक्र' इत्यादि रचनाओं में जो रमणीय कल्पनाएँ हैं उनमें दूसरों के हृदय में ढलने की पूरी द्रवणशीलता है। 'तितली' के प्रति यह संबोधन लीजिए—

प्रिय तितली! फूल-सी ही फूली
तुम किस सुख में हो रही डोल?
× × × ×
क्या फूलों से ली, अनिल-कुसुम!
तुमने मन के मधु की मिठास?

हवा में उड़ती रंग-विरंगी तितलियों के लिये 'अनिल-कुसुम' शब्द की रमणीयता सबका हृदय स्वीकार करेगा। इसी प्रकार 'खद्योत' के सहसा चमक उठने पर यह कैसी सीधी-सादी सुंदर भावना है—

अँधियाली घाटी में सहसा
हरित स्फुलिंग सदृश फूटा वह।

'युगवाणी' में तो वर्त्तमान जगत् में सामाजिक व्यवस्था के संबंध में प्रायः जितने वाद, जितने आंदोलन उठे हुए हैं सबका समावेश किया गया है। इन नाना वादों के संबंध में अच्छा तो यह होता कि उनके नामों का निर्देश न करके, उनके भीतर जो जीवन का सत्यांश है उसका मार्मिक रूप सामने रख दिया जाता। ऐसा न होने से जहाँ इन वादों के नाम आए हैं वहाँ कवि का अपना रूप छिपा-

सा लगता है। इन वादों को लेकर चले हुए आंदोलनों में कवि को मानवता के नूतन विकास का आभास मिलता दिखाई पड़ा है। उस आगामी विकास के कल्पित स्वरूप के प्रति तीव्र आकर्षण प्रकट किया गया है जो वर्त्तमान पाश्चात्य साहित्य-क्षेत्र की एक रूढ़ि (Worship of the future) के मेल में है। अतः लोक के भावी स्वरूप के सुंदर चित्र के प्रति व्यंजित ललक या प्रेम को कोई चाहे तो उपयोगिता की दृष्टि से कल्पित एक आदर्श भाव का उदाहरण मात्र कह सकता है। इसी प्रकार अतीत के सारे अवशेषों को सर्वथा ध्वस्त देखने की रोषपूर्ण आकुलता का स्थान भी मनुष्य की स्थायी अंतःप्रकृति के बीच कहीं मिलेगा, इसमें संदेह है।

बात यह है कि इस प्रकार के भाव वर्त्तमान की विषम स्थिति से क्षुब्ध, कर्म में तत्पर मन के भाव हैं। ये कर्म-काल के भीतर जगे रहते हैं। कर्म में रत मनुष्य के मन में सफलता की आशा, अनुमित भविष्य के प्रति प्रबल अभिलाष, बाधक वस्तुओं के प्रति रोष आदि का संचार होता है। ये भाव व्यावहारिक हैं, अर्थ-साधना की प्रक्रिया से संबंध रखते हैं और कर्म-क्षेत्र में उपयोगी माने जाते हैं। पंतजी ने वर्त्तमान को जगत् का कर्म-काल मान कर उसके अनुकूल भावों का स्वरूप सामने रखा है। सारांश यह कि जिस मन के भीतर कवि ने इन भावों का अवस्थान किया है वह 'कर्म का मन' है।

इस रूप में कवि यदि लोक-कर्म में प्रवृत्त नहीं तो कम से कम कर्मक्षेत्र में उतरे हुए लोगों के साथ चलता दिखाई पड़ रहा है। स्वतंत्र द्रष्टा का रूप उसका नहीं रह गया है। उसका तो "सामूहिकता ही निजत्व धन" है। सामूहिक धारा जिधर जिधर चल रही है उधर उधर उसका स्वर भी मिला सुनाई पड़ रहा है। कहीं वह 'गत संस्कृति के गरल' धनपतियों के अंतिम क्षण बता रहा है, कहीं मध्यवर्ग को 'संस्कृति का दास और उच्च वर्ग की सुविधा का शास्त्रोक्त प्रचारक' तथा श्रमजीवियों को 'लोकक्रांति का अग्र-दूत' और नव्य सभ्यता का

उन्नायक कह रहा है और कहीं पुरुषों के अत्याचार से पीड़ित स्त्री-जाति की यह दशा सूचित कर रहा है—

पशु-बल से कर जन शासित,
जीवन के उपकरण सदृश
नारी भी कर ली अधिकृत !
× × × ×
अपने ही भीतर छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित।

पंतजी ने समाजवाद के प्रति भी रुचि दिखाई है और 'गांधीवाद' के प्रति भी। ऐसा प्रतीत होता है कि लोक-व्यवस्था के रूप में तो 'समाजवाद' की बातें उन्हें पसंद हैं और व्यक्तिगत साधना के लिये 'गांधीवाद' की बातें। कवि की दृष्टि में सब जीवों के प्रति आत्मभाव ही जीव-जगत् की 'मनुष्यत्व में परिणति' है। मनुष्य की अपूर्णता ही उसकी शोभा है। 'दुर्बलताओं से शोभित मनुष्यत्व सुरत्व से दुर्लभ है'। 'पूर्ण सत्य' और असीम को ही श्रद्धा के लिये ग्रहण करने के फेर में रहना सभ्यता की बड़ी भारी व्याधि है। सीमाओं के द्वारा, उन्हीं की रेखाओं से, मंगल-विधायक आदर्श बनकर खड़े होते हैं। 'मानवपन' में दोष हैं, पर उन्हीं दोषों की रगड़ खाकर वह मँजता है, शुद्ध होता है—

व्याधि सभ्यता की है निश्चित
पूर्ण सत्य का पूजन;
प्राणहीन वह कला, नहीं
जिसमें अपूर्णता शोभन।
सीमाएँ आदर्श सकल,
सीमा-विहीन यह जीवन,
दोषों से ही दोष-शुद्ध है
मिट्टी का मानवपन।

'समाजवाद' की बातें कवि ने ग्रहण की हैं पर अपना चिंतन स्वतंत्र रखा है। समाजवाद और संघवाद (Communism) के साथ लगा हुआ 'संकीर्ण भौतिकवाद' उसे इष्ट नहीं। पारमार्थिक दृष्टि से वह परात्परवादी है। आत्मा और भूतों के बीच संबंध स्थापित करने-वाला तत्त्व वह दोनों से परे बताता है—

> आत्मा और भूतों में स्थापित करता कौन समत्व।
> बहिरंतर, आत्मा-भूतों से है अतीत वह तत्त्व।
> भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल।
> व्यक्ति-विश्व से, स्थूल-सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।

यह परात्पर-भाव कवि की वर्त्तमान काव्यदृष्टि के कहाँ तक मेल में है, यह दूसरी बात है। पर जब हम देखते हैं कि उठे हुए सामयिक आंदोलन प्रायः एकांगदर्शी होते हैं, एक सीमा से दूसरी सीमा की ओर उन्मुख होते हैं तब उनके द्वारा आगामी भव-संस्कृति की जो हरियाली कवि को सूझ रही है वह निराधार-सी लगती है। इससे हम तो यही चाहेंगे कि पंतजी आंदोलनों की लपेट से अलग रहकर जीवन के नित्य और प्रकृत स्वरूप को लेकर चलें और उसके भीतर लोकमंगल की भावना का अवस्थान करें।

जो कुछ हो, यह देखकर प्रसन्नता होती है कि 'छायावाद' के बँधे घेरे से निकलकर पंतजी ने जगत् की विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता के साथ विचरने का साहस दिखाया है। सामने खुले हुए रूपात्मक व्यक्त जगत् से ही सच्ची भावनाएँ प्राप्त होती हैं, 'रूप ही उर में मधुर भाव बन जाता' है, इस 'रूप-सत्य' का साक्षात्कार कवि ने किया है।

'युगवाणी' में नर-जीवन पर ही विशेष रूप से दृष्टि जमी रहने के कारण कवि के सामने प्रकृति का वह रूप भी आया है जिससे मनुष्य को लड़ना पड़ा है—

वह्नि, बाढ़, उल्का, झंझा की भीषण भू पर
कैसे रह सकता है कोमल मनुज कलेवर।

'मानवता' के व्यापक संबंध की अनुभूति के मधुर प्रभाव से 'दो लड़के' में कवि को पासी के दो नंग-धिड़ंग बच्चे प्यारे लगे हैं जो—

जल्दी से टीले के नीचे उधर, उतर कर
हैं चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुंदर—
सिगरेट के ख़ाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तसवीरें नीली पीली।

किंतु नरक्षेत्र के भीतर पंतजी की दृष्टि इतनी नहीं बँध गई है कि चराचर के साथ अधिक व्यापक संबंध की अनुभूति मंद पड़ गई हो। 'युगवाणी' में हम देखते हैं कि हमारे जीवन-पथ के चारों ओर पड़नेवाली प्रकृति की साधारण से साधारण, छोटी से छोटी वस्तुओं को भी कवि ने कुछ अपनेपन के साथ देखा है। 'समस्त पृथ्वी पर निर्भय विचरण करती जीवन की अक्षय चिनगी' चींटी का अत्यंत कल्पनापूर्ण वर्णन हमें मिलता है। कवि के हृदय-प्रसार का सबसे सुंदर प्रमाण हमें 'दो मित्र' में मिलता है जहाँ उसने एक टीले पर पास-पास खड़े चिलबिल के दो पेड़ों को बड़ी मार्मिकता के साथ दो मित्रों के रूप में देखा है—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल
मित्रों-से हैं खड़े,
मौन, मनोहर।
दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ सुदृढ़तर।

शहद चाटनेवालों और गुलाब की रूह सूँघनेवालों को चाहे इसमें कुछ न मिले, पर हमें तो इसके भीतर चराचर के साथ मनुष्य के संबंध की बड़ी प्यारी भावना मिलती है। "झंझा में नीम" का चित्रण भी बड़ी स्वाभाविक पद्धति पर है। पंतजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छंदता (True Romanticism) की ओर बढ़ते देख हमें अवश्य संतोष होता है।

अनुक्रमणिका

१—ग्रंथकार

(यहाँ छपे मोटे अंकों पर विशेष विवरण है।)

क्ष

ख

२—ग्रंथ

ध

म

श

—

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	३	गए को यौवन को	गए यौवन को
५९	पाद-टिप्पणी	३ द्रमा	३ चंद्रमा
११८	१	(प्रेमा क पिता)	(प्रेमा के पिता)
१२५	९	मदिर	मंदिर
१३४	९	"ज्ञानदाप"	"ज्ञानदीप"
१५२	२०	गास्वामी	गोस्वामी
१६१	२	तोह	तेहि
१९२	१७	माधुय्य	माधुर्य्य
"	१९	विशष	विशेष
पृष्ठ-संख्या		१३६	२३६
"		१४०	२४०
२४०	२	गा ाँ द तासी	गार्सां द तासी
२८२	२२	'चंद्रालोव'	'चंद्रालोक'
३१०	११	डाढ़ा	डाढ़ी
३३२	१	हात	होत
३५८	९	परिमाजित	परिमार्जित
३६६	११	अर	और
४०९	१	याते	यातें
४१०	११	क्यो	क्यों
४६७	१५	अन्योक्तियो	अन्योक्तियाँ
"	२६	भावुक वि	भावुक कवि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६९	१६	बरसै	बरसै
४७७	५	भरैंगे	भरैंगे
५१७	११	गासी ँ द तासी	गार्सां द तासी
५२५	२७	aud	and
५६७	१४	प्रेरत	प्रेरित
५६८	२४	लफगे	लफंगे
५६९	१५	औरंगजेब क समय	औरंगजेब के समय
५८५	२७	सरस्वतती	सरस्वती
५८९	५	तीन	चार
६०३	२२	श्रौर	और
६५१	९	'परख', 'हृदय की प्यास'	'हृदय की प्यास'
६५६	१	विंदु ब्रह्मचारी	श्रीमंत समंत
७२६	१२	romanticism	Romanticism
”	२०	ढँक	ढक
७२९	२	साइयों	साइँयों
७३०	१४	ऊजड़ गाम	ऊजड़ ग्राम
७३७	१३	रघुवश	रघुवंश
७४३	५	चद्रहास	चंद्रहास
७४९	११	मामिक	मार्मिक
७५२	२२	पूणजी	पूर्णजी
७६१	२०	अंगणित	अगणित
७६९	२४	आनद	आनंद
७७२	६	अड़चल	अड़चन
”	२५	शिष्ट-सममाग	शिष्ट-समागम
७७६	१७	छद	छंद
”	२५	रहीं	रही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७८०	१	प्रदशन	प्रदर्शन
७८७	२१	किया जाने लगा	की जाने लगी
७९८	१८	पद्मशून्य	पद्म शून्य
८०१	८	यान-के तु-ताड़ित भचक्र	यान केतु-ताड़ित नभचक्र
८१६	८	अर्थांतन्यास	अर्थांतरन्यास
८३४	१३	म, उनके	में, उनके
८४३	३	बीभत्स	बीभत्स

—